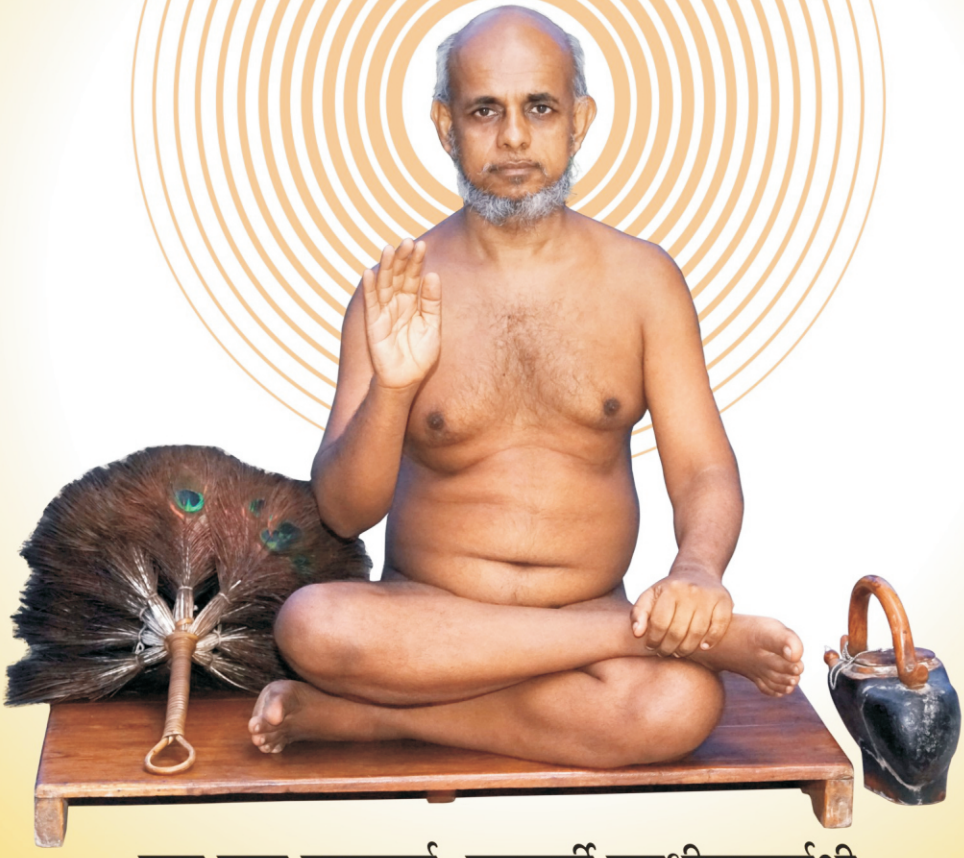

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

मध्यभारत की कला, संस्कृति एवं पुरातत्त्व

सम्पादक
नागेश दुबे
मोहनलाल चढ़ार

प्रकाशक
एस. एस. डी. एन. पब्लिशर्स
नई दिल्ली

(परम्परानायक)

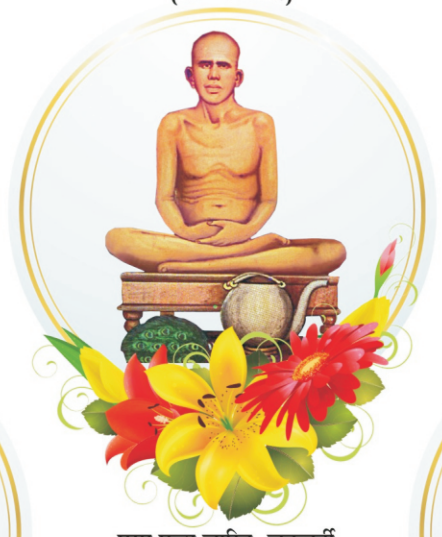

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

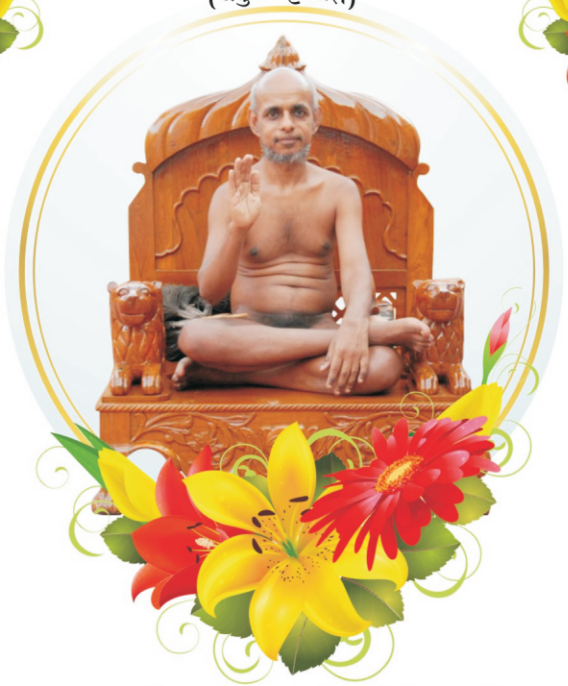

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

मध्यभारत की कला, संस्कृति एवं पुरातत्व

(स्वर्गीय प्रो. विवेकदत्त झा स्मृति ग्रन्थ)

संपादक

प्रो. नागेश दुबे

डॉ.मोहन लाल चढ़ार

SSDN

SSDN Publishers & Distributors

New Delhi

Published by
Satparkash Katla
SSDN PUBLISHERS AND DISTRIBUTORS
5A, Sahni Mansion, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002 (India)
Ph: 011-47520102
E-mail: ssdn.katla@gmail.com
www.ssdnbooks.com

मध्यभारत की कला, संस्कृति एवं पुरातत्व

© प्रो. नागेश दुबे डॉ. मोहन लाल चढ़ार

₹

सर्वाधिकार सुरक्षित। पुस्तक का कोई भी भाग लेखक की पुर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनर्प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

प्रथम संस्करण 2017

ISBN: 978-93-8357-

Printed at New Delhi, India

अनुक्रमाणिका

आमुख *vii*

प्रस्तावना *ix*

प्रथम खण्ड
मध्यभारत की कला एवं संस्कृति

1. **एरण की कला में प्रतिबिम्बित विविध सांस्कृतिक पक्ष** 1
   डॉ. नागेश दुबे
2. **पटनागंज रहली के जैन मंदिरों का मूर्ति एवं वास्तु शिल्प** 6
   डॉ. शिवकुमार पारोचे
3. **खजुराहो की मूर्तिकला में स्त्री विमर्श** 12
   डॉ. (सुश्री) शरद सिंह
4. **खजुराहो मंदिर वास्तु के अवयव एवं उनकी प्रतीकात्मक सार्थकता** 27
   डॉ. आशीष कुमार चाचोंदिया
5. **सागर क्षेत्र के प्रागैतिहासिक शैलचित्र** 32
   डॉ. प्रदीप कुमार शुक्ल
6. **सागर संभाग की शिव प्रतिमाओं से सम्बद्ध सांस्कृतिक तत्व** 42
   राज बहादुर क्षत्री
7. **टीकमगढ़ जिले के मंदिर एवं स्थापत्य कला** 46
   डॉ. माधव सिंह रायकवार
8. **मालवा क्षेत्र से प्राप्त दुर्लभ देवी प्रतिमाएँ** 52
   डॉ. धीरेन्द्र सौलंकी
9. **ग्वालियर क्षेत्र की वैष्णव प्रतिमाएँ** 56
   डॉ. गोविन्द बाथम एवं डॉ. प्रमेशदत्त शर्मा
10. **बटेसर के कृष्ण लीला–फलक**
    डॉ. शान्तिदेव सिसौदिया एवं लल्लेश कुमार
11. **छत्तीसगढ़ की सोमवंशकालीन जैन–कलाकृतियाँ** 74
    श्री प्रसन्न सहारे

12. छत्तीसगढ़ की अभिकल्प परम्परा में मार्जर व्याल (कलचुरि काल के विशेष संदर्भ में) 82
डॉ. आशुतोष चौरे

13. बुन्देली संस्कृति और अम्बिकाप्रसाद 'दिव्य' के उपन्यास 89
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

14. बुन्देली कहावतें, मुहावरें, पहेलियों में प्रतिबिम्बित बुन्देली संस्कृति 98
डॉ. बी.के. श्रीवास्तव

15. तुमैन उत्खनन से प्राप्त श्रृंगार सामग्रियों की सांस्कृतिक समीक्षा 105
सुल्तान सलाहुद्दीन

16. बुन्देली संस्कृति का दर्पण : आल्हाखंड 109
डॉ. आर. पी. सिंह एवं विशाल विक्रम सिंह

17. चन्देलकालीन आर्थिक जीवन (अभिलेखो के परिप्रेक्ष्य में) 114
श्रीमति अर्चना मिश्रा

18. त्रिपुरी क्षेत्र की धार्मिक परम्पराएँ 124
डॉ. रामकुमार अहिरवार

19. कलचुरि कालीन समाज में नारी की स्थिति (कलचुरि अभिलेखों के विशेष सन्दर्भ में) 148
प्रो. आर. एन. विश्वकर्मा,

20. पूर्वमध्यकालीन मध्यभारत में स्त्री प्रतिरुपों का अवलोकन 154
डॉ0 सुरेन्द्र कुमार यादव

21. मध्यप्रदेश के शक्तिपीठ की सांस्कृतिक उपादेयता 163
शैला यादव

22. कलचुरि काल में सौर सम्प्रदाय 169
प्रो. नवीन गिडियन

द्वितीय खण्ड
मध्यभारत का पुरातत्व

23. बुन्देलखण्ड का पुरातत्त्व 174
डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

24. अमरकटंक क्षेत्र के सर्वेक्षण व उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों का विश्लेषण 185
प्रो. आलोक श्रोत्रिय डॉ. मोहन लाल चढ़ार

25. मढ़ैया गौड़ का पुरातत्वः एक पुनरावलोकन 192
डॉ. मशकूर अहमद

26 रहली क्षेत्र का पुरातत्त्व 196
गोविन्द सिंह दांगी, शोधार्थी

27. बुन्देलखण्ड के पुरातात्विक स्थल 202
के. पी. गुरु

28. "सुन्दरसी" एक पुरातात्विक पुरास्थल 207
डॉ. श्रीमती उषा तिवारी

29. उज्जैन के ताम्रपाषाणिक पुरास्थलों का विश्लेषण 209
डॉ. प्रीति पाण्डे

30. अनूपपुर जिले के पुरावशेष 216
हीरा सिंह गोंड

31. अन्वेषण में सोडलपुर से प्राप्त प्रतिमाएँ 223
डॉ. जिनेन्द्र जैन

32. भरहुत बौद्ध स्तूपः एक मूल्यांकन 231
डॉ. मोहन लाल चढ़ार

33. भारतीय इतिहास की अनुपम कृति : साँची का स्तूप 239
डॉ. हरित कुमार मीणा

34. दमोह जिले के पुरातात्त्विक स्थल 246
उमेशचन्द्र पाण्डेय,

तृतीय खण्ड
स्मृतियों में स्व.प्रो. विवेकदत्त झा

प्रोफेसर विवेकदत्त झा – स्मृति शेष 252
प्रो. उदयवीर सिंह

एक अनन्य विद्यार्थी, एक अद्वितीय अध्यापकः प्रो. विवेकदत्त झा 254
प्रो. के.के. जैन

कीर्तिशेष बंधुवर, प्रो. विवेकदत्त झा : कुछ संस्मरण 258
डॉ. बैजनाथ शमा

विवेकदत्त झाः अनकहे अनसुने पल 259
डॉ. अंजली झा

आचार्य विवेक दत्त झाः एक संस्मरण 262
डॉ. रहमान अली

विवेकदत्त झाः अफ़सोस तुमको मीर से सोहबत नहीं रही 264
प्रो.सुरेश आचार्य

पुरातन के अधुनातन व्याख्याताः 'विवेक दा' 266
सुरेन्द्र सिंह नेगी

मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ के पुरातत्व के पुरोधा : आचार्य विवेक दत्त झा 269
आचार्य रमेन्द्रनाथ मिश्र

बहुआयामी व्यक्तित्व : मेरा मित्र विवेकदत्त 272
डॉ. सर्वजीत सिंह

स्मृति शेष प्रो. विवेकदत्त झा 273
प्रो. सन्तोष कुमार बाजपेयी

प्रोफेसर विवेकदत्त झा के जीवन की कतिपय स्मृतियाँ 274
प्रो. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

नम्रता, स्नेह एवं दृढ़ता के प्रतीक प्रो0 झा 280
प्रो. प्रमोद कुमार खरे

विनम्रता की प्रतिमूर्तिः प्रो. विवेकदत्त झा 282
प्रो. अभय सिंघई

प्रो. विवेकदत्त झा : दि लीजेण्ड पर्सन 284
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

प्रो. झाः एक अनुकरणीय मार्गदर्शक 287
प्रो. नागेश दुबे

प्रो. विवेकदत्त झा : एक साहसी एवं प्रेरक व्यक्तित्व 292
प्रो. आलोक श्रोत्रिय

जिन्दादिली की मिसाल : प्रो. विवेकदत्त झा 293
प्रो. बी. के. श्रीवास्तव

प्रो. विवेक दत्त झा को जैसा मैने जाना 296
डॉ. आरती दुबे

प्रो. विवेकदत्त झा : जिनके शब्द कभी भुलाए नहीं जा सकते 298
डॉ. (सुश्री) शरद सिंह

पुरातन के पारखी – प्रो. विवेकदत्त झा 302
डॉ. मनीष झा

मन के महंतः विवेकदत्त झा 305
डॉ. राकेश शर्मा

महान व्यक्तित्व के धनी प्रो. विवेकदत्त झा 307
के.पी.गुरु

जन जन की स्मृति में प्रो झा 309
डॉ. श्रीमती उषा तिवारी

प्रो. झा : एक आदर्श शिक्षक 311
प्रो. नवीन गिडियन

अजेय व्यक्तित्व के धनी प्रो. विवेकदत्त झा 312
डॉ. सुरेन्द्र चौरसिया

पुरातत्त्व के जीवन्त हस्ताक्षर – प्रो. विवेक दत्त झा 313
डॉ. मशकूर अहमद

मूर्तिमर्मज्ञ – डॉ. विवेक दत्त झा 315
डॉ. मोना जैन

साहित्य और पुरातत्व की महत्वपूर्ण कड़ी : प्रो.विवेकदत्त झा 317
डॉ. राजेन्द्र यादव

पुरातत्व को ओढ़ने विछाने वाले : झा सर 321
डॉ. वेदप्रकाश दुबे, पूर्व सहायक प्रोफेसर

प्रो. विवेकदत्त झा प्रपालक जैसे लोकप्रिय प्राध्यापक 323
डॉ. विश्वजीत सिंह परमार

रंगकर्मीः प्रो. विवेकदत्त झा 325
डॉ. पंकज तिवारी, निर्देशक (ई.एम.आर.सी.)

प्रो. विवकेदत्त झा : एक स्मृति 327
डॉ.रामकुमार अहिरवार

यादों के झरोखों से पूज्य गुरुवर प्रो. विवेक दत्त झा 328
डॉ.राजेन्द्र कुमार दीक्षित

प्रो. विवेक दत्त झाः क्या भूलूँ क्या याद करूँ 331
डॉ. आर. पी. सिंह

प्रो विवेकदत्त झा सर के नाम एक "पुण्य स्मरण पाती" 332
डॉ वर्षा सिंह

सदैव स्मरणीय रहेंगे, प्रो. विवेक दत्त झा 333
राजबहादुर

स्मृतिशेषः प्रोफेसर झा 335
डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव

प्रो. विवेकदत्त झा छात्रों के प्रेरणा स्त्रोत 336
डॉ. ज्योति सराफ

आर्ष संस्कृति के अन्वेषक से मेरी पहली मुलाकात 337
डॉ. ऋषभ भारद्वाज

प्रों. विवकदत्त झा से मेरी आखिरी मुलाकात 339
माधव चन्द्र, प्रोड्यूसर (ई.एम.आर.सी.),

प्रथम खण्ड
मध्यभारत की कला एवं संस्कृति

1 एरण की कला में प्रतिबिम्बित विविध सांस्कृतिक पक्ष

डॉ. नागेश दुबे

मध्यप्रदेश के सागर जिले की बीना तहसील में स्थित सांस्कृतिक एवं पुरातात्विक, सम्पदा से परिपूर्ण पुरास्थल 'एरण', जिला मुख्यालय से 77 किलोमीटर उत्तर पश्चिम दिशा में बीना नदी के तट पर स्थित है।[1] एरण मध्यप्रदेश का साँची के पश्चात कला व प्रतिमाओं की विशालता प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिरों व प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु आज तक यह स्थान पर्यटकों की पहुँच से दूर है। एरण, साँची से लगभग 22 किलोमीटर व बीना तहसील मुख्यालय से 10 किलोमीटर की दूरी पर है।[2] एरण ने अनेक संस्कृतियों, व सभ्यताओं के उत्थान व पतन का काल देखा है। इसकी जानकारी हमें यहाँ से प्राप्त अनेक पुरावेशेषों से होती है। एरण से प्राप्त दूसरी व प्रथम शताब्दी ई.पू. की जनपदीय ताम्रमुद्राओं पर इस नगर का तत्कालीन नाम 'एरिकिण', 'एरकण्य' अभिलिखित है। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी नगर की यही संज्ञा मिलती है।[3] एरण की जीवनदायनी बीना नदी अर्द्धचन्द्राकार रूप में प्रवाहित होती हुई एरण ग्राम को तीन ओर से सुरक्षा प्रदान करती है। चौथी ओर दक्षिण दिशा में लगभग 1750 ई.पू. की ताम्रपाषाणकालीन विशाल सुरक्षा प्राचीर व खाई का निर्माण किया गया था।[4] एरण की भौगोलिक आकृति को दृष्टि में रखते हुए यहाँ नवपाशाण, कायथा और ताम्रपाषण संस्कृति (मालवा संस्कृति) के निर्माताओं ने इस सुरक्षित स्थल को निवास का केन्द्र बनाया। परवर्तीकाल में मौर्यों, शुंगों, सातवाहनों, शकों, नागों, गुप्तों, हूणों, गुर्जर–प्रतिहारों, परमारों, चंदेलों व कल्चुरियों तथा उत्तर मध्यकाल में क्षेत्रीय दांगी शासकों, सल्तनतकालीन व मुगलकालीन शासकों का भी एरण पर आधिपत्य रहा। ताम्रपाषाणयुगीन, शक, नाग और गुप्तकालीन इतिहास के पुनर्निर्माण में एरण की विशिष्ट भूमिका रही है।[5] 1838 ई. में भारत के प्रसिद्ध पुरातत्वविद् टी.एस. बर्ट ने एरण की सर्वप्रथम खोज की। उन्हीं का अनुकरण करते हुए भारतीय पुरातत्व के प्रथम महानिदेशक जनरल अलेक्जेण्डर कर्निंघम ने 1874–75 ई. में इस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया और यहाँ से प्राप्त प्राचीन प्रतिमाओं, अभिलेखों तथा मुद्राओं का विवरण आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट (जिल्द 9–10) में प्रकाशित करवाया। कालान्तर में एरण को प्रकाश में लाने का कार्य सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग के विभागाध्यक्ष व भारत के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता प्रो. के.डी. वाजपेयी ने किया। एरण में 1960–61 ई. से 1964–65 ई. तक प्रो. के.डी.

वाजपेयी एवं डॉ. उदयवीर सिंह के निर्देशन में सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ।[6] इसके उपरांत 1984–85 ई. 1987–88 व 1998 ई. के दौरान प्रो. सुधाकर पाण्डेय एवं डॉ. विवेकदत्त झा के निर्देशन में उत्खनन कार्य किया गया। उत्खनन में एरण से हड़प्पा सभ्यता के समकालीन नवपाशण संस्कृति, कायथा संस्कृति व ताम्रपाषाणयुगीन, संस्कृतियों के अवषेश प्राप्त हुए।[7]

इस स्थान में जो महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें समुद्रुप्त का अभिलेख[8] (यह अभिलेख वर्तमान में कलकत्ता संग्रहालय में संग्रहीत है)। शक शासक श्रीधर वर्मा का अभिलेख[9], बुधगुप्त का अभिलेख[10] प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साँची के मुख्य स्तूप के निर्माणार्थ एरण के निवासियों के द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख करने वाला अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें 'एरकिन' नाम उल्लेखित हुआ है।[11]

मध्यप्रदेश के अनेक प्राचीन नगरों में सांस्कृतिक विकास हुआ, इन नगरों में एरण का महत्व अपने कला–वैभव के कारण विशिष्ट है। एरण, ऐसा केन्द्र है जो अनेक कालखण्डों में सांस्कृतिक प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है।[12] मानवीय जीवन की निरंतर विकासशीलधारा की दृष्टि से इस प्राचीन स्थल की कला का सांस्कृतिक स्वरूप भारतीय कला एवं संस्कृति का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

भौगोलिक दृष्टि से एरण का महत्व अधिक रहा है। इसके एक ओर बुन्देलखण्ड तथा दूसरी ओर मालवा का भूभाग है। अतः यह बुन्देलखण्ड तथा मालवा के मध्य एक प्रवेश–द्वार के समतुल्य था।[13] पूर्वी मालवा की सीमा रेखा पर अवस्थित होने के कारण यह दषार्ण को चेदि जनपद से जोड़ता था।[14] प्राचीन राजमार्ग पर स्थित होने से इसका महत्व अधिक था।[15] विषेश रूप से गुप्त काल में यह कला एवं संस्कषति की दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखता था।

एरण में किए गए उत्खननों के फलस्वरूप अनेक नवीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है, जिससे इस केन्द्र का इतिहास और निखर कर सामने आया है। प्राचीन काल में एरण एक वैभवशाली नगर था, इसकी ख्याति सर्वत्र थी।[16] शक, नाग, गुप्त व हूण यहाँ आए।[17] गुप्तकाल में इसका सांस्कृतिक एवं सामरिक महत्व चरमोत्कर्श पर था।[18] इस तथ्य की पुश्टि इस स्थल के पुरावषेश अवषेश करते हैं। एरण से प्राप्त मुद्रायें, अभिलेख, वास्तु–अवषेश तथा मूर्तियाँ विभिन्न युगों में एरण के महत्व को सिद्ध करते हैं। कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में एरण का योगदान विशिष्ट है।[19]

एरण क्षेत्र के कलावशेष प्राचीन भारत की वैभवशाली कला परम्परा को उजागर करने में सक्षम हैं। एरण के गुप्तकालीन मंदिरों के भग्नावशेष, पाशाण प्रतिमाएँ, शिलापट्ट, उत्खनन में प्राप्त मृण्मूर्तियाँ तथा मुद्राओं पर उपलब्ध कला कृतियाँ से एरण की कला एवं संस्कृति उद्घाटित हुई है।

एरण की स्त्री–पुरुशों की मष्ण्मूर्तियों के द्वारा उस समय के वस्त्राभूषण की जानकारी मिलती है। कुछ मानवीय आकृतियाँ अधोवस्त्र धारण किए हुए हैं। स्त्री आकृतियों के गले में एकलड़ा हार, सादा हार या पट्टीदार हार (जिसमें मनके भी दृष्टव्य हैं), चक्राकार कर्णाभूषण, भुजबंध, कटिमेखला, पैरों में सादे कड़े अथवा पायल का अंकन है। एक मृण्मूर्ति को पगड़ी पहने दिखाया गया है। आद्यैतिहासिक काल की अधिकांश मृण्मूर्तियाँ नग्न हैं। ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियाँ हस्तनिर्मित हैं, कुछ साँचे में ढालकर बनायी गयी हैं। ये आकृतियाँ सुडौल हैं। ऐतिहासिक काल की प्रस्तर प्रतिमाओं व मंदिर की भित्तियों पर उत्कीर्ण आकृतियों से भी तत्कालीन समाज में प्रचलित वस्त्राभूषण का परिचय मिलता है।[20]

नृत्य और संगीत के प्रचलन को प्रमाणित करने वाली आकृतियों एरण की कला में दृष्टव्य हैं। यहाँ के निवासी संगीत, शतरंज, आखेट और खिलौने के द्वारा अपना मनोरंजन किया करते थे। नृसिंह मंदिर

के सामने निर्मित चबूतरे के कलात्मक स्तंभों पर वीणावादक, मंजीरावादक तथा हाथ में चशक लिए मद्यपों के दृश्य से तत्कालीन जीवन में नृत्य तथा संगीत की लोकप्रियता का ज्ञान होता है।[21] उनके आनंद तथा समृद्धिपूर्ण जीवन की झलक मिलती है। उनके जीवन में मनोरंजन के लिए पर्याप्त स्थान था, वे उत्सवों तथा नृत्य–संगीत के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे।

एरण से प्राप्त सिक्कों, मृदभाण्डों, मूर्तियों, मंदिर–वास्तु पर प्रकृति चित्रण हुआ है। वृक्ष, पुष्प, नदी, मछली, नदी में मछली, कच्छप, सूर्य, अर्द्धचन्द, चैत्य चिन्ह, वक्ष एवं कमल का अंकन आहत मुद्राओं पर हुआ है। एरण से प्राप्त मृदभाण्डों पर भी यहां के कलाकारों ने प्रकृति चित्रण किया है। सूर्य, अर्द्धचन्द्र, वृक्ष, कमल, अनाज की बाली, हिरण, मछली, बिच्छू आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है। शालभंजिका की प्रतिमा के साथ शाल वृक्ष का अंकन है। गुप्तकालीन मंदिर अवशेषों पर कमल का अंकन है। कमल अंकन सुन्दर पंक्तिबद्ध रूप में हुआ है। पुष्प, लता–पत्र, घटपल्लव, कल्पवृक्ष व अन्य वृक्ष आकृतियाँ पाशाण फलकों पर उत्कीर्ण हैं। अर्द्धमुखी व अधोमुखी कमल का अंकन स्तंभों पर व गरुड़ स्तंभ पर है। देव प्रतिमाओं की वनमाला पर वानस्पतिक चित्रण हुआ है।[22]

एरण क्षेत्र के निवासियों की अर्थव्यवस्था मूलतः कृशि पर आधारित थी। मृद्भाण्डों पर अंकित अनाज की बालियाँ व पकी मिट्टी की वृशभ आकृतियों द्वारा प्रमाणित है कि कृशि कार्य में वृशभ का उपयोग होता था। पशुपालन, मृदभाण्ड उद्योग, काष्ठ शिल्प व धातु उद्योग तथा मनका उद्योग जीविका के अन्य साधन थे। प्रतिमा निर्माण भी जीविका का साधन रहा है। आखेट तथा वनोपज भी अर्थव्यवस्था के अंग थे। मृण्मूर्तियों, पाशाण प्रतिमाओं तथा मुद्राओं पर विभिन्न पशु–पक्षियों, आभूषणों, वनस्पतियों का चित्रण उन्नत अर्थव्यवस्था के परिचायक हैं। मछली का आखेट बड़े वर्ग की उदर पूर्ति का साधन था। मृदभाण्डों पर मछली की आकृति चित्रित है। मृद्भाण्डों पर हीरों का चित्रण, हीरा से एरण के निवासियों का परिचय होना सिद्ध करता है। सुन्दर चित्रित मृदभाण्ड, आभूषण, प्रतिमाओं पर दर्शित आभूषण, आर्थिक सम्पन्नता के द्योतक हैं। गुप्तकाल में यह नगर व क्षेत्र समृद्धि के चरमोत्कर्ष पर रहा।[23]

गुप्तकाल में निर्मित मंदिर समूह, प्रतिमाऐं इत्यादि आर्थिक सम्पन्नता की परिचायक हैं। मृदभाण्ड निर्माण कला, आभूषण निर्माण कला, मूर्ति निर्माण कला भी उच्चकोटि की थी। शक शासकों की टकसाल भी एरण में स्थित थी। यहाँ से प्राप्त साँचों पर राजा की आकृति का सुन्दर अंकन है।[24]

एरण उत्खनन में प्राप्त मातृदेवी एवं वृषभ की मृण्मूर्तियाँ आद्यऐतिहासिक एरण की धार्मिक दशा का परिचय देती है। देवी की उपासना प्रारंभिक काल में की जाती थी। वृषभ की उपासना भी प्रचलित थी। वृषभ की कलात्मक मृण्मूर्तियाँ एरण उत्खनन में प्राप्त हुई हैं। अधिकांश मृण्मूर्तियों के निर्माण का प्रयोजन धार्मिक है।[25] एरण से प्राप्त आहत, जनपदीय, गुप्तकालीन सिक्कों पर सूर्य, वेदिका वृक्ष, इन्द्रध्वज, नदी, पर्वत, चन्द्रमा, कमल, हाथी, वृशभ स्वास्तिक नंदिपद आदि का अंकन है।[26] ये वैदिक धर्म से संबंधित प्रतीक हैं।

एरण में एक अभिलिखित गुप्तकालीन प्रस्तर शिवलिंग मिला है।[27] मुख शिवलिंग भी एरण में मिला है। दानवीर टीले पर एक खण्डित शिवलिंग भूमि पर दृष्टव्य है।[28] एक प्रस्तर फलक पर उत्कीर्ण प्रतिमा में एक स्त्री को शिवलिंग की पूजा–अर्चना करते हुए दिखाया गया है।[29] वराह की प्रचण्ड प्रतिमा में शिव का अंकन जटाजूटधारी रूप में हुआ है।[30] गणेश की दो प्रतिमाऐं नृत्यमुद्रा में प्राप्त हैं। उक्त कलाकृतियों द्वारा एरण में शैव धर्म का प्रभाव परिलक्षित हुआ है।[32] नागपूजा का भी एरण क्षेत्र में प्रचलन रहा। जिसकी

पुष्टि यहाँ से प्राप्त नाग की मानवाकार प्रतिमा से, मंदिर वास्तु पर नागों की आकृतियों के अंकन से, शेषशायी विष्णु तथा महा वराह प्रतिमा के साथ नागों के अंकन से होती है। स्थापत्य एवं शिलापट्टों पर भी नाग आकृतियाँ अंकित हैं।[33] वैष्णव धर्म, गुप्तकाल में समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर था। गुप्तकाल में निर्मित वैष्णव मंदिरों के कारण एरण प्रसिद्ध है। वैष्णव मतावलम्बी गुप्त सम्राटों के शासनकाल में उनके संरक्षण में निर्मित, विष्णु व उनके अवतारों से संबंधित मंदिरों में महाविष्णु मंदिर, वराह मंदिर, नृसिंह मंदिर, नृवराह मंदिर तथा लक्ष्मी मंदिर प्रमुख हैं। अन्य वैष्णव मंदिर और गरुड़स्तंभ स्थापित किए गए। गुप्त काल में विष्णु तथा विष्णु अवतारों के इतने मंदिर एरण के अलावा अन्यत्र एक साथ निर्मित नहीं मिलते हैं। विष्णु के त्रिविक्रम रूप की प्रतिमा, वामन अवतार की प्रतिमा एरण में मिली है। विष्णु के कृष्णावतार से संबंधित दृश्य भी प्रस्तर फलकों पर अनेक प्रसंगों के साथ उत्कीर्ण हैं।[34] विष्णुप्रिया लक्ष्मी की गजलक्ष्मी के अंकन सहित गुप्तकालीन मृण्मुद्रा व गजलक्ष्मी की प्रस्तर प्रतिमा भी एरण में प्राप्त हुई है। महिषमर्दिनी की पाषाण प्रतिमा उत्खनन में प्राप्त हुई है। भू–देवी की आकृतियाँ, नृवराह तथा महावराह प्रतिमाओं के साथ प्रदर्शित है।[35] भागवत धर्म का भी यहां प्रभाव रहा है। भागवत धर्म के प्रमुख देव कृष्ण व बलराम की प्रतिमाऐं एरण से प्राप्त हुई है। कृष्ण लीला के दृश्य प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण हैं। बलराम की अर्द्धनिर्मित आकृति एरण में मिली है।[36] सूर्य उपासना भी एरण में प्रचलित थी। सूर्यदेव की प्रतिमाऐं एरण से प्राप्त हुई हैं।[37] हनुमान, कुबेर, विद्याधर, ब्रह्मा, ऋषिगण, गरुड़ आदि की मूर्तियाँ व आकृतियाँ एरण में प्राप्त हुई हैं। नवीनतम उत्खनन (1986–88) में जैन तीर्थंकर की लघु प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रमाणित होता है कि विदिशा के साथ–साथ एरण में जैन धर्मावलम्बी रहते थे।[39] एरण ग्राम में एक चबूतरे पर ध्यानस्थ बुद्ध प्रतिमा का मस्तक दृष्टव्य है। महाविष्णु मंदिर के प्रवेश द्वार की द्वार शाखा पर ध्यानस्थ मुद्रा में बुद्ध आकृति निर्मित है। एरण में बौद्ध धर्मालम्बी भी निवास करते होंगे।[40] उपरिवर्णित प्रतिमाओं द्वारा प्रमाणित है कि एरण में विभिन्न धर्मावलम्बी साथ–साथ निवास करते थे, उनमें परस्पर सद्भाव था।

इस तरह एरण की कला काफी समृद्ध थी। एरण के कला अवषेशों में विविध सांस्कृतिक पक्ष प्रतिबिम्बित हुये हैं। भारतीय संस्कृति में एरण की कला एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

संदर्भ –

1. चढ़ार, मोहन लाल, एरण : एक सांस्कृतिक धरोहर, नई दिल्ली, 2016, पृ.13
2. वही, पृ. 12
3. दुबे, शैली, एरण के कलावषेश (अप्रकाशित लघु शोध प्रबंध), डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1983, पृ.1
4. दुबे, नागेश, एरण की कला, सुप्रिया पब्लिकेशन्स, 1997, पृ. 14
5. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.9
6. दुबे, नागेश एवं मोहन लाल चढ़ार, एरणः एक परिचय, अमरकण्टक, 2016, पृ.2–3
7. वही, पृ. 3
8. एपीग्रापिया इण्डिका, खण्ड–2, पृ. 87, 116
9. वाजपेयी, के.डी., सागर थ्रू द एजेज, सागर, 1995 पृ. 24
10. वही, पृ. 30
11. एपीग्रापिया इण्डिका, खण्ड–2, पृ. 375
12. दुबे, नागेश, पूर्वोल्लिखित, पृ.3
13. सागर जिला गजेटियर, भोपाल, 1970, पृ. 511

14. द्विवेदी, चन्द्रलेखा, एरण का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली, 1985, पृ.1
15. वाजपेयी, के.डी. एवं एस.के. पाण्डेय, भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योगदान, इलाहाबाद, 1967, पृ.114
16. दुबे, नागेश, पूर्वोल्लिखित, पृ.8
17. चढ़ार, मोहन लाल, एरण एक सांस्कृतिक धरोहर, नई दिल्ली, 2016, पृ. 29–34
18. दुबे, नागेश, पूर्वोल्लिखित, पृ.8
19. वही
20. दुबे, नागेश, 'एरण की कला एवं स्थापत्य के प्रतिबिबिम्त लोक संस्कृति', राष्ट्रीय संगोश्ठी, भारतीय लोक संस्कृति और पुरातत्व, भाग–विक्रम वि.वि., उज्जैन, सम्पा. रामकुमार अहिरवार, दिल्ली, 2016, पृ.39
21. दुबे, नागेश, एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृ.198–199
22. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.90
23. दुबे, नागेश, एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृ.200.207
24. वही, पृ. 200
25. दुबे, नागेश, 'एरण की कला एवं स्थापत्य के प्रतिबिविम्त लोक संस्कृति', राष्ट्रीय संगोश्ठी, भारतीय लोक संस्कृति और पुरातत्व, पूर्वोल्लिखित, पृ.40
26. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.163
27. दुबे, नागेश, एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृ.117
28. वही, पृ.118
29. गायकवाड़, धनीराम : एरण से सर्वेक्षित एवं उत्खनित प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक संस्कृतियों का अध्ययन (अप्रकाशित लघु शोध प्रबंध), डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि. सागर (म.प्र.), 1986 पृ. 106
30. दुबे, नागेश, एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृ.118
31. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.164
32. दुबे, नागेश एवं मोहन लाल, चढ़ार, पूर्वोल्लिखित, पृ.36–37
33. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.80–81
34. दुबे, नागेश एवं मोहन लाल, चढ़ार, पूर्वोल्लिखित, पृ.19–31
35. वही, पृ. 39–40
36. दुबे, नागेश, एरण की कला, पूर्वोल्लिखित, पृ.114
37. वही, पृ.120–121
38. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.43,44,46
39. दुबे, नागेश, 'बुन्देलखण्ड के प्राचीनतम केन्द्र एरण में जैन धर्म,' पं. मुन्नालाल रांधेलीय स्मृति ग्रंथ, सम्पा. प्रो. विवेकदत्त झा, सागर, 1997, पृ.418–421
40. चढ़ार, मोहन लाल, पूर्वोल्लिखित, पृ.61–62

2 पटनागंज रहली के जैन मंदिरों का मूर्ति एवं वास्तु शिल्प

डॉ. शिवकुमार पारोचे

पटनागंज दिगम्बर जैनों का अतिशय क्षेत्र है। यह मध्यप्रदेश के सागर जिले की रहली तहसील में स्थित है। सोनार और देहार नदियों के संगम पर अवस्थित रहली नगर सागर से दक्षिण पूर्व की ओर 42 कि मी0 की दूरी पर 23^0 और 35′ उत्तर तथा $79^0 00'$ पूर्व में स्थित है।[1] सागर, देवरी, गढाकोटा एवं जबलपुर से रहली नगर सड़क मार्ग द्वारा जुडा हुआ है । यहां सोनार नदी के उस पार दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों का तीर्थक्षेत्र पटनागंज स्थित है । इस सोनार नदी की पहचान प्रोफेसर एस.एम. अली ने प्राचीन काल की शुनी नदी से की है।[2] नदी पार करने के लिए पक्का पुल बना हुआ है। सोनार नदी के तट पर स्थित अतिषय क्षेत्र पटनागंज का प्राकृतिक दृश्य अनुपम है। यहां कोलाहल से दूर एकान्त एवं शांत वातावरण में जैन धर्म के अनुयायियों ने मंदिरों का एक पूरा क्षेत्र बना दिया है। यहां कुल 28 मंदिर विद्यमान हैं। पटनागंज के मंदिरों का विवरण इस प्रकार है :–

मंदिर क्रमांक–1

इस मंदिर का मुख पूर्व दिशा की ओर है। मंदिर में गर्भगृह और उसके ऊपर शिखर बना हुआ है। गर्भगृह का भीतरी भाग आयताकार है । गर्भगृह के भीतर भगवान शांतिनाथ की प्रतिमा स्थापित है । इस प्रतिमा में भगवान शांतिनाथ को पद्मासन मुद्रा में दिखाया गया है। उनके सिर पर केशराशि है। कर्ण कुण्डलधारी हैं। प्रतिमा की पीठिका पर दोनों ओर एक–एक सिंह है और मध्य में लांछन हरिण का अंकन है। पादपीठ पर देवनागरी लिपि का लेख अंकित है। लेख में संवत् 1864 की तिथि अंकित है। जिसके अनुसार इस मंदिर का निर्माणकाल 1807 ईसवी में हुआ था। इस लेख में अतिशय क्षेत्र का वर्णन किया गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनाया गया है। शिखर का आधार भाग वर्गाकार है और ऊपर की ओर वह गोलाकार निर्मित है। शिखर का ऊपरी भाग आमलक, कलश के द्वारा सज्जित है। परवर्ती कालीन यह शिखर नागर शैली और गुम्बद शैली के मिश्रित स्वरूप का है ।

मंदिर क्रमांक –1

मंदिर क्रमांक–2

यह मंदिर भी मंदिर क्रमांक–1 के अनुसार ही निर्मित है। मंदिर के गर्भगृह का भीतरी भाग आयताकार है। गर्भगृह के भीतरी भाग में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में स्थापित है। प्रतिमा के पादपीठ पर दो सिंह का अंकन है। दोनों सिंह के मध्य अर्द्धचन्द्र है। पादपीठ पर देवनागरी लिपि में लेख अंकित है। दो पक्ति के लेख में संवत् 1864 की तिथि अंकित है। लेख में श्री कंदरक के पुत्र श्री भगवत के पुत्र श्री महेन्द्र श्रावत श्री सिंघई के पुत्र श्री बलजुत के पुत्र श्री सिंघई कंमनित आदि का उल्लेख हुआ है। गर्भगृह के भीतरी भाग गोलाकार गुम्बदनुमा बना हुआ है। गर्भगेृह के ऊपर शिखर निर्मित है। जो नीचे वर्गाकार है और ऊपर ग्रीवा तक गोलाकार बना हुआ है। ग्रीवा के ऊपर आमलक, कलश आदि से सज्जित है। प्रतिमा के समान ही इस मंदिर का निर्माण काल 1807 ईसवी है। मंदिर का मुख पूर्व दिशा की ओर है।

मंदिर क्रमांक–3

इस मंदिर में मुनि सुव्रतनाथ की संगमरमर पत्थर की बनी हुई प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में आसीन है। प्रतिमा के पादपीठ पर दो पंक्ति का लेख अंकित है । लेख में संवत् 1545 की तिथि अंकित है। लेख से पता चलता कि प्रतिमा का निर्माण 1488 ईसवी में हुआ है। प्रतिमा के पादपीठ पर मुनि सुवृतनाथ का लांछन कछुआ भी बना हुआ है। प्रतिमा की ऊॅचाई 10 इंच है।

मंदिर क्रमांक–4

यह मंदिर अधिक प्राचीन नहीं है। इस मंदिर के भीतर एक वास्तुखण्ड पर उत्कीर्ण तीर्थंकर प्रतिमा प्रदर्शित है। तीर्थंकर पद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा में रथिका के भीतर आसीन है। उनके दोनों ओर एक–एक तीर्थंकर प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में है । रथिका के ऊपर देवालय बना हुआ है। नीचे गोलाकार आमलक निर्मित है। यह शिल्पखण्ड 200 वर्ष प्राचीन प्रतीत होता है।

मंदिर क्रमांक–5

यह एक विशाल मंदिर है। मंदिर यद्यपि परवर्तीकालीन है, किन्तु इसका निर्माण प्राचीन परम्परा के अनुसार किया गया है। अधिष्ठान, जंघा, दोहरी वरंडिका और उसके ऊपर शिखर निर्मित है।

शिखर का आधार भाग वर्गाकार है जो ऊपर गोलाकार रूप में क्रमशः संकीर्ण होता गया है। शिखर पर रथ–प्रतिरथ निर्मित हैं । लघु शिखर की प्रतिकृतियां बनी हुई हैं चारों दिशाओं में रथिकाओं के भीतर तीर्थंकरों को आसीन दिखाया गया है। ऊपरी वरडिका की ऊपर लघु मंदिर शिखर के चारों दिशाओं में चार बनाये गये हैं। मुख्य शिखर का ऊपरी भाग आमलक और कलश के द्वारा सज्जित है। मंदिर का प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख है। प्रवेश द्वार में चढने के लिए सीड़ियां बनी हुइ हैं जो बाद में बनाई गई हैं ।

गर्भगृह का भीतरी भाग वर्गाकार है और इसके फर्श इत्यादि का बाद में नवीनीकरण किया गया है। गर्भगृह में अनेक आधुनिक प्रतिमायें संग्रहित करके रखी गई हैं। गर्भगृह में मुख्य प्रतिमा सुव्रतनाथ की है, जिसमें उन्हें पद्मासन मुद्रा में दिखाया गया है। यह वृहत आकार की प्रतिमा है । प्रतिमा के पादपीठ पर देवनागरी लिपि में लेख अंकित है। लेख में तिथि संवत 1835 अंकित है । लेख पॉच पंक्तियों में लिखा हुआ है। लेख में प्रतिमा के स्थापित कर्ताओं की वंशावली दी गई है। मुख्य प्रतिमा के दोनों ओर तीन पंक्तियों में संगमरमर की बनी हुई तीर्थंकर की अनेक प्रतिमाएं स्थापित हैं। सभी प्रतिमाओं के पदपीठ पर अभिलेख अंकित हैं । संवत 1542, 1548 आदि तिथियॉ इन प्रतिमाओं के पाद पीठ पर अंकित हैं । गर्भगृह की भित्ती के दायें बायें खड्गासन मुद्रा में पदमप्रभ की प्रतिमाऍ स्थापित है । इस प्रतिमा में 20 तीर्थकरों की लघु आकृतियां बनी हुई हैं ।

मंदिर क्रमांक–5

मंदिर के गर्भगृह की भीतरी भित्ति पर लगभग 200 वर्ष प्राचीन चित्रकारी बनी हुई अत्यन्त आकर्षक है। इन चित्रों में स्थानकराजा, सिंहासन आरूढ़ राजा, अश्वारूढ राजा, राजा और रानी, राजमहल के दृष्य, दरबार सज्जित राजा, रानी, परिचारिकाएं, मृगलता बेल–बूटे सज्जित वृषभ आदि को चित्रित किया गया है। तीर्थंकरों की आकृतियां भी खड्गासन और आसीन मुद्रा में बनाई गई हैं। इस चित्रकला में मराठा शैली का प्रभाव है। चित्रकला बहुत ही रोचक है। गर्भगृह में मेहराबदार प्रवेश द्वार की आकृतियां चारों ओर बनी हुई हैं।

मंदिर क्रमांक–6

यह मंदिर भी लगभग 200 वर्श प्राचीन है। मंदिर के वास्तु में किसी प्रकार की कोई विशेषता नहीं है। गर्भगृह में सीड़ियां चढ़कर आना होता है। गर्भगृह की दीवारें दोनों ओर से खुली हुई हैं। गर्भगृह में तीर्थंकर प्रतिमा बाद की प्रतीत होती है। ऊपरी शिखर नागर शैली के अनुकरण पर आमलक एवं कलश से युक्त है।

मंदिर क्रमांक–7 एवं 8

यह मंदिर प्रवेश द्वार का बायीं ओर का भाग है । वस्तुतः यह स्वतंत्र मंदिर नहीं है। इस मंदिर के भीतर एक आयांगपट्ट स्थापित है, जिसमें चारों दिशाओं में तीर्थंकर प्रतिमाएं बनी हुई हैं। भित्ति से संलग्न आदिनाथ की एक प्रतिमा निर्मित है। इसी प्रवेश–द्वार के दायें भाग पर स्थानक मुद्रा में भगवान ऋषभनाथ को प्रदर्शित किया गया है । वस्तुतः मंदिर क्रमांक 7 व 8 ये दोनों प्रवेश द्वार के भाग हैं।

मंदिर क्र. 9,10, 11 तीनों आधुनिक मंदिर हैं इन मंदिरों में क्रमंशः ऋषभनाथ, अजितनाथ व संभवनाथ की पाषाण प्रतिमायें स्थापित हैं। प्रतिमाऐं के पादपीठ पर क्रमशः वृशभ, गज व अश्व लांछन बने हुए हैं।

मंदिर क्रमांक–12

इस मंदिर के गर्भगृह के भीतर सहस्त्रकूट चैत्यालय गोलाकार निर्मित है जिस पर तीर्थंकरों की खड्गासन व आसीन मुद्रा में 1008 मूर्तियां बनी हुई हैं।[3] काले पत्थर की बनी हुई नेमिनाथ की बड़ी आकृति एक रथिका में बनी हुई है। इस चैत्यालय में संवत 1846 की तिथि अंकित है। यह तिथि एक अभिलेख में अंकित है । एक अन्य रथिका पर चन्द्रप्रभ की आकृति बनी हुई है। जिस पर संवत 1834 की तिथि अंकित है। मंदिर के गर्भगृह की भित्ति में रथिका पर बायीं ओर पार्श्वनाथ तथा अन्य दो तीर्थंकरों की प्रतिमा बनी हुई हैं। दायें भाग की भित्ती से संलग्न पृथक से तीन तीर्थंकर प्रतिमाएं रखी हुई हैं। इनमें से एक प्रतिमा वृषभनाथ और दूसरी मल्लिनाथ की है । तीसरी प्रतिमा पर कोई लांछन नहीं है। ये तीनों प्रतिमाएं लगभग 200 वर्ष प्राचीन हैं।

मंदिर क्रमांक–13

इस मंदिर में भगवान अभिनन्दन नाथ जी की प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में स्थापित है। मंदिर आधुनिक है किन्तु प्रतिमा लगभग 100 वर्श प्राचीन है।

मंदिर क्रमांक–14

इस मंदिर में श्री सुमितनाथ की पद्मासन मुद्रा में प्रतिमा स्थापित है ।

मंदिर क्रमांक–15

इस मंदिर में पद्मप्रभ की संगमरकर की बनी प्रतिमा स्थापित है। इसमें प्रदम्प्रभ को पद्मासनरथ ध्यानमग्न मुद्रा में दिखाया गया है । इस प्रतिमा में चार अन्य तीर्थंकरों को दिखाया गया है। इसमें दो तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में दिखाये गये हैं। प्रतिमा पर संवत् 1548 की तिथि अंकित है।

मंदिर क्रमांक–16

इस मंदिर में काले पत्थर से बनी तीर्थंकर प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा पर कोई लांछन नहीं है।

मंदिर क्रमांक–17

इस मंदिर में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की संगमरमर की बनी प्रतिमा स्थापित है । प्रतिमा के पादपीठ पर चन्द्र लांछन दिखलाया गया है । प्रतिमा पर संवत् 1548 की तिथि अंकित है ।

मंदिर क्रमांक–18

इस मंदिर में तीर्थंकर पुष्पदंत की पाषाण प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा पर लांछन स्पष्ट नहीं है।

मंदिर क्रमांक–19

इस मंदिर में एक तीर्थंकर प्रतिमा स्थापित है किन्तु इस पर कोई लांछन अंकित नहीं है।

मंदिर क्रमांक 20, 21 व 22 में भी तीर्थंकर प्रतिमाएं स्थापित हैं, किन्तु इन पर लांछन स्पष्ट नहीं है।

मंदिर क्रमांक–23

इस मंदिर में मुख्य प्रतिमा तथा बांयी ओर की प्रतिमा चन्द्रप्रभ की है । इन प्रतिमाओं पर संवत 1548 की तिथि अंकित है । दायीं ओर की प्रतिमा पद्मप्रभ की है। ये तीनों प्रतिमाएं संगमरमर की बनी हुई हैं। मंदिर के गर्भगृह का भीतरी भाग वर्गाकार है और ऊपरी भाग गोलगुम्बदनुमा है। इस मंदिर के फर्श, प्रवेश द्वार आदि का नवीनीकरण किया गया है। मंदिर के ऊपर शिखर बना हुआ है जो गोलाकार गुम्बदनुमा है।

मंदिर क्रमांक–24

यह महावीर मंदिर कहलाता है। मंदिर के गर्भगृह के भीतरी भाग में फर्श तथा भित्ती के नवीनीकरण का कार्य किया गया है । गर्भगृह में स्थापित मूर्तियॉ प्राचीन हैं । इस मंदिर में भगवान महावीर की विशालकाय प्रतिमा स्थापित है। यह पद्मासनस्थ प्रतिमा है। मुख्य प्रतिमा के नीचे एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा बनी हुई है जिस पर कोई लांछन नहीं है । मुख्य प्रतिमा के दोनों ओर काले पत्थर की बनी हुई दो लघु तीर्थंकर प्रतिमाएं रथिकाओं में स्थापित हैं। बायें ओर की प्रतिमा महावीर की व दायें ओर की प्रतिमा ऋषभनाथ की है। दोनों प्रतिमाओं की पीठिका पर संवत 1848 की तिथि अंकित है। भगवान महावीर की मुख्य प्रतिमा के दायें पार्श्वनाथ की वृहत आकार वाली प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में स्थापित है। गर्भगृह में पार्श्व की बांयी भित्ती पर पार्श्वनार्थ व महावीर की व दॉयी भित्ति पर भी महावीर व पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं स्थापित है। गर्भगृह के बाहर चारों ओर प्रदक्षिणापथ है। प्रवेश द्वार के अग्रभाग पर फर्श व दीवारों का नवीनीकरण किया गया है। यह मंदिर अत्यंत विशालकाय है। गर्भगृह के ऊपर गोल गुम्बदनुमा शिखर बना हुआ है।

मंदिर क्रमांक–25

यह पार्श्वनाथ का मंदिर कहलाता है मंदिर के गर्भगृह में भगवान पार्श्वनाथ की काले पत्थर से बनी हुई प्रतिमा स्थापित है, जिसमें उन्हें पद्मासन मुद्रा में दिखाया गया है। यह पार्श्वनाथ की सहस्त्र फण युक्त प्रतिमा है। यह अद्भुत व दर्शनीय प्रतिमा है। काले पत्थर की बनी इस प्रतिमा में उन्हें पद्मासन मुद्रा में दिखलाया गया है । प्रतिमा के सिर और भुजाओं को घेरे हुए पाषाण मण्डप में 1000 सर्पफणों का कलात्मक अंकन है।[4] प्रतिमा पर लेख अंकित है। लेख में रहली नगर का उल्लेख हुआ है और उसे जम्बद्वीप में स्थित बतलाया गया है। इसमें कुंद कुद आचार्य भट्टारक श्री महेन्द्र कीर्ति के नाम का भी उल्लेख हुआ है। माघमास की कृष्णपक्ष की तिथि अंकित है । लेख में प्रतिमा के स्थापितकर्ता की भार्या और उसके पुत्र, प्रपौत्र आदि के नाम वंशावली के साथ दिये गये हैं। मुख्य प्रतिमा के साथ गर्भगृह में अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं भी स्थापित हैं ।

गर्भगृह के भीतर का ऊपरी भाग गोल गुम्बदनुमा है। इस मंदिर के ऊपर गोल गुम्बदनुमा शिखर बनाया गया है। मंदिर लगभग 200 वर्श प्राचीन है, लेकिन इसके भीतरी सम्पूर्ण भाग का जीर्णोद्धार व नवीनीकरण किया जा चुका है।

मंदिर क्रमांक–26

इस मंदिर में पद्मावती देवी की संगमरमर से बनी प्रतिमा स्थापित है। पद्मावती देवी जैन धर्म के 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षी हैं।[5] इसमें देवी के सर्पछत्र के ऊपर पार्श्वनाथ की लघु आकृति भी बनी हुई है। देवी पद्म पीठिका पर आसीन है । प्रतिमा पर संवत 1580 की तिथि अंकित है। इस मंदिर में क्षेत्रपाल, पार्श्वनाथ आदि की प्रतिमाएं भी प्रतिष्ठित हैं। यह मंदिर वस्तुतः पृथक मंदिर न होकर मंदिर क्रमांक 25 के द्वार के समक्ष स्तंभयुक्त मंडप है। इस मंडप के फर्ष आदि का नवीनीकरण किया गया है।

मंदिर क्रमांक–27

इस मंदिर के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की एक बड़ी तथा दो छोटी प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं। इन प्रतिमाओं के लेख में संवत 1548 की तिथि अंकित है। ये प्रतिमाएं संगमरमर की बनी हुई हैं । इनके अतिरिक्त चन्द्रप्रभ की लघु प्रतिमाएं भी प्रतिष्ठित हैं। गर्भगृह के सम्पूर्ण भाग का रंगरोगन करके नवीनीकरण किया गया है। फर्श इत्यादि आधुनिक हैं। गर्भगृह के ऊपर गोलगुम्बदनुमा शिखर बनाया गया है। शिखर के चारों कोनों पर लघु शिखर बनाये गये हैं। गर्भगृह के समक्ष मंडल आयताकार निर्मित है। मंडप की छत सपाट है।

मंदिर क्रमांक–28

इस मंदिर का आकार भी मंदिर क्रमांक 27 के समान है । इस मंदिर में गर्भगृह और उससे संलग्न मंडप बनाया गया है। गर्भगृह चौकोर निर्मित है। उसमें भित्ति से संलग्न काले पत्थर से बनी पार्श्वनाथ की प्रतिमा रथिका के भीतर स्थापित है । बायें और दायें श्वेत वर्ण की चन्द्रप्रभ की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। गर्भगृह के भीतरी भाग का नवीनीकरण किया गया है। यहां के अन्य मंदिरों के समान ही गर्भगृह के भीतर का ऊपरी भाग गोलगुम्बदनुमा है। गर्भगृह से संलग्न आयताकार मंडप है जिसकी ऊपरी छत सपाट है। गर्भगृह के ऊपर नागर श्शैली के अनुकरण पर शिखर बनाया गया है। शिखर का ऊपरी भाग आमलक व कलश से सज्जित है । पूर्वाभिमुख निर्मित इस मंदिर के पूर्वी भाग पर गज का अंकन है। शिखर के चार कोनों पर चार लघु देवालय निर्मित हैं ।

इस प्रकार पटनागंज के समस्त मंदिरों का स्थापत्य 17 वीं, 18 वीं शताब्दी का प्रतीत होता है। मंदिरों में स्थापित कतिपय मूर्तियॉ जो अधिक प्राचीन हैं, जिनका समय 16 वीं शताब्दी से पहले का है तथा ये मूर्तियॉ संगमरमर की बनी हुई है, बाहर से लाकर इन मंदिर में प्रतिष्ठित की गई हैं। मंदिरों के स्थापत्य में यद्यपि कोई विशेषता नहीं है किन्तु प्राचीन नागर शैली के शिखर और मुगल वास्तु के गोलगुम्बद का मिश्रित स्वरूप शिखर के स्थापत्य में दृष्टिगोचर होता है । पटनागंज के समस्त मंदिरों को एक अहाते से घेरा गया है। यहॉ के जैन समुदाय द्वारा सभी मंदिरों की पूजा की जाती है तथा ट्रस्ट के द्वारा इन मंदिरों की देख रेख की जा रही है।

संदर्भः–

1– पचौरी, एस.एम., रहली तहसील का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य, पृ. 11
2– अली, एस.एम., ज्यॉग्रफी ऑफ द पुराणाज, पृ. 118–19
3– जैन बलभद्र, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, वर्ष 1976, पृ. 177.
4– वही. पृ. 179
5– वाजपेयी, मधुलिका, मध्यप्रदेश में जैन धर्म का विकास, वर्श 1989, पृ. 15

3 खजुराहो की मूर्तिकला में स्त्री विमर्श

डॉ. (सुश्री) शरद सिंह

चंदेल काल भारतीय इतिहास के पन्नों पर स्थापत्य एवं मूर्तिकला का स्वर्णिम युग कहा जा सकता हैं। इस युग की सामाजिक व्यवस्था को तत्कालीन मूर्तिशिल्प से जाना और समझा जा सकता है। जब इतिहास के पन्नों पर दर्ज़ किसी समाज का प्रश्न उठता है तो यह प्रश्न स्वयंमेव कौंध जाता है कि वह कैसा समाज था– विकसित या संकुचित? उस समय स्त्री की स्थिति क्या थी? क्या उसे समाज में पुरुशों के समान अधिकार प्राप्त थे? क्या उसे समाज में उचित सम्मान प्राप्त था? कैसा था उसका जीवन? यही सारे प्रश्न चंदेलकालीन समाज और उसमें स्त्रियों की स्थिति के संदर्भ में उठना स्वाभाविक है। यूं भी चंदेलकाल का नाम आते ही खजुराहो की छवि आंखों में तैर जाती है और खजुराहो पाषाण प्रतिमाओं स्त्रियों की आकृतियों को देख कर देखने वाला दांतों तले उंगली दबा लेता है। अतः इस प्रश्न के उत्तर को पाना आवश्यक लगने लगता है कि चंदेलकाल में स्त्रियों की क्या स्थिति थी?

जहां तक स्त्रीविमर्श का प्रश्न है तो स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति, नारीवादी आंदोलन आदि किसी भी दिशा से विचार किया जाए इन सभी के मूल में एक ही चिन्तन दृष्टिगत होता है, स्त्री के अस्तित्व को उसके मौलिक रूप में स्थापित करना। स्त्री विमर्श को ले कर कभी–कभी यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि इसमें पुरुश को पीछे छोड़ कर उससे आगे निकल जाने का प्रयास है किन्तु 'विमर्श' तो चिन्तन का ही एक रूप है जिसके अंतर्गत किसी भी विशय की गहन पड़ताल कर के उसकी अच्छाई और बुराई दोनों पक्ष उजागर किए जाते हैं जिससे विचारों को सही रूप ग्रहण करने में सुविधा हो सके। स्त्री विमर्श के अंतर्गत भी यही सब हो रहा है। समाज में स्त्री के स्थान पर चिन्तन, स्त्री के अधिकारों पर चिन्तन, स्त्री की आर्थिक अवस्थाओं पर चिन्तन तथा स्त्री की मानसिक एवं षारीरिक अवस्थाओं पर चिन्तन – इन तमाम चिन्तनों के द्वारा पुरुष के समकक्ष स्त्री को उसकी सम्पूर्ण गरिमा के साथ स्थायित्व प्रदान करने का विचार ही स्त्री विमर्श है। प्राचीन ग्रंथ इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि वैदिक युग में समाज में स्त्री का विषेश स्थान था। उन्हें यह अधिकार था कि वे शिक्षा प्राप्त कर सकें, उन्हें यह भी अधिकार था कि वे अविवाहित रह कर अध्ययन एवं आत्मोत्थान के प्रति समर्पित जीवन व्यतीत कर सकें, उन्हें अधिकार था कि वे पुरुषों के समान कार्य करती हुई उन्हीं की भांति सम्मान पा सकें, उन्हें चिकित्सा, नक्षत्र विज्ञान तथा मार्शल आर्ट पढ़ने–सीखने का भी अधिकार था। स्त्रियों के संदर्भ में इतिहास का मध्ययुग वह क्षोभनीय युग था जब

विदेशी आक्रांताओं ने देश पर आक्रमण किया और उनके द्वारा अपमानित किए जाने के भय से स्त्रियों को घरों में 'बंदी' बना दिया गया। उनके अधिकार एक–एक कर के छीन लिए गए, उनकी मनुष्य रूपी स्वतंत्रता के पंख काट दिए गए। सामाजिक जीवन में स्त्रियों की सहभागिता वास्तविक कम और प्रदर्शनीय अधिक रह गई। यहीं से उनके आर्थिक एवं शैक्षिक अधिकारों का हनन आरम्भ हुआ। किन्तु ब्रिटिश शासन के अंतर्गत ही स्त्रियों को बराबरी के अधिकार दिए जाने के प्रयास शुरू किए गए। राजा राममोहन राय, ऐनी बेसेन्ट, सरोजनी नायडू, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महात्मा फुले आदि ने स्त्रियों को उन कुरीतियों से बचाने के लिए ऐतिहासिक प्रयास किए जिन कुरीतियों के कारण स्त्रियों को सती होना पड़ता था, बहुपत्नी प्रथा की शिकार होना पड़ता था तथा बालविवाह की जंजीरों में जकड़े रहना पड़ता था। समाज स्त्री और पुरुष से मिल कर बनता है अतः स्वाभाविक रूप से स्त्रियां समाज का आधा भाग होती हैं। यदि समाज में आधा भाग (पुरुष) स्वतंत्र और सर्वअधिकार प्राप्त हो और वहीं दूसरा आधा भाग (स्त्री) परतंत्र और अधिकारविहीन हो तो उस समाज को स्वस्थ और संतुलित समाज नहीं कहा जा सकता है। चंदेल काल से पूर्व सामाजिक नियमों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकारों को बाधित करना आरम्भ कर दिया था, फिर चंदेल काल में स्त्रियों की दशा क्या थी? इसे जानने के लिए चंदेलकला की जीवन्त मूर्तियों के रास्ते उस युग के विचारों तक पहुंचना होगा।

खजुराहो का निर्माता चंदेलवंश

चंदेलवंश के षासन के दौरान समाज में स्त्रियों की स्थिति का आकलन करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि खजुराहो का निर्माता चंदेलवंश किस प्रकार उस भू–भाग पर स्थापित हुआ जो आधुनिक समय में बुन्देलखण्ड कहलाया। बुन्देलखण्ड की भूमि पर चन्देलों का राजनीतिक जीवन गुर्जर–प्रतिहार सम्राटों के सामन्त के रूप में प्रारम्भ हुआ। चन्देल अभिलेखों के आधार पर नन्नुक को प्रथम चंदेल राजा माना गया है। नन्नुक का शासनकाल सन् 825 ई. से 840 ई. था। नन्नुक का विरूद अथवा दूसरा नाम चन्द्रवर्मा था। यद्यपि उसके लिय 'नृपति' अथवा 'महीपति' का ही प्रयोग अभिलेखों में किया गया है। जिससे अनुमान होता है कि गुर्जर–प्रतिहार सम्राट नागभट्ट द्वितीय के सामंत के रूप में नन्नुक ने अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया था। इस प्रकार चंदेल साम्राज्य की नींव रखने का श्रेय नन्नुक को ही जाता है।

नन्नुक के बाद उसका पुत्र वाक्पति (845–865 ई.) चंदेलों का अधिपति बना। वाक्पति बुद्धि और वाणी का धनी था। खजुराहो अभिलेखों में उसे पृथु और कुकुत्स्थ के समतुल्य बताया गया है। यद्यपि वाक्पति का विरूद भी 'क्षितिप' अथवा 'पृथ्वीपति' से अधिक नहीं रहा। अर्थात वाक्पति की स्थिति भी गुर्जर–प्रतिहारों के सामन्त की थी। उसने अपनी सामन्तीय शक्ति का उपयोग विन्ध्य क्षेत्र में अपनी शक्ति के विस्तार करने में किया।

वाक्पति के दो पुत्र हुए, जयशक्ति और विजयशक्ति। जयशक्ति का जेजा अथवा जेज्जक तथा विजयशक्ति का विजय, विज्ज अथवा विज के नामों से भी उल्लेख मिलता है। वाक्पति के उपरान्त जयशक्ति शासक बना। जयशक्ति की मृत्यु के बाद विजयशक्ति सिंहासनारूढ़ हुआ। इन दोनों भाइयों के शासनकाल की अवधि का सम्मिलित उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार उन्होंने सन् 865 ई. से 885 ई. तक शासन किया। अभिलेखों में दोनों भाइयों का उल्लेख भी साथ–साथ किया। एक महोबा अभिलेख

के अनुसार जयशक्ति ने अपने नाम पर अपने राज्य का नाम जेजाकभुक्ति उसी प्रकार रखा था जिस प्रकार पृथु ने भूलोक का नामकरण पृथ्वी किया था। जयशक्ति तथा विजयशक्ति दोनों ने अपनी राज्य शक्ति को सुदृढ़ बनाया। जयशक्ति ने शासन प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान दिया जबकि विजयशक्ति ने समकालीन राजनीति में अपने वर्चस्व को बढ़ाया। उसने सुदूर दक्षिण तक आक्रमण किए। विजयशक्ति ने पाल शासक देवपाल के सहयोग के रूप में दक्षिण विजय में भूमिका निभाई। यद्यपि कुछ इतिहासकार इस तथ्य से सहमत नहीं है। फिर भी चंदेल शक्ति के विस्तार और वर्चस्व में श्री वृद्धि के संबंध में जयशक्ति और विजयशक्ति के महत्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता है।

विजयशक्ति के बाद उसका पुत्र राहिल (885–905 ई.) शासक बना। वह वीर योद्धा था। उसका शासनकाल लगभग शांति पूर्ण रहा। उसके शासन के दौरान कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी।

राहिल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हर्षदेव (905–925 ई.) में सिंहासनरूढ़ हुआ। हर्षदेव ने चंदेलों की शक्ति सामर्थ्य तथा ऐश्वर्य के एक नवीन युग का सूत्रपात किया। गुर्जर–प्रतिहार सम्राट महेन्द्रपाल की सन् 907 ई. में मृत्यु के पश्चात् कन्नौज में प्रतिहारों के मध्य गृहकलह उभर कर सामने आ गया। इस अवसर पर हर्षदेव ने भी अपनी राजनीतिक सक्रियता से काम लिया। राष्ट्रकूटों के आक्रमण से पराजित क्षितिपाल अथवा महीपाल को 917 ई. में पुनः सिंहासनासीन कराया। सामन्त की स्थिति में होते हुए भी हर्षदेव ने गुर्जर–प्रतिहार वंश को पुनर्स्थापित करने में योगदान देकर चंदेलों की शान्ति और प्रतिष्ठा को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। हर्षदेव ने वैवाहिक संबंधों द्वारा भी चंदेल शक्ति को मजबूत किया। उसने स्वयं चाहमान की पुत्री कंचुका से विवाह किया। अपनी पुत्री नट्टदेवी का विवाह कलचुरी नरेश कोक्कल्ल से किया। हर्ष देव की इन नीतियों को उसके उत्तराधिकारियों ने अपनाया।

हर्ष देव की मृत्यु पश्चात उसके पुत्र यशोवर्मन (925–950 ई.) ने साम्राज्य संभाला। उसने अपने पिता की नीतियों को अपनाते हुए पतनशील प्रतिहार साम्राज्य के अवषेशों पर चंदेल साम्राज्य के नवीन विकास का भवन खड़ा किया। उसने बंगाल में गौड़ से उत्तर पश्चिम में खश तक आक्रमण किये। खजुराहो अभिलेख (954 ई.) के अनुसार यशोवर्मन ने गौड़, खश, कोसल, चेदि, कुरू, मिथिला, मालवा, काश्मीर तथा गुर्जरों पर विजय प्राप्त की थी। उस की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विजय कालंजर पर विजय थी जिस के द्वारा चंदेलों की गणना एक शक्तिशाली राजवंश के रूप में होने लगी। 954 ई. के खजुराहो अभिलेख के अनुसार यशोवर्मन ने एक भव्य विष्णु मंदिर का निर्माण कराया, जो वर्तमान समय में लक्ष्मण मंदिर के नाम से जाना जाता है। इस मंदिर का स्थापत्य एवं अलंकरण चंदेलों की शक्ति एवं प्रतिश्ठा के अनुरूप विशिष्ट है। खजुराहो अभिलेख (954 ई.) के अनुसार इस मंदिर में प्रतिष्ठा हेतु बैकुण्ठ नाथ की प्रतिमा यशोवर्मन को हेरम्बपाल के पुत्र हयपति देवपाल से प्राप्त हुई थी। वही प्रतिमा आज भी मंदिर में मौजूद है।

यशोवर्मन की मृत्यु पश्चात् उसका पुत्र धंग (950 से 1008 ई.) सिंहासनारूढ़ हुआ। धंग का शासनकाल चंदेल का इतिहास महत्वपूर्ण शासनकाल है। इसी समय चंदेल और प्रतिहार राजवंशों के बीच नया अध्याय शुरू हुआ। उसने प्रतिहारों के विरूद्ध चंदेलों की स्वतंत्र सत्ता की घोषणा की गोपाद्रि (ग्वालियर) पर विजय प्राप्त कर के प्रतिहारों पर चंदेल की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी। इस प्रकार धंग के समय चंदेल राज्य की सीमा कालिंजर से मालव नदी तक, मालव नदी से कालिंदी तक, कालिंदी से चेदि राज्य तक, तथा चेदि राज्य से गोपाद्रि तक जा पहुंची थी। 1202 ई. के खजुराहो अभिलेख के अनुसार कोसल, क्रथ, सिंहल और कुंतल के शासक उसकी आज्ञा का पालन करते थे। जबकि काँची, आन्ध्र तथा अंग के

शासकों की रानियां उसके कारावास में थी। धंग ने गजनी के सुल्तान महमूद हम्वीर के विरूद्ध शासक जयपाल की सहायता की थी। मुस्लिम इतिहासकारों ने भी इसका उल्लेख किया है। धंग एक महान विजेता ही नहीं अपितु कला एवं स्थापत्य का महान संरक्षक भी था। उसके शासनकाल में विश्वनाथ और पार्श्वनाथ के श्रेष्ठतम मंदिरों का निर्माण हुआ। विश्वनाथ मंदिर का निर्माण उसने स्वयं कराया था जबकि पार्श्वनाथ मंदिर का निर्माण उसके द्वारा सम्मानित पाहिल द्वारा कराया गया था।

धंग के बाद उसका पुत्र गंड (1008–1017 ई.) सिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल में शान्ति का वातावरण रहा। जगदम्बा मंदिर और चित्रगुप्त मंदिर गंड के काल में ही निर्मित हुये थे। गंड के पश्चात उसका पुत्र विद्याधर (1017–1029 ई.) शासक हुआ। विद्याधर ने चंदेलों के गौरव को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इतिहासकार इब्नुल–अथीर ने विद्याधर का ''बीदा'' के नाम से उल्लेख करते हुए उसे अपने समय का भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बताया है। विद्याधर ने कल्चुरियों एवं परमारों को पराजित नहीं किया बल्कि सुल्तान महमूद के द्वारा कालंजर पर किये गये दोनों आक्रमणों का (1019–1022 ई. में) वीरता पूर्वक विरोध किया। इतिहासकार कृष्ण देव के अनुसार खजुराहो का विशालतम एवं श्रेष्ठतम कंदरिया महादेव मंदिर विद्याधर के समय निर्मित हुआ।

विद्याधर की मृत्यु के पश्चात् कल्चुरियों और मुस्लिमों के आक्रमण बढ़ते चले गये। परवर्ती चंदेल नरेश आवश्यकता अनुरूप योग्य शासक सिद्ध नहीं हो सके। उन्होंने महोबा, अजयगढ़ और कालंजर के दुर्गों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा। चंदेल शक्ति के क्रमषः पतन के साथ–साथ खजुराहो का महत्व भी क्षीण होता गया। फिर भी खजुराहो की मंदिर निर्माण परंपरा बारहवीं शताब्दी तक गतिमान रही। वामन, आदिनाथ, जवारी और चतुर्भुज मंदिर का निर्माण हुआ। शैव मंदिर दूला देव मंदिर का निर्माण बारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। जय वर्मन के 1117 ई. के खजुराहो अभिलेख से पता चलता है कि कला की दृष्टि से परवर्ती चंदेल नरेशों ने खजुराहो के महत्व को कायम रखा। विजयपाल (1029–1051 ई.) कीर्ति वर्मन (1070–1098 ई.), और मदन वर्मन (1129–1163 ई.) के शासन काल में विभिन्न मंदिरों का निर्माण हुआ। इब्न बतूता के विवरण से स्पष्ट होता है कि खजुराहो का राजनैतिक महत्व कम होने पर भी लगभग 1335 ई. तक मंदिर स्थापत्य तथा कलात्मकता गतिशील रही।

कैसा था चंदेलकालीन समाज ?

प्राचीन भारत में सामाजिक संरचना विभिन्न तत्वों पर आधारित थी। उसमें आश्रम एवं पुरुशार्थ का विषेश स्थान था। पारिवारिक संगठन को विशेष महत्व दिया जाता था। उल्लेखनीय है कि परिवार और समाज धार्मिक विधि एवं नियमों एक व्यवस्था और परम्परा के रूप में पालन करते थे। प्राचीन भारतीय समाज में परिवार को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। प्राचीन ग्रंथों से तत्कालीन पारिवारिक संरचना एवं उसके संगठन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मानव जीवन मं दाम्पत्य जीवन का संतति की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व था। परिवार में पुत्र तथा पुत्री की स्थिति निर्धारित रहती थी। वृद्धों के प्रति प्राचीन भारतीय समाज में परम्परागत विचार थे।

परिवार मानव सभ्यता के विकास का वह रूप है जो मनुष्य को सुव्यवस्थित, सुसंगठित एवं आपसी सहयोग की भावना से रहना सिखाता है। परिवार को समाज का एक ऐसा लघु रूप कहा जा सकता है जिसमें हर आयु वर्ग के, विभिन्न विचारों वाले मनुष्य एक साथ रहते हैं तथा परस्पर सहयोग के द्वारा

अपना संगठन बनाए रखते हैं। इस संगठन का आधार प्रायः रक्त संबंध तथा वैवाहिक संबंध होता है। परिवार के संबंध में आधुनिक समाजशास्त्रियों के जो विचार हैं लगभग वही विचार प्राचीन भारतीय समाज में भी पाए जाते थे। बर्गेस एवं लॉक के अनुसार–' परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा संगठित है। एक छोटी–सी गृहस्थी का निर्माण करता है और पति–पत्नी, माता–पिता, पुत्र–पुत्री, भाई–बहन के रूप में एक दूसरे से अंतःक्रियाएं करता है तथा एक सामान्य संस्कषति का निर्माण और देख–रेख करता है।'

ऑग्बर्न तथा निमकॉफ के अनुसार–' परिवार लगभग एक अस्थाई समिति है जो पति–पत्नी से निर्मित होती है, चाहे उनकी संतान हो या न हों।'

किंग्सले डेविस के अनुसार–'' परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनके पारस्परिक संबंध सगोत्रता पर आधारित होते हैं और जो इस प्रकार एक–दूसरे के रक्त संबंधी होते हैं।''

मैक आइवर तथा पेज के अनुसार –''सामाजिक संगठनों में परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन होता था।''

चंदेल समाज भी इन्हीं सामाजिक स्तरों से निर्मित था। उसमें भी जाति एवं धर्म का विशेष स्थान था। किन्तु एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि चंदेल राजाओं ने जिस रूचि के साथ हिन्दू मंदिरों का निर्माण कराया, उसी रुचि के साथ जैन मंदिरों का भी निर्माण कराया। यहां तक कि बौद्ध प्रतिमाएं भी उन स्थानों से प्राप्त हुई हैं जो कभी चंदेल साम्राज्य के आधीन थे। यह तथ्य समाज की सकारात्मक सोच का परिचायक है। खजुराहो की प्रतिमाओं में जातिगत कट्टरता के भी कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं जबकि देवता, राजा से ले कर किसान और सेवक तक की मूर्तियां उकेरी गई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवैदिक युग में जब समूचा भारतीय समाज ऊंच–नीच के भेद तथा स्त्रियों को हीन समझने की राति–नीति को अपनाने लगा था, चंदेल समाज स्वस्थ परम्पराओं का निर्वाह कर रहा था। चंदेल समाज के विचार उस उच्चता तक पहुंच चुके थे जहां समाज का हर वर्ग विस्तृतदृष्टिकोण का पोशक था। अन्यथा क्या यह संभव हो पाता कि मंदिर की भित्तियों पर मिथुन मूर्तियों का उन्मुक्त भाव से अंकन किया जाए और राजा के विरुद्ध कोई विद्राह न हो अथवा राजा के प्रति कोई घात न हो? यह संभव तभी हो सकता था जब समान्य जनता के विचारों में भी पर्याप्त खुलापन और सुदीर्घता हो। क्यों कि ये सभी मंदिर किसी एक राजा के राजत्वकाल में नहीं अपितु एक वंष के कार्यकाल में निर्मित हुए। निःसंदेह ऐसे समाज में स्त्रियों को बहुमुखी विकास करने का अवसर अवष्य मिला होगा।

चंदेल प्रतिमाओं में स्त्री के विविध रूप

चंदेल काल में स्त्रियों की स्थिति का लेखा–जोखा खजुराहो की मंदिर–भित्तियों पर प्रमाणस्वरूप देखा जा सकता है। गुप्त काल तथा गुप्तोत्तर काल में दाम्पत्य जीवन पत्नी की समर्पित भावना पर आधारित हो गया था। मनुस्मृति के अनुसार –'पत्नी को चाहिए कि वह अपने पति की सेवा करे, उसके आदेशों का पालन करे तथा दासी की भांति उसके पैर दबाए और सेवा करे।'मौर्य काल में पुत्रियों का विवाह कम आयु में किया जाने लगा। जिससे पुत्रियों की शिक्षा–दीक्षा का स्तर घट गया। परिवार में भी पुत्रियों का महत्व कम होने लगा। किन्तु चंदेल काल में ये दोनों स्थितियों के प्रमाण नहीं मिलते हैं। चंदेल प्रतिमाओं में विषेशरूप से खजुराहो की प्रतिमाओं में जहां स्त्री का प्रचुर अंकन हैं, तत्कालीन समाज में स्त्री के विविध रूपों का सहजता से आकलन किया जा सकता है। ये प्रमुख रूप हैं–

1. देवी – खजुराहो के मंदिरों में स्त्री के देवित्व को विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इनमें मातृदेवी, शक्ति देवी, संहारिका तथा देव–अर्द्धांगिनी रूप प्रमुख है। देव प्रतिमाओं के साथ शक्ति की प्रतीक देवियों की पूजा के प्रचलन का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व में तथा विराट पर्व में करते हुए देवी पूजा को आवश्यक बताया गया है। महाभारत काल में ही दुर्गा के विभिन्न रूपों का प्रथम परिचय मिलता है। उन्हें कौमारी, काली, कापालि, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौषिकी, उमा, कान्तार–वासिनी आदि नामों से संबंधित किया गया है। ''महाभारत'' के ''विराट पर्व'' में ही दुर्गा को महिषासुर मर्दिनी कहा गया है। खजुराहो में लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और दुर्गा के सभी रूपों की मूर्तियां हैं।

स्त्री की शक्ति को सम्मानित स्थान देने के लिए देवी की कल्पना की गई। यह कल्पना धीरे–धीरे इतनी काल्पनिक होती गई कि स्त्री और देवी के बीच गहरा विभाजन कर दिया गया। स्त्री लौकिक रही और स्त्री की शक्ति को देवी के रूप में अलौकिकता की मान्यता दे दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि संकट पड़ने पर स्त्री अपनी शक्ति को पहचानने के स्थान पर काल्पनिक अलौकिक स्त्री शक्ति का सहारा ढूंढने लगी। खजुराहो में भी देवियों के रूप में स्त्री शक्ति का अलौकिक सम्पूर्ण कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। स्त्री के इस अलौकिक देवी रूप को पुरुषों के अलौकिक दैवीय रूप देवता से कहीं भी कम कर के प्रदर्शित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, लक्ष्मण मंदिर की आंतरिक प्रदक्षिणा में दायीं ओर देवी अंबा की सुन्दर मूर्ति है जिसमें अंबा के हाथों में जहां वरद मुद्रा है वहीं पाश, पद्म और खप्पर है। जगदम्बा मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति पर देवी शिवा को वरद एवं घट के साथ त्रिशूल, सर्पधारी प्रदर्शित किया गया है। खजुराहो में देवी योगेश्वरी की शटभुज, अष्टभुज और दशभुज मूर्तियां हैं जो शक्ति की क्षमता को दर्शाती हैं। षटभुज मूर्ति में शूल, त्रिशूल, घण्टिका, सर्प, डमरू तथा खट्वांग धारण किए हैं। अष्टभुज मूर्ति में योगेश्वरी के हाथों में त्रिशूल, डमरू, खड्ग तथा खेटक हैं। दशभुज मूर्ति में त्रिषूल, खड्ग, घण्टिका, अभय मुद्रा, खप्पर, खेटक, घट, छुरा और वरद मुद्रा है। अर्थात् स्त्री शक्ति में जहां अभय रूपी वरदान देने, क्षमा करने की क्षमता होती है वहीं वह असुर रूपी अमानवीय शक्तियों का विनाश भी कर सकती है। देव प्रतिमाओं के साथ शक्ति की प्रतीक देवियों की पूजा के प्रचलन का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व में तथा विराट पर्व में करते हुए देवी पूजा को आवश्यक बताया गया है। महाभारत काल में ही दुर्गा के विभिन्न रूपों का प्रथम परिचय मिलता है। उन्हें कौमारी, काली, कापालि, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, उमा, कान्तार–वासिनी आदि नामों से संबंधित किया गया है। ''महाभारत'' के ''विराट पर्व'' में ही दुर्गा को महिषासुर मर्दिनी कहा गया है। खजुराहो में लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और दुर्गा के सभी रूपों की मूर्तियां हैं :–

खजुराहो में लक्ष्मी चतुर्भुजी मूर्तियां हैं। जिनमें वरदमुद्रा तथा अभय मुद्रा प्रदर्शित है। वामन मंदिर के गर्भ गृह द्वार में अवस्थित मूर्ति में लक्ष्मी को कमल, चक्र एवं घट धारण किये हुए उत्कीर्ण किया गया है। लक्ष्मण मंदिर तथा कंदरिया महादेव मंदिर की आंतरिक प्रदक्षिणा में आसन मुद्रा में लक्ष्मी को कमल अमष्त घट, वरद मुद्रा, अक्षमाला अथवा शंख (104) धारण किये दिखाया गया है। खजुराहो संग्रहालय में संग्रहीत लक्ष्मी प्रतिमा की ऊपरी दो भुजाओं में कमल पुश्प है जबकि प्रथम भुजा अभय मुद्रा में, चौथी भुजा में अमृत घट है। इसी प्रकार की एक अन्य प्रतिमा में देवी के प्रथम हाथ में बिल्व फल है तथा चौथा हाथ कटि पर अवस्थित है। लक्ष्मी के साथ गज का भी प्रदर्षन है।

वाहन की दृष्टि से खजुराहो में लक्ष्मी की एक अद्वितीय प्रतिमा है। आसन मुद्रा में लक्ष्मी अभय एवं अमृत घट धारण किये हैं। दो गज उनका जलाभिषेक कर रहे हैं। जबकि वाहन के रूप में सिंह उत्कीर्ण हैं। लक्ष्मी के साथ सिंह को वाहन के रूप में अंकित किये जाने का यह अद्वितीय उदाहरण है। इतिहासकार बी.सी.भट्टाचार्य ने लक्ष्मी के साथ सिंह वाहन के प्रचलन का समर्थन किया है। 'अंशुमद्भेदागम्' के अनुसार सरस्वती को वीणा, अक्षमाला, पुस्तक और कमलधारिणी होना चाहिये।

पार्श्वनाथ मंदिर की दायीं बहिर्भित्ति पर अंकित सरस्वती की प्रथम भुजा में वीणा, तष्तीय भुजा में कमल तथा द्वितीय और चतुर्थ भुजा में वरद मुद्रा है। किन्तु कंदरिया महादेव मंदिर की आधार भित्ति पर अंकित सरस्वती की प्रथम और चतुर्थ भुजा में वीणा द्वितीय भुजा में पुस्तक और तृतीय भुजा में कमल है। जबकि विश्वनाथ मंदिर के गर्भगृह द्वार पर और चतुर्भुज मंदिर के गर्भ गृह द्वार के उच्च स्तंभ पर अंकित प्रतिमाओं में सरस्वती के द्वितीय हाथ में कमलनाल, तृतीय हाथ में पुस्तक, शेष में वीणा प्रदर्शित है। वामन मंदिर की दांयी बहिर्भित्ति पर तथा पार्ष्वनाथ और जगदम्बा मंदिर की बांयी बहिर्भित्ति पर अंकित सरस्वती की मूर्तियों में उन्हें वरद् मुद्रा, कमल, पुस्तक, वीणा अथव घट सहित दिखाया गया है। खजुराहो में सरस्वती की अन्य प्रतिमाये भी है। जिनमें उनकी छः और आठ भुजायें हैं।

खजुराहो में दुर्गा की विभिन्न प्रतिमायें हैं, जिनमें उन्हें सिंह और हिरण वाहनों के साथ उत्कीर्ण किया गया है विश्वनाथ मंदिर की आंतरिक प्रदक्षिणा में पार्ष्व और वरद् मुद्रा धारी हैं। जबकि लक्ष्मण मंदिर के सामने, बायें लघु मंदिर की बाहरी भित्ति पर वरद् मुद्रा, कमल और घट धारी हैं। सिंह वाहिनी श्रेणी में दुर्गा को वरद मुद्रा, त्रिशूल, पुस्तक और घट धारी दिखाया गया है। दुर्गा के हाथ में शस्त्रों के साथ पुस्तक का उत्खचन किया जाना इस बात को निरूपित करता है कि खजुराहो के मूर्तिशिल्पी संभवतः शस्त्र और शस्त्र के महत्व की समानता को प्रदर्शित करना चाहते थे। जबकि शट्भुजी प्रतिमा में सिंह वाहिनी दुर्गा को वरद् मुद्रा, त्रिशूल, और कमंडलु धारी प्रदर्शित किया गया है। दुर्गा के अन्य रूप भी खजुराहो में प्रदर्शित हैं जो इस प्रकार हैं–दुर्गा, नंदा, देवी, भुवनेष्वरी, सर्वमंगला, घंटाकर्णी, महिषासुर मर्दिनी दुर्गा के उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य रूपों की मूर्तियां भी खजुराहो में उत्कीर्ण हैं। ये रूप हैं –अम्बिका, त्रिपुरा, पार्वती, गौरी, अंबा, शिवा, योगेश्वरी आदि। इस प्रकार खजुराहो में शाक्त देवी दुर्गा और उनके विभिन्न रूपों की मूर्तियां हैं।

पुराणों में वर्णित कथा के अनुसार (122) सप्त देवों, ब्रह्मा, महेश्वर, कुमार, विष्णु, वाराह, इन्द्र और यम ने अपनी शक्तियां शिव की सहायता के लिए प्रदान की थीं। ये शक्तियां अपने–अपने देवों के अनुरूप नामों से जानी गई हैं। आदिनाथ मंदिर तथा जगदम्बा मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति पर तथा वामन मंदिर के गर्भगृह द्वार के भीतरी भाग में देवी वैश्णवी की सुन्दर मूर्तियां है जिनमें वे वरद मुद्रा, गदा, चक्र और शंख धारण किए हैं तथा गरूड़ वाहन पर आसीन हैं। देवी मंदिर के गर्भगृह में, कंदरिया महादेव मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति पर तथा चौंसठ योगिनी मंदिर में स्रुवा,पुस्तक और घटधारी, हंसवाहिनी मूर्तियां हैं। जिनमें से दो प्रतिमाओं में त्रिभुजी रूप है। लक्ष्मण मंदिर की दायीं बहिर्भित्ति पर अंकित ब्रह्माणी की मूर्ति में उनके एक हाथ में कमण्डलु भी अंकित है। कंदरिया महादेव मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति पर अभयमुद्रा, और सर्प से युक्त देवी महेश्वरी की सुंदर मूर्ति है। देवी चामुण्डा के विभिन्न रूपों की मूर्तियां खजुराहो में हैं। इन्हें दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है – (अ) रूद्र चामुण्डा तथा (ब) सिद्ध योगेश्वरी।

दूलादेव मंदिर के गर्भ गृह द्वार पर रूद्र चामुण्डा अर्थात कंकाली की डमरू, त्रिशूल, खप्पर, तथा नरमुण्ड धारी शट्भुजी मूर्ति है। सिद्ध योगेश्वरी की मूर्तियां खजुराहो संग्रहालय में संग्रहीत हैं जिनमें बारह भुजी देवी नग्न मानव का शरीर उठाए, क्रोधित मुद्रा में हैं। खजुराहो संग्रहालय में संग्रहीत वाराही की मूर्ति में देवी वृष वाहन के साथ खप्पर धारण किए हुए हैं। कंदरिया महादेव मंदिर और आदिनाथ मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति पर त्रिमुखी कौमारी शक्ति एवं पाष धारण किए हैं तथा साथ में मयूर वाहन है। पार्श्वनाथ मंदिर की बायीं बर्हिभित्ति पर अंकित मूर्ति में एकमुखी तथा पुश्प धारिणी रूप है। इसमें भी मयूर वाहन अंकित है। सातवीं सप्तमातृका देवी इन्द्राणी की एक भी स्वतंत्र मूर्ति खजुराहो में उत्खचित नहीं है। खजुराहो में सूर्या, सावित्री, रूद्रा, वारूणी, नरसिम्ही, सद्योजात, मनसा, मनोन्मानी तथा गंगा–यमुना की सुन्दर मूर्तियां हैं।

इसी प्रकार ज्ञान की पूर्णता की परिचायक सरस्वती को मंदिरों की दीवारों पर प्रमुखता से स्थान दिया गया है। पार्ष्वनाथ मंदिर की दायीं बहिर्भित्ति पर अंकित सरस्वती की प्रथम भुजा में वीणा, तृतीय भुजा में कमल तथा द्वितीय और चतुर्थ भुजा में वरद मुद्रा है, कंदरिया महादेव मंदिर की आधार भित्ति पर अंकित सरस्वती की प्रथम और चतुर्थ भुजा में वीणा द्वितीय भुजा में पुस्तक और तृतीय भुजा में कमल है, विश्वनाथ मंदिर के गर्भ गृह द्वार पर और चतुर्भुज मंदिर के गर्भ गृह द्वार के उच्च स्तंभ पर अंकित प्रतिमाओं में सरस्वती के द्वितीय हाथ में कमल नाल, तृतीय हाथ में पुस्तक, शेष में वीणा प्रदर्शित है। यहां यह तथ्य रेखांकित किए जाने योग्य है कि मानवीय बुद्धि की प्रदाता एक देवी को माना गया है जो स्त्री स्वरूपा है। वह प्रकषति, संगीत और ज्ञान में सामन्जस्य स्थापित करके मनुष्य को बौद्धिक पूर्णता प्रदान करती है तथा उसे अन्य जीवधारियों से अलग, श्रेष्ठ बनाती है। वह बुद्धि देते समय स्त्री और पुरुष में भेद नहीं करती है। अतः जिस समाज में सरस्वती जैसी बुद्धिदायिनी की कल्पना को स्थापित किया गया तथा सर्वमान्यता द्वारा स्वीकार किया गया, उसी समाज में स्त्री को पुरुषों से कम बौद्धिक क्षमता वाला माना जाना हास्यास्पद ही कहा जा सकता है किन्तु चंदेल कला में बुद्धिदायिनी सरस्वती को देवताओं के समतुल्य स्थान दिया गया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि चंदेल समाज में स्त्री की बौद्धिकता का सम्मान किया जाता था।

2. अप्सरा – स्त्री के सौंदर्य को मापने का एक आधार 'अप्सरा' शब्द को माना जा सकता है। यह पृथ्वी में उपस्थित समस्त स्त्रियों में सबसे अधिक सुन्दर स्त्रियों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है कि 'फलां अप्सरा जैसी सुन्दर है।' 'अप्सरा' यह भी एक काल्पनिक मापक है जिसे इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों और पुरुषों दोनों के द्वारा स्वीकार किया गया। इस शब्द का भौतिक अर्थ है सर्वांग सुन्दरी। इसी अर्थ को आधार बना कर चंदेल कला में स्त्री के अप्सरा रूप को उत्खचित किया गया है।

जहां तक सौंदर्य का प्रश्न है तो सौंदर्य के संबंध में विद्वानों के भिन्न–भिन्न विचार पाए जाते हैं किन्तु सभी विद्वानों के विचारों में दो बिन्दु समान रूप से मिलते हैं –(अ) सौंदर्य वह तत्व है जो भावक, दर्शक या श्रोता को अभीभूत करे। (ब) किसी कलाकृति में सौंदर्य तब होता है जब रूप, रंग, भाव, आकृति एवं प्रस्तुति में समानुपातिक संतुलन हो। इसी प्रकार सौंदर्य के स्वरूप के विषय पर भी दो बिन्दुओं पर सर्वसम्मति पाई जाती है। सौंदर्य के ये दो स्वरूप हैं –(अ)नैसर्गिक (ब) निर्मित।

सौंदर्य की अवधारणा को एक शास्त्र का दर्जा भी दिया गया हैं। सौंदर्य शास्त्र को अंग्रेजी में 'ऐस्थेटिक्स' कहते हैं। एस्थेटिक्स यूनानी भाषा के 'एस्थेसिस' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है

ऐन्द्रिय सुख की चेतना अथवा ऐन्द्रिय संवेदना। इस प्रकार 'एस्थेटिक्स' शब्द का अर्थ होता है – 'ऐन्द्रिय संवदेना का शास्त्र'। इसी ऐन्द्रीय संवेदना को चंदेलकला में अप्सरा के रूप में प्रदर्शित किया गया है जिसमें स्त्री अपने सर्वांग सौश्ठव के साथ दिखाई देती है।

3. सेविका – चंदेल कला में स्त्री का सेविका रूप भी सामने रखा गया हैं किन्तु यह सेविका रूप लैंगिक भेद के आधार पर पुरुष की सेविका का नहीं वरन् आर्थिक स्तर के आधार पर है। रानी तथा नर्त्तकी की सेवा करती हुई स्त्री सेविका रूप में प्रदर्शित की गई है। सजने–संवरने के समय सहायिका के रूप में तथा कामकला के विभिन्न आसनों में सहायिकाओं के रूप में सेविकाएं उकेरी गई हैं। उल्लखेनीय है कि किसी भी प्रतिमा में किसी भी सेविका के साथ किसी भी तरह का अन्याय अथवा अत्याचार होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि सेविकाओं के साथ उदार व्यवहार किया जाता था।

4. कामकला निपुण – हिन्दू जीवन–व्यवस्थाओं में चार पुरुशार्थों–अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में काम को भी अन्य तीन पुरुशार्थों के समकक्ष महत्वपूर्ण माना गया है। खजुराहो में प्रदर्शित मिथुन मूर्तियों सृजन हेतु काम को प्रदर्शित करती हैं जिससे इनके तन्त्र मार्ग से प्रभावित होने का भ्रम होने लगता है। मिथुन मूर्तियां में प्रदर्शित कामकला की विविध पद्धतियां एवं आसन यह प्रदर्शित करते है कि मनुष्य अपने जीवन से पूर्ण तृप्ति के बाद ही आध्यात्म की ओर प्रवष्त हो सकता है तथा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मंदिरों की बहिर्भित्तियों पर इस प्रकार का प्रदर्शन आधुनिक समाज में कौतूहल उत्पन्न करता है किन्तु मंदिरों और यौनाचार का पारस्परिक संबंध प्राचीनतम है। बेबीलोनिया के मिलित्ता मंदिर में प्रत्येक विवाहिता को एक बार जाकर विदेषी के साथ कुछ घंटे व्यतीत करने को होते थे। इसी प्रकार ग्रीक अफ्रोदीती और रोमन वीनस के चारों ओर गणिकाओं के आवास होते थे। भारत के मंदिरों में देवदासी प्रथा भी चंदेलकाल से पुरातन है। कालिदास ने महाकाल की चरणधारिणी नर्त्तकियों का उल्लेख किया है। किन्तु, छठीं शताब्दी ईसवी में नग्न नारी मूर्तियों का उत्खचन तो किया जाता था लेकिन मिथुन चित्रण का अभाव था। वज्रयान उदय यानी छठीं शताब्दी के निकट तांत्रिक परिपाटी का विकास हुआ और साधना का केन्द्र नारी को बनाया गया। शाक्त धर्म में भी भोग द्वारा तंत्र सिद्ध करने की परिपाटी रही। विन्ध्याचल में नग्न कुमारी की पूजा प्रमुख अनुष्ठान था। औघड़, सहजिया, मरमिया आदि कापालिक पंथ तंत्र ज्ञान का प्रसार करते रहे। इस प्रकार की परिपाटियों ने मंदिर में मिथुन मूर्तियाँ के उत्खचन को सहज सार्वजनिक होने में मदद की होगी। खजुराहो में प्रदर्शित मिथुन मूर्तियों में जिन आसनों का अंकन है उनका उल्लेख प्राचीन ग्रंथ ''कामसूत्र'' में मिलता है। जिनमें भुग्नक, व्यायत, अवलम्बितक, धेनुक, संघाटक, गोयूथिक तथा अघोरत आदि का अंकन षिल्प सौन्दर्य की दृश्टि से अनुपम है। इनकी अन्तक्रियाओं को भी षिल्पियों ने सहज भाव से प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ, धेनुक की अन्तक्रियाए हारिणबन्ध, छागल, गर्दभाक्रान्त, मार्जारललिततक आदि का प्रदर्शन विविध मूर्तियों में है। लक्ष्मण मंदिर की बहिर्भित्तियों पर रतिक्रिया में लिप्त युगल, मुख मैथुन, गोयूथिक (सामूहिक रतिक्रिया) तथा पशु–संभोग का उत्खचन है। इसी प्रकार दूलादेव मंदिर में मुख मैथुन, देवी जगदम्बा मंदिर में पशु आसन तथा लक्ष्मण मंदिर में गोयूथिक चित्रण प्रदर्शित किया गया है।

5. विविधकला पारंगत – चंदेलकाल में स्त्रियों को विविध कलाओं में दक्षता प्राप्त करने का भरपूर अवसर दिया जाता था। वे चित्रकला, नृत्य, गायन तथा वादन में निपुण हाती थीं। इस तथ्य के अनेक

उदाहरण खजुराहो की मूर्तियों में देखे जा सकते हैं।निःसंदेह चंदेल नारियों की अभिरुचि में चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। खजुराहो मंदिर भित्तियों पर चित्रकला से संबंधित दो प्रकार के दृश्य मिलते हैं – 1. दीवार पर चित्र बनाती हुई तथा 2. चित्रफलक पर चित्रकारी करती हुई।

नृत्य मुद्रा के समान आकर्षक मुद्रा में खड़ी हुई एक नारी को दर्शकों की ओर पीठ कर के दायें हाथ से चित्र बनाती हुई दर्षाया गया है। उसका दायां हाथ सिर ऊपर उठा हुआ है। एक अन्य दृश्य में एक नारी दर्शकों की ओर पीठ कर के दीवार पर चित्र बना रही है। इस दृश्य में उस नारी के द्वारा बनाए गए वृक्ष की शाखाएं भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। पार्श्वनाथ मंदिर में अपने बायें हाथ में रंगों का पात्र लिए तथा दायें हाथ से चित्र बनाती हुई नारी प्रतिमा है। यद्यपि इसमें दायां हाथ देह के पीछे छिपा हुआ होने के कारण दृष्टव्य नहीं है। दूसरे प्रकार के दृश्यों में एक नारी बायें हाथ की उंगलियों से चित्रफलक पकड़ कर दाएं हाथ से तूलिका (ब्रष) द्वारा चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। इस प्रकार के दृश्य से युक्त अन्य प्रतिमाएं भी हैं। खजुराहो मूर्तिशिल्प में नर्त्तकियों को बड़ी कलात्मकता के साथ उतारा गया है। कुछ नर्त्तकियों को इतनी कठिन मुद्रा में दिखाया गया है कि उनकी नृत्य मुद्राएं असंभावित सी जान पड़ती हैं। लक्ष्मण मंदिर के सामने बायीं ओर स्थित लघु मंदिर में एक नर्त्तकी को दर्शकों की ओर पीठ किए हुए नृत्य मुद्रा में दिखाया गया है किन्तु नर्त्तकी ने अपनी कमर को इस तरह मोड़ रखा है कि उसका मुख तथा वक्ष दर्शकों की ओर हैं। प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसकी अधोदेह पर देह का ऊपरी भाग अलग से घुमाकर जोड़ दिया गया हो, किन्तु दूसरी ही दृष्टि में यह कठिन नृत्य मुद्रा स्पष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार की मुद्रा विश्वनाथ मंदिर की बायीं आंतरिक प्रदक्षिणा भित्ति पर तथा कंदिरया महादेव मंदिर की बायीं एवं दाहिनी बहिर्भित्ति पर हैं जिसमें नर्त्तकी ने अपनी देह के ऊपरी हिस्से को कमर से मोड़ कर दर्शकों की ओर कर रखा है। लक्ष्मण मंदिर तथा कंदरिया महादेव मंदिर में एक अन्य नृत्यमुद्रा प्रदर्शित है जिसे 'त्रिभंग' कहते हैं। इसमें नर्त्तकी के दोनों हाथों की उंगलियां उसकी देह के पृष्ठभाग में जाकर आपस में गुंथी हुई हैं।

एक अन्य मुद्रा में नर्त्तकी ने अपने दायें पैर को मोड़कर दायें हाथ से पकड़ रखा है तथा उसका चेहरा बायें कंधे की ओर झुका हुआ है। नर्त्तकियां प्रायः अधोवस्त्र के रूप में चूड़ीदार पाजामा जैसा कसा हुआ वस्त्र पहनती थी। यद्यपि उनका वक्ष स्थल अनावृत रहता था जो कि आभूषणों से सुसज्जित रहता था। खजुराहो मंदिर भित्तियों पर अनेक नारी मूर्तियां वाद्य यंत्र बजाती हुई प्रदर्शित हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि 10 वीं, 11वीं सदी में महिलाएँ वाद्ययंत्र में रुचि रखती थी।

विश्वनाथ मंदिर में बांसुरी बजाती हुई नारी का सुंदर षिल्पांकन है। उसने अपने दोनों हाथों की उंगलियों से बांसुरी थाम रखी है। वह सामने की ओर मुख किए हुए है तथा उसका शरीर आरामदायक मुद्रा में दायीं ओर तनिक झुका हुआ है। एक अन्य नारी मूर्ति में जो वादन मुद्रा दर्शाई गई है, वह षिल्प सौंदर्य की दृष्टि से अत्यंत आकर्शक है। वादिका पैरों से गुणित बनाती हुई खड़ी है। वह दर्शकों की ओर देख रही है। उसने अपने दोनों हाथों से बांसुरी को पकड़ कर अपने होंठो पर टिका रखा है। लक्ष्मण मंदिर में एक नारी दर्शकों की ओर पीठ कर के खड़ी है तथा अधरों पर बांसुरी टिका कर दोनों हाथों की उंगलियों से उसे बजा रही है। बांसुरी के अतिरिक्त तारवाद्य बजाती हुई नारी मूर्तियां भी हैं। वीणा, इकतारा तथा रबाब का वादन करते हुए दृश्य अंकित किए गए हैं। एक नारी को अपने दानों हाथों से रबाब जैसा आयताकार तारवाद्य बजाते हुए दिखाया गया है। ढोलक, मंजीरा, शंख, मृदंग, डमरू, तुरही, घण्टा आदि

वाद्य बजाती हुई प्रतिमाएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। वामन मंदिर में एक नारी को लम्बा इकतारा बजाती हुई उत्कीर्ण किया गया है। जिसे उसने अपने दोनों हाथों में थाम रखा है। जवारी मंदिर में स्त्री–पुरुश के समूह को विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र बाजते हुए दिखाया गया है। जैसे – बांसुरी, शंख, वीणा, घण्टा आदि। पूजा में प्रयुक्त होने वाला 'उपंग' नामक वाद्य भी प्रदर्शित है। लक्ष्मण मंदिर में दो पुरुशों को तबलानुमा वाद्य बजाते हुए दिखाया गया है जिसमें एक नर्त्तकी भी दिखाई पड़ती है। ढोल और तबला बजाते हुए पुरुषों की कई प्रतिमाएं मंदिर भित्तियों पर हैं। अन्य प्रतिमाओं में ढोल, घण्टा, मृदंग, तुरही, हार्प, डमरू, इकतारा, वीणा, शंख।

6. साक्षर – चंदेल काल में स्त्री को शिक्षा से वंचित नहीं किया जाता था वरन् स्त्री की शिक्षा के लिए शिक्षकों की व्यवस्था रहती थी। सहशिक्षा का प्रमाण भी एक प्रतिमा से प्राप्त होता है। इस प्रतिमा में पुरुष शिक्षक के सम्मुख एक स्त्री खड़ी है तथा वहां छात्र भी उपस्थित हैं। खजुराहो की मूर्तियों में अत्यंत कलात्मक ढंग से लेखन एवं पठन क्रिया को ढाला गया है। विष्वनाथ मंदिर में एक नारी को कागजों के पुलन्दे सहित दिखाया गया है। वह सामने खड़े पुरुश को कुछ समझा रही है। इसी मंदिर के अन्य दृश्य में एक नारी पुस्तक रख कर गुरु से पढ़ती हुई दिखाई गई है। पत्र लेखन से संबंधित अनेक प्रतिमाएं खजुराहो में विद्यमान हैं। किसी में पत्र लिखती हुई नारी दिखाई गई है तो किसी में स्वाभाविक उत्सुकता का भाव लिए हुए पत्र पढ़ती हुई नारी अंकित है। एक से अधिक पत्र रखे हुये प्रसन्न चित्त नारी की प्रतिमा भी है। जबकि कंदरिया महादेव मंदिर में पत्र को देख–पढ़ कर मधुरता से मुस्कराती हुई नारी उत्खचित है।

पत्र पढ़कर चिन्तन में डूबी हुई नारी, उदासी से ग्रस्त, आंसू पोंछती हुई, आंखें बंद किए अथवा सप्रयास पत्र देखती हुई नारी का अत्यंत भावपूर्ण तथा कलात्मक अंकन है। एक नारी बायां हाथ अपने वक्ष पर रखी और दायें हाथ में पत्र रखी हुई अंकित है। मानों वह पत्र पढ़ने के लिए अपना हाथ अपने वक्ष के मध्य रखी हुई हो। एक अन्य नारी दायें हाथ में कलम तथा बायें हाथ में पुस्तक थामी हुई दर्शाई गई है। अपने बायें हाथ में पत्र तथा दायें हाथ में कलम पकड़कर पत्र लिखती हुई नारी प्रतिमा का एक से अधिक मंदिरों में सुन्दर अंकन है। इस मुद्रा में वह सोचती हुई दर्षाई गई है कि पत्र में क्या लिखना है? इसी विचारपूर्ण मुद्रा में एक अन्य स्त्री को पत्र के विशय पर आंख मूंद कर चिन्तर करती हुई दिखाया गया है। दूलादेव मंदिर में एक नारी को दायें हाथ में पत्र लेखन के लिए कागजों का पुलन्दा थामें हुए दिखाया गया है। वह बायें हाथ में कलम पकड़कर उसे अपने होठों के मध्य दबा कर विचार करती हुई अंकित है।

7. क्रीड़ाप्रिय – चंदेल समाज में स्त्रियों को खेलने–कूदने की छूट थी। वे अपने मनोरंजन हेतु गेंद द्वारा खेले जाने वाले खेल खेला करती थीं। खजुराहो की मंदिर भित्तियों के कुछ दृश्यों में नारियों को कन्दुक क्रीड़ा में व्यस्त दिखाया गया है। इन दृश्यों में क्रीड़ा शैली मनोरंजन के भाव के साथ–साथ कलात्मकता का पुट लिए हुए है। लक्ष्मण मंदिर में एक नारी दायें हाथ से बायें हाथ में गेंद उछाल रही है। वह पीछे की ओर से गेंद उछालने के प्रयास में है। इसी प्रकार के दृश्यों जगदम्बा मंदिर, लक्ष्मण मंदिर तथा कंदरिया महादेव मंदिर की भित्तियों पर भी है। इनमें एक दृष्य ऐसा भी है जिसमें एक नारी एक छोटे बालक के साथ है। वह बालक उसके पैरों के पास बैठकर गेंद लपकने को तत्पर है।

8. सजने–संवरने में निपुण – मानव को अपने ह्रदय में स्थित कोमल भावनाओं के प्रति चेतना

जाग्रत होने की आरंभिक अवस्था से ही प्रसाधन की प्रवृत्ति मानव जीवन का अभिन्न अंग रही है। नागरिक जीवन से दूर रहने वाले अनपढ़ वनवासी मानव भी प्रसाधन को अपनाते हैं, वे कृत्रिम प्रसाधनों के स्थान पर प्राकृतिक प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं। कण्व ऋषि की पालित कन्या शकुन्तला के संबंध में कालिदास ने वर्णन किया है कि वह वनलता और वन पल्लवों से अपनी सज्जा करती थी। जब दुश्यन्त ने शकुन्तला को प्रथम बार देखा, और उसकी ओर आकृष्ट हुआ था। शकुन्तला ने उस समय वृक्ष का बल्कल (छाल) पहना था। फिर चंदेल समाज मानवीय सौंदर्य के प्रति विशेष ध्यान देनेवाला समाज था। यूं भी श्रंगार को स्त्री के अधिकार के रूप में माना जाता है। चंदेलकालीन स्त्रियां भी श्रंगार के प्रति असीम रुचि रखती थीं। वह आभूषण पहनने में रुचि रखती थी, उसे काजल लगाना, पाउडर लगाना और विभिन्न प्रकार की केष सज्जा करना पसंद था।

विश्वनाथ मंदिर की प्रदक्षिणा पथ की आंतरिक भित्ति में बांसुरी बजाती एक नारी की मूर्ति है। जिसने बालों को एक सुन्दर जूड़े में बांध रखा है, जो पार्श्व में गर्दन के ऊपर स्थित है। यह आभूषण से सुसज्जित है। जूड़े का एक बंध ऊपर की और एक बंध नीचे की ओर स्थित है। इसी प्रकार लक्ष्मण मंदिर तथा विश्वनाथ मंदिर में उपरोक्त प्रकार का बंध युक्त केश विन्यास दिखाया गया है, जो आभूषणों से सुसज्जित है। विश्वनाथ मंदिर की पट्टिका में विशेष प्रकार के शीश आभूशण से सज्जित जूड़ा प्रदर्शित है, जो कि जटा के समान सिर के ऊपर बंधा है। कंदरिया महादेव मंदिर में पीछे गर्दन पर बेलनाकार जूड़ा दिखाया गया है। लंबी डोर वाली बेंदी प्रदर्शित है, जिसमें मांग स्पष्ट नहीं दिखायी दे रही है। बेंदी का निचला हिस्सा दोनों कंधों पर लटक रहा है। ऊपरी हिस्सा जूड़े के ऊपर होता दिखाई पड़ रहा है।

प्रसाधन के प्रति अभिरुचि का अनुमान मूर्तियों के सज्जापूर्ण अंकन को देखकर सुगमता से लगाया जा सकता है। चंदेलकाल में प्रसाधन के अभिन्न अंग मुखचूर्ण (पाउडर) का प्रयोग किया जाता था। कंदरिया महादवे की बायीं बहिर्भित्ति, वामन मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति तथा संग्रहालय में रखी प्रतिमा में एक सुन्दरी को एक हाथ में मुखचूर्ण लगाने का साधन (पफ) तथा दूसरे हाथ में दर्पण रखे हुए दर्शाया गया है। नेत्र सज्जा में सहायता हेतु बाल परिचारक अथवा परिचारिका प्रसाधन सामग्री लेकर खड़ी रहती थी। लक्ष्मण मंदिर में एक सुंदरी एक हाथ में दर्पण तथा दूसरे हाथ में शलाका से अंजन लगाती हुई प्रदर्शित है। इसमें निकट ही एक बालपरिचारक भी दिखाई पड़ रहा है। नेत्रों के सौंदर्य में वृद्धि के लिए भौहों को भी सुसज्जित एवं व्यवस्थित किया जाता था। खजुराहो के मूर्ति शिल्प में कमान के समान तराशी हुई सुन्दर भौंहों का अंकन स्पश्ट दृष्टिगत् है। मस्तक सज्जा हेतु बिन्दी का प्रयोग किया जाता था। इसे दर्पण देखकर स्वयं लगाया जाता था। उंगली को बिन्दी वाले पदार्थ में डुबोकर उंगली से बिन्दी लगाई जाती थी। विश्वनाथ मंदिर की बायीं बहिर्भित्ति, विश्वनाथ मंदिर दायीं बहिर्भित्ति, भरतचित्रगुप्त मंदिर की दायीं बहिर्भित्ति एवं विश्वनाथ मंदिर की पार्ष्व बहिर्भित्ति में अंकित नारी प्रतिमा में एक स्त्री को बिन्दी लगाते हुए दिखाया गया है जो दूसरे हाथ में एक दर्पण रखे हुए हैं। एक अन्य प्रतिमा में एक स्त्री अपनी उंगली बिन्दी के पात्र में डुबोती हुई दिखाई गई हैं। बिन्दी का पात्र उसके दूसरे हाथ में है। पुरुषों में यही प्रथा तिलक के रूप में प्रचलित थी।

9. योद्धा एवं आखेटक – खजुराहो मूर्तिकला में कई ऐसे दृश्य हैं जो सिद्ध करते है कि तत्कालीन नारियों में शस्त्र विद्या के प्रति अभिरूचि थी। आत्मरक्षा एवं शिकार के उद्देश्य से वे षस्त्र धारण करती थी। कंदरिया महादेव एवं जगदम्बा मंदिर के आधार फलक पर एक नारी को ऐसा भाला रखे हुये दिखाया

गया है जिसके एक सिरे पर तीन पत्तियों के आधार का धारदार चाकू जुड़ा हुआ है। वामन मंदिर में एक नारी को परशु धारण किये हुये तथा एक अन्य नारी को धनुषबाण सहित प्रदर्शित किया गया है। इस नारी के बायें हाथ में धनुष है। जिस पर दायें हाथ से उसने धनुष पर तीर चढ़ाया हुआ है। तथा वह तीर छोड़ने को तत्पर है। उसके कंधे पर तरकश बंधा हुआ है। जिसमें कुछ अन्य तीर रखे हुये हैं। दूलादेव मंदिर में एक नारी हाथ में चाकू लेकर आक्रमण करने को तत्पर दिखायी गयी है। एक अन्य प्रतिमा में एक नारी को बड़ी तलवार थामे हुये दिखाया गया है। अपने दायें हाथ से उसने तलवार की नोंक पकड़ रखी है।

10. माता – खजुराहो संग्रहालय में संग्रहीत मूर्ति में देवी के ऊपरी दो हाथों में पाश तथा दर्पण है जबकि नीचे के दो हाथों में शिशु है। जिसे वे स्तनपान कराने को उत्सुक हैं। कंदरिया महादेव तथा मतंगेश्वर मंदिर में भी माता और शिशु की प्रतिमाएं हैं। जो चंदेल समाज में मातृत्व के प्रति सम्मानभाव की सूचक हैं।

निष्कर्ष :

मूर्तियों में उत्खचित स्त्री के विविध रूपों को सूक्ष्मता से परखने के बाद चंदेलकाल में स्त्रियों की स्थिति का आकलन सहजता से किया जा सकता है। उस समय स्त्रियां मात्र भोग्या ही नहीं थीं जैसा कि मिथुन प्रतिमाओं को देख कर कभी–कभी लोग भ्रमित हो जाते हैं। स्त्री को कामकला में जिस प्रकार पुरुषों के समकक्ष निपुण दर्शाया गया है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न ललितकलाओं तथा पठन–पाठन में स्त्रियों की दक्षता इस बात को प्रमाणित करती है कि चंदेल समाज स्त्रियों के प्रति समभाव रखता था। यह भी विचारणीय है कि चंदेल शासकों में पुरुष शासक ही हुए, स्त्री शासक एक भी नहीं हुई किन्तु स्त्रियों को शस्त्र विद्या तथा युद्धकला सिखाई जाती थी। वह युग राजाओं के परस्पर युद्धों एवं साम्राज्य–विस्तार के निमित्त से किए जाने वाले युद्धों का समय था। चंदेल वंश के राजा भी इसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने भी अपना वर्चस्व बनाए रखने तथा अपनी सत्ता का विस्तार करने के लिए समय–समय पर युद्ध किए।

स्मृतिग्रंथों में सतीप्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने भी विधवा स्त्री के सती होने के संबंध में अपने स्मृतिग्रंथ में कोई चर्चा नहीं की है। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्मृतिकाल में सती प्रथा नही पाई जाती थी। लगभग लगभग 400 ई. के बाद के ग्रंथों में विधवाओं के सती होने के कुछ प्रकरण मिलते हैं। वात्सयायन, कालिदास और शूद्रक ने अपने ग्रंथों में सती होने की घटना का उल्लेख मिलता है। गुप्तकाल (लगभग 510 ईसा) में गोपराज की पत्नी पति के हूणों के विरुद्ध लड़ते हुए मारे जाने पर सती हुई थी। किन्तु उनके द्वारा शासित क्षेत्रों में उनके काल के एक भी सती–पत्थर नहीं मिलते हैं अर्थात् चंदेलकाल में सती प्रथा जैसी कुरीति नहीं थी। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में स्त्रियों की सामाजिक दषा में निरन्तर गिरावट आई। लगभग 900ई. तक युद्ध के दौरान अपहृत स्त्रियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण रहा कठोरतापूर्ण हो गया फिर भी उन्हें प्रायश्चित–अनुष्ठान के बाद पति एवं परिवार द्वारा स्वीकार का लिया जाता था। किन्तु 11वीं शती से मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा अपहृत स्त्रियों के लिए समाज में कोई स्थान न रहा। जिसका दुष्परिणाम सती प्रथा में वृद्धि के रूप में सामने आया। क्षत्रियों में पति के युद्ध में पराजित होने की स्थिति में स्त्रियां आत्मदाह करने लगीं। इस प्रथा को 'जौहर' कहा जाता था। कई स्त्रियां सामूहिक रूप से भी जौहर करती थीं। चंदेलकालीन प्रतिमाओं में जौहर से संबंधित एक भी दृश्य नहीं मिलता है।

गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में अनेक जातियों में पुत्रियों के जन्म को दुख का कारण समझा जाने लगा

था। 'कथासरित्सागर' के अनुसार पुत्र को सुख का स्रोत तथा पुत्री को दुख का मूल कहा गया। इस काल में उच्च अथवा धनिक वर्ग की पुत्रियों को ही उच्चशिक्षा पाने का अवसर मिल पाता था, फिर भी शील भट्टारिका, विजयांका तथा देवी आदि विदुषी स्त्रियों ने अपने ज्ञान से समाज में विशिष्ट स्थान पाया। स्मृतिग्रंथों में पुत्री के यौवनारंभ से पूर्व ही उन्हें विवाहित जीवन में प्रवेष करा देने का निर्देष दिया गया है। बृहदयम् के अनुसार –'प्रत्येक पिता को चाहिए कि वह अपनी पुत्री का विवाह उसके दसवें वर्ष की आयु तक कर दे, अन्यथा उसे (पिता को) पाप का भागी बनना पड़ेगा। फिर भी चंदेलकालीन एक भी प्रतिमा ऐसी नहीं है जिसमें किसी बालिका को वधू के रूप में अथवा युगल के रुप में दिखाया गया हो। आशय यह कि चंदेलकाल में बाल विवाह भी नहीं था। यदि रहा भी होगा तो उसका प्रतिशत न्यूनतम रहा होगा। क्योंकि प्रत्येक स्त्री–प्रतिमा वयस्क आयु की है।

सूत्र और स्मृतिकाल में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबंध लगा दिए गए थे। बाल्यावस्था में वे अपने पिता के, यौवनावस्था में अपने पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहती थी। उनका पूर्णतः स्वतंत्र रहना अनुचित समझा जाता था। पति के घर में पत्नी महत्व रहता था। वह सामुदायिक कार्यक्रमों में तथा शास्त्रर्थों में भाग ले सकती थी। लगभग छठीं सदी ई.पू .पाणिनी ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में स्त्रियों को 'असूर्यम्पश्या' कहा गया है। अर्थात् जिन्हें सूर्य की किरणें भी स्पर्ष नहीं कर पाती थीं। भारत पर यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। जिसके कारण स्त्रियों का सतीत्व भी सुरक्षित नहीं रह गया था। बाणभट्ट के 'हर्षचरितम्' में राजश्री को 'अरुणांशुकावगुंठितमुखी' (जिसने लाल रेशम का पर्दा मुख पर डाला हुआ हो) कहा गया है। जो स्पष्ट रूप से सातवीं सदी में पर्दे की प्रथा को सूचित करता है। 'मृच्छकटिकम' में विवाह के समय वधु का मुख को पर्दे से ढंके होने का वर्णन है। दूसरी सदी ईपू के लगभग स्त्रियों में पर्दे की जिस प्रथा का प्रारम्भ हुआ था वह सातवी–आठवीं सदी तक अवश्य विद्यमान रही। गुप्तोत्तरकाल में लगभग 600 से 1200 ईस्वी में सम्पन्न परिवारों में पर्दे की प्रथा का चलन प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु चंदेल साम्रज्य में यदि पर्दे की प्रथा होती तो चंदेलकालीन एकाध प्रतिमा तो ऐसी होती जिसमें स्त्री को पर्दाधारिणी दिखाया गया होता। ऐसी एक भी प्रतिमा का न पाया जाया इस तथ्य का द्योतक है कि चंदेल समाज में स्त्रियां पर्दा करने को बाध्य नहीं थीं। पवन के. वर्मा ने अपनी पुस्तक 'द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' ने लिखा है कि 'मध्यवर्ग के मनोजगत में झांकने के लिए उसका यौनविषयक रवैया सर्वाधिक दिलचस्प आयाम प्रस्तुत करता है। जाहिर है इस मामले में हमारा अतीत ताजगी और खुलेपन से परिपूर्ण था खजुराहो और कोर्णाक की प्रस्तर मूर्तियां यौन और कामेच्छा को महत्व देने वाली साहसपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं।' निःसंदेह ये मूर्तियां स्त्रियों की दैहिक–मनोदैहिक स्वतंत्रता की भी परिचायक हैं।

चंदेलकला में स्त्री का जो स्वरूप उभर कर सामने आता है अथवा तत्कालीन समाज में स्त्री की दशा के साक्ष्य के रूप में दिखाई देता है उसमें स्त्री देश के अन्य भू–भाग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न दिखाई देती है। चंदेलकालीन स्त्री को अपने शारीरिक सौष्ठव एवं सौंदर्य का प्रदर्शन करती, कामकला में अग्रणी हो कर सहयोगी बनती, बांसुरी, रबाब, डफ आदि वाद्ययंत्र बजाती, कलात्मक, शास्त्रीय नृत्य करती तथा शस्त्र चलाने का अधिकार था। समाज में स्त्रियों की सुदृढ़ स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चंदेलकाल बुन्देलखण्ड की स्त्रियों का स्वर्णिम काल था।

सन्दर्भ :–

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, 1966
2. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्शचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना 1953
3. अलक्जेडर कनिंघम, आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, द्वितीय संस्करण
4. कृष्णदत्त बाजपेयी, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ सेंट्रल इंडिया, अहमदाबाद, 1984
5. कृष्णदत्त बाजपेयी, कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग एक कानपुर, 1985
6. कृष्णदत्त बाजपेयी, मध्यप्रदेश, का पुरातत्व, भोपाल, 1970
7. एच.डी. सांकलिया, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पीपुल
8. शरद सिंह, खजुराहो की मूर्तिकला के सौंदर्यात्मक तत्व, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006
9. शरद सिंह, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008
10. शरद सिंह, पत्तों में कैद औरतें, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
11. शरद सिंह, डॉ. अम्बेडकर का स्त्रीविमर्श, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, उ.प्र., 2012
12. शरद सिंह, औरत : तीन तस्वीरें, 2014, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
13. पवन के. वर्मा, द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास, पेंग्विन बुक्स, , नई दिल्ली, 2007
14. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ छतरपुर

4 खजुराहो मंदिर वास्तु के अवयव एवं उनकी प्रतीकात्मक सार्थकता

डॉ. आशीष कुमार चाचोंदिया

पूर्व मध्यकालीन भारत वास्तुकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति का युग था जिसमें खजुराहो एक प्रमुख कलातीर्थ के रूप में विकसित हुआ जहाँ मंदिर वास्तु एवं मूर्तिकला एक अद्‌भुत सम्मिश्रण के रूप में अस्तित्व में आए। खजुराहो का सम्पूर्ण कला जगत विशेष प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करता है। समस्त वास्तु, प्रतिमाएं तथा अलंकरण विशेष प्रतीकात्मक अर्थ समाहित किये हुए हैं। यदि इस कला का प्रतीकात्मक का अर्थ उद्‌घाटित हो जाए तो कला के सौन्दर्यात्मक एवं आध्यात्मिक पक्ष दोनों ही सुग्राह्य हो जाते हैं और दर्शक के आनंद में भी वृद्धि होती है। भारत में प्राचीनकाल से ही धर्म और आध्यात्म में प्रतीकों का प्रयोग होता रहा है और ये प्रतीक जनसामान्य को सक्रिय रूप में धर्म से जोड़ने में सहायक हुए हैं। कला में प्रयुक्त ये प्रतीक प्राचीन भारतीय मान्यताओं, परम्पराओं तथा विश्वासों की अभिव्यक्ति हैं इसलिए इन प्रतीकों को भारतीय कला की वर्णमाला भी कहा जा सकता है। कला में प्रयुक्त प्रतीक सगुण उपासना पद्धति के मूलाधार थे और प्रतीकों से ही कालांतर में प्रतिमोपासना का जन्म हुआ।

प्राचीन भारत में वास्तुकला के जिस रूप का विकास हुआ वह भी कुछ अद्‌भुत प्रतीकात्मक अर्थ समाहित किये हुए था। स्तूप, चैत्य, स्तम्भ और मंदिर स्वयं प्रतीकात्मक अर्थ रखने वाली वास्तु रचनाएं हैं तथा साथ ही साथ इनके समस्त अंग–उपांगों का भी प्रतीकात्मक अर्थ होता है। देवमंदिर की तो विश्वरूप परमपुरूष के रूप में परिकल्पना की गयी है तथा उसके शरीरांगों के नामकरण भी इसी प्रकार हैं यथा पाद, जंघा, स्कन्ध, कण्ठ, मस्तक, शिखा आदि।[1] मंदिर के समस्त अवयव – स्थान, योजना विन्यास, निमार्ण सामग्री, गर्भगृह, शिखर, गवाक्ष, कीर्तिमुख, आमलक तथा अन्य अलंकरण भी अनिवार्य प्रतीकात्मक सार्थकता समाहित किये हुए हैं तथा इनके निर्माण के उद्‌देश्य भी अलग–अलग हैं।[2] पौराणिक मान्यताएं वास्तु के दैवीय स्वरूप का वर्णन करती हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार समस्त देवताओं का निवास होने के कारण ही वास्तु नाम दिया गया है।[3] अग्निपुराण में वर्णन है कि प्रासाद के जंघा भाग में शिव, स्कन्ध में ब्रह्मा एवं ऊर्ध्व भाग में विश्णु का वास होता है।[4] यदि इस प्रकार की पौराणिक वास्तु मान्यताओं को ध्यान में रखा जाए तो प्राचीन मंदिरों की प्रतीकात्मकता हो स्पष्ट करने के लिए उसकी सम्पूर्ण वास्तु योजना को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इन मंदिरों के उद्‌भव एवं मंदिर वास्तु का विकास समानांतर ही है।

मंदिर के लिए आयोजित भूमि का आकार नियमानुसार वर्गाकार या चतुरश्र होता है जिसे वास्तुपुरूषमंडल कहते हैं। "वास्तु" से अभिप्राय पूर्वायोजित मंदिर के निर्माण स्थल से है, "पुरूष" सृष्टि का उपादान कारण है तथा उक्त निर्माण स्थल की आकृति पुरूष की भाँति है। "मंडल" से अभिप्राय मानचित्र से है जो प्रायः वर्गाकार होता है। मयमत में कहा गया है कि देवताओं के वास्तु का आकार वर्गाकार है यह वैदिक संस्कृति तथा यज्ञ रहस्य पर आधारित प्रतीत होता है। वास्तु मंडल वस्तुतः मंदिर का दार्शनिक विन्यास है।[5] नारदीय वास्तुविधान के अनुसार यह मंडल एक यंत्र है।[6] यंत्र एक प्रकार की रैखिक योजना है, जिसमें परम तत्व का कोई भी रूप किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाँधा जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तुमंडल आयोजित भूमि सीमित होने पर भी इस यंत्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मंडल में बांधने का प्रयास है, उसकी संज्ञा वास्तुपुरूष है।[7] वास्तु–पदो ंके वर्गाकार स्परूप के अलावा अन्य आकार भी बताए गये हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध चतुरश्राकार है, अधिकांश भारतीय मंदिरों का निर्माण इसी योजना पर हुआ है। यह चतुरश्राकार नियामक और उदीयमान जीवन का प्रतीक है।[8]

इसी योजना के अंतर्गत मंदिर के मध्यभाग में चतुर्भुजाकार गर्भगष्ह होता है। इसके मध्य भाग में ब्रह्मस्थान रहता है जहाँ निधिकलश की स्थापना की जाती है। सम्पूर्ण योजना के ऊपर जैसे–जैसे मंदिर की संरचना विकसित होती है, वैसे ही उस पर पशु–पक्षी, देव–देवी, मिथुन, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष आदि प्रतिमाएं बनायी जाती हैं तथा रथिकाएं या भूमियां बनती जाती हैं। इन रथिकाओं का अंत ऊपर एक वेदी में होता है, उसके ऊपर शिखर, फिर आमलक तथा सबसे ऊपर कलश या अमृतकलश होता है। यह निधिकलश के ठीक ऊपर स्थित किया जाता है। यह कलश एक बंद कलिका से ढँका रहता है। भूतल पर मंदिर के चातुर्दिक प्रदक्षिणामार्ग बनाया जाता है। गर्भगृह के समक्ष स्तम्भों पर आधारित मंडप होता है तथा मंडप के ऊपर भी शिखर बनाया जाता है। मंडप शिखर से मुख्य शिखर तक बढ़ते क्रम में अन्य शिखर भी होते हैं जिन्हें उरूःश्रृंग कहा जाता है।

इस प्रकार निर्मित प्रासाद के अमृतकलश के ऊपर कमलकलिका का ऊर्ध्वभाग बिन्दु–स्थान है, जहां से साकार सृष्टि प्रारम्भ होती है। कमलकलिका सृष्टि के प्रारम्भ का प्रतीक है। यहीं से ब्रह्म आकार ग्रहण करता है तथा आत्मविस्तार करने में सर्वप्रथम आमलकवृत अर्थात त्रिगुणात्मिका सृष्टि के रूप में प्रवेश करता है। आमलक वृत से उतरकर शिखर में होता हुआ यह भूचक्र या जगती के चतुष्कोण में रूककर स्थिरता प्राप्त करता है। यह चतुष्कोण स्थिति शक्ति का प्रतीक है।[9] इस प्रकार कलश से सृष्टिरूप प्रासाद–पुरूष का आरम्भ होता है और स्थिति के चतुष्कोण पर आकर यह स्थिर होता है।

मंदिर वास्तु के अवयव व उनके निर्माण के उद्देश्य

प्राचीन भारत में मंदिर वास्तु कलाकार की स्वतंत्र अभिव्यक्ति न होकर शास्त्रीय नियमों एवं बंधनों में आबद्ध रही है। यद्यपि न्यूनाधिक रूप से कलाकार ने स्थान स्थान पर अपनी रचनात्मकता का परिचय भी दिया है किन्तु यह रचनात्मकता भी शास्त्रीय मत के विपरीत प्रतीत नहीं होती है, विशेष रूप से मंदिर स्थापत्य की आवयवीय संरचना में। मंदिर स्थापत्य के वे प्रमुख अवयव शास्त्र सम्मत थे और जिनका खजुराहो मंदिर स्थापत्य में भी पूरा ध्यान रखा गया है, उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार से है।

स्थान निर्धारण – वास्तुशास्त्र मुख्यरूप से विष्णुधर्मोत्तर पुराण व अग्निपुराण मंदिर निर्मित करने के लिए स्थान के चयन संबंधी विशेषताओं का उल्लेख करते हैं।मंदिर के लिए चयनित स्थान को तीर्थ बताया गया है जो सामान्यतः वन में, नदी तट पर, पर्वतों पर, जलाशयों के निकट होते हैं।[10] इन स्थानों पर देवताओं का निवास माना गया है तथा तीर्थों को मोक्ष प्राप्ति का साधन भी बताया गया है।[11] उपरोक्त विशेषताएं खजुराहो कलातीर्थ में भी देखी जा सकती हैं। ननोरा ताल, शिवसागर ताल तथा नदी आदि विष्णुधर्मोत्तर पुराण की पूर्ति करते हैं, साथ ही जब यहाँ मंदिरों का निर्माण किया गया तब यह समस्त क्षेत्र सुरम्य वनों से आच्छादित था।

जगती एवं वास्तुपुरूषमंडल– समरांगण सूत्रधार में प्रासाद की पीठिका या जगती को प्रासादराज का सिंहासन बताया गया है। प्रतीकात्मक रूप से प्रासाद को लिंग तथा जगती को प्रासादराज का सिंहासन बताया जाता है। इसी जगती पर वास्तुयोजना आधार ग्रहण करती है। यह जगती ऐसा प्रबंध करती है कि मंदिर का कोई भी भाग पृथक अस्तित्व न रखकर एक साथ बंधे हुए प्रतीत होते हैं तथा एक–दूसरे से ओत–प्रोत होने के कारण सुसंहत वास्तु का रूप ले लेते हैं। वास्तुपुरूषमंडल हिन्दू मंदिर का मानचित्र है। इसका मौलिक आकार चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान क्षेत्र वाले आकार त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण आदि में परिवर्तित किया जा सकता है।[12] वास्तुपुरूषमंडल के तीन भाग हैं– वास्तु अर्थात् आयोजित भूमि, पुरूष अर्थात् सृष्टि का उपादान कारण तथा मंडल अर्थात् मानचित्र। मंडल का चतुरश्र या वर्तुल आकार वैदिक चिति अग्नि से आये हैं। वैदिक परम्परा में चिति या वेदि पथ्वी के विस्तार का प्रतीक है तथा चतुरश्राकार पावनता और पूर्णता का समग्र प्रतीक है।

खजुराहो में मंदिरों में विस्तृत जगती पर आधारित तलच्छन्द योजना में वास्तुपुरूषमंडल के चतुरश्र को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मंदिर योजना के चतुरश्र की लंबी भुजा पूर्व से पश्चिम की ओर है। इस चतुरश्र योजना पर ही अर्द्धमंडप, मंडप, अंतराल तथा गर्भगृह निर्मित किए गए हैं जो मंदिरो के आधारभूत अंग हैं। विकसित शैली के मंदिरों जैसे लक्ष्मण मंदिर, कन्दरिया मंदिर, पार्श्वनाथ मंदिर तथा विश्वनाथ मंदिर में प्रदक्षिणापथ से संयुक्त महामंडप की योजना है। कुछ मंदिरों की जगती के कोनों पर लघु मंदिर बनाकर पंचायतन रूप भी दे दिया गया है।

गर्भगृह – मंदिर की प्रतिष्ठा के समय प्रासाद का बीज (गर्भ) स्थापित किया जाता है। अग्निपुराण में मंदिर शिलान्यास की विधि वर्णित है जिसमें गर्भस्थल पर अंधेरा कक्ष निर्मित किया जाता है।[13] गर्भगृह में उस देव प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया जाता है जिसके निमित्त मंदिर बनाया गया हो। गर्भगृह की दीवारें पूर्णतः सादी और अन्य देव प्रतिमाओं से रहित होती हैं किन्तु दीवारें बाहर से अलंकृत और अन्य देवाकृतियों से युक्त होती हैं। गर्भगृह के अनलंकृत और प्रकाशान्धकारयुक्त स्परूप की व्याख्या वैदिक पृष्ठभूमि में की जा सकती है जहाँ दीक्षाशाला को गर्भ तथा यजमान को भ्रूण कहा गया है। शाला को चारों ओर से बंद रखने का कारण देवलोक का मनुष्यलोक की भिन्नता को व्यक्त करना है। यह गर्भगृह देवलोक का प्रतीक है साथ ही गर्भगृह का अंधकार प्रधान वातावरण भी विशेष महत्व रखता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि प्रारम्भ में विश्व अंधकार स्परूप था। अंधकार का होना पुनर्जन्म का तथा परिशोधित जीवन का द्योतक है। प्रासाद का गर्भगृह हिरण्यगर्भ का प्रतीक है।[14]

मंडप– गर्भगृह का द्वार मंडप में खुलता है। गर्भगृह पूरी तरह से मंडप से जुड़ा न होकर एक छोटे से अंतराल के द्वारा जुड़ा होता है। इस अंतराल में एक या दा चन्द्रशिला सोपान होते हैं जिनसे गर्भगृह

में प्रवेश होता है। मंडप की संरचना वर्गाकार तथा गर्भगृह से बड़ी होती है, इसकी छत चार स्तम्भों पर आधारित बनायी जाती है। इन स्तम्भों के ऊपरी भाग पर भारवाही कीचक की आकृतियाँ छत का भार सम्भालने के लिए बनायी जाती हैं। विकसित शैली के मंदिरों में मंडप के साथ संलग्न महामंडप तथा अर्द्धमंडप भी बनाए गये हैं। कुछ सान्धार प्रासादों में प्रदक्षिणापथ को महामंडप से ही संलग्न कर दिया गया है। मंडप में प्रकाश की व्यवस्था के लिए गवाक्ष भी बनाए गये हैं। ये समस्त विशेषताएं खजुराहो के समस्त मंदिरों के लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत के मंदिरों में न्यानाधिक परिवर्तन के साथ देखी जा सकती हैं। हिन्दू परम्परा के अनुसार चूँकि गर्भगृह में केवल पुजारी ही प्रवेश कर सकता है अतः मंडप की विशेष व्यवस्था अन्य भक्तगणों को ईश्वर दर्शन एवं पूजा–अर्चना के उद्देश्य से मंडप का विधान किया गया। इसके अलावा मंडप में धर्मचर्चा, धर्मोपदेश तथा प्रवचन आदि का उल्लेख भी मिलता है।[15]

प्रदक्षिणापथ – हिन्दू शास्त्रीय परम्परा में सम्पूर्ण मंदिर को देव स्वरूप मानते हुए मंदिर की पूजा व प्रदक्षिणा का भी विधान है। प्रदक्षिणापथ सामान्यतः दो प्रकार से निर्मित किये गये हैं– गर्भगृह के चातुर्दिक मंदिर की बाहरी दीवारों से घिरा हुआ तथा सम्पूर्ण मंदिर को घेरता हुआ जगती पर निर्मित प्रदक्षिणापथ। जिन मंदिरों में आंतरिक प्रदक्षिणापथ होता है वे सान्धार प्रासाद तथा जिनमें केवल बाहरी प्रदक्षिणापथ होता है वे निरन्धार प्रासाद कहे जाते हैं। खजुराहो में विकसित सान्धार प्रासादों में प्रदक्षिणापथ में प्रकाश हेतु गवाक्ष भी बनाए गए हैं। शिखर– मंदिर के शिखर की तुलना पर्वत शिखर से की गयी है। शिखर मुख्य रूप से गर्भगृह के ऊपर की संरचना है, जो ऊँचाई के साथ कमशः संकीर्ण होती जाती है। इसके ऊपरी भाग में आमलक, कलश और अंततः बीजपूरक या अविकसित कमलकलिका होती है। कमलकलिका सहित कलश तथा आमलक सृष्टि के शुभारम्भ के प्रतीक हैं तथा आमलक त्रिदेवों का निवास स्थान बताया गया है।[16] विकसित शैली के विशाल मंदिरों में गर्भगृह के अलावा महामंडप, मंडप और अर्द्धमंडप पर शिखरों का निर्माण किया गया है जो कमशः उन्नत होती हुई गर्भगृह की सर्वोन्नत शिखर में समाहित हो जाती हैं। मुख्य शिखर के चारों ओर लघु शिखरों या उरूःश्रंगों के निर्माण के भी उदाहरण मिलते हैं जो मंदिर की भव्यता में आश्चर्यजनक वृद्धि करते हैं। खजुराहो के समस्त विकसित मंदिरों में उरूःश्रंग हैं तथा समस्त उरूःश्रंगों में आमलक, कलश तथा कमलकलिका को निर्मित किया गया है।

अलंकरण अभिप्राय– मंदिर अलंकरण के प्रयोजन से उसके समस्त अंगोपांगों पर विभिन्न मूर्तियों तथा मांगलिक अभिप्रायों का अंकन किये जाने की परम्परा रही है। शतपथ ब्राह्मण में वेदी के बहिस्तरण पर देवताओं का वास बताया गया है।[17] यद्यपि ये विधान यज्ञशाला के लिए हैं किन्तु कालान्तर में मंदिरों पर भी इसी परम्परा का पालन किया गया और मंदिर के विभिन्न भागों पर विभिन्न देव–देवियों की प्रतिमाओं को स्थापित किया गया। पुराण साहित्य में मंदिर के विभिन्न अंगों एवं दिशाओं में विभिन्न देव प्रतिमाओं के स्थापित किये जाने के उल्लेख हैं।[18] मंदिर की दीवारें निराकार परमात्मा के द्वारा साकार सृष्टि के विकास की सूचना भी हैं। दीवारों पर अंकित मानव, पशु–पक्षी तथा अन्य प्राणी इसी सृष्टिविकास का प्रतीक हैं। इनके अलावा जो सर्वाधिक आकर्षक अलंकरण हैं, वह हैं मिथुन–युगल एवं अप्सराओं के अंकन जिनके मूल में तांत्रिक मोक्ष–दर्शन, आध्यात्मिक साधना, प्रकृति–पुरूष के मिलन, सृष्टि विकास की प्रक्रिया आदि विभिन्न भावनाएं समाहित हैं। इस प्रकार के रहस्य प्रतीकों के लिए खजुराहो विश्व में ख्याति प्राप्त है।

इस प्रकार से खजुराहो मंदिर वास्तुकला के विभिन्न अंगों का निर्माण केवल सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं किया गया है बल्कि उनके मूल में विशेष प्रयोजन एवं उद्देश्य अंतर्निहित रहे हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति से मंदिर वास्तु में पूर्णता आती है और इसीलिए यह मंदिर आध्यात्मिक शांति और आनंद प्रदान कर पाते हैं।

संदर्भ सूची–

1. अग्निपुराण 1.2.62
2. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, समरांगण सूत्रधार, भाग–3, प्रासाद निवेश, पृ. 21
3. निवासात् सर्वदेवानां वास्तुरिव्यभिधीयते – मत्स्यपुराण 251.5–14
4. अग्निपुराण 61.26–27
5. महेशचंद्र जोशी, युगयुगीन भारतीय कला, पृ. 188
6. नारदीय वास्तुविधान, अध्याय 8 तथा 10
7. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, समरांगण सूत्रधार, भाग–3, प्रासाद निवेश, पृ. 24
8. वही पृ 30
9. जनार्दन मिश्र, भारतीय प्रतीकविद्या, पृ. 70, 71
10. महेशचन्द्र जोशी, युगयुगीन भारतीय कला, पृ 187
11. गरूड़पुराण 28/3
12. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रासाद निवेश पृ 30
13. अग्निपुराण अ. 41
14. महेशचंद्र जोशी, युगयुगीन भारतीय कला, पृ. 193
15. हरिवंशपुराण, सर्ग 31
16. स्कन्दपुराण 12/9/23, द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल पृ 80
17. शतपथ ब्राह्मण 1/3/3 तथा 12
18. अग्निपुराण 42/20, 42/24, 43/6

5 सागर क्षेत्र के प्रागैतिहासिक शैलचित्र

डॉ. प्रदीप कुमार शुक्ल

शैलचित्र मानव के मनोभावों के प्रदर्शन का एक महत्वपूर्ण आयाम है। प्रागैतिहासिक मानव के जीवन से संबंधित विविध क्रियाकलापों की जानकारी इन शैलचित्रों के माध्यम से हमें प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक काल के उच्चपुरापाषाण काल (लगभग 30 से 40 हजार वर्ष पूर्व) शैलचित्रों एवं उत्खचित रेखांकन की शुरुआत मानी गई है। उच्चपुरापाषाण काल के प्रारंभिक चरण में होमोसेपियन (प्रज्ञ–मानव) की गतिविधियों में आमूल–चूल परिवर्तन आये। जहाँ उसने अपने पाषाण उपकरणों में परिमार्जन/परिष्कार किया वहीं उसने प्रागैतिहासिक चित्रकला का सृजन प्रारंभ किया। कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रारंभ में मानव की भाषा अत्यंत सीमित थी। अतः उसने इन चित्रों के माध्यम से अपने विचारों को संप्रेशित कर प्रस्तुत किया। इसी कारण से प्रारंभिक चित्रों को प्रागैतिहासिक मानव की भाषा भी मानने का प्रमाण माना जाता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रागैतिहासिक मानव ने उच्चपुरापाषाणकाल में शैलाश्रय में निवास करना प्रारंभ कर दिया था जिसके प्रमाण, भीमबैठका, पुतलीकरार, आदमगढ़ आदि क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं। शैलगृहों में यह निवास कुछ अवधि के लिए हुआ करता था। उच्चपुरापाषाण काल के आने तक पारिस्थितिकी में जो परिवर्तन हुए उसके परिणामस्वरूप मानव ने इन शैलाश्रयों को अपना स्थायी निवास बनाना प्रारंभ किया। इसी उच्चपुरापाषाणकाल के क्रम में नर्मदा घाटी क्षेत्र के मण्डला, डिण्डोरी, सिवनी आदि क्षेत्रों के मैदानी एवं पर्वतीय उपत्यकाओं में वृत्ताकार पाषाण घेरे प्राप्त हुए जिनमें उच्चपुरापाषाणकालीन पाषाण उपकरण बलेड, स्क्रेपर, क्रोड़, ब्यूरिन आदि बड़ी मात्रा में प्राप्त हुए हैं। ये वृत्ताकार घेरे गढ़े एवं अनगढ़े पाषाणों से आवृत्त हैं। प्रो. विवेकदत्त झा (सागर) के अनुसार उच्चपुरापाषाणकालीन समुदाय के आवास ये प्रमाण उनके जीवनक्रम की गुत्थियों को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे। मैदानी क्षेत्रों के अतिरिक्त चित्रित शैलाश्रयों के फर्शों पर तत्कालीन मानव ने पाषाण उपकरणों के प्रमाण छोड़े, इसके अतिरिक्त अपने जीवन से सम्बन्धित जो बहुमूल्य प्रमाण छोड़े वे हैं शैलचित्र। मनुष्य को प्राकृतिक रंगों का ज्ञान (विशेषकर गेरू का) प्रागैतिहासिक काल (उच्च पुरापाषाणकाल) से हो गया था लेकिन प्रारंभ में उसकी कला हड्डी, लकड़ी, बिना पकी मिट्टी, हाथीदाँत आदि शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री पर शुरू हुई जिनके प्रमाण अत्यन्त कम मात्रा में उपलब्ध हैं। लेकिन शनैः शनैः उसने उत्खचन के अतिरिक्त शैलाश्रयों की दीवारों

को कैनवास के रूप में उपयोग प्रारंभ किया तथा शैल चित्रों का बनाना प्रारंभ किया। रंगों का यह प्रयोग एवं चित्र निर्माण उच्चपुरापाषाणकाल की देन है।

मध्यप्रदेश का सागर जिला $23^0$10 और $24^0$27 उत्तर अक्षांश और $78^0$4 और $79^0$21 पूर्व देशांश पर स्थित है। विन्ध्य पर्वत श्रृंखला की उपत्यकाओं में देहार, सुनार, गधेरी, बीना (प्राचीन वेण्वा अथवा वन्या नदी), धसान (प्राचीन दशार्ण नदी), बेवस, व्यारमा, बीला आदि नदियों के कछारी भू–भाग में स्थित होने के कारण यह क्षेत्र अत्यंत उपजाऊ एवं भौगोलिक दष्ष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। नदी घाटियों के विस्तृत क्षेत्र में विन्ध्य पर्वत श्रृंखलाओं के पठारी भू–भाग में लाल बलुआ पत्थर (रेड सेण्ड स्टोन) की भूगर्भीय संरचना के कारण सागर क्षेत्र में शैलाश्रयों का निर्माण बहुतायत से प्रकृति ने किया है। इन शैलाश्रयों में, घने वन–संकुल प्रदेशों के उप– विभागों में प्रागैतिहासिक मानव ने शैलाश्रयों में अपनी कुशल–कूची से तत्कालीन जीवन के विविध आयामों–शिकार, वन्य जीवन–पशुजगत एवं सामाजिक रीति–रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठान, जादू–टोने सम्बन्धी विश्वास (परम्परा) आदि का चित्रण शैल चित्रकला के माध्यम से किया है। शैलाश्रयों के निकटवर्ती भू–भाग, फर्श तथा संलग्न मैदानों के स्वतंत्र भू–भाग पर पाषाणकालीन उपकरण तथा लघुपाषाण उपकरण भी प्रागैतिहासिक मानव ने निर्मित किये जिनके पुरावशेष भी सागर क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रयों से प्राप्त होते हैं।

सागर क्षेत्र के शैलगृहीन चित्रकला के स्थलों को अध्ययन की दृष्टि से निम्न लिखित भागों में विभाजित किया गया है –

नरयावली क्षेत्र के चित्रित षैलाश्रय –

अ. गढ़ौली–मौलाली क्षेत्र के शैलाश्रय
ब. खानपुर क्षेत्र के शैलाश्रय
स. जेरई क्षेत्र के शैलाश्रय
द. नरयावली मुख्य क्षेत्र के शैलाश्रय
इ. भापेल क्षेत्र के शैलाश्रय

अ. गढ़ौली–मौलाली के शैलाश्रय –

सागर से खुरई जाने वाले सड़क मार्ग के बाँये पार्श्व पर लगभग 7 से 9 वें किलोमीटर की दूरी पर ये शैलाश्रय स्थित हैं। ये शैलाश्रय उत्तराभिमुख हैं।

शैलाश्रय क्रमांक 1 :

इस शैलाश्रय में पीले रंग से मयूर का आकर्षक चित्रण किया गया है। इस मयूर के चित्रण सूक्ष्म रेखाओं का प्रयोग किया गया। मयूर की शारीरिक संरचना में एकीकृत डिजायन पैटर्न (शैली) में भराव किया गया है। मयूर के चित्रण के निकट आयताकार शारीरिक संरचना वाले मानवों की पंक्ति चित्रित है। इन मानव आकृतियों ने मुखौटे पहन रखे हैं तथा हाथ में भाला लिए हुए प्रदर्शित हैं। ये चित्रण लाल रंग से किये गये हैं। इसी शैलाश्रय के दूसरे भाग में पेटीनेशन के पर्त में समाहित लाल रंग से शिकारियों का चित्रण किया गया है। ये हाथों में बाण लिए हुए हैं तथा कमर में तीरों के गुच्छे प्रदर्शित किए गए हैं।

शैलाश्रय क्रमांक 2 :

यह शैलाश्रय लगभग पाँच मीटर लम्बा है तथा दो मीटर चौड़ा तथा ऊँचाई लगभग 3 मीटर है। इस शैलाश्रय में हरिणों का लाल रंग से चित्रण किया गया। हरिणों की शारीरिक संरचना तिर्यक सेवाओं से की गई है। वर्षा के जल प्रवाह के कारण चित्रण धुल गये हैं। एक अन्य चित्रण में पीले रंग से निर्मित वृक्ष के चित्रण के साथ मानव आकृतियाँ चित्रित की गई हैं। वृक्ष तथा मानव आकृतियाँ एक घेरे के अन्दर प्रदर्शित हैं। कुछ मानव आकृतियाँ लेटी हुई हैं। एक मानव आकृति वृक्ष के साथ खड़ी हुई प्रदर्शित है। यह दृश्य अनोखा है। डॉ. श्याम कुमार पाण्डेय (सागर) इस चित्रण को शव दफनाने का दृश्य मानते हैं। यह चित्रण सादी रेखाओं से किया गया है। शैली की दृष्टि से यह मध्यपाषाणकाल के अंतर्गत रखा जा सकता है। इस शैलाश्रय में एनामल पेण्ट से शैलाश्रय में नाम लिखकर दर्शकों ने क्षति पहुँचाई है। इससे कतिपय चित्र क्षतिग्रस्त हो गये हैं। शैलाश्रय के अन्य चित्रण में सफेद रंग से ढाल तलवार लिए हुए योद्धाओं का चित्रण किया गया है। ये ऐतिहासिक कालीन चित्रण है।

शैलाश्रय क्रमांक 3 :

यह शैलाश्रय उत्तर पश्चिमाभिमुख है। यह शैलाश्रय लगभग 12 मीटर लम्बा तथा 2 मीटर चौड़ा तथा 8 मीटर ऊँचा है। इस शैलाश्रय में वर्षा के जलप्रवाह से चित्रण बहुतायत से धुल गये हैं। वृषभ, जंगली सुअर, हरिण आदि का चित्रण जिक–जैक रेखाओं से किया गया है। वृषभों के चित्रांकनों में लाल रंग के साथ हरे रंग का प्रयोग भी किया गया है। वृषभों के शारीरिक संरचना सुडौल है। ये चित्रण शैली के आधार नवताम्रपाषाणकाल के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

शैलाश्रय क्रमांक 4 :

यह शैलाश्रय उत्तराभिमुख है। इसकी लम्बाई 10 मीटर से 12 मीटर के लगभग है। सामने का फर्श बहुत चिकना है तथा शैलाश्रय के कुछ भाग टूट गया है। यह शैलाश्रय गुफा सदृश है तथा ऊँचाई लगभग 1 से 1.50 मीटर है। इसमें गेरू रंग से ऐतिहासिक कालीन अश्वारोही का चित्रांकन प्रमुख रूप से किया गया है। शैलाश्रय अधिकांश भाग पशु–पक्षियों की बीट, फफूँद एवं मौसम के प्रभाव से क्षतिग्रस्त हो गया है।

ब. खानपुर के चित्रित शैलाश्रय :

सागर–खुरई सड़क मार्ग पर लगभग 14 कि.मी. की दूरी पर बेरखेड़ी ग्राम स्थित है। बेरखेड़ी ग्राम से लगभग 3 कि.मी. की दूरी पर कच्चे वन मार्ग पर खानपुर ग्राम एवं शैलाश्रय स्थित है। खानपुर के शैलाश्रयों में सफेद, लाल, गेरूए, पीले आदि रंगों का प्रयोग किया गया है। खानपुर के नाहरखोह शैलाश्रय में ऐतिहासिककालीन ढाल–तलवार लिए यौद्धा आपस में युद्धरत प्रदर्शित किये गये हैं। यह चित्रण लाल रंग से किया गया है। एक अन्य चित्रण में हाथी पर सवार यौद्धा का आकर्षण चित्रण किया गया है। इस दृश्य में हाथी के शारीरिक सौष्ठव को संतुलित एवं सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया गया है। खानपुर के एक शैलाश्रय में लाल रंग से ही वृषभ, हरिण आदि का चित्रांकन किया गया है। ये चित्रांकन ऐतिहासिक कालीनक्रम के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

नाहरखोह शैलाश्रय के बाँये पार्श्व की छत के अंदर के स्तर पर लाल रंग एवं पीले रंग के आकर्षक चित्रांकन प्राप्त हुए हैं। इस चित्रांकन में लम्बे आकार के शलाकापुरुष जिनके कमर में पत्तियों के लटकन विशिष्ट रूप से दृष्टव्य हैं। धड़, कमर, घुटनों आदि के निर्माण में कुशल लय की प्रस्तुति की गई है। शलाकापुरुष हाथ में दण्ड या बल्लम लिए हुए हैं। इसी दृश्य के सामने आयताकार शारीरिक संरचनायुक्त बाघ जिसका मुखोभाग पूरक शैली में धड़ के भाग को खड़ी तथा चौखाने युक्त शैली से भराव कर निर्मित किया गया है। इस बाघ को लाल तथा पीले रंग से संयुक्त रूप में बनाया गया है। इन्हीं लाल रंग के चित्रणों पुनः लाल रंग से आक्षेपण किया गया है। इन चित्रों में यष्टि मानव के मुखोभाग खुले हुए तथा वे दण्ड से शिकार के लिए प्रवृत्त चित्रित किये गये हैं। सुपर इंपोजिशन के चित्रणों के अध्ययन से यह संपूर्ण दृश्य समूह शिकार का प्रतीत होता है। लम्बे दण्ड या बल्लम को प्रहार करते तथा एक मानव आकृति को बैठे हुए संभवतः दिखलाया गया है। यह दृश्यांकन, शैली एवं आक्षेपण की दृष्टि से मध्यपाषाणकाल के अंतर्गत रखा जा सकता है।

स. जेरई क्षेत्र के शैलाश्रय :

सागर–खुरई सड़क मार्ग के बाँये पार्श्व पर लगभग 17–18 किलोमीटर की दूरी पर ये शैलाश्रय स्थित है। जेरई के शैलाश्रयों की चित्रांकन विरल है तथा मौसम एवं वर्षा जलप्रवाह से चित्रण धुल गये हैं। इस क्षेत्र में लगभग 10 शैलाश्रय हैं। यहाँ के शैलाश्रयों के चित्रण में लाल, पीले, गेरूए एवं सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। एक शैलाश्रय जिसमें लाल रंग से एक मानव को अत्यन्त अलंकृत रेखाओं से आवृत्त सिरोभाग में अलंकृत फुदनों युक्त चित्रित किया गया है। उसके निचले पैरों के निकट आयताकार घेरे के साथ एक मानव आकृति चित्रित की गई है। लम्बी भुजाओं को जिनके एक छोर पर हरिण तथा दूसरे छोर पर आयताकार मानव एक मानव आकृति को उल्टा लटकाये हुए प्रदर्शित है। यह दृश्य शिकार तथा मानव के शव को ले जाते हुए प्रदर्शित किया गया है। जेरई के एक अन्य शैलाश्रय में पूरक शैली में लाल रंग से भेड़िया का चित्रण भी महत्वपूर्ण है। जेरई के एक शैलाश्रय में पीले रंग से आयताकार मानवों को जिनके हाथ में लघु पाषाणयुक्त बाणफलक हैं, सुघड़ता के चित्रित किये गये हैं। इनके मुखोभाग चौकोर मुखौटे संयुक्त हैं तथा तीरों के गुच्छे भी कमर में बँधे हुए दिखलाये गये हैं। आयताकार शारीरिक संरचना में खड़ी रेखाओं से भराव किया गया है। इन्हीं के साथ सादी रेखाओं से निर्मित शलाकापुरुष भी शिकार के लिए प्रवृत्त चित्रित किये गये हैं। जेरई क्षेत्र के शैलाश्रयों में वनस्पति के कम होने तथा बलुए पत्थर के स्तर में चटकने के कारण दरारें बड़ी मात्रा में पड़ गई हैं।

द. भापेल क्षेत्र के शैलाश्रय :

सागर–भोपाल सड़क मार्ग के दाँये पार्श्व पर लगभग 9 वें किलोमीटर की दूरी पर भापेल के शैलाश्रय स्थित हैं। भापेल के शैलाश्रय दक्षिणाभिमुख हैं। भापेल के शैलाश्रय 1967 में सर्वप्रथम डॉ. श्याम कुमार पाण्डे एवं डॉ. वी.एस. वाकणकर के द्वारा सर्वप्रथम अन्वेषित किए थे। भापेल का यह क्षेत्र पहाड़ी श्रृंखला में नरयावली क्षेत्र को जोड़ता है। भापेल ग्राम के पार्श्व में स्थित पर्वत श्रृंखला के दोनों ओर अनेक शैलगृह हैं। जिनमें लगभग चार शैलाश्रयों में चित्रांकन प्राप्त हुए हैं। भापेल के अधिकांश शैलाश्रयों में लाल रंग से चित्रांकन हुआ है।

शैलाश्रय क्रमांक 1 :

इस शैलाश्रय में चार आयतों का निर्माण किया गया है, जो एक–दूसरे के समानान्तर मध्य भाग को खाली छोड़ते हुए बने हैं। चारों आयतों में से तीन स्पष्ट दृष्टव्य हैं। चौथे आयत का ऊपरी भाग का कुछ हिस्सा दिखाई देता है। इसी के निकट दाहिने हाथ की तीन हस्त छापें बनी हैं। भारतीय शैलगृहीन चित्रकला में हाथ की छाप कम प्राप्त होती है। दमोह के सिलापरी, रायसेन के सतकुण्डा एवं उरदेन, बस्तर के मटनार आदि के शैलाश्रयों में भी हस्तछाप प्राप्त हुए हैं। इस शैलाश्रय में एक अन्य स्थान पर बौद्धों द्वारा प्रयुक्त होने वाला नन्दीपद प्रतीक बना हुआ है। एक दूसरे आयत से थोड़े ऊपर हटकर एक वृत्त के ऊपर क्रास का चिन्ह बना हुआ है। इस शैलगृह से प्राप्त चित्रांकन धार्मिक क्रियाकलापों से संबंधित हैं।

शैलाश्रय क्रमांक 2 :

यह शैलाश्रय पश्चिम दिशा की ओर स्थित है। इसमें वर्षा एवं मौसम के प्रभाव से चित्रांकन धुल गये हैं। कुछ आयत के चित्र दृष्टव्य हैं तथा इसके निकट ही कुछ सूक्ष्म रेखाएँ दृष्टव्य हैं जो पुराने चित्रों के अवशेष मात्र हैं।

शैलाश्रय क्रमांक 3 :

यह शैलाश्रय पहाड़ी की पश्चिम की तरफ और आगे बढ़ने से प्राप्त होता है। यह शैलाश्रय भी दक्षिणाभिमुखी है तथा कुछ अधिक ऊँचाई लगभग 12 मीअर चढ़ाई के बाद स्थित है। इनकी लम्बाई 8 मीटर, चौड़ाई 2 मीटर तथा ऊँचाई लगभग 3 मीटर है। यहाँ लाल रंग से अश्वारोहियों का चित्रांकन किया गया है। इसी के निकट एक दृश्य में हाथी पर सवार पाँच व्यक्ति दिखाये गये हैं। इसी के निकट बारहसिंगा एवं हरिण के चित्र भी महत्वपूर्ण हैं। भापेल के इसी शैलाश्रय के बाँये भाग में कुछ सादी रेखाओं के चित्रण मिट गये हैं। ये चित्र उपर्युक्त वर्णित ऐतिहासिककालीन क्रम के चित्रों से पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। शैलाश्रय के दाँये पार्श्व में स्थानीय शौकिया इतिहासकार श्री केशरी सिंह आर्य ने कमल, चक्र, संविधान के कुछ अंश उत्कीर्ण कराकर शैलाश्रय को क्षतिग्रस्त कर दिया है। भापेल के शैलाश्रय के फर्श पर एवं निचले पठार पर उच्चपुरापाषाणकाल के स्क्रे पर, ब्लेड आदि प्राप्त हुए हैं। निकटवर्ती सोमला ग्राम से भी उच्चपुरापाषाणकाल के उपकरणों की प्राप्ति भी हुई है। भापेल के शैलाश्रयों के निचले भू–भाग के ढलान पर लगभग 35X70 मीटर का एक चबूतरा स्थित है एवं ग्राम के निकटवर्ती पहाड़ी श्रृंखला के प्रारंभ में कुछ प्रतिमाओं के अवशेष बिखरे हैं। प्रतिमायें 10–11 वीं शताब्दी के लगभग की हैं।

आबचंद क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रय :

आबचंद के चित्रित शैलाश्रय सागर–जबलपुर राजमार्ग के दाँये पार्श्व पर लगभग 29 से 30 वें कि. मी. की दूरी पर से लगभग 1.25 कि.मी. की दूरी पर अन्दर जंगल में आबचंद ग्राम है। इसी के निकट गधेरी नदी के दोनों किनारों पर आबचंद क्षेत्र के शैलाश्रय प्रारंभ होते हैं। आबचंद के शैलाश्रयों का सर्वप्रथम 1959 में प्रो. के.डी. वाजपेयी, इसके बाद के काल में डॉ. श्याम कुमार पाण्डेय (1960–1993), डॉ. व्ही. एस. वाकणकर, प्रो. विवेकदत्त झा (सागर), न्यूमेर इरविन (आस्ट्रिया) आदि विद्वानों एवं स्वयं लेखक ने अनेक बार सर्वेक्षण व अध्ययन किया। आबचंद के शैलाश्रयों को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है – 1. मंदिर शैलाश्रय, 2. भद्भदा शैलाश्रय, 3. रपटा घाट शैलाश्रय, 4. ढबुआ घाट शैलाश्रय, 5. इमली करार, 6. एकला घाट, 7. गढ़वात घाट।

आबचंद के चित्रित शैलाश्रयों में चित्रांकन की विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। आबचंद के शैलाश्रयों में प्रागैतिहासिक मानव के विभिन्न क्रियाकलापों शिकार, नृत्त, वनोपज, संग्रह, स्वतंत्र पशु आकृतियाँ, पक्षी आदि का चित्रांकन आकर्षक रूप में किया गया है। आबचंद के चित्रांकनों में मुख्य रूप से सफेद, लाल, गेरूए, गुलाबी रंगों का प्रयोग किया गया है। आक्षेपण की दृष्टि से आबचंद के चित्रण परिष्कृत विषयवस्तु प्रदान करते हैं। 'आबचंद के शैलाश्रय' एकीकृत संयोजन शैली (इन्ट्रोकेटेट डिजायन पैटर्न) वाले पशु चित्रण सफेद रंग से प्राप्त होते हैं। इन पशु चित्रणों में वन भैंसा, हरिण, बारहसिंगा प्रमुख हैं। ये पेटीनेशन की पुष्ट पर्त के नीचे स्थित हैं तथा इन्हें सूक्ष्म अवलोकन से अध्ययन किया जा सकता है। इन्हीं चित्रांकनों के साथ–साथ पूर्ववर्ती काल के ही लाल रंग के चित्रण भी जिनमें नृत्तरत मानव समूह, संभोग दृश्य आदि महत्त्वपूर्ण चित्रणों में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

लाल रंग से ही एक शैलाश्रय में शलाकापुरुष जो सादी रेखाओं से निर्मित, जिनके मुखोभाग खुले हुए तथा हाथों में रिंग स्टोन से युक्त गदा लिए हुए हैं। रायसेन के हाथी टोल शैलाश्रय में इसी प्रकार के दृश्य चित्रांकित हुए हैं। इन्हीं चित्रणों के निकट हरिण, एक पक्षी, अन्य मानव आकृतियाँ चित्रित की गई हैं। इसी के निकट लालरंग से पूरक शैली में आयताकार स्वरूप में संग्रह का दृश्य वृत्ताकार रूप में चित्रित हैं। आयताकार आकृतियाँ की पीठ पर टोकरियों का चित्रण स्पष्ट है। किन्हीं आकृतियों में पूरक शैली के स्थान पर सादी रेखाओं से मानव शरीर तथा टोकरी को क्रास रेखाओं से निर्मित किया गया है। ये चित्रांकन तत्कालीन मानव की वनोपज संग्रह की गतिविधियों का रोचक प्रमाण है। इसी प्रकार सिर पर कोई चौकोर वस्तु दोनों हाथ से पकड़कर ले जाते हुए नौ मानवों का समूह गुफा माँसेर (विदिशा जिला) के शैलाश्रय से प्राप्त हुए हैं। शैलाश्रय के एक छत के एक हिस्से में कत्थई रंग के ऊपर सफेद रंग एवं सफेद के ऊपर लाल रंग के आक्षेपण वाले चित्रांकन प्राप्त हुए हैं। प्रथम स्तर पर पूरक शैली से निर्मित बारहसिंगा हरिण आदि का चित्रण है। ये चित्रण शारीरिक संरचना की दृष्टि से सुडौल तथा संतुलित हैं। गहरे कत्थई लाल रंग के चित्रांकनों पर सफेद अथवा गुलाबी रंग से जंगली सुअर, सारस, हरिण आदि का चित्रण अत्यंत महत्त्व का है। सुअर के शारीरिक भराव में ज्यामितीय रेखाओं से निर्मित किया गया उसका शारीरिक सौष्ठव, मुखोभाग व पूँछ व पैरों का निर्माण स्वाभाविक शैली में किया गया। इसी चित्र समूह में सफेद रंग से सारस का सारगर्भित चित्रण है। सारस का शरीर सुडौल एवं पैरों के टखने के गुट्टे भी एकदम स्पष्ट चित्रांकित किये गये हैं। सारस का यह चित्रांकन संपूर्णता का द्योतक है। क्योंकि सारस के निकट दो–तीन अंडों का चित्रांकन स्वाभाविक रूप में किया गया है। लाल रंग के चित्रणों में हरिणों बारहसिंगा के शारीरिक भराव को एकीकृत संयोजन शैली की रेखाओं से भराव कर निर्मित किया गया है। इसी के साथ सादी रेखाओं से निर्मित यष्टिमानव भाला, बल्लम लिए शिकार को प्रवृत्त दर्शाये गये हैं। आबचंद के शैलाश्रयों में समूह नृत्त के चित्रांकन लाल रंग से किये गये 10 से 11 मनुष्यों समूह हाथ में हाथ लिए प्रदर्शित किये गये हैं। ऐतिहासिककालीन दृश्यों में हाथों पर सवार योद्धाओं, अश्वारोहियों योद्धाओं के चित्रण लाल, सफेद तथा गहरे कत्थई रंग से किये गये हैं। मंदिर शैलगृह से निकट एक शैलाश्रय में पूरक शैली से लाल रंग में एक मानव आकृति शारीरिक सौष्ठव एवं संतुलन की दृष्टि से सुडौल रूप में चित्रित की गई है। इसके पैर ऊपर की ओर तथा हाथ नीचे की ओर चित्रित किए गये हैं। आबचंद के शैलाश्रयों में स्वस्तिक, पुष्प, सूर्य, वज्र, चक्र, आधार सहित वृक्ष आदि के चित्रांकन भी प्राप्त हुए हैं।

आबचंद के प्रारंभिक चित्र जो गहरे पेटीनेशनल के स्तर के अंदर सफेद रंग से चित्रित हैं। जिनमें इन्टीवेटेट पैटर्न वाले रेखांकन एवं पशुओं में वन भैंसा, हरिण, बारहसिंगा आदि के चित्रण हैं। इन्हें उच्चपुरापाषाणकाल के अंतर्गत रखा जा सकता है। दूसरे क्रम में ज्यामितीय रेखांकन, पूरक शैली वाले संतुलित देह यष्टि वाले, पशु चित्रांकन, संग्रहण दृष्य, रिंगस्टोन दण्ड में लगे हुए आदि। मध्यपाषाणकालीन क्रम के अंतर्गत समाहित किये जा सकते हैं। ऐतिहासिककालीन चित्रणों में हाथी पर सवार योद्धाओं, घुड़सवारों, हाथ में हाथ मिलाये नृत्त समूह, धार्मिक चिन्ह आदि के चित्रांकन सम्मिलित किये जा सकते हैं।

गौड़–मढ़ैया के शैलाश्रय :

सागर–झाँसी राष्ट्रीय राजमार्ग क्रमांक 26 के दाँये पार्श्व पर लगभग 5 वें किलो मीटर की दूरी पर से सागर धामोनी जाने वाले मार्ग पर लगभग 15 कि.मी. दूरी पर मढ़ैया गौड़ ग्राम स्थित है। मढ़ैया गौढ़ ग्राम से लगभग 3 कि.मी. दूर पूर्व दिशा की ओर जंगल में गौड़ मढ़ैया शैलाश्रय स्थित है। यह शैलाश्रय पष्चिमाभिमुख है। लगभग 30 मीटर लम्बा, 3 मीटर चौड़ा तथा 07.85 मी. ऊँचाई है। यहाँ के शैलाश्रय में प्रमुख रूप से चित्रांकन लाल तथा सफेद रंग से किया गया है। प्रारंभिक सर्वेक्षण के दौरान यहाँ दो चित्रांकनों के तीन स्तर प्राप्त हुए हैं। सफेद रंग के ऊपर यहाँ लाल गेरूए रंग का चित्रांकन हुआ है। गेरूए लाल रंग मध्यम आकार के चित्रांकनों पर मोटी कलम के ऐतिहासिक काल के घुड़सवार, हाथी पर सवार ढाल तलवार लिए चित्रित किये गये हैं।

गौड़ मढ़ैया के शैलाश्रय प्रथम स्तर सफेद रंग की मोटी कलम अस्पष्ट पशु आकृति लहरदार संयोजित रेखाओं से निर्मित है। इसी क्रम में सफेद रंग से यष्टि मानव लम्बवत् (38 से.मी. से 40 से.मी. के लगभग) चित्रित किये गये हैं। ये हाथों में दण्ड लिए हुए शिकार को प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। इनके कटि प्रदेश में लटकन तथा सिरोभाग अलंकृत झब्बे युक्त हैं। दूसरे स्तर पर लाल रंग पशु आकृतियाँ पूरक शैली, अर्द्धपूरक शैली, बिन्दु अलंकरण, जिक पैटर्न आदि से युक्त हैं। ये चित्रांकन लम्बे समूहों में इनमें हरिण, बारहसिंगा, हाथी आदि प्रमुख हैं। युद्ध से संबंधित चित्रांकन में सैनिक वल्लम, ढाल, तलवार आदि लिए हुए प्रस्तुत किये गये हैं। तीसरे स्तर में मोटी कलम से लाल रंग से ही ढाल तलवार लिए हुए योद्धाओं का चित्रांकन प्रमुख रूप से हुआ है। इन अश्वारोही, गजारोही योद्धाओं को अधिकांशतः पूरक शैली में निर्मित हैं। योद्धाओं के शारीरिक संरचना डमरू शैली की है। इस प्रकार के चित्रांकन रायसेन के हाथी टोल, उरदैन, भीमबैठका, सागर के खानपुर, रानगिर, भापेल आदि के चित्रित शैलाश्रयों से भी अश्वारोहियों, गजारोहियों के चित्रांकन प्राप्त हुए हैं।

मढ़ैया गौड़ के चित्रांकन आक्षेपण एवं शैली के आधार पर मध्यपाषाणकाल के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। दूसरे क्रम में पूर्व ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। प्रो. व्ही.डी. झा, अध्यक्ष, प्रा.भा.इ., सं. तथा पुरातत्व विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के निर्देशन में वर्ष 2005–06 में इन शैलाश्रयों का सर्वेक्षण किया गया। प्रो. झा के मतानुसार शैलाश्रय के फर्श पर लघुपाषाण उपकरणों बहुतायत से प्राप्ति इस शैलाश्रय के महत्व को प्रतिपादित करती है। यहाँ शैलाश्रय के फर्श पुराजमाव भी उपलब्ध है। जो उत्खनन के लिए आदर्श है। यहाँ शैलाश्रय के फर्श से लघुपाषाणकाल उपकरण ब्लेड, स्क्रेपर तथा स्वतंत्र पठारी भू–भाग से उच्चपुरापाषाणकाल, मध्यपुरापाषाणकाल आदि के

पाषाण उपकरण स्क्रेपर, हेण्डेक्स आदि प्राप्त हुए हैं। गौड़ मढ़ैया के शैलाश्रय के निकटवर्ती श्रृंखला में और अनेक शैलाश्रय मिल सकते हैं।

बीला बाँध क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रय :

सागर–छतरपुर राजमार्ग के लगभग 60 वें किलोमीटर पर बीला ग्राम स्थित है। बीला ग्राम से उत्तर–पश्चिम दिशा में बीला नदी पर लगभग 4 कि.मी. की दूरी पर बीला बाँध स्थित है। बीला बाँध से नीचे रिपटा उतरकर बीला नदी को पारकर बाँये नदी के किनारे से शैलाश्रय प्रारंभ होते हैं। बीला बाँध क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रयों को सर्वप्रथम डॉ. विजय सिंह ने सर्वेक्षित किया। इसके बाद सागर विश्वविद्यालय के डॉ. श्याम कुमार पाण्डेय, डॉ. मशकूर अहमद, डॉ. व्ही.डी. झा, डॉ. के.के. त्रिपाठी, डॉ. नागेश दुबे तथा लेखक ने इन चित्रांकनों का अध्ययन किया।

बीला नदी बाँध क्षेत्र के शैलाश्रय अधिकांश पूर्वाभिमुख हैं। आबचंद के शैलाश्रयों की स्थिति जहाँ नदी ऊँची कगार एवं सघन वन क्षेत्रों की है। वहीं बीमा (बाँध) नदी घाटी के शैलाश्रय एकदम नदी किनारे–किनारे प्रवाह के साथ स्थित हैं। बीला नदी घाटी के क्षेत्र अभी तक लगभग 15 शैलाश्रयों का सर्वेक्षण किया गया है। बीला नदी घाटी क्षेत्र के चित्रांकनों के बहुतायत से लाल रंग तथा गेरूए लाल रंग का प्रयोग किया गया है। यहाँ समूह नृत्य, प्रेमी युगल, शिकार दृश्य, स्वतंत्र हरिण, बारहसिंगा, वृषभ आदि की पशु आकृतियाँ चित्रित की गई हैं। यहाँ पशु चित्रणों के शारीरिक भराव में आड़ी खड़ी रेखाओं के युक्त चौखाने, बिन्दु अलंकरण (डॉट डेकोरेशन) पत्तियों के नसों वाले अलंकरण आदि का प्रयोग किया गया है। हाथ में हाथ मिलाये नृत्त समूह वाले मानवों को पूरक शैली में निर्मित किया गया है। हरिण, बारहसिंगा के शिकार में प्रवृत्त यष्टि मानव पूरक शैली में चित्रित किया गया है। एक शैलाश्रय के सादी रेखाओं से निर्मित मानव आकृति के साथ चक्र सदृश कोई वस्तु संयुक्त है। संभवतः छोटे पशु–पक्षियों के शिकार हेतु जाल फेंकने के उपक्रम का चित्रांकन भी हो सकता है। रायसेन के सतकुण्डा, उरदैन आदि स्थलों से रस्सी घुमाने, जाल फेंकने आदि दृश्य प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार बीला नदी घाटी के शैल चित्रांकन तीन स्तरों में प्राप्त हुए पहले स्तर सादी रेखाओं पशु चित्रण जो अत्यन्त कम मात्रा में प्राप्त हुए। वे मध्यपाषाणकालीन क्रम में रखे जा सकते हैं। दूसरे क्रम के नवपाषाण–ताम्रपाषाणकालीन क्रम पशु के स्वतंत्र आकृतियाँ तथा शिकार के चित्रण तथा सामूहिक नृत्य आदि के चित्रांकन सम्मिलित किये जाते हैं। तीसरे ऐतिहासिककाल क्रम में यष्टि मानव चक्र या जाल सदृश खड़े होकर लिए हुए सम्मिलित किया जा सकता है। बीला नदी घाटी के शैलाश्रय ठीक नदी किनारे होने से वर्षा एवं बाढ़ के प्रभाव से काफी नष्ट हो रहे हैं। आगे नदी में इन शैलाश्रयों बाद कुछ महत्वपूर्ण शैलाश्रय प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी संभावना है।

रानगिर क्षेत्र के शैलाश्रय :

सागर–नरसिंहपुर राष्ट्रीय राजमार्ग क्रमांक 26 से 37 कि.मी. की दूरी पर बाँये पार्श्व में मुड़ने पर 8 कि.मी. कच्चे मार्ग पार कर रानगिर ग्राम पहुँचा जा सकता है। रानगिर की हरसिद्धि का मंदिर सागर क्षेत्र में प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। यहाँ प्रत्येक वर्ष चैत्र एवं अश्विन माह की नवरात्रि में मेला भरता है। रानगिर के शैलाश्रय देहार नदी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। रानगिर में गौरी दाँत के शैलाश्रय प्रमुख हैं। यहाँ के चित्रणों में लाल, गेरूए लाल रंग तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। पशु चित्रणों वृषभ, हरिण, बारहसिंगा, जंगली सुअर आदि के चित्रांकन प्रमुख हैं। यष्टि मानव को शिकार में प्रवृत्त दर्शाया गया है। रानगिर के

शैल चित्रांकन शैली चित्रण क्रम के अनुसार मध्यपाषाणकाल के परवर्ती क्रम से लेकर नवपाषाणकाल, ताम्रपाषाणकाल एवं ऐतिहासिककाल के क्रम में रखे जा सकते हैं।

पाथरी कोटा के शैलाश्रय :

सागर–छतरपुर सड़क मार्ग पर 43 कि.मी. की दूरी पर दलपतपुर कस्बा स्थित है। यहाँ से एक सड़क मार्ग नैनागिर जैन तीर्थ को जाता है। इसी मार्ग के छठवें कि.मी. से अन्दर इन मार्ग द्वारा पाथ्री कोटा पहुँचा जा सकता है। यहाँ के शैलाश्रयों में प्रमुख रूप से लाल गेरूए लाल तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। पशु चित्रणों में हरिण, बारहसिंगा, हाथी के पूरक, अर्द्धपूरक, जिक–जैक पैटर्न आदि से भराव कर चित्रांकन किया गया हैं एक शैलाश्रय में गेरूए रंग की विशाल पशु आकृति को बाद में अश्व का रूप देने का प्रयत्न किया गया। मूल रूप में यह हाथी का चित्र रहा होगा। शैलाश्रय के एक भाग में मृदंग वादक गेरूए लाल रंग से चित्रित किये गये हैं। मृदंगवादक के चित्रांकन में लय व गति का चित्रांकन लयात्मक स्वरूप में है। पाथरी कोटा के शैलाश्रयों में प्रमुख रूप से ऐतिहासिककालीन चित्रण प्राप्त हुए हैं।

कड़ता ग्राम के चित्रित शैलाश्रय :

सागर से रहली जाने वाले सड़क मार्ग से 25 कि.मी. की दूरी पर कड़ता ग्राम स्थित है। यहाँ के शैलाश्रय घने वन के अंदर नाले के दोनों ओर स्थित हैं। यहाँ लगभग दस शैलाश्रय हैं। परन्तु कुछ शैलाश्रयों में ही चित्र सुरक्षित हैं। यहाँ के चित्रांकनों में मुख्य रूप से लाल, गेरूए लाल तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। यहाँ पशु चित्रणों में प्रमुख रूप से बारहसिंगा, हरिण, जंगली सुअर आदि का चित्रांकन किया गया है। योद्धाओं के चित्रण लाल रंग से हैं। अश्वारोही ढाल तलवार लिए हुए प्रदर्शित किये गये हैं। मौसम एवं वर्षा के जलप्रवाह से अधिकांश चित्रण मिट गये हैं। कड़ता के चित्रित शैलाश्रयों में पूर्व ऐतिहासिक– काल के चित्रणों की प्रमुखता है।

पिपरई के चित्रित शैलाश्रय :

सागर–रहली सड़क मार्ग के बरोदा ग्राम से लगभग 8 कि.मी. की दूरी पर पिपरई ग्राम स्थित है। यहाँ के शैलाश्रय को संभवतः वेदवारा शैलाश्रय के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ नाले के दाहिने पार्श्व में एक शैलाश्रय चित्रित स्वरूप में प्राप्त हुआ। अधिकांश चित्र मौसम के एवं वर्षा के जलप्रवाह से धुल गये हैं। यहाँ लाल रंग से हाथी सदृश लगभग 85 से.मी. लम्बी तथा 45 से.मी. ऊँची पशु आकृति का चित्रांकन विशिष्ट रूप से दृष्टव्य है। इसे लाल रंग से निर्मित किया गया है। इसके शारीरिक संरचना में वृत्ताकार रेखाओं के भराव कर रोचक बनाया गया है। शारीरिक सौष्ठव, माँसल देह यष्टि, संतुलन की दृष्टि से यह रानगिर– बरोदा क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ चित्रांकन है। शैली तथा आक्षेपण के क्रम में यह चित्र पूर्ववर्ती मध्यपाषाणकालीन क्रम के अंतर्गत आता है।

सागर क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रयों में आबचंद, बीला नदी घाटी, वेदवारा, खानपुर, गढ़ौली–मौलाली, मढ़ैया गौड़ आदि के अध्ययन के फलस्वरूप यह ज्ञात होता है कि सागर क्षेत्र के शैलाश्रयों में घने वन, पर्याप्त जलस्रोत, पर्याप्त मात्रा में पशु सम्पदा की उपलब्धि, प्रागैतिहासिक मानव के जीवनयापन के लिए पर्याप्त शिकार तथा कन्द, मूल, फल तथा वनस्पति जगत की विविधता ने आदिम मानव को आकर्षित

किया। उसी के परिणामस्वरूप जब इन कन्दराओं, गुफाओं, आश्रयों में वह ठहरा तो उसने जीवन के विविध पक्षों, क्रियाकलापों शिकार, पशुजगत, धार्मिक विश्वास परम्पराओं आदि का चित्रण अपनी कुशल कूची के द्वारा किया। सारांश में सागर क्षेत्र की शैलचित्र कला उच्चपुरापाषाणकाल से प्रारंभ होकर मध्यपाषाणकाल, नव ताम्रपाषाणकाल तथा ऐतिहासिक काल के विभिन्न क्रमों तक अस्तित्व में रही।

प्रस्तुत लेख के परिष्कार के लिए मैं स्व.(श्री) प्रो. विवेकदत्त झा का सदैव आभारी रहूँगा उनके निर्देशन एवं विषयवस्तु के प्रति गाँभीर्य भाव का स्मरण सदैव मेरे स्मृति पटल पर रहेगा। विभाग वरिष्ठ सहयोगी एवं खैरागढ़ विश्वविद्यालय के उपाचार्य डॉ. के.के. त्रिपाठी एवं मेरे मित्र श्री राकेश मिश्र जिला पुरातत्व संघ वरिष्ठ मार्गदर्शक के फील्डवर्क में सहयोग के लिये धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूँ। शैलचित्रों के सर्वेक्षण कार्य क्षेत्रीय पुरातत्व में सबसे कठिन कार्य है इस तकनीकी कार्य में बिना फील्ड सहयोग के कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. के.डी. बाजपेयी, सागर थ्रो द एजेज, सागर मध्यप्रदेश, 1967
3. के.डी. बाजपेयी, राकपेटिग्स ऑफ आबचद, मध्यभारती, 1969
4. पाण्डेय, एस. के. पेन्टिट राकसेल्टर सागर डिस्ट्रिक्ट, मध्यभारती, 1971
5. सिंह, विजय, पेन्टिट राकसेल्टर सागर रीजन पीएचडी थीसिस डेकन कालेज पुणे 1987
6. राघवन पी., सागर हेरीडेज एण्ड डपलपमेन्ट सारदा पाब्लीकेशन हाउस, दिल्ली, 1992
7. त्रिपाठी के.के., 'मौलाली–खानपुर के चित्रित शैलाश्रय', आचरण हिन्दी दैनिक सागर, 1995
8. शुक्ल, प्रदीप शुक्ल, भारतीय चित्रकला, आर.के. आफसेट, सागर (म.प्र.), 2002
9. इरविन न्यूमेर, प्रि हिस्टोरिक रॉक पेंटिंग इन इण्डिया (आक्फोर्ट प्रेस, दिल्ली), 1983
10. पाण्डेय श्यामकुमार, इण्डियन रॉक आर्ट, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1993
11. पाण्डेय श्यामकुमार, 'प्रि हिस्टोरिक आफ इण्डियन रॉक पेन्टिंग्स' प्राच्य प्रतिभा अंक–3, नं. 2, 1975, भोपाल (म. प्र.), 1975
12. शर्मा आर.के., मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रंथ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल (म.प्र.), 1974

6 सागर संभाग की शिव प्रतिमाओं से सम्बद्ध सांस्कृतिक तत्व

राज बहादुर क्षत्री

भारतीय इतिहास के पृष्ठों में बुन्देलखण्ड के एक वृहत् भू–भाग के रूप में सागर संभाग का वर्णन है। यह संभाग, भारत के मध्यप्रदेश राज्य के उत्तर–पूर्व भाग में स्थित है। भौगोलिक मानचित्र पर सागर संभाग को 23°09' से 25°40' उत्तरी अक्षांश तथा 78°04' से 80°40' पूर्वी देशान्तर के मध्य दर्शाया गया है। इस संभाग का क्षेत्रफल 38428 वर्ग किलोमीटर है। सागर संभाग के अन्तर्गत पाँच जिले सागर, दमोह, पन्ना, छतरपुर तथा टीकमगढ़ सम्मिलित है।[1] विभिन्न प्राचीन साहित्य में शिव विषयक उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम वैदिक साहित्य[2] एवं ब्राह्मण साहित्य[3] में शिव का रूद्र नाम के भयंकर और विनाशकारी देवता के रूप में उल्लेख हुआ है। महाकाव्यों[4] में शिव के संहारक रूप की अपेक्षा सौम्य रूप की उपासना का अधिक महत्व दिया गया है। पौराणिक काल में षैव धर्म का पूर्ण विकास हुआ। इस काल में ही शिव की पत्नी पार्वती का दार्शनिक विकास हुआ। उन्हें शिव की ज्ञानमयी शक्ति कहा गया है। यह शक्ति महेश्वर की 'माया' है और इसे 'परा' तथा 'परम शक्ति' भी कहा गया है। शिव की शक्ति स्वीकार किये जाने के कारण शिव–पार्वती में जो एकत्व हुआ, उससे ही शिव के 'अर्धनारीश्वर' रूप सम्बन्धी कल्पना सशक्त हुई। सामान्यतः सभी पुराणों में शिव की महिमागान बड़े–बड़े स्तोत्रों में प्राप्त होते हैं। इस काल में मन्दिरों में शिव–मूर्तियों और लिंग–मूर्तियों का प्रचलन सर्वाधिक बढ़ गया था।[5]सागर संभाग में उपलब्ध शिव प्रतिमाओं का पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्व में अध्ययन हुआ है। इस शोध आलेख में विवेच्य क्षेत्र की शिव प्रतिमाओं से सम्बद्ध विविध सांस्कृतिक तत्त्वों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो शोध का नवीनतम आयाम है। इसके अन्तर्गत मध्यकालीन मूर्तिकला, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति को सांस्कृतिक तत्व के रूप में विश्लेषणात्मक अध्ययन सम्मिलित किया गया है।

मूर्तिकला

शोध आलेख में सागर संभाग के संग्रहालयों एवं अन्य ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त शिव, अर्द्धनारीश्वर, उमा–महेश्वर, रावणानुग्रह, गजासुरवध, अंधकासुरवध, हरिहर इत्यादि शिव की प्रतिमाओं का अध्ययन

सम्मिलित है। विवेच्य क्षेत्र की षिव की प्रतिमाओं में कल्चुरि तथा चन्देलकालीन मूतिकला के दर्शन होते हैं। कल्चुरिकालीन प्रतिमाओं में गोलाकार लिये कुछ चौकोर चेहरे, पतली सीधी भौंहे, नुकीली नाक एवं ठुड्ढी, उभरे कपोल, बडे मुख, बन्द आँखें, गठीले एवं मांसल शरीर का अंकन हुआ है। कुहनी तथा घुटने के मोड़ एवं जोड़ नुकीले हैं। चन्देलकालीन प्रतिमाओं में सामान्यतः गोल या अण्डाकार चेहरे, धनुशाकार भौंहे परस्पर मिली हुई, नाक, ठुड्ढी एवं कपोल अपेक्षाकृत कम उभरे, अधखुली आँखें, संतुलित देहयष्टि का अंकन हुआ है। कुहनी तथा घुटने के मोड़ एवं जोड़ गोलाई लिये हुए हैं। एकल शिव प्रतिमाएँ सामान्य हैं। विशेषकर उमा–महेश्वर की प्रतिमाओं का अंकन योजनाबद्ध ढंग से किया गया है। देव–दम्पत्ति के अंग–विशेष पर आभूशणों की विविधता तथा परिकर में विविध आकृतियों के अंकन से प्रतिमा में कलात्मकता सवंर्द्धित हुई है। इसमें किसी भी स्थान को रिक्त नहीं छोड़ा गया है।

कला पक्ष की दृष्टि से सभी प्रतिमाएँ आकर्षक हैं। प्रतिमा में देव–दम्पत्ति की प्रणय सम्बन्धी भावों की अभिव्यक्ति सजीव है। अधिकतर प्रतिमाओं में चेहरा या मुखमण्डल घिस गया है। इस कारण भाव पक्ष के विषय में सटीक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। फिर भी, अधिकतर प्रतिमाओं के चेहरा में शान्ति के भाव स्पष्ट होते हैं। किसी–किसी प्रतिमा में हास्य के भाव हैं। कुछ प्रतिमाओं में अंगों की क्रियाएँ अलग–अलग भाव प्रदर्शित करती हैं। गजासुरवध तथा अंधकासुरवध प्रतिमा में शिव के क्रोध, रौद्र एवं संहारक भावाभिव्यक्ति स्वाभाविक है।

आर्थिक स्थिति

शिव प्रतिमाओं के वस्त्राभूषणों के अंकन से यह संकेत मिलता है कि तत्कालीन राजवंशों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। उमा–महेश्वर प्रतिमा में शिव के मस्तक पर भव्य एवं आकर्षक जटामुकुट सुषोभित है। वे कुण्डल, हार या मुक्ताहार, त्रिवली, केयूर, कंकण, कटिमेखला, उरूद्दाम, पादजालक आदि आभूशणों से अलंकृत हैं। उमा के मस्तक पर आकर्शक करण्डमुकुट सुशोभित है। देवी के अंग कण्ठहार, दोनों उरोजों के ऊपर से उसके नीचे तक दोलायमान द्विवली, केयूर, कंकण, कटिबन्ध, उरूद्दाम, पादजालक आदि आभूशणों में श्रंगारित हैं। शिव दम्पत्ति अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। अर्द्धनारीश्वर शिव के दाहिने अर्द्धांश (शिव) में मस्तक पर जटामुकुट धारण है तथा जटाएँ लटक रही है। यह अर्द्धांश कुण्डल, हार, भुजबन्ध, कटकवलय, कटिसूत्र, पादवलय आदि आभूशणों से सुशोभित हैं। बाँये अर्द्धांश (पार्वती) में मस्तक पर करण्ड मुकुट धारण है। यह अर्द्धांश कुण्डल, हार, उरोज एवं पुश्ट वक्ष के मध्य से नीचे तक दोलायमान हार, केयूर, कंकण, कटिसूत्र, नूपुर आदि आभूशणों से अलंकृत हैं।

धार्मिक स्थिति

विवेच्य क्षेत्र में शिव प्रतिमाओं के निर्माण का एक कारण तत्कालीन शैव धर्म के प्रति जनमानस की धार्मिक आस्था को उत्तरदायी मान सकते हैं। तात्कालीन परिस्थितियों में शिव को शक्ति से सम्बद्ध करने के उद्देश्य से अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा की उपासना प्रचलन में आयी। इससे शैव एवं शाक्त धर्मावलम्बियों की साम्प्रदायिक एकता की पुष्टि होती है। उमा–महेश्वर प्रतिमा की उपासना से इस धार्मिक दर्शन को सबलता मिली, कि देवी एवं देवता, दोनों की धार्मिक मान्यता एक–दूसरे से कम नहीं है। उमा–महेश्वर की भाँति प्रेम तथा माधुर्यता का समन्वयन या आलिंगनबद्ध होना ही धर्म है। इसी प्रकार हरिहर प्रतिमा के माध्यम से वैष्णव एवं शैव धर्मावलम्बियों के मध्य परस्पर साहिष्णुता की पुष्टि होती है।

सामाजिक स्थिति

शिव प्रतिमाओं की उपासना से तत्कालीन सामाजिक एकता एवं सद्भावना सूचित होती है। जन–जन में यह विश्वास व्याप्त रहा होगा, कि शिव, सदाचारियों के रक्षक एवं पालनहार हैं तथा बुरी शक्तियों का अन्त करने के लिए संहारक का रूप धारण करते हैं। सम्भवतः तत्कालीन समाज में यह अवधारणा स्थापित हो गई होगी, कि स्त्री तथा पुरूष के परस्पर सामंजस्य से परिवार, समाज तथा देश संगठित रहता है। शिव की अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा की उपासना के माध्यम से स्त्री–पुरूष की एकीकृत शक्ति की उपयोगिता एवं महत्व की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त उमा–महेश्वर की उपासना से स्त्री–पुरूष की समान सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

राजनीतिक स्थिति

विवेच्य क्षेत्र में उपलब्ध शिव प्रतिमाओं में कलचुरि कला तथा चन्देल कला से सम्बन्धित विशिष्टताएँ हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कलात्मक शैली के अनुसार इन प्रतिमाओं का निर्माण उक्त दोनों राजवंशों के शासकों के संरक्षण में हुआ है। सम्भवतः जब शिव प्रतिमाओं का निर्माण हुआ होगा, उस समय उनकी राजनैतिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ रही होगी। उन्होंने तत्कालीन जन–अपेक्षा को स्वीकार करते हुए योगिनी प्रतिमाओं का निर्माण करवाया होगा। अतः प्रतिमाशास्त्रीय साक्ष्यों के आधार पर कलचुरि एवं चन्देल वंश के शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की पुष्टि होती है। प्रस्तुत शोध आलेख में शिव प्रतिमाओं के माध्यम से चन्देल तथा कलचुरिकालीन मूर्तिकला, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है। इसमें इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि षिव प्रतिमाओं का निर्माण एक विशाल जन–समूह की धार्मिक आस्था का परिणाम है। षिव प्रतिमाओं के निर्माण में कलचुरि तथा चन्देलकालीन मूर्तिकला का समावेश होना, सम्बन्धित राज्याश्रय की पुष्टि होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से तत्कालीन दोनों राजवंशों की मूर्तिकला सहित उक्त सभी स्थितियों के समन्वय से शिव प्रतिमाओं का निर्माण हुआ और उनकी उपासना प्रचलन में आयी। यह शोध आलेख भविष्य में विद्वानों, शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों के ज्ञानवर्द्धन में सहायक सिद्ध होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.संभागीय पुस्तिका, जिला सांख्यिकीय विभाग, सागर 1995, पृ. 1

2.ऋग्वेद, 4, 12, 16; 6, 4, 1; 9, 13, 3; शुक्ल यजुर्वेद, 16, 5; यजुर्वेद, 16, 21; अथर्ववेद,6,93,2

3.शतपथ ब्राह्मण, 6, 1, 37; कौशित्की ब्राह्मण, 6, 19

4.बाल्मीकि रामायण : 7, 87, 21–22; 7, 4, 27; 7, 13, 22–23; 7, 4, 27; 7, 13, 22–23; 1, 42, 43;1, 42, 23; 1, 45, 26;1, 23, 11; 1, 23, 13; 7, 6, 3;1, 36, 37;1, 66, 9–10; महाभारत, वन पर्व : 3, 33, 87; 7, 80, 81; भीष्म पर्व : 6, 18; द्रोण पर्व : 7, 74; 7, 16, 9; 7, 50, 43; कर्ण पर्व : 8, 17; शल्य पर्व : 3, 39; सौप्तिक पर्व, 10, 6; 10, 7–8

5.गोयल, प्रीति प्रभा, भारतीय संस्कृति (द्वितीय संशोधित संस्करण), पृ. 258.

उमा महेश्वर (दसवीं शताब्दी ई.)महाराजा छत्रसाल पुरातत्व संग्रहालय, धुबेला, जिला–छतरपुर

उमा महेश्वर, (दसवीं शताब्दी ई.)महाराजा छत्रसाल पुरातत्व संग्रहालय, धुबेला, छतरपुर

उमा महेश्वर, (ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी ई.)रानी दमयन्ती पुरातत्व संग्रहालय, जिला–दमोह

रावणानुग्रह, (ग्यारहवीं शताब्दी ई.)गौर पुरातत्व संग्रहालय, जिला–सागर

7 टीकमगढ़ जिले के मंदिर एवं स्थापत्य कला

डॉ. माधव सिंह रायकवार

नैसर्गिक सुषमा और भूगर्भ सम्पदा से समृद्ध टीकमगढ़ जिला सागर संभाग के उत्तर पश्चिम में स्थित है। भौगोलिक संरचना के अनुसार टीकमगढ़ जिले की स्थिति $24^0 27'$ से $75^0 40'$ उत्तरी अक्षांश तथा $78^0 26'$ से $79^0 26'$ पूर्वी देशान्तर के मध्य है। जिले की उत्तरी सीमा में उत्तर प्रदेश का ललितपुर जिला स्थित है। जिले के दक्षिण में छतरपुर तथा सागर जिले हैं। पश्चिमी सीमा पर बेतवा की सहायक जामुनी एवं पूर्वी सीमा पर धसान नदी प्रवाहित होती है। भौगोलिक दृष्टि से मध्यदेशीय बुन्देलखण्ड के इस जिले को ओरछा की अधोभूमि कहा जाता है। सम्पूर्ण जिले में छोटे–छोटे पर्वत एवं शिलाखण्ड बिखरे हैं। टीकमगढ़ निम्नलिखित छह तहसीलों में विभाजित है – टीकमगढ़, बल्देवगढ़, जतारा, पलेरा, निवाड़ी तथा पृथ्वीपुर।[1] महाराजा विक्रमाजीत ने 1783 ईसवी में इस सुन्दर नगर की नींव डाली थी। उन्होंने अपने आराध्यदेव 'श्रीकृष्ण' के नाम 'टीकम' पर टीकमगढ़ नाम रखा था। इस शब्द से 'टेहरी' ध्वनि का भी आभास होता है। विवेच्य काल में यह क्षेत्र चेदि, दषार्ण, जैजाकभुक्ति या जुझौतिया के नाम से जाना जाता था।[2]

टीकमगढ़ जिले में मंदिर स्थापत्य की गतिविधियाँ गुप्तकाल से प्रारंभ हो गयी थीं। मोहनगढ़ में गुप्तकालीन मंदिर विद्यमान है, यह मंदिर अब जीर्ण–शीर्ण अवस्था में हैं। ये सभी प्रतीहार कालीन मंदिर मढ़खेरा, उमरी और बड़ा गाँव से मिले हैं। चंदेलकाल में पपोरा, अहार, गोरा, भेलसी, सरकनपुर आदि स्थलों पर मंदिर निर्मित हुए। चंदेलों के समय शैव धर्म को अधिक महत्व दिया गया। उसके प्रमाण टीकमगढ़ जिले में अधिकांश स्थलों पर शिव मंदिर के रूप में विद्यमान हैं। मंदिर भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। साहित्य में मंदिर की परिकल्पना पुरूष रूप में की गई है। उसके विभिन्न अवयवों को विविध अलंकरणों से मण्डित किया गया है। मंदिर निर्माण के निर्देष सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन, वृहत्संहिता, मानसार, समरांगण सूत्रधार, अपराजितपृच्छा, शिल्परत्न, रूपमंडन आदि अनेक ग्रंथों में किया गया है। स्थापत्य कला संबंधी विवरण ब्राह्मणग्रंथों, वेदांगों, सूत्र साहित्य, उपनिषदों, रामायण और महाभारत आदि में मिलते हैं। रामायण व महाभारत में क्रमषः 'देवायतन' और 'देवस्थान' शब्द मिलते हैं। पुराण, बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी स्थापत्य का उल्लेख किया गया है।[3] वैदिक कालीन ऋग्वेद में

देवालय का वर्णन मिलता है। वैदिक काल में यज्ञ वेदियाँ बनायी जाती थीं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उन्हें चारों ओर से चटाई से ढंका जाता था। यज्ञशाला को प्रवेशार्थ पूर्व की ओर से खुला रखा जाता था। तैत्तिरीयत्त संहिता में इस झोपड़ी सदृष्य संरचना को गर्भगृह कहा गया है। आपस्तम्ब श्रोतसूत्र के अनुसार यह संरचना वेदिका को षेश स्थल से अलग करती थी। यज्ञषाला के उक्त स्वरूप से ही संभवतः मंदिर वास्तु के विकास को प्रेरणा मिली।[4]

पुरात्तवीय अवशेषों में मंदिरों के स्वरूप प्रतिमाओं तथा सिक्कों में भी देखने को मिलते हैं। प्रारंभ में मंदिर या देवायतन सीधे–सादे रूप में बनाये जाते थे। भूमि से कुछ ऊँचे स्थान पर पूज्य प्रतिमा स्थापित की जाती थी, उसके चारों और वेदिका या बाड़े का निर्माण होता था। प्राचीन आहत सिक्कों तथा ओदुम्बर, पंचाल, तक्षशिला आदि की मुद्राओं में मंदिर का यही सादा रूप देखने को मिलता है।[5]

कालान्तर में मंदिर स्थापत्य के कतिपय मुख्य लक्षणों का विकास हुआ। पाषाण निर्मित स्वतंत्र देवालय गुप्तकाल से अस्तित्व में आये। पूर्व मध्यकाल में 'पंचायत' संज्ञा वाले मंदिरों का निर्माण बड़े रूप में होने लगा। भूमितल से लेकर ऊपर के शिखर तक मंदिर के जिन प्रमुख अंगों के वर्णन शास्त्रों में मिलता है, वे क्रमषः इस प्रकार हैं।

1. अधिष्ठान या चौकी : इस पर सज्जापट्टी, अलंकरण रूप में रहती थी। इसे 'बसंत पट्टिका' कहा जाता था।
2. वेदिबंध : यह अधिष्ठान के ठीक ऊपर का गोल या चौकोर अंग है। यह प्राचीन यज्ञ वेदियों से उद्भूत हुआ।
3. अन्तरपत्र : वेदिवंध के ऊपर की कल्पवल्ली या पत्रावली–पट्टिका।
4. जंघा : मंदिर का मध्यवर्ती धारणा स्थल।
5. वरंडिका : मंदिर का ऊपरी बरामदा
6. शुकनासिका : मंदिर के ऊपरी का वहिर्निसुत भाग। उसका आकार तोते की नाक की तरह होने के कारण उसका यह नाम पड़ा।
7. कण्ठ या ग्रीवा : शिखर का ऊपरी गरदन का भाग।
8. शीर्ष स्थल : खरबुजिया नामक आमलक होता था। धीरे धीरे गोल आमलक ने लम्बोतरा रूप ग्रहण किया और अंत में उसी का शिखर रूप बना। आमलक के ऊपर कलश होता था।

मंदिर के द्वार मुख या प्रवेश द्वार को गंगा–यमुना, घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख आदि अलंकरणों से सजाया जाता था। देवी रूप में गंगा–यमुना का महत्व बहुत बढ़ा। मंदिर के एक और कच्छप पर स्थित यमुना और दूसरी ओर मकर वाहन पर आरूढ़ गंगा की आकृति मिलती है। इन दोनों देवियों को प्रायः मंगल घट लिए हुए दिखाया जाता है। संपूर्ण द्वार को कई शाखाओं में विभक्त करने की परम्परा पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य में प्रारंभ हो गयी। तत्कालीन साहित्य में 'सप्तशाखाद्वार' के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे द्वार सात उत्तरंग वाले होते थे। उनके नाम नाग शाखा, रूपशाखा, व्यालशाखा, मिथुनशाखा आदि मिलते हैं।[6]

इन विभिन्न शाखाओं पर कलाकारों ने मुख्य देव प्रतिमा के अतिरिक्त सप्तमातृका, नवग्रह, यक्ष, नाग, गन्धर्व, सुवर्ण, किन्नर आदि अंकित किये। अलंकरणों के रूप में वृक्षों, लताओं तथा पशु पक्षियों की सज्जा पट्टियाँ विकसित हुईं। पूर्ण घट, कीर्तिमुख, शतदल, कमल आदि विविध अलंकरणों से मण्डित करने की

परम्परा प्रचलित थी। ये अलंकरण धार्मिक तथा लौकिक दोनों थे। प्रतीकों की जो परम्परा भारतीय धर्मों में मिलती हैं, उनके अंतर्गत स्वास्तिक, पूर्णघट, वेदिका वृक्ष आदि को प्रस्तुत किया गया है। आकृतियों के आधार पर मध्यकालीन मंदिरों के विभिन्न नाम हुए। उन्हें पंचायतन, पूर्णभद्र, षोडशभद्र आदि संज्ञाएँ दी गयीं।[7] टीकमगढ़ जिले के पलेरा तहसील में लार ग्राम में वैदिक पौराणिक तथा विषेशतः जैन मंदिरों तथा कलापूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। निर्माण का समय सातवीं से बारहवीं शती तक है। वहाँ कला के विकास में सभी शासकों का विशेष योगदान था।

चंदेल राजवंश के शासनकाल में टीकमगढ़ जिले में पर स्थापत्यकला का विकास हुआ। मोहनगढ़, मढ़खेरा, ऊमरी के मंदिर इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन मंदिरों का निर्माण नौवीं शती ईसवी के उत्तरार्द्ध से लेकर बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक संपन्न हुआ। टीकमगढ़ में बहुसंख्यक मंदिर बनाये गये थे। इस समय केवल 15 मंदिर वहाँ देखने को मिलते हैं। इन मंदिरों को बनाने में दो प्रकार का पत्थर उपयोग में लाया गया, ग्रेनाइट तथा लाल बलुआ पत्थर। प्रारंभ में बने मंदिर जैसे सरकनपुर का शिव मंदिर क्रमांक एक, मंदिर क्रमांक दो, महादेव मंदिर, मोहनगढ़ का मंदिर, मढ़खेरा का सूर्य मंदिर, उमरी का सूर्य मंदिर, अहार का जैन मंदिर, अधिकांश ग्रेनाइट पत्थर के बने हैं। शेष मंदिरों में दूसरे प्रकार का लाल बलुआ पाशाण प्रयुक्त हुआ है। ये मंदिर उत्तर भारत की नागर शिखर शैली के बने हैं। शैव मत के मंदिरों की संख्या सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त वैष्णव तथा जैन संप्रदायों के भी मंदिर यहाँ विद्यमान हैं। इन सभी मंदिरों की निर्माण शैली एवं शिल्प विधान में प्रायः समान त्तव मिलते हैं। शैव, वैष्णव या जैन मंदिरों में कुछ विशेष सांप्रदायिक मूर्तियों के अतिरिक्त अधिक अंतर नहीं है।

सूर्य मंदिर, मढ़खेरा –

मढ़खेरा टीकमगढ़ से 27 किलोमीटर की दूरी पर है। इस ग्राम में सूर्य मंदिर विद्यमान है। इसका गर्भगृह तीन मीटर का वर्गाकार है। इसके बाद अन्तराल 2.5 मीटर तथा उसके आगे खुला मण्डप 3.3 मीटर वर्गाकार है। 18×16 मीटर के चबूतरे पर पूर्वाभिमुख मंदिर निर्मित है। मंदिर में संप्रति आदमकद सूर्य मूर्ति प्रतिष्ठित है। गर्भगृह की छत सपाट है, जिस पर पूर्ण पुष्पित पद्म उत्कीर्ण है। मंदिर की ऊँचाई जगती के ऊपर लगभग 80 फीट है।[8] ऊँची जगती पर पूर्वाभिमुख, पंचरथ निर्माण योजना में निर्मित मंदिर में मंडप, अंतराल और गर्भगृह हैं। मंदिर, 'वास्तुपुरूष मंडल में वर्णित मंडल निर्माण योजनाओं के आधार पर बनाया गया है।[9]

बाह्य विन्यास –

मंदिर के वेदिबंध में ऊपर माला, कमल पुश्प युक्त जाड्यकुंभ, खुर, अलंकृत तुलापीठ युक्त कुंभ, कलश तथा कपोत बंधनों का समावेश है। वेदिबंध में चैत्य उद्रमों से आच्छादित छोटे–छोटे देवकोष्ठों में देवी–देवताओं तथा अप्सराओं की प्रतिमाएँ हैं। उनमें कुबेर, सूर्य, वराह अवतार, विश्णु, नृसिंह, चामुण्डा, गणेश, यम, वामन तथा अग्नि देवताओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। सूर्य मंदिर में चतुर्मुखी ब्राह्मणी स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित है। ब्राह्मणी, कुण्डल, हार आदि आभूषणों से अलंकृत है। मंदिर का शिखर पंचायत शैली का है। भद्ररथ ऊपर ग्रीवा तक चले गए हैं। ग्रीवा में तुला पीठ कपि शीर्षक से अलंकृत बंधन है। इस पर विशाल आमलक रखा है। कलश नष्ट हो गया है। शुकनासिका के वर्णनार्थ इसे तीन क्षेतिजिक बंधनों में विभक्त किया गया है। नीचे के बंधन में मध्यस्थित उभय पार्ष्व में एक अलंकृत देव कोष्ठ है।

उसमें विष्णु तथा अन्य देवता प्रदर्शित हैं। उनके ऊपर के बंधन में तुलापीठ, चैत्य तथा अन्य देवकोष्ठ हैं। मध्य स्थित वृत्त में कलश तथा अक्षय मालाधारी पुरूश आकृति है। उभय पार्श्व में व्याल हैं। शुकनासिका के ऊपरी भाग में अलंकृत चौकी पर सिंह अंकित है।[10]

मंडप –

मंडप चार स्तंभों पर आधारित है। दो स्तंभ गर्भगृह से संलग्न हैं। मध्य में स्तंभिका युक्त देवकोष्ठ हैं। उन पर छोटे–छोटे कलष हैं। उनमें स्थानक देवता प्रदर्शित हैं।[11]

द्वार –

मंदिर के प्रवेश द्वार में पंच शाखाओं द्वार स्तंभों पर गंगा यमुना का अलंकरण है। द्वार में लतापत्र नाग, मिथुन, घट पल्लव, स्तंभ तथा लतापत्र युक्त शाखाएँ हैं। ललाट बिंब में विद्याधर युग्मों के मध्य सूर्य प्रदर्शित है। दाहिनी ओर गणेश और वीरभद्र सहित सप्तमातृकाएँ तथा बायीं ओर नवग्रहों का अंकन है। उसके ऊपरी बंधन में विद्याधर, उपासक, सिंह तथा गज का अंकन है।[12]

अंतर्विन्यास –

आयताकार अंतराल सादा है। वर्गाकार गर्भगृह की भित्तियाँ सादी हैं। वितान लता तथा पुष्प से अलंकृत है। गर्भगृह में प्रयुक्त स्तंभ अलंकृत है। सिंहासन पर भगवान सूर्य की स्थानक प्रतिमा प्रतिश्ठित है।[13]

सूर्य मंदिर, उमरी –

टीकमगढ़ से 50 किलोमीटर दूर ककरवाहा मार्ग पर यह मंदिर उमरी नामक ग्राम में स्थित है। ऊँची जगती पर निर्मित पंचरथ मंदिर की निर्माण योजना में मंडप, अंतराल और गर्भगृह हैं। गर्भगृह में सप्त अश्वरथ पर आसीन सूर्य की भव्य प्रतिमा प्रतिश्ठित है।[13]मंदिर में जंघा का भाग सादा है। प्रवेश द्वार पंच शाखायुक्त है। द्वार स्तंभ गंगा यमुना व अन्य प्रकार की प्रतिमाएँ से अलंकृत हैं। वेदिबंध में खुर, कुभ कलश तथा कपोत बंधन समाविष्ट हैं।[14] वेदिबंध के मध्य बंधों में चैत्य उद्रमों से आच्छादित देवकाष्ठ हैं, उनमें देवी देवताओं तथा नायिकाओं का मोहक अंकन है। उनमें सूर्य, नवग्रह, गणेश, नृसिंह, यम, वायु इन्द्राणी, अग्नि आदि देवी देवताओं का प्रदर्षन है।[14] सप्त शिखर के मध्य चैत्य उद्रम हैं। ग्रीवा पर आमलक हैं। मंडप में मिश्रक वर्ग के चार स्तंभ हैं। दक्षिणी भित्ति में अभिलेख हैं, जो देवनागरी लिपि में हैं। अभिलेख में ''सीयक हर्श'' का उल्लेख हुआ है। द्वार शाखाओं में अलंकृत गंगा–यमुना नष्ट हो गई हैं। अन्य अलंकरण मढ़खेरा के सूर्य मंदिर के समान हैं।[16] गर्भगृह वर्गाकार है। सिंहासन पर सूर्य की स्थानक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मंदिर का निर्माणकाल लगभग नौवीं षती ईसवी है।[15]

(3) शिव मंदिर, बड़ा गाँव –

यह मंदिर बड़ा गाँव से दस किलोमीटर दूर स्थित है। मंदिर जमीन से दो फीट ऊँचे आयताकार अधिष्ठान पर स्थित है। मंदिर पूर्वमुखी है।[16]मंदिर का आकार 7.5 मीटर है। मंदिर दो सम्मुख स्तंभों पर आधारित है। अर्द्धमण्डप अधिष्ठान की सतह से ऊँचा है। अर्द्धमण्डप में प्रवेश के लिए एक सोपान निर्मित है। प्रवेश द्वार के दोनों ओर क्रमशः मकर वाहिनी गंगा एवं कच्छपवाहिनी यमुना का अंकन है, उनके पार्श्व

में शिव के द्वारपाल एवं परिचारिकाओं का प्रदर्शन है। प्रवेशद्वार के सिरदल के ऊपरी भाग में चैत्यों की आकृति का आलेखन है। मंदिर त्रिरथ योजना में निर्मित है। मंदिर में शिवलिंग प्रतिष्ठित नहीं है।[17]

(4) शिव मंदिर, भेलसी –

टीकमगढ़ जिले के पूर्वांचल में बल्देवगढ़ से 5 किलोमीटर दूरी पर भेलसी ग्राम स्थित है। वहाँ पर दो शिव मंदिर विद्यमान हैं। ये मंदिर लगभग 8 फुट ऊँचे चबूतरे पर निर्मित हैं। मंदिरों का आकार रथाकार है। मंदिर में उत्कीर्ण अलंकरण से प्रतीत होता है कि ये मंदिर चंदेलकालीन है।[18] समरांगण सूत्रधार में ऐसे मंदिर को नन्दिघोष कहा गया है। मंदिर में गर्भगृह हैं। मंडप में चार स्तंभ और बारह स्तंभिकाएँ हैं। प्रदक्षिणापथ होने के कारण यह सांधार प्रासाद है। सुभद्रा द्वार में लता, वल्लरी, रूप तथा तालपत्र युक्त शाखाएँ हैं। नीचे गंगा, यमुना व नाग–नागी प्रदर्शित हैं।[19]

(5) शिवमंदिर, कोटरा –

टीकमगढ़ जिले के पूर्वी अंचल तथा बल्देवगढ़ तहसील के पूर्वोत्तर भाग में कोटरा ग्राम स्थित है। यहाँ एक शिव मंदिर विद्यमान है। इसके गर्भगृह तथा प्रकोश्ठ आयताकार रूप में है, जो एक सादे ऊँचे अधिश्ठान पर आधारित हैं। मंदिर में प्रवेश के लिए सोपान हैं। प्रवेष द्वार के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा एवं कच्छपवाहिनी यमुना का अलंकरण है। उनके पार्श्व में शिव के द्वारपाल एवं परिचारकों का प्रदर्शन है। प्रवेश द्वार के सिरदल के ऊपरी भाग में चैत्यों की अनुकृति का कलापूर्ण आलेखन है। मंदिर त्रिरथ योजना में निर्मित है। लघु स्तंभों से युक्त वातायन अलंकष्त हैं। मंदिर का संपूर्ण बाह्य भाग चैत्यानुकृतियों तथा कीर्तिमुखों के कलापूर्ण अलंकरण से सज्जित है।[20] टीकमगढ़ जिले के संपूर्ण भू–भाग में प्राचीन मंदिरों तथा प्रतिमाओं के बहुसंख्यक प्रमाण मिले हैं। उनके अवलोकन से स्पष्ट होता है कि नौवीं सदी ईस्वी से बारहवीं सदी ईस्वी के मध्य वहॉ कला केन्द्रों का विकास होता रहा ।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. कृष्णदत्त बाजपेयी, संतोश कुमार बाजपेयी, ''भारतीय कला'', म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1919, पृ. 18।
2. कृष्णदास, ''बुन्देलखण्ड का इतिहास'' (ओरछा खण्ड), प्रभाकर प्रेस, छतरपुर, संवत 2039, पृ. 27–29।
3. कृष्णदत्त बाजपेयी एवं ष्याम कुमार पाण्डेय, ''भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योगदान'',इलाहाबाद, 1967, पृ. 10।
4. सुधीर कुमार त्रिवेदी मध्यभारत की प्रतिहार कालीन कला एवं स्थापत्य, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर 1994, पृ. 30।
5. कृष्णदेव, ''टेम्पल्स ऑफ नार्थ इंडिया'', नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, दिल्ली, 1963, पृ. 18।
6. जगत राम बख्शी, ''ओरछा राज्य का भूगोल'', ओरछा दरबार, टीकमगढ़, 1931, पृ. 35।
7. जया गोस्वामी, ''कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया'', अगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1979, पृ. 25–26।
8. प्रमिला कुमार, ''मध्यप्रदेश एक भौगोलिक अध्ययन'', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2000, पृ. 10।
9. राजकुमार शर्मा, ''मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रंथ'', हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 35–36।
10. रामाश्रय अवस्थी, ''खजुराहो की देव प्रतिमाएँ'', प्रथम खण्ड, ओरिएण्टल पब्लिशिंग हाउस, आगरा, 1967, पृ. 25।
11. सुषील कुमार सुल्लेरे, ''अजयगढ़ और कालंजर की देव प्रतिमाएँ'', रामानंद भवन, नई दिल्ली, 1987, पृ. 27–28।
12. सुरेन्द्र चौरसिया, ''झाँसी संग्रहालय में संग्रहित पुरावषेश'', प्रथम संस्करण, आर.के. ऑफसेट, सागर, 2000, पृ. 40।
13. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, ''भारतीय वास्तुशास्त्र'', प्रतिमा विज्ञान (वस्तु वाङमय) प्रकाशन माला, शुक्ल कुटी, फैजाबाद, लखनऊ, संवत् 2039, पृ. 15–16।

14. विवेक दत्त झा, नागेश दुबे, (संपादित) ''बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक इतिहास'', सरोज प्रकाशन, सागर, 2006, पृ. 117–118।
15. महेन्द्र वर्मा, ''चंदेल कालीन कला संस्कृति'', रामानंद विद्याभवन, दिल्ली, 1952, पृ. 108–110।
16. महेन्द्र वर्मा, ''बुंदेलखण्ड की वास्तुकला'', भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ. 106।
17. महेन्द्र चंद्र जोशी, ''युग–युगीन भारतीय कला'', राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 1995, पृ. 108।
18. मारुति नन्दन तिवारी, ''मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला'', विष्वविद्यालय प्रकाषन, चौक, वाराणसी, 1991, पृ. 85।
19. कृष्णदत्त बाजपेयी, बुन्देलखण्ड की मूर्तिकला, मामुलिया, छतरपुर, अंक 3, संवत् 2038, पृ. 8।
20. सुधीर कुमार त्रिवेदी मध्यभारत की प्रतिहार कालीन कला एवं स्थापत्य, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर 1994, पृ. 12।

8 मालवा क्षेत्र से प्राप्त दुर्लभ देवी प्रतिमाएँ

डॉ. धीरेन्द्र सौलंकी

शक्ति की पूजा मातृसत्ता के रूप में भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में प्राचीनतम काल से पाई जाती है । अनेक विद्वान् इस मत से सहमत है कि सिन्धु घाटी सभ्यता में मातृसत्ता की पूजा होती थी। मातृदेवी की आकृतियाँ मृदभाण्डों पर प्राप्त हुई है। मेके महोदय के अनुसार इस प्रकार के रूचित मृदभाण्डसिन्धु घाटी के हर घरों में रखी जाती थी । इसके अलावा गोल पत्थर पर्याप्त मात्रा में मिले है तो निश्चित ही मातृसत्ता की पूजा से सम्बद्ध है जिस प्रकार लिंग पितृसत्ता का प्रतीक है उसी प्रकार गोल पत्थर योनी अथवा मातृसत्ता के प्रतीक है। गोल पत्थर परम्परा जो शाक्तों में प्रचलित उसे चक्र या यंत्र भी कहते है। गोल पत्थर नंग्न स्त्री चित्रों का प्रदर्शन भी प्रमुख बात यह पाई गयी है कि मातृसत्ता का वनस्पति जगत से गहरा सम्बन्ध है। हड़प्पा के एक बेलनाकार मिट्टी की मुहर पर नंगी नारी की आकृति जिसके पाव फैले हुए है और गर्भ से एक पौधो निकलता हुआ दिखाया गया है। इसी प्रकार एक गुट कालीन मिट्टी की मोहर पर देवी के गर्दन से कमल निकला हुआ दिखाया गया है ।

मारकण्डेय पुराण देवी महात्म नामक अध्याय में शक्ति के शाकम्भरी रूप का वर्णन किया गया है, इसमें उल्लेख मिलता है कि शक्ति का विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों से गहरा सम्बन्ध है। नवरात्री के दिनों में नवपत्रिका पूजा होती है जिसमें नव प्रकार की वनस्पतियाँ दूर्गा को समर्पित की जाती है। मातृसत्ता की यह परम्परा सिन्धुघाटी से वर्तमान युग तक अविछिन्न यह वैदिक काल धार्मिक भावना से भिन्न है ऋग्वेद में देवी की तुलना में देवीयों का स्थान नगण्यता है और उसकी पूजा गोण रूप में प्रचलित थी ऋग्वेद में देवीयों उल्लेख पाया जाता है जिसमें अदिति उशा, पृथ्वी, वाक्, सरस्वती, सप्रमातृका का आदि प्रमुख है। उत्तरवेदिक कालीन साहित्य में इन देवियों की संख्या बढ़ने लगी और अम्बिका उमा तथा काली के नाम साहित्य में जुड़ गये । पौराणिक साहित्य में शक्ति पूजा का प्रचुर वर्णन है सबसे महत्वपूर्ण मारकण्डेय पुराण का देवी महात्म अंश है जिसमें विभिन्न प्रकार के देवियों और स्वरूपों का वर्णन है। रामायण में देवी का सीधे वर्णन नहीं है लेकिन युद्ध काण्ड में अगस्त मुनी राम आदित्य ह्रदय की मत्र पढ़ने का बताया है जिससे राक्षसों के वध में सफलता मिलेगी ।

विभिन्न प्रकार आगम ग्रन्थों में शक्ति के विभिन्न नामों और रूपों का वर्णन है जिसमें सप्रभात का और महिषासुर मर्दिनी रूप अधिक महत्वपूर्ण है। मातृसत्ता का प्रभाव ताम्राश्मयुगीन सभ्यता में देखने को मिलता है। म.प्र. की ताम्राश्मयुगीन उत्खनन में टेराकोटा पर मातृका की पूजा का उल्लेख पुरातात्त्विक उत्खनन में अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है जैसे महेष्वर नावदाटोली, दंगवाड़ा, पिपलिया, लोरथा, महिदपुर, कायथा, आजादनगर, रूणिजा में मातृका की मृण्यमूर्तिया अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है। यह सभ्यता कृषि प्रधान सभ्यता है इसमें प्रत्येक घर में मृण्य मात्रिका को स्थापित करने का प्रचलन रहा है इसकी पुष्टि पुरातात्विक उत्खननों से होती है।

संत्र सम्प्रदाय के घुघले प्रभाव गुप्तकाल से अधिक प्राप्त होता है। तन्त्र संप्रदाय, पूर्वी सदी से अधिक फलने फूलने लगा, पूर्व मध्य काल में तन्त्र सम्प्रदाय ब्राह्मण धर्म से संबंधित हो जाता है। बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय मुख्य रूप से यात्रा से संबंधित है। यहाँ यान्त्रिकों की साधना प्रमुख है। उदयगिरी की एक गुफा के देवी को महिशासुर वध करते हुए दिखाया गया है।

देवी मातृका रूप पूजित रही ये सप्तमातृका मुख्य रूप से ज्ञात है जिन्हें हम सप्तमातृका कहते है। यद्यपि आठ से अधिक मातृकाओं का वर्णन पाया जाता है। वराहमिहिर भी इस पर चुप है मारकण्डेयपुराण 16 मातृकाओं की चर्चा है। त्रिमातृका पंचमातृका सप्तमातृका की आकृति प्रतिमाओं में उपलब्ध है।

पार्वती की प्रतिमा –

सिहोर जिले से प्राप्त 16 भुजी एक पार्वती की दुर्लभ प्रतिमा प्राप्त हुई है। देवी अर्द्धयिकासन में अंकित है। देवी के हाथों में क्रमशः पारा, डमरू, ब्रह्म, नाग, शक्ति, शूर्वा तथा दो हाथ के आयुध अकन अस्पष्ट है। इसी प्रकार बाये उपरी हाथ में त्रिशूल, शंख, पाश, शक्ति, घण्टा तथा एक हाथ भू–स्पर्श मुद्रा में प्राप्त हुये है। देवी का जटामुकुट विशेष उल्लेखनीय है कि इसके उपरी भाग में शिवलिंग स्थापित है। देवी पुष्प, कुण्डल, कण्ठ श्री, भारी भरकम हार, स्तन शुत्र, वलय, केयूर, कटीमेखल, कटी वस्त्र और नुपूर व कड़े में अलंकृत है।

देवी के परिकर में बांयी ओर सूर्य, सप्तमात्रिका तथा गणेश का अंकन है। परिकर के नीचे वैष्णवी और ब्रह्माजी का अंकन है। देवी के मस्तक के उपर तीन शिलाखण्ड, पर अलग–अलग मालवाकृति रोद्र मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। पादपीठ पर दोनों ओर गंधर्व आकृतियाँ प्रदर्शित है। देवी का वाहन सिंह भी रोद्र रूप में प्रदर्शित किया गया है। देवी का प्रभा मण्डल, दोनों कानों में अलग–अलग कुण्डल, रौद्र नेत्र, भयावह मुखाकृति भारी भरकम आभूषण से देवी को अलंकृत किया गया है।

छिन्न कटि प्रदेश तथा शरीर का लावण्य देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा 7वीं–8वीं शताब्दी ईस्वी की अनुमानित है जो भी हो यह प्रतिमा तंत्र सम्प्रदाय से संबंधित मानी जा सकती है। इस क्षेत्र में इस प्रकार की प्रतिमा दुर्लभ है। जो यह प्रदर्शित कर रही है कि इस क्षेत्र में तंत्र का बाहुल्य था। फिर भी यह प्रतिमा उस क्षेत्र की दुर्लभ कृति है। बजरंगगढ़ के पास अश्वारोही चतुर्थ हस्तादेवी की प्रतिमा प्राप्त हुई। देवी के दोनों नीचले हाथ अश्व की लगाम पकड़े हुए हैं। तथा उपरी दोनों हाथ में एक विशाल खप्पर लिये हुए है। खप्पर पर एक बड़ी मछली (मत्स्य) देवी की केश राशि तथा जुड़ा प्रदर्शित है। देवी पुष्प कुण्ड, एक लड़ी दार, त्रीलडी हार, स्तन सूत्र, स्तनहार, कटीवस्त्र उद्योगवस्त्र, नुपूर आदि का सुन्दर अंकन किया गया है। देवी के उपर अत्यधिक सिन्दुर लेपन होने के कारण शिल्पी के द्वारा किये गये आभूशण एवं अन्य अलंकरण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे ।

शिल्पशास्त्र एवं प्रतिमा शास्त्र लोक गाथाओं में इस प्रकार की देवी अंकन का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। जैन तंत्रों एवं आगम ग्रन्थों में अश्वारोही देवी का उल्लेख है। जैसे अघुन्ना या अछुता कहा गया है। परन्तु इनके हाथ में खप्पर और मछली का अंकन प्राप्त नहीं होता है अगर इस देवी प्रतिमा को भैरवी कहे तो भैरवी का वाहन श्वान है। भैरव के हाथ में खप्पर और मछली का अंकन तो मिलता है परन्तु इस प्रकार की देवी का अंकन शिल्प शास्त्र में दुर्लभ है या यू कहो तो यह अंकन नहीं के बराबर है।

भोजपुर से प्राप्त देवी प्रतिमाएँ

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. माकृण्डेय पुराण – 11.55
2. मत्स्य पुराण – 152, 17.24
3. ब्रह्माण पुराण – 4, 29. 75
4. स्कन्द पुराण – अ. 83
5. देवी महात्म्य – 2.6.31
6. रूम मण्डल – 5. 43–50
7. अपराजित पष्च्छा – 22. 3. 6–17
8. विष्णु धर्मोत्तर – 117.18 – 25
9. मत्स्य पुराण अध्याय – 3 ब्रह्म वैवर्त प्रघृनिखण्ड
10. देवीमहात्म्य – 87
11. श्रीमदभागवत – 10.58.21
12. पार्जिटर एफ – मार्कण्डयपुराण 1904 अध्याय – 88 बी.आर.
13. अग्निपुराण – 51.14
14. राव टी.ए.जी. – डेवलपमेन्ट–2 ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी जिल्द–1 भाग 2 मद्रास 1914 पृ॰ 270
15. अवस्थी रामाश्रय – खजुराहो की देवप्रतिमाएँ आगरा 1961 पृष्ठ 58
16. तिवारी एवं गिरी – मध्यकालीन प्रतिमा लक्षण वाराणसी 1997 पृष्ठ 31

9 ग्वालियर क्षेत्र की वैष्णव प्रतिमाएँ

'डॉ. गोविन्द बाथम एवं डॉ. प्रमेशदत्त शर्मा

भारतीय संस्कृति में ईश्वर की अनुभूति एवं दर्शन के लिए उसके साकार स्वरूप की कल्पना की गई है। इस साकार स्वरूप की प्रस्तुति उसके आकारगत प्रमाण में दृष्टिगत होती है, और इसके सर्वाधिक सफल माध्यम मूर्तियाँ है। मूर्ति एवं प्रतिमा शब्द का अर्थ है, **प्रतिरूप।** इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए प्रतिकृति प्रतिमा, बिंब आदि शब्दों का प्रयोग अनादि काल से ही होता आ रहा है। पतंजलि ने प्रतिमा शब्द के लिए **अर्चा** शब्द का प्रयोग किया हैं। जिन्हे मौर्य राजा अत्याधिक स्वर्ण प्राप्ति की इच्छा से बनवाते थे।[1] प्राचीन ग्रंथो में प्रतिमा विज्ञान साम्रगी की जानकारी मिलती है। वाल्मीकी रामायण में राम द्वारा अश्वमेघ यंज्ञ के दौरान सीता की अनुपस्थिति में उनकी स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर के अपने पास रखी। इसी प्रकार महाभारत में धृतराष्ट द्वारा भीम की लौह प्रतिमा बनवाने का वर्णन प्राप्त होता हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण से शिला, लकड़ी अथवा लोहे की प्रतिमा बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है। एक अन्य विभाजन के अन्तर्गत सात प्रकार की सामग्री पर निर्मित प्रतिमाओं का उल्लेख हुआ हैं ।

1. मृणमयी – मिट्टी निर्मित 2. छारूजा– लकड़ी से निर्मित 3.लौहजा – लोहा अथवा अन्य धातु से बनी हुई4 रत्नजा– रत्न एव अन्य मणियों से बनी हुई 5. शैलजा– प्रस्तर से निर्मित 6.गन्धजा –चंदन आदि सुगंधित पदार्थों से निर्मित 7.कौसुमी– पुष्पों से निर्मित 8.गोवरी–गाय, भैस, के गोबर से निर्मित प्रतिमा। इनमे से कला की दृष्टि से प्रस्तर की बनी प्रतिमा परिपूर्णमानी जाती हैं।

भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव और परमात्मा के रूप में मानने वाले भक्त वैष्णव कहे गये और तत्सम्बन्धी धर्म दर्शन और सिद्धान्त वैष्णव धर्म कहा गया। विष्णु वैदिक देवता है, जिनका प्रभाव धीरे''धीरे बढ़ता गया। वैष्णव धर्म का प्रारंभ 6वी शती.ई. के पहले से ही हो चुका था। इस बात की पुष्टि भगवत धर्म के अर्न्तगत वैष्णव धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप के रूप में देवकीपुत्र भगवान श्रीकृष्ण की पूजा दर्शाती है। मौर्य युग में भगवान श्री कृष्ण की स्वतंत्र पूजा के प्रवाधान के बारे में पाणिनी के अष्टाध्यायी से विदित होता है।[2] महाभारत में वासुदेव का अनेक बार नाम आया है। ऐसा लगता है कि भागवत् धर्म का उदय मौर्य युग से बहुत पहले हो चुका था, जो सम्भवतः बौद्ध धर्म से पूर्व का समय था। उसके पश्चात् भगवत् धर्म समाज में सकियतापूर्वक स्थान बनाने लगा तथा महाभारत की रचना के समय भागवत् धर्म एक प्रमुख धर्म बन गया था। 3 वी. शती ई. के लगभग पांचरात्र मत का विकास हुआ और भागवत् ध

ार्म बाद में इसी में समाहित हो गया और पूर्णरूपेण वैष्णव धर्म की स्थापना हुई। पांचरात्र के अन्तर्गतवासुदेव और उनके स्वरूपों का पूजा''अराधना सन्निहित था।[3] भगवान विष्णु की पहचान वैदिक देवता के रूप में होती है। आरंभ में वैदिक देवता के रूप में विष्णु का महत्व कम था। ऋगवेद में भगवान विष्णु के लिए केवल 5 सुक्तही मिलते है। ऋगवेद में भगवान विष्णु को सौर देवता के रूप में बतलाया है जो अपनी किरणों से पृथ्वी को ढकता है।[4] साथ ही ऋगवेद में इन का संबंध इन्द्र, वायु, और अग्नि से जोड़ गया है। अथर्वेद में इनको तत्र से जोड़ गया है तथा इन के भीशण रूप उल्लेख किया गया है।[5]

उत्तरवैदिक काल में वैश्णव धर्म का प्रभाव बढने लगा और महाकाव्य काल में भगवान विष्णु को सृष्टिकर्त्ता और जगनियन्ता का पद प्रदान किया गया। ब्राह्मण ग्रथों और उपनिशदों में भगवान विष्णु को परम ब्रह्म के रूप में स्वीकार करके परमपद की प्राप्ति की बात कही गयी है।गुप्तकाल में वैष्णव धर्म अपनी पराकाश्ठा पर था। तत्कालीक समाज में विष्णु या नारायण की पूजा अराधना और मूर्तिनिर्माण बहुत अधिक प्रचलित था। गुप्त शासको ने अपनी मुद्राओं में **परमभागवत लेख उत्कीर्ण** करवाये। हर्श के युग में भी वैष्णव धर्म की प्रवाहमानता को देखा जा सकता है। बाण के हर्श चरित में पांचरात्र और भागवत धर्म का उल्लेख किया गया है।वैश्णव धर्म का प्रसार राजपूत काल में भी तद्वत् रहा था। अनेकानेक अभिलेख, मंदिर, और मूर्तियॉ इसके प्रमाण है। खलीमपुर दानपत्र से विदित होता है कि विष्णु का पूजन **'ओम नमो नारायण' या** कभी कभी **'ओम नमो भगवते वासुदेवाय'** के नाम से किया जाता था। सेनवंशी शासक अपने आप को **परमभागवत** या **परमवैष्णव** कहते थे। चंदेल शासक परमर्दि के बटेश्वर अभिलेख में विष्णु मंदिर का उल्लेख मिलता है। चेदि शासक लक्ष्मणराज के मंत्री सोमेश्वर ने एक विष्णु मंदिर बनवाया था। बंगाल के पाल शासक धर्म पाल के काल में नारायण का मंदिर निर्मित हुआ। भोज के ग्वालियर अभिलेख में राम को विष्णु के अवतार के रूप में विवश्त किया गया है।

ग्वालियर क्षेत्र में भी ईश्वर, यक्ष देवताओं की उपासना के लिए प्रतिमाओं का निर्माण प्राचीन काल से ही होने लगा था। इसके उद्भव एवं विकास के प्रमाण सर्वप्रथम पवाया (पद्मावती) से प्राप्त होते है। यहां पर मौर्य काल से लेकर मध्यकाल तक के प्रमाण की जानकारी हमे प्राप्त होती हैं। गुप्तकाल में यहा से वैष्णव मत की प्रतिमा प्राप्त हुई हैं। ग्वालियर क्षेत्र की मूर्तियों के प्रमाण हमे ग्वालियर दुर्ग ,पनिहार, सूरवाया, अमरोल, धनैली, करई, देवरी, एवं इसके आसपास के क्षेत्र नरेश्वर, बटेश्वर, मितावली, पढावली से प्राप्त होती है।[6].ग्वालियर में हमे विभिन्न समुदाय की प्रतिमा प्राप्त होती है। ये क्षेत्र धार्मिक रूप से काफी सबल रहा है। इस क्षेत्र में यक्ष सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, वैष्णव, व सौर सम्प्रदाय प्राचीन काल से भी प्राचीन रही है। जिसके प्रमाण इनकी प्रतिमों के रूप में इस क्षेत्र से प्राप्त होते है। ग्वालियर क्षेत्र में वैष्णव मूर्तिकला के समृद्ध प्रमाण मिले है। वैदिक एवं पौराणिक धर्मो की दृष्टि से शैव धर्म के उपरान्त ग्वालियर क्षेत्र में वैष्णव धर्म को सर्वाधिक प्रतिश्ठा प्राप्त हुई। ग्वालियर क्षेत्र में वैष्णव धर्म संबंधित प्राथमिक प्रामाण ग्वालियर दुर्ग से वाइल्लाभट्टस्वामिन मंदिर या चतुर्भुज मंदिर के रूप में दृष्टव्य होते है। ग्वालियर दुर्ग का यह शैलोत्कीर्ण मंदिर अकेला तिथ्यांकित प्रतिहारकालीन स्मारक है। इस मंदिर का निर्माण प्रतिहार शासक रामदेव के समय में **मर्यादाधुर्य** रूप में सेवारत वाइल्लभट्ट तथा उनकी पत्नी जज्जा से उत्पन्न उनके पुत्र **अल्ल** द्वारा बनवाया गया था।

ग्वालियर क्षेत्र की वैष्णव धर्म संबंधित प्रतिमायें–

भगवान विष्णु का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता हैं। वैष्णव धर्म का प्रारंभिक स्वरूप भागवत मत के रूप में था। जिसमें वासुदेव कृष्ण की पूजा की जाती है। पाणिनी की अष्टाध्यायी से भागवत मत के प्रचलन की जानकारी होती हैं।[7] विष्णु को मानने वाले विष्णु के 24 अवतारों को मानते हैं। इसी आधार पर विष्णु के 24 अवतारों की प्रतिमा बनाई गई जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में मिलता है। भगवान विष्णु की प्रतिमों को अध्ययन की दृष्टि से तीन वर्गो में रखा गया है।

1. स्थानक मूर्तियाँ 2. आसन मूर्तियाँ 3 शयन मूर्तियाँ

ग्वालियर जिले में वैष्णव मूर्तिकला के समृद्ध प्रमाण मिलते हैं। वैदिक व पौराणिक धर्मो की दृष्टि से शैव धर्म के उपरांत ग्वालियर जिले में वैष्णव धर्म को ही सर्वाधिक प्रतिश्ठा प्राप्त हुई। ग्वालियर जिले में वैष्णव गतिविधियों के प्रमाण ग्वालियर दुर्ग से वाइल्लाभट्टस्वामिन मंदिर या चतुर्भुज मंदिर के रूप में दृष्टव्य होते है। ग्वालियर क्षेत्र में भगवान विष्णु के मूर्तिकला के तीनों ही स्वरूप प्राप्त होते है।

विष्णु की स्थानक मूर्तियँा–

भगवान विष्णु की स्थानक मूर्तियों का निर्माण कुषाण काल से आरंभ होता है। ग्वालियर जिले में विष्णु की स्थानक प्रतिमाए अल्प है, और ग्वालियर दुर्ग में मुख्यतः उनका प्रचलन दिखाई देता है। केवल एक उदाहरण पवाया से गुप्तकालीन विदित है। ग्वालियर जिले में वैष्णव मूर्तिकला का प्रभाव हमे सर्वप्रथम पवाया में मिलता हैं। पवाया से प्राप्त विष्णु और त्रिविक्रम की मूर्तियॉ उस का प्रमाण हैं।[8] लगभग 8–9 वी शती ई. की ग्वालियर दुर्ग के तेली के मन्दिर में एक विष्णु प्रतिमा ज्ञात हैं। इस प्रतिमा में विष्णु को समभंग मुद्रा में अंकित किया गया हैं। उनके नीचे के दो हाथ सम्भवतः आयुध पुरूषों के सिर पर टिके हैं, तथा ऊपर के दोनों हाथों में आयुध अस्पष्ट हैं। रथिका शीर्ष दो चन्द्रशालाओं के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधारी विद्याधर अंकित हैं। वे किरीट मुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, बाजूबन्ध, कंगन, वनमाला, आदि विविध आभूषणों से शोभित है।

वाइल्ल भट्टस्वामिन् मंदिर के गर्भगृह में परवर्ती काल की स्थानक मुद्रा में एक चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा स्थापित हैं। जिसके कारण ही सम्भवत् यहां कालान्तर में चतुर्भुज मंदिर के रूप विख्यात हुआ। चतुर्भुज विष्णु के ऊपर दोनों हाथों में शंख और चक्र प्रदर्शित हैं, तथा दोनों पैरो के पास पदमपुरूश एवं गंगा देवी को दर्शाया गया हैं देव का चेहरा विरूपित हैं किन्तु उनका किरीट, मुकुट, कुण्डल, यज्ञोपवीत और वनमाला स्पष्ट हैं। देव की सहचारी पुरुष एंव नारी आकृतियाँ भी प्रदर्शित हैं। परिकल में व्याल एंव दशावतारों का अंकन है। इसी मंदिर के जंघा भाग में पश्चिमी दीवार की भद्ररथिका पर विष्णु की एक अन्य चतुर्भुजी प्रतिमा स्थापित हैं। इसमें ऊपर की दोनों भुजाओं में शंख और चक्र सुशोभित हैं, तथा पहली प्रतिमा लगभग 11वीं शती ई. की और दूसरी प्रतिमा 875 ई0 –876 ई0 की हैं। लगभग 10वीं शती ई. की विष्णु की एक स्थानक प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से ज्ञात है, जो वर्तमान में गुजरी महल संग्रहालय (आवप्ति. क्रमांक. 155) में संग्रहीत है। इस प्रतिमा में विष्णु को चतुर्भुजी पदमपीठ पर समभंग मुद्रा में खड़ा दिखाया गया है। शीर्ष एवं तीन भुजाएँ खण्ड़त है, और चौथी भुजा में शंख धारण किए हुए है। परिकर में विष्णु के मस्तक भाग के ऊपर पद्मपीठ पर ब्रह्मा, शिव और मध्य में ध्यानस्थ विष्णु अंकित है। इनके दोनों ओर उडीयमान मालाधारी युगल अंकित है। पाद्पीठ पर एक ओर चामरधारी और दूसरी ओर चमरधारिणी निरुपित हैं।

विष्णु के पादों के समीप अंजलिहस्त मुद्रा में दो उपासक दृष्टव्य हैं। पद्मपीठ पर मध्य में कूर्मासीन एक देवी आकृति के दोनो ओर दो–दो जल देवियॉ अपने हाथों में घट धारण किए हुए हैं। परिकल में मत्स्य कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि अवतार निरुपित हैं। विश्णु विभिन्न प्रकार के परम्परागत आभूषणों हरो, रत्नकुण्डल, भुजबन्ध, मेखला, यज्ञोपवीत, वैजयन्तीमाला आदि से अलंकृत हैं।

ग्वालियर दुर्ग से ही लगभग 10वीं शती ई. की एक और विष्णु प्रतिमा भी पूर्व प्रतिमा के लगभग समय ही निर्मित हैं और गुजरी महल संग्रहालय में संरक्षित हैं। इसमे उनकी शेष तीन भुजाएँ खण्डित हैं दाई ऊपरी भुजा में शंख धारण किये हुये हैं। सास बहू मंदिर में से सास मंदिर के मण्ड़प के जंघा भाग की पूर्वी दिशा में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा निरुपित हैं। इसी प्रकार की एक अन्य चतुर्भुजी प्रतिमा मण्डप के पश्चिमी भाग में सुशोभित हैं इसमें विश्णु की एक भुजा वरद्मुद्रा में, दूसरी भुजा में गदा, तीसरी में चक्र और चौथी भुजा खण्डित हैं। ये प्रतिमा 1093 ई. की हैं। चतुर्भजी विष्णु की कुछ प्रतिमाएँ लक्ष्मणपौर और हथियापौर के मध्य चट्टानों पर शैलोत्कीर्ण हैं। सभी प्रतिमाएँ बुरी तरह खण्डित हैं। इनमे विष्णु को स्थानक मुद्रा में चतुर्भजी दिखाया गया हैं एक उदाहरण में उनके दायें हाथ में पद्म और बायें हाथ मे चक्र स्पष्ट हैं। वे विभिन्न प्रकार के आभूषणों से शोभित है।

भगवान विष्णु की आसन मूर्तियाँ–

भगवान विष्णु की आसन मूर्तियाँ भारत वर्ष में स्थानक मूर्तियों से संख्या में कम है। विष्णु की आसन मूर्तियाँ तीन प्रकार की है।ग्वालियर जिले में विष्णु की योगासन की मूर्तियाँ अनुपलब्ध है। योगासन विष्णु की एक प्रतिमा ग्वालिसर दुर्ग पर सास–बहू मंदिर में से सास की पूर्वी भित्ति पर एक आले में स्थापित है। विष्णु की इस मूर्ति में विष्णु शट्भुजी है, विष्णु हाथ में शंख, कमल, व गदा धारण किए हुए है। उनकी एक भुजा खण्डित है। निचली दोनों भुजाएँ जंघा पर स्थित है। देव का मुख खण्डित है। ये प्रतिमा सामान्य आभूषणों से सज्जित है। यह प्रतिमा वैसाखसगम के विवरण से काफी साम्य रखती है।[9] गरूडासीन विष्णु की एक मूर्ति सास मंदिर में पूर्वी दीवार के एक आले में स्थापित है। इस मूर्ति में विष्णु अष्टभुजी है। गरूड अपनी बायीं भुजा से विष्णु के बायें घुटने को और दायी भुजा से विष्णु के नीचे लटके हुए पैरो को थामे हुए है। विष्णु के दायें हाथों में गदा, बाण, कृपण है, और एक भुजा वरद्मुदा् में है। उनकी बायें हाथ में खेटक, धनुष, व शंख हैं और एक भुजा खंण्डित है। विष्णु के सिर के पीछे प्रभामण्डल है।

भगवान विष्णु की शयन मूर्तियाँ –

गुप्त काल से पूर्व विष्णु की शयन मूर्तियाँ प्राप्त नहीं होती है। विष्णु भगवान ने ये रूप महाप्रलय के अन्त में धारण किया था, अतः जलशयिन मूर्ति में वे अपनी शेष शैया आदिशेष पर जल के मध्य में शयन मुद्रा में रहते है।[10] ग्वालियर जिले से इस प्रतिमा के दोउदाहरण ज्ञात है, पहेला जो ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त है और जो वर्तमान में गुजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रतिमा (आवंप्ति.क्रमाक 146) में चतुर्भुजी विष्णु को कुण्डलित शेषशया पर शयनावस्था में दिखाया गया है। उनका दायां पैर किंचित ऊपर उठा हुआ है, जिसे लक्ष्मी सहला रही है। बायां पैर मुडकर कुछ नीचे की ओर प्रसारित है। विष्णु के पैरों के समीप एक पंक्ति में लक्ष्मी, भूदेवी एवं एक ऋषि बैठे हुए है। चतुर्भुजी विष्णु की दोनों ऊपरी भुजाओं में गदा और चक्र है। निचली दायीं भुजा में वे सनालपद्म धारण किये हुए है और बायीं भुजा खण्डित है।

विष्णु के ऊपर दायीं ओर ललितासन मुद्रा में गणेश दोनों ओर घट लिए प्रदर्शित है। शेषशया विष्णु किरीट मुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, हार, मेखला आदि आभूषणों से सुसज्जित है। उनके समीप ही सूर्य अपनी दोनों भुजाओं में सनाल पद्मधारण कर अवस्थित है। उनके उपरान्त राहु, केतु सहित नवग्रह का अंकन है। शैया के नीचे दायीं ओर अश्व खडा है। ये प्रतिमा कालक्रम की दृष्टि से 10वी शती ई. की है।

वर्तमान में इस प्रतिमा का दूसरा उदाहरण ग्वालियर नगर निगम संग्रहालय में पाषाण प्रतिमों के दीर्घाओं में रखा हुआ है। शैषशया विष्णु की ये प्रतिमा खड़ित अवस्था में है। इस प्रतिमा में शैषशया विष्णु के दाहिना पैर दबाती मॉ लक्ष्मी का अंकन किया है। प्रतिमा में मॉ लक्ष्मी को कानों में कुन्डल एवं गले में हार पहने अंकन किया गया है। प्रतिमा में शैषशया विष्णु अपनी दाहिना एक भुजा से अपने मस्तक को टिकाये हुए है, तथा मस्तक में किरीट मुकुट धारण किये हुए अंकित किये गये है। प्रतिमा में शैष सभी भुजाये खड़ित अवस्था में हैं। प्रतिमा में शेषशयी विष्णु गले में हार एवं कमर में करधनी धारण किये हुए है। शैया के नीचे दाहिने ओर अश्व खड़ा है। इस अश्व को कुछ विद्वानों ने विष्णु का हयग्रीव स्वरूप बताया है। ये प्रतिमा लगभग 9 वी 10वी शती ई. की प्रतीत होती है।

भगवान विष्णु की अवतार मूर्तियाँ –

महाभारत, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, और पद्मपुराण में विष्णु के 10 अवतारों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनके नामों में भिन्नता है। स्कन्दपुराण में विष्णु के 14 अवतार बताये गये है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इनकी संख्या 16 और अहिर्बुधन्य संहिता में 39 तक मिलती है।[11]परन्तु भगवान विष्णु के 10 सर्वमान्य अवतार माने गए है। जो इस प्रकार है।

कूर्म अवतार प्रतिमा–

ग्वालियर जिले से कूर्मावतार की एक मात्र प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है प्रतिमा में कूर्म अवतार के समुद्र मथंन का अंकन किया गया है। प्रतिमा के पदमपत्र पर सा**धारण कूर्म** का अकंन है। उसके पृष्ट भाग में पद्मासन लक्ष्मी हाथ में कलश लिये हुए अंकित है। देवी के पार्श्वों में दो भक्त अंजलि हस्त्रमुद्रा में स्थित है। प्रतिमा में देवी के पीछे मथानी (मदराचल) पर्वत का अंकन हैं। जिस पर वासुकि नाग की कुण्डली लिपटी हुई हैं। उसके एक आरे देव ओर दूसरी ओर दो दानवों का अंकन किया गया है। ये प्रतिमा 10वीं 11वीं शती. ई. की हैं। कूर्म अवतार की एक अन्य प्रतिमा का अंकन चतुर्भुज मंदिर की छोटी रथिका में इस प्रतिमा में देवी का अंकन अंजलिहस्त मुद्रा में किया गया हैं।

वराह अवतार प्रतिमा–

भगवान विष्णु के वारह रूप की प्रतिमा का अकंन सास बहू मंदिर के बडे मंदिर के मण्डप की जंघा भाग की पश्चिमी भित्ति के एक आले में किया गया हैं। इस प्रतिमा में वराह का स्थानक मुद्रा में अंकन किया गया हैं वराह की भुजा कट्यावलम्बित हैं, व तीन भुजाओं में शंख चक्र व गदा धारण किये हुए हैं। वराह की बाई भुजा की मुडी हुई कोहनी पर द्विभुजी पृथ्वी देवी का अंकन हैं। इस प्रतिमा का कालक्रम 975 से 976 ई. प्रतीत होता है। वारह की एक अन्य प्रतिमा चतुर्भुज मंदिर के दक्षिणी भित्ति के एक आले के उत्कीर्ण हैं चतुभुर्ज वारह के आयुध अस्पष्ट हैं उनका दाहिना हाथ कटयावलम्बित् हैं, बायें भुजा की कोहनी पर स्त्री देवी पृथ्वी का अकंन हैं ये प्रतिमा 1093वीं शती ई. की प्रतीत होती हैं। वारह अवतार

की एक अन्य प्रतिमा ग्वालियर नगर निगम संग्रहालय की पाषाण दीर्घाओं में रखी हुई हैं। इस प्रमिता में आलोढ़मुद्रा चतुर्भुजी वारह अवतार भगवान विष्णु की बॉयी भुजा में द्विभुजी पृथ्वी देवी का अंकन तथा निचली बॉयी भुजा में देव हाथ में कुछ पत्र जैसी वस्तु लिये हुए है जो अस्पष्ट है। वारह अवतार भगवान विष्णु की दाहिनी भुजा कट्यावलम्बित मुद्रा में तथा शेष दाहिनी भुजा में देव एक आयुध्य धारण किये हुए जो अस्पष्ट है। प्रतिमा में वराह गले में हार, यज्ञोपवीत, हाथ में कंगन, बाजूमें बाजूबंध तथा कमर में कटार लगाये हुए अंकित है। प्रतिमा में वराह का दाहिना पाद पीछे की ओर सीधा प्रसारित है और बायॉ पाद आगे की ओर मुड़कर पद्मपीठ पर स्थित है। प्रतिमा में पृथ्वी देवी गले में हार, कमर में कटिसूत्र धारण किये हुए तथा देवी का मुख खड़ित अवस्था में अंकित है। ये प्रमिता कालक्रम की दृष्टि से 9–10वी शती ई. की प्रतीत होती है।

नृसिंह अवतार–

भगवान विष्णु के नृसिंह अवतार की प्रतिमा के केवल दो प्रमाण ग्वालियर से प्राप्त होते है नृसिंह की एक प्रतिमा सास बहू मंदिर में से सास मंदिर के मण्डप के पश्चिमी भाग में उत्कीर्ण हैं। इसमे चतुर्भुज नृसिहं हिरण्यकश्यप को अपने जांघो पर रखकर पेट चीरते हुए अकंन किया गया हैं। इस प्रतिमा का काल 11वीं शती ई. प्रतीत होता है। नृसिंह की एक अन्य प्रतिमा चतुर्भुज के दक्षिण भित्ति में प्रदर्शित हैं। इस प्रतिमा में भी नृसिंह को हिरण्यकश्यप का पेट चीरते हुए अकंन किया गया है।

वामन (त्रिविकम) प्रतिमा–

भगवान विष्णु के त्रिविक्रम रूप की प्रतिमा के चार उदाहरण ग्वालियर से प्राप्त हुए है। पवाया से प्राप्त एक प्रतिमा जो ग्वालियर गुजरीमहल संग्रहलय में प्रदर्शित हैं। इसमें बलुए पाषाण पर निर्मित एक तोरण पाषाण पट पर विष्णु का वमान रूप में भूमि नापते हुए बलि के सिर पर पैर रखते हुए अंकन किया गया है। इस प्रतिमा का आधा भाग नष्ट हो चुका हैं। प्रतिमा की बायीं ओर की तीन भुजा पूर्ण रूप से नष्ट हैं। प्रतिमा के परिकर में ऊपर की ओर रथारूद चतुर्भुजी सूर्य का अकंन हैं। साथ ही यंत्रो के दृश्य का अंकन हैं। शील पट्ट में एक ओर विभिन्न वाद्य यंत्रो से सज्जित नष्त्यमडंली का भी अंकन है। ये प्रतिमा कालक्रम की दृष्टि से 5वीं शती की प्रतीत होती हैं। त्रिविक्रम की एक अन्य प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग के तेली के मन्दिर के जंघा भाग पर उत्तरी दिशा में प्रदर्शित हैं। इसमे द्विभुजी विश्णु का दाहिना पैर जमीन पर बायां पैर सम्पूर्ण नभ लोक को नापने के लिए उठा हुआ हैं। उनके दायें पैर के नीचे छत्रधारी वामन खडे हुए हैं, और समीप राजा बलि वामन को भेट प्रदान कर रहे है विष्णु के दायें हाथ में गदा और बायें हाथ में शंख है। विष्णु की एक अन्य प्रतिमा चतुर्भुज मदिंर के जंघा भाग पर उत्तर दिशा में अंकित हैं। प्रतिमा के नीचे विक्रम सम्वत् 932 ई. का एक अभिलेख भी है। प्रतिमा में विष्णु का दाहिना पैर राहु के चेहरे पर घुसा हुआ अंकित किया हैं। नीचे बायीं ओर शुक्राचार्य और बलि दो अन्य आकृतियों का अंकन है। प्रतिमा काफी प्रभावशील हैं।

त्रिविक्रम की एक अन्य प्रतिमा सास बहू मंदिर में से सास मंदिर के मण्डप के जंघा भाग की पूर्वी दिशा की दीवार पर अंकित हैं। इस प्रतिमा में चतुर्भुजी त्रिविक्रम के दो भुजा खण्डित हैं। उनकी दायीं निचली भुजा वक्षस्थल पर व बायीं भुजा पर चक्र धारण किये हुए हैं। उनका दायां पैर पीठिका पर स्थित है और बायां पैर नागयुग्म की पीठिका पर रखा है। ये प्रतिमा 1093 वीं शती ई. की प्रतीत होती है।

त्रिविक्रम की एक अन्य प्रतिमा ग्वालियर नगर निगम संग्रहालय के प्रथम तल पर जाते हुए सीड़ियों पर चढ़ते समय बायें एक आले में व्यवस्थित रखी गई है। ये षष्ठ भुजी प्रमिता बलूवा प्रस्तर से निर्मित है। इस प्रतिमा में वामन अवतार रूपी भगवान विष्णु समभंग मुद्रा में प्रद्रर्शित है। इस प्रतिमा में वामन देव की दाहिनी तीन भुजाओं में से सबसे ऊपरी भुजा में चक्र तथा शेष दो भुजाओं के आयुध अस्पष्ट है। तथा बायी भुजाओं में से सबसे ऊपरी भुजा में शंख तथा शेष भुजा खंडित अवस्था में है। इस प्रतिमा में वामन रूपी भगवान विष्णु लंगोट तथा चरण पादुका धारण किये हुए अंकित है। कालक्रम की दृष्टि से ये प्रतिमा 10वी शती. ई. की प्रतीत होती है।

परशुराम अवतार प्रतिमा–

भगवान परशुराम अवतार की एक मात्र प्रतिमा सास बहू मंदिर में से सास मंदिर के मण्डप के स्तम्भ के निचले भाग में उत्कीर्ण है। इस प्रतिमा में परशुराम का द्विभंग मुद्रा मे अंकन किया गया है। परशुराम की दाहिनी भुजा में परशु है व बायीं भुजा कट्यावलम्बित् है। कुण्डल वर्णमाला व अन्य आभूषणों से सुसज्जित हैं व उत्तरीय धारण किये हुए है। परशुराम का मुख खंण्डित हैं।

कृष्ण प्रतिमा–

भगवान विष्णु के 24 अवतार में कृष्ण को 8वा अवतार माना गया हैं। कृष्ण व उनसे सम्बन्धित लीलाओं की प्रतिमाओं का अकंन ग्वालियर क्षेत्र से प्राप्त होता है। ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मदिंर के अर्द्धमण्डप के स्तम्भों पर आधारित पूर्वी, पश्चिमी और उत्तर दिशा के भारपट्टों के आन्तरिक भागों को कृष्णलीला के दृश्यों से शोभित किया गया है। बालको का बदलाव, पूतना वध, सकंट वध, केंशी वध, अरिष्टा सुर वध, गोवर्धन धारी कृष्ण, कृष्ण कलिया व मलयुद्ध के अलावा कृष्ण अन्य प्रतिमाओं का भी अंकन किया गया है। ये सभी प्रतिमाएं 9वीं शती ई. की हैं। इसके अतिरिक्त ग्वालियर के गणेश बाग क्षेत्र में स्थित मराठा कालीन मंदिर की छत्री में कृष्ण लीलाओं का भी अंकन किया गया है जो 18वीं शती की प्रतीत होती हैं।

ग्वालियर दुर्ग स्थित सास–बहू मंदिर के प्रथम दृश्य में इसी कथानक का अंकित किया गया है। इसमें वसुदेव यशोदा को कृष्ण को सौंपकर उनसे कन्या ले रहे है।

कृष्ण की पूतना वध प्रतिमा –

इस दृश्य का बडा ही स्वाभाविक अंकन सास–बहू मंदिर में मिलता है। बालक कृष्ण पूतना के दायें स्तनपान कर रहे है। राक्षसी पूतना के हाथ ऊपर फैले हुए है और असहय पीडा से उसका शरीर निश्चेष्ट होता जा रहा है।

कृष्ण की शकटभंग प्रतिमा –

इस प्रतिमा का अंकन सास–बहू मंदिर में किया गया है। इस प्रतिमा में कृष्ण किरीट मुकुटधारी बैलगाडी के नीचे लेटे हुए है। उनका दाहिना हाथ उनके सिर के नीचे रखा है तथा बायें हाथ और दायें पैर से वे बैलगाडी को उलटते प्रदर्शित है। उनके हाथ और पैर के जोर से गाड़ी के पहिये धरातल के ऊपर उठ गये है।

सास–बहू मंदिर में केशी वध दृश्य का अंकन मिलता हैं। इस प्रतिमा में कृष्ण केशी नामक दैत्य का वध करते प्रदर्शित किये गये है। सास–बहु मंदिर में कृष्ण के अन्य प्रतिमाऐं भी प्राप्त होती है। जैसे, अरिष्टासुरवध, दधि–मंथन, गोवर्धन धारण, कलियामर्दन, कुवलयापीड वध, मल्ल युद्ध, आदि।

लक्ष्मी–नारायण मूर्तियाँ–

सास–बहू मंदिर के सभामण्डप के एक स्तम्भ के निचले भाग पर लक्ष्मी–नारायण स्वरूप का सुन्दर अंकन मिलता है। इसमें लक्ष्मी–नारायण त्रिभंग में खडे है। विश्णु की दायें हाथों में कमल एवं गदा है, और बायें एक हाथ में चक्र व दूसरे देवी को आलिंगन किए हुए है। देवा की दायीं भुजा देव के स्कन्ध पर है और बायीं भुजा में वे शंख धारण किए हुए है। विष्णु किरीट मुकुटधारी, कुण्डल, ग्रैवेयक, हार, मेखला वैजयन्तीमाला आदि धारण किए हुए है। देवी एक छोटी सी पीठिका पर खडी है। कालक्रम की दृश्टि से ये प्रतिमा 1093 ई. की है।[12]

इस प्रकार हम कहे सकते है, ग्वालियर जिले में वैदिक व पौराणिक धर्मो की दृष्टि से षैव धर्म के पष्चात ग्वालियर जिले में वैष्णव धर्म को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। 8वी शती ई. के मध्य ग्वालियर दुर्ग पर गुर्जर''प्रतिहार राजवंष की सत्ता स्थापित होते ही गोपाद्रि क्षेत्र की मूर्तिकला का एकाएक विकास हुआ। ग्वालियर दुर्ग पर स्थित तेली का मंदिर,चतुर्भुज मंदिर एवं अनेक शैलोत्कीर्ण मूर्तियॉ इसकी साक्षी है। ग्वालियर जिले में वैष्णव धर्म के प्रारांभिक प्रमाण ग्वालियर दुर्ग स्थित चतुर्भुज मंदिर के रूप में दृष्टव्य है। ग्वालियर क्षेत्र में वैष्णव धर्म से संबंधित मूर्तिकला को तीन वर्गो में (स्थानक, आसन एवं शयन मूर्तिया) बाट कर देखा गया है। इन तीनो ही वर्गो की मूर्तिकला के प्रमाण ग्वालियर क्षेत्र स्थित ग्वालियर दुर्ग में स्वत्रंत रूप से देखने को मिलते है। गूजर प्रतिहार शासको के बाद वैष्णव मूर्तिकला के विकास में कच्छपघात शासको ने अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया। इन शासको के द्वारा बनवाया गया सास बहू मंदिर इसका प्रमाण है। इस प्रकार पुरात्त्विक प्रमाणो के अवलोक से ये दृष्टव्य होता है कि 8वी शती ई. से लेकर 12शती ई. तक ग्वालियर क्षेत्र वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हुआ तथा इस धर्म से संबंधित मूर्तिकला के विकास में तत्कालीन शासको ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, मुकेश, 2011, ग्वालियर जिले की मूर्तिकला, एक अध्ययन(प्रारम्भ से 12 वी शताब्दी ई तक), अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर (म.प्र), पृ.34।
2. अश्टाध्यायी, 4, 3,19।
3. पूर्वोक्त, ग्वालियर जिले की मूर्तिकला, एक अध्ययन (प्रारम्भ से 12वी शताब्दी. ई तक), पृ. 64.65।
4. ऋगवेद, एम. मैक्समूलर (संपा.) लन्दन वैदिक संशोधन मण्ड़ल, पूना, पृ 7,99,3।
5. अर्थवंद, 3,37,5।
6. शंखवार, निशा, 2011, उत्तरी मध्यप्रदेश में शैव मत का विकास, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध,जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर(म.प्र), पृ.65।
7. पूर्वोक्त, अष्टाध्यायी, 4,3,19।
8. शर्मा, मोहनलाल, 1971, पदमावती, भोपाल, पृ. 50।
9. गुप्ता,कष्ण, 1979,ग्वालियर संभाग की ब्रह्मणीय मूर्तियों का बृहद् विवेचन (647 ई. से 1200 ई. तक), अप्रकाशित शोध प्रबनध, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर(म.प्र),पृ.108।

10. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, श्री वेंकेटश्वर प्रेस, बम्बई, 1912, प्रियबाला शाह संपादक, बडौदा, 1958।
11. महाभारत, 339, मत्स्यपुराण 47,पृ. 234–50, श्री वेंकटेशवर प्रेंस, मुम्बई 1895, अग्निपुराण 49,1–9, सरस्वती प्रेंस, कलकता, 1872, वायुपुराण 98, एन.एच. आप्टे (संपा.),पृ.71–117, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1904, स्कन्द पुराण, 1908, श्री वेंकटेशवर प्रेंस, मुम्बई, पृ 16–45।
12. ग्वालियर दुर्ग स्थित, तेली का मंदिर, सास–बहू एवं चतुर्भुज मंदिर के सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारी के आधार पर, म.प्र.

शेषशायी विष्णु, ग्वालियर दुर्ग 10वी शती ई.

चतुर्भुजीविष्णु,ग्वालियर दुर्ग,10वीशती ई

नृवराह,ग्वाालिर दुर्ग, 10वी शती ई

त्रिविक्रम, ग्वाालिर दुर्ग, 10वी शती इ

वराह विष्णु, ग्वालियर 10वी शती ई। निगम संग्रहालय

हरिहर हिरण्यगर्भ, पनिहार,12 वी शती ई.

10 बटेसर के कृष्ण लीला–फलक

डॉ. शान्तिदेव सिसौदिया एवं लल्लेश कुमार

मुरैना जिले में स्थित प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों में पढ़ावली, मितावली, सुहानिया, नरेसर तथा बटेसर (बटेश्वर, वटेश्वर) आदि प्रमुख ऐतिहासिक स्थल हैं। पढावली, मितावली तथा बटेसर मुरैना जिले से लगभग 25 किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं। पढावली ग्वालियर से लगभग 28 किमीमीटर की दूरी पर उत्तर–पश्चिम दिशा में स्थित है। यह मितावली ग्राम से लगा हुआ है। मध्य रेल्वे के ग्वालियर–भिण्ड़ रेल मार्ग पर स्थित रिठौराकला स्टेशन से लगभग 7 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।[1] बटेसर का अक्षांशीय तथा देशांतरीय विस्तार 26"25 2 35-43" उत्तर, 78"112 48-25" पूर्व तथा 26-4265" उत्तर, 78-"1967361" पूर्व तक है।[2] पढावली के दक्षिण–पश्चिम में लगभग 1 किलोमीटर की दूरी पर बटेसर के मंदिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। बटेसर के लगभग 85 मंदिरों का जीर्णोद्धार किया जा चुका है। जीर्णोद्धार का कार्य वर्ष 2006 से तत्कालीन एएसआई के अधीक्षक पुरातत्वविद् के. के. मोहम्मद ने साधारण रूप से शुरू करवाया। इन मंदिरों को सवारने में अब तक लगभग 1 करोड़ रूपयें खर्च किये जा चुके हैं। मंदिर 6वीं शताब्दी ई. से 10वीं शताब्दी ई. तक के हैं।[3] बटेसर, मितावली तथा पढावली मध्यकालीन तोंवरघार क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। मुरैना तथा उसके आसपास के क्षेत्र को लुअर्ड ने ग्वालियर गजेटियर में तोंवरघार (तँवरघार) जिले के नाम से संबोधित किया है। इस जिले की सीमा उत्तर में चंबल नदी, दक्खन में ग्वालियर, पश्चिम में सबलगढ़ तथा पूर्व में भिण्ड़ द्वारा निर्धारित थी। उस समय इसमें चार परगने अम्बाह, गोहद, जौरा तथा नूराबाद और 701 गाँव थे। मितावली, पढ़ावली तथा बटेसर ग्राम नूराबाद परगना के अन्तर्गत आते थे। इस जिला का प्रशासन रियासत धोलपुर द्वारा संचालित होता था। इस जिले का नाम तोंवरघार राजपूतों की एक जाति तोंवर के नाम पर पड़ा। टॉड महोदय ने तोंमरो को राजपूतों की 36 जातियों में से एक बताया है। 11वीं शताब्दी में तोंवर (तोंमर) दिल्ली के शासक थे। 1151 ई. में चौहानों ने उन्हें दिल्ली से निकाल दिया। अलाउद्दीन खिलजी के समय में वीरसिंहदेव तोंवर ने ग्वालियर किले को जीत लिया तथा सन् 1517 ई. तक तोमरों ने राज्य किया।[4] ग्वालियर तथा उसके आसपास का क्षेत्र आज ग्वालियर के इतिहास से जाना जाता है। उसी प्रकार प्राचीन काल में मुरैना के ऐतिहासिक स्थलों का महत्व था। मुरैना जिले में स्थित कुतवार (कुन्तलपुर) के राजा सूरजसेन ने जब गोपाचल पर्वत पर सूरजकुण्ड़ तथा किले का निर्माण कराया, तब से ग्वालियर का महत्व बढ़ गया। ग्वालियर दुर्ग के निर्माण की तिथि संवत् 332 (275 ई.) बताई गयी है।

ग्वालियर क्षेत्र (प्राचीन गोपाद्रि) अथवा ग्वालियर–चम्बल संभाग के अन्तर्गत वर्तमान में ग्वालियर, मुरैना, श्योपुर, भिण्ड, दतिया, शिवपुरी, अशोकनगर और गुना जिलों का विस्तृत भू–भाग सम्मिलित है। यह सम्पूर्ण भू–भाग मध्यप्रदेश के उत्तरी हिस्से में अवस्थित है, इसी कारण इसे ''उत्तरी मध्यप्रदेश'' भी कहा जाता है। समय के साथ गोपाद्रि क्षेत्र में विस्तार एवं कमी आती रही है, साथ ही साथ इसकी सत्ता का केन्द्र भी परिवर्तित होता रहा है। अधिकांश विद्वान गोपाद्रि का विस्तार उत्तर में चम्बल नदी से लेकर दक्षिण में बेतवा नदी के मध्य मानते है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार विन्ध्यपर्वत के उत्तर में चम्बल और बेतवा के बीच विन्ध्याटवी नामक वन था, जिसे घोराटवी, दारूणाटवी, महारण्य या महाघोरवन कहा जाता था। उसमें अनेक आटविक राज्य थे।[5] उक्त आटविक राज्य में गोपराष्ट्र भी एक आटविक राज्य है। समुद्रगुप्त के समय भी एक आटविक राज्य था, जिसका उल्लेख हमें प्रयाग प्रशस्ति में प्राप्त होता है। इसी आटविक के नाग शासक गणपति नाग को समुद्रगुप्त परास्त किया था।

कृष्ण को विष्णु का 8वां अवतार माना गया है। ये देवकी तथा वासुदेव के पुत्र और अंगिरस नामक ऋषि के शिष्य थे।[6] वासुदेव और मथुरा के दुष्ट राजा की बहन देवकी के पुत्र कृष्ण (शाब्दिक अर्थ है– काला या बादल के समान काला) का जन्म यादव वंश में हुआ। कंस ने यह भविष्यवाणी सुनने के बाद कि देवकी की संतान के हाथों ही उसकी मृत्यु होगी, उनके बच्चों को मार डालने का प्रयास किया, लेकिन कृष्ण को चोरी–छिपे यमुना नदी के पास गोकुल (ब्रज) ले जाया गया, जहाँ ग्वालों के मुखिया नंद और उनकी पत्नी यशोदा ने उनका पालन किया। जब वासुदेव कृष्ण को यमुना पार ले जा रहे थे, तो शेषनाग उनके ऊपर अपने फन से छाँव किये हये थे। कष्ण के चरणों का स्पर्श करने के लिए यमुना का जल स्तर बढ़ जाता और जब यमुना ने कृष्ण के चरण स्पर्श कर लिए तो अपना जल स्तर कम कर दिया। कंस को आकाशवाणी द्वारा पता चला कि कृष्ण का जन्म हो चुका है, तो कंस ने कृष्ण को मारने के लिए कई दैत्य भेजे और कृष्ण ने उन सबका बध कर दिया। इन्हीं दृश्यों को प्राचीन शिल्पी ने कला में अंकित किया है। उन्होंने अपना राज्य द्वारका (आधुनिक द्वारका, गुजरात) में स्थापित किया और उन्होंने राजकुमारी रूक्मिणी से विवाह किया। कला में कृष्ण को बांसुरी बजाते हुए और उन पर आसक्त गोपियों से घिरा हुआ दिखाया जाता है।[7] कृष्ण के दायें रूक्मिणी तथा बायें सत्यभामा रहती हैं तथा ये करण्ड मुकट धारण किये हुये दिखायी देती है। इनके दाहिने हाथ में पुष्प तथा बायां हाथ नीचे की ओर रहता है।[8] पूर्वमध्यकालीन एवं मध्यकालीन मंदिरों में कृष्णलीला से संबंधित दष्श्यों का अंकन करना शिल्पकार का रोचक एवं प्रिय विशय बन गया था। कृष्ण लीला से संबंधित पात्र लोगों के मन में इतने बस गये थे कि गाँव–गाँव में लोगों द्वारा कृष्ण लीलाएँ की जाती थीं। कृष्ण से संबंधित कथा महाभारत, भागवतपुराण आदि में पायी जाती है। ग्वालियर क्षेत्र से कृष्ण लीला से संबंधित फलक शिव मंदिर (डांग), स्तम्भ (गूजरी महल संग्रहालय), केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहाल (ग्वालियर दुर्ग), चतुर्भुज मंदिर (वाइल्लभट्टस्वामिन मंदिर), बटेसर का मंदिर क्र. 128, पढ़ावली स्थित गढ़ी मंदिर के वितान, चाचुल मंदिर (मुरैना) आदि पर अंकित है। इनका विवरण निम्नानुसार है–

कृष्ण जन्म

बटेसर से कृष्णलीला के दृश्य मंदिर क्र. 128 तथा खण्ड़ित पड़े हुए प्रस्तर खण्ड़ों में प्राप्त होते हैं। बटेसर से प्राप्त इस दृश्य में कृष्ण एवं उनकी माँ देवकी को कारागार में ऊँची चारपाई पर लेटे हुए तथा

कृष्ण को उनके बगल में लेटा हुआ दर्शाया गया है। इसमें कारगार का अभाव है। इसी प्रस्तर खण्ड पर कृष्ण जन्म के बाद नष्त्य करते हुए गन्धर्व एवं अन्य गणों का अंकन किया गया है। इस प्रकार के दृश्य बटेसर, दुर्ग संग्रहालय, पढ़ावली, चांचुल मंदर, जौरा तथा चतुर्भुज मंदिर ग्वालियर से प्राप्त होते है। **(चित्र क्र. 1, 2)**

वसुदेव को नवजात शिशु कृष्ण को देती हुई देवकी

कंस के कोप से बालक कृष्ण को बचाने के लिए वसुदेव कृष्ण को नन्द यशोदा के यहाँ गोकुल पहुँचा आये थे और बदले में उनकी कन्या (योगमाया) को ले आये थे। चतुर्भुज मंदिर, गढ़ी मंदिर पढ़ावली एवं बटेसर के मंदिर क्र. 128 पर अंकित दृश्य में शिल्पी ने इसी कथानक को अंकित किया है। मंदिर क्र. 128 से प्राप्त दृश्य में कृष्ण के जन्म के बाद देवकी द्वारा शिशु कृष्ण को वासुदेव को देने के लिए ले जाते हुए तथा वासुदेव यशोदा को शिशु रूप कृष्ण देकर उनसे कन्या लेते हुए दर्शाया गया है। **(चित्र क्र. 3)**

दधिमंथन

मंदिर क्र. 128 पर अंकित इस दृश्य में यशोदा दही मथ रही हैं और उनके नीचे बालक कृष्ण मथनी में से मक्खन निकाल रहे हैं तथा दूसरे बालक कृष्ण मक्खन खा रहे हैं और उनकी माँ यशोदा उन्हें विस्मय मुद्रा में देख रही हैं जबकि बटेसर से प्राप्त दूसरे दृश्य में कृष्ण मक्खन चुराकर घुटनों के बल भाग रहें हैं। इसी प्रकार का दृश्य गढ़ी मंदिर, पढ़ावली एवं स्तम्भ, गूजरी महल संग्रहालय में भी अंकित है। **(चित्र क्र. 4)**

यमलार्जुन उद्धार

भागवतपुराण के अनुसार कुबेर के दो पुत्र नल–कुबेर और मणिग्रीव नारद के शाप से वृक्ष हो गये थे। वही यमुलार्जुन नाम से प्रसिद्ध हुए। एक बार श्रीकृष्ण की शरारतों के कारण माता यशोदा ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया। कमर में बंधी हुई ऊखल को लेकर वे यमुलार्जुन वृक्षों के बीच से निकले तो ऊखल फंस गयी। श्रीकृष्ण ने जोर लगाया और उनकी अद्‌भुत शक्ति से दोनों वृक्ष उखड़ गये। इस प्रकार दोनों कुबेर पुत्र शापमुक्त हो गये।[9] गूजरी महल संग्रहालय में संरक्षित स्तम्भ, बटेसर के मंदिर क्र. 128, गढ़ी मंदिर, पढ़ावली तथा चतुर्भुज मंदिर में इस दृश्य को अंकित किया गया है। बटेसर के मंदिर क्र. 128 से प्राप्त यमलार्जुन दृश्य में बालरूपी वामनाकार कृष्ण के कमर में ऊखल बंधी हुई है। यह ऊखल यमलार्युन नामक वृक्ष में फंसी हुई है और कृष्ण घुटनों के बल निकलने की कोशिश कर रहें हैं। **(चित्र क्र. 5)**

पूतना वध

वास्तव में पूतना भोजराज कंस की धाय और असुर राज बलि की पुत्री थी। वह एक राक्षसी थी और लोगों के बच्चों को मार डालना व उनका खून पीना–उसका प्रमुख कार्य था। वह बच्चों के लिए ग्रह के समान थी। कंस की आज्ञा से वह नगर, ग्राम और ब्रज की बस्तियों में बच्चों को मारने लिए (शिशुश्चार) घूमा करती थी। वह आकाश मार्ग से चल सकती थी और अपनी इच्छानुरूप मानुष रूप धारण कर सकती थी। हरिवंश पुराण के अनुसार वह घोर पक्षिणी समस्त प्राणियों के लिए भयंकर थी। कंस के आज्ञा से वह कृष्ण ने अपनी लीला से उसका वध कर दिया था। हरिवंश और विष्णु पुराण में उसके वध होने का उल्लेख है किन्तु भागवत पुराण में उसके पूतना मोक्ष (उद्धार) होने का उल्लेख है। ऐसा कदाचित भागवत

धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव और निम्न वर्णो के लोगों में लोकप्रियता अर्जित करने की दृष्टि से किया गया लगता है।[10]

कृष्ण को विष पिलाकर मार डालने के लिए कंस द्वारा भेजी गयी राक्षसी पूतना ने जब अपने स्तनों में विष लगाकर दूध पिलाने के बहाने बालक कृष्ण के मुख को अपने स्तनों से लगाया, तो बालक कृष्ण ने पूतना के दूध के साथ–साथ उसके प्राण भी पी डाले। इस दृश्य को चतुर्भुज मंदिर ग्वालियर, गढ़ी मंदिर, पढ़ावली, स्तम्भ, गूजरी महल संग्रहालय एवं चांचुल मंदिर में अंकित किया गया है। बटेसर के मंदिर क्र. 128 पर अंकित बालरूप श्रीकृष्ण पूतना के दायें स्तन को पकड़कर विष–पान कर रहे हैं तथा पूतना के हाथ ऊपर की ओर वेदना वश फैल गये हैं। उसका राक्षसी रूप प्रकट हो गया है और सह्य पीड़ा के कारण उसका शरीर निश्चेष्ट होता जा रहा है। **(चित्र क्र. 6)**

गोवर्धन धारण

इन्द्र के कोप से ब्रज की रक्षा करने के लिए श्रीकष्ष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण किया था। मंदिर क्र. 128 पर अंकित दष्श्य में कष्ष्ण अपने एक हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाये हुये हैं तथा दूसरा हाथ वक्ष स्थल पर स्थित है। इस प्रकार के दष्श्य चतुर्भज मंदिर, गढ़ी मंदिर, पढ़ावली, चांचुल मंदिर पर अंकित हैं। **(चित्र क्र. 7)**

तृणावर्त वध

इस दृश्य में कृष्ण तृणावर्त नामक असुर के स्कन्धों पर बैठे हुए प्रदर्शित हैं। भागवतपुराण के अनुसार तृणावर्त नामक एक दैत्य कंस का निजी सेवक था। कंस की प्रेरणा से कृष्ण के वध के उद्देश्य से वह झंझावात बन कर गोकुल आया और बैठे हुए बालक कृष्ण को आकाश में उड़ा ले गया। किन्तु कृष्ण के भारी बोझ को न सम्हाल सकने के कारण दैत्य अधिक न बढ़ सका और उसका वेग शान्त हो गया। कृष्ण ने उसका गला इस प्रकार पकड़ रखा था कि वह इस अद्भुत बालक को अपने से अलग न कर सका। वह निश्चेष्ट हो गया, उसके नेत्र बाहर निकल आए, वाणी अवरूद्ध हो गई और अन्त में वह मारा गया तथा वह कृष्ण के साथ नीचे आ गिरा।इस मूर्ति में तृणावर्त की उड़ान का चित्रण है। उसके स्कन्धों पर कृष्ण बैठे हुए अंकित हैं तथा कृष्ण का चित्रण शिशु रूप में न होकर युवा रूप में हुआ है। इस प्रकार के दष्श्य चतुर्भुज मंदिर, गढ़ी मंदिर पढ़ावली एवं गूजरी महल स्तम्भ में अंकित हैं। **(चित्र क्र. 8)**

प्रलंबासुर बध

प्रलंबासुर मथुरा के राजा कंस का असुर मित्र था। एक बार जब श्रीकष्ष्ण अन्य गोपों तथा बलराम के साथ खेल रहे थे। इसी समय कृष्ण को मारने के उद्देश्य से असुर प्रलंब भी सखाओं में मिल गया और सबके साथ 'हरिण–क्रीड़न' नामक खेल खेलने लगा। 'हरिण–क्रीडन' खेल में हारने वाला जीतने वाले को अपने कंधे पर बिठाकर चलता था। प्रलंबासुर इस खेल में जान–बूझकर हार गया और बलराम उसके कंधे पर बैठ गए। इस अवसर का लाभ उठाकर वह बलराम दूर ले जाना चाहता था, परन्तु बलराम और कृष्ण सबकुछ समझ जाते है और बलराम ने अपने शरीर का भार इतना अधिक कर लिया कि प्रलंबासुर के लिए चलना भी मुश्किल हो गया। प्रलंबासुर तथा बलराम के मध्य कुछ देर तक युद्ध चलता है अन्ततः वह मारा जाता है।[11] **(चित्र क्र. 9)**

अरिष्टासुर बध

भागवतपुराण में उल्लेख है कि कृष्ण ने अरिष्टासुर (बृषण) की सींग पकड़कर उसे पृथ्वी पर गिराकर अपने पैरो से इस प्रकार कुचला जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ता है।[12] यह दृश्य चतुर्भुज मंदिर, गढ़ी मंदिर, पढ़ावली, मंदिर क्र. 128, बटेसर में अंकित किया गया है। **(चित्र क्र. 10)**

केशी बध

भागवतपुराण के अनुसार केशी एक दैत्य था, जो कंश की प्रेरणा से अश्व का रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने आया था। कंस के द्वारा अरिष्टासुर युद्ध का कष्ण के साथ समापन होने के बाद कंस ने अंत में अपने सबसे ताकतवर असुर केशी को ब्रज भेजा। वह एक घोड़े के रूप में रहता था तथा देवता भी उससे डरते थे। उसके भय से पशु भागने लगते थे। कृष्ण घर से निकलकर उसके सामने आये तथा कष्ण के ललकारने पर केशी जब मुख फाड़े उनके पास पहुँचा तो श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा उसके मुख में डाल दी। श्रीकृष्ण की भुजा के स्पर्श से ही केशी के सब दांत टूट गये और उनकी भुजा उसके शरीर में इतनी बढ़ी कि केशी मारा गया। इस प्रकार का अंकन बटेसर के मंदिर क्र. 128 पर किया गया है। यह दृश्य चतुर्भुज मंदिर, गढ़ी मंदिर, पढ़ावली, बटेसर तथा गूजरी महल संग्रहालय में संरक्षित स्तम्भ पर अंकित किया गया है।[13] **(चित्र क्र. 11)**

सूत लोमहर्षण वध

सूत लोमहर्षण वध की कथा भागवतपुराण में मिलती है। एक बार बलराम ने नैमिषारण्य क्षेत्र की यात्रा की। उन दिनों वहाँ बड़े–बड़े ऋषि सत्संगरूप महान सत्र कर रहे थे। बलराम को आया देखकर उन सभी ने अपने–अपने आसनों से उठकर उनका अभिनन्दन किया। परन्तु महर्षि व्यास के शिष्य सूत लोमहर्षण ने न तो उठकर उनका स्वागत किया और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही। सूत की इस उद्दण्डता को देखकर बलराम क्रुद्ध हुए और तुरन्त अपने हाथ में स्थित कुश की नोंक से उन पर प्रहार कर उनका वध कर दिया। बटेसर के मंदिर क्र. 128 में बलराम अपने विशेष आयुध हल से सूत का वध करते हुए प्रदर्शित है। इस दष्श्य में भागवतपुराण में वर्णित कुश प्रदर्शित नहीं है।[14] **(चित्र क्र. 12)**

उक्त कृष्ण लीला के कथानक गुर्जर–प्रतीहार एवं कच्छपघात राजवंश कालीन मंदिरों के विभिन्न वास्तु अंगों पर अंकित हैं। ऐसे अनेक दृश्य ग्वालियर क्षेत्र में अन्य स्थलों से भी सूचित हैं। गोपाद्रि क्षेत्र का ब्रज क्षेत्र से सामीप्य तथा कृष्ण संबंधी कथानकों की समाज में लोकप्रियता के कारण प्राचीन शिल्पी ने कृष्ण लीला के विभिन्न कथानकों को अपनी शिल्प रचनाओं का प्रमुख विषय बनाया था।

संदर्भ सूची

1ण द्विवेदी, एस. के., मधुबाला कुलश्रेष्ठ : ग्वालियर, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2011, पृ. 401।
2ण विकीपीडिया बटेश्वर, मुरैना
3ण पत्रिका, दैनिक समाचार पत्र, ग्वालियर, 4 नम्बर, 2011, पृष्ठ–18
4ण सी. ई. लुअर्ड, सुपरडेन्ट गजेटियर, गजेटियर रियासत ग्वालियर, गजेटियर अनुभाग राजभाषा एवं संस्कृति संचालयनालय, म. प्र. शासन भोपाल, 1907, पृ. 182–185।
5ण द्विवेदी, हरिहरनिवास, भारत का सुदेश, ग्वालियर दर्शन, ग्वालियर शोध संस्थान एवं जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, 1980, पृ. 175–76।
6ण छान्दोग्य उपनिषद, पृ. 3,17,6।
7ण भारत ज्ञानकोश, खण्ड़–2, इन्साइक्लोपीड़िया ब्रिटैनिका, पॉप्युलर प्रकाशन, मुम्बई, 2002, पृ. 420–421।
8ण गुप्ते आर. एस. आइकोनोग्राफी ऑफ हिन्दु बौद्धीष्ठ एण्ड जैना मुम्बई, 1972, पृ. 33.34
9ण भागवतपुराण, अध्याय–10, पृ. 10।
10ण सिंह, गिरीश चन्द्र, सर्वतोभद्र कष्ण्ण–लीला स्तम्भः मीरजापुर, उत्तर प्रदेश, प्राग्–धारा, अंक–10, पृ. 218।
11ण कृष्णा कोश
12ण अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहों की देव प्रतिमाएं, प्रथम खण्ड़, आगरा, 1967, पृ. 120।
13ण वर्मा, कामता प्रसाद वर्मा, महेशपुर के कृष्णलीला फलक, बिहनिया, अंक–10, नवम्बर–2012, संस्कषति विभाग, छत्तीसगढ़, पृ. 57–60।
14 सिंह, गिरीश चन्द्र, सर्वतोभद्र कृष्ण–लीला स्तम्भः मीरजापुर, उत्तर प्रदेश, प्राग्–धारा, अंक–10, पृ. 224।

चि. क्र. 1: कृष्ण जन्म से संबंधित पैनल

चि. क्र. 2: कृष्ण जन्म, बटेसर

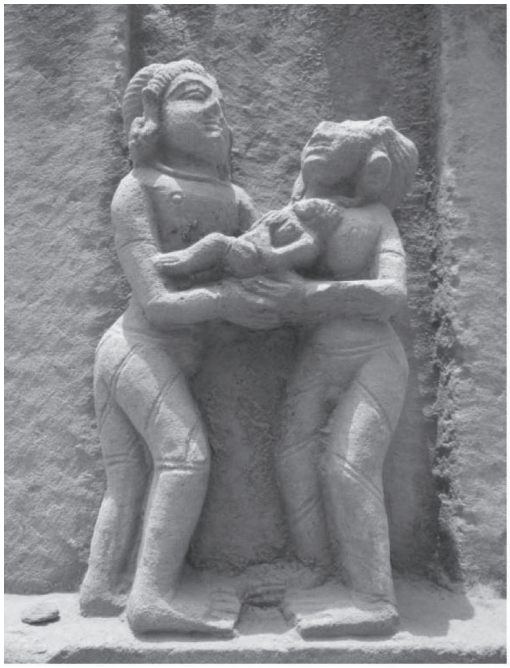

चि. क्र. 3: वासुदेव को कृष्ण देती हुई देवकी कृष्ण

चि. क्र. 4: दधि मंथन, बटेसर

चि. क्र. 5: यमलार्जुन उद्धार एवं ओखल बंधन

चि. क्र. 6: पूतना वध, बटेसर, मुरैना

चि. क्र. 7: गोवर्धनधारी कृष्ण, बटेसर, मुरैना

चित्र क्र. 8: तृणावर्त वध, बटेसर

चि. क्र. 9: प्रलम्बपाद, बटेसर

चि. क्र. 10: अरिष्टासुर वध, बटेसर

चि. क्र. 11: केशि वध, बटेसर, मुरैना

चित्र क्र. 12: सूत लोमहर्षण वध, बटेसर

मंदिर क्र. 128, बटेसर, मुरैना

बटेसर मंदिर समूह, मुरैना

11 छत्तीसगढ़ की सोमवंशकालीन जैन–कलाकृतियाँ

श्री प्रसन्न सहारे

छत्तीसगढ़ को प्राचीनकाल में 'दक्षिण कोसल' कहा जाता था। दक्षिण कोसल के अर्न्तगत छत्तीसगढ़ के सरगुजा, रायगढ़, बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव तथा बस्तर आदि 27 जिलों के साथ उड़ीसा राज्य के सम्बलपुर, बोलांगिर तथा कालाहांडी जिलों का समावेश था। यह प्रदेश मेकल, रामगढ़, और सिहावा की ऊँची पहाड़ियों से आवृत्त तथा महानदी (प्राचीन चित्रोत्पला) और उसकी सहायक शिवनाथ, माँढ, खारून, जोंक और हसदो आदि नदियों के जल से सिंचित है। इन नदी–घाटियों के तटों पर विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का उदय और विकास हुआ, जिनके पुरावशेष यत्र–तत्र बिखरे होने पर भी दक्षिण कोसल के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की ओर पुरावेत्ताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समय तक इतिहास और संस्कृति का स्वरूप परिलक्षित होता है। छत्तीसगढ़ के इतिहास में हमें अनेक राजवंशो के शासन काल के प्रमाण मिलते है इनमें प्रमुख राजवंश है पांडु वंश(सोमवंश) है। इनके शासन काल में शैव, वैष्णव, बौद्ध तथा जैन कला का समान रूप से विकास हुआ।

पाण्डु (सोम) वंश

शरभपुरीयवंश के पश्चात् दक्षिणकोसल में सोमवंशी राजाओं ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस वंश के अभिलेखों में इन्हें पाण्डुवंशी एवं सोमवंशी कहा गया है। सम्भवतः परवर्ती सोमवंश से भिन्नता दर्शाने के लिए इनका उल्लेख 'पाण्डुवंश' के रूप में किया गया है। ई. सन् की छठी शताब्दी में कोसल के बड़े भू–भाग पर पाण्डुवंशी राजाओं का राज्य था, पाण्डुवंशी राजा सोमवंशी थे, जो वैष्णव–धर्मावलम्बी थे। इस वंश का सर्वप्रथम राजा उदयन था।[1] कालंजर से प्राप्त शिलालेख में सोमवंशी राजा उदयन का उल्लेख मिलता है,[2] किन्तु क्या ये दोनों व्यक्ति एक ही थे? इसका अनुमान लगाना कठिन है। सिरपुर से प्राप्त महाशिवगुप्त बालार्जुन के शिलालेख में उदयन का पुत्र 'इंद्रबल' बताया गया है। एक महासामंत इंद्रबल का उल्लेख शरभपुरीय राजा सुदेवराज के अभिलेख में भी मिला है।[3] इंद्रबल को ''सर्वधिकाराधिकृत'' उल्लिखित किया गया है। जिसे पाण्डुवंशी इंद्रबल माना जाता है। किंतु यह कहना

कठिन है कि यह इंद्रबल पाण्डुवंशी इंद्रबल ही था या अन्य कोई शासक था। यह प्रतीत होता है कि शरभपुरीयों कि क्षीण–शक्ति का लाभ उठाकर उसने सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया हो। 'भवदेवरणकेसरी' के भांदक से प्राप्त अभिलेख[4] में इंद्रबल के चार पुत्रों का उल्लेख है। इनमें एक का नाम 'नन्न' था, जो बड़ा पराक्रमी था। उसने अपने राज्य का विस्तार दूर–दूर तक कर लिया था। उसके सबसे छोटे भाई भवदेवरणकेसरी को 'चिंतदुर्ग' भी कहा गया है। वह अपने बड़े भाई नन्न (प्रथम) के सामंत के रूप में चांदा ज़िले में राज्य करता था। उसने पूर्व में सूर्यधोष नामक राजा द्वारा बनाए गये बुद्ध (सुगत) मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था।[5] नन्न का छोटा भाई (इंद्रबल का तीसरा बेटा) ईशानदेव था, जिसका उल्लेख खरोद (जिला–बिलासपुर) के लखनेश्वर–मंदिर में लगे शिलालेख में मिलता है।[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नन्न के शासनकाल में पाण्डुवंशियों का राज्य दक्षिणकोसल के एक बड़े भू–भाग पर तथा महाराष्ट्र में चांदा जिला तक विस्तृत हो चुका था। पाण्डुवंशियों की स्थिति को और भी सुदृढ़ करने का सुयश महाशिवतीवरदेव को प्राप्त हुआ, जो नन्नराज का पुत्र तथा उसका उत्तराधिकारी था। उसके तीन ताम्रपत्रलेख प्राप्त हुए है,[7] जिनमें कहा गया है कि वह 'परम–वैष्णव' था इसकी पुष्टि उसके ताम्रपत्रों पर संलग्न मुद्रा पर अंकित गरुड़ की प्रतिमा से होती है। उसने कोसल, उत्कल और अन्य मण्डलों पर आधिपत्य अपनी भुजाओं के पराक्रम से उपार्जित किया था और 'कोसलाधिपति' की उपाधि धारण की थी। तीवरदेव के राज्यकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है किन्तु विष्णुकुण्डिन नरेश (प्रथम) माधववर्मा (535–85ई.) के तथा मौखरीनरेश सूर्यवर्मा (553 ई.)[8] के समकालीन होने के कारण उसका समय छठी शती ई. के तीसरे चरण में निश्चित किया जा सकता है।

महाशिवतीवर देव का बेटा महानन्नराज उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह भी 'परमवैष्णव' और ''सकल कोसलमण्डल'' का अधिपति था। उसका केवल एक ही ताम्रलेख अब तक प्राप्त हुआ है, जिसमें उसके द्वारा अष्टद्वार–विषय (अड़भार जिला–बिलासपुर) में स्थित 'कोन्तिणीक' ग्राम के दान दिए जाने का उल्लेख है।[9] सम्भवतः महानन्न राज का शासनकाल अल्पकालीन था और वह निःसंतान था। अतः उसका उत्तराधिकारी उसका चाचा चंद्रगुप्त हुआ। उसकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हर्षगुप्त हुआ। हर्षगुप्त ने मगध के मौखरी राजा सूर्यवर्मा की बेटी वासटा से विवाह किया था। हर्षगुप्त, वैष्णव–धर्म का पालन करता था। उसके स्वर्गवासी होने पर उसकी विधवा रानी ने उसकी स्मृति को चिरस्थाई बनाए रखने के लिए हरि (विष्णु) के एक उत्तुंग मंदिर का निर्माण सिरपुर में कराया था।[10]

हर्षगुप्त और वासटा के बेटे महाशिवगुप्त बालार्जुन के राज्यकाल में निर्मित 'लक्ष्मणेश्वर–मंदिर' सिरपुर में आज भी विद्यमान है। हर्षगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र माहशिवगुप्त था। वह बालार्जुन भी कहलाता था, क्योकि छोटी अवस्था में ही वह धनुर्विद्या में प्रवीण हो चुका था। उसके अनेक ताम्रपत्र–लेख और शिलालेख बारदुला,[11] लोधिया,[12] मल्हार,[13] सिरपुर,[14] सेनकपाट[15] आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। जिससे ज्ञात होता है, कि उसके राज्य का विस्तार आधुनिक रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़ आदि ज़िलों को मिलाकर छत्तीसगढ़ के एक बड़े भू–भाग पर था। लोधिया से प्रचलित ताम्रपत्र उसके राज्यकाल के 57 वें वर्ष का है, जिसमें उसके नाम के आगे ''त्रिकलिंगाधिपति'' उपाधि उल्लेखित है। अतः स्पष्ट है कि उसका राज्यकाल लगभग 60 वर्ष का था। महाशिवगुप्तबालार्जुन के माता–पिता वैष्णव–धर्मावलम्बी थे, परंतु वह स्वयं शैव था, उसकी राजमुद्राओं पर नंदी बना हुआ है। उसके अभिलेखों में भी उसे 'परममाहेश्वर' कहा

गया है, परन्तु शैव होने के बाद भी उसकी धार्मिक सहिष्णुता उच्चकोटि की थी। उसके संरक्षण में श्रीपुर तथा साम्राज्य के अन्य स्थानों में शैव, वैष्णव, बौद्ध तथा जैन–धर्म का समान रूप से विकास हुआ। महाशिवगुप्तबालार्जुन के शासनकाल में उसकी राजधानी 'श्रीपुर' की कीर्ति दूर–दूर तक फैल चुकी थी, और वहाँ बौद्ध धर्मानुयायियों का आना–जाना लगा रहता था। सिरपुर में किये गए उत्खनन में बौद्ध–विहार, विशाल बौद्ध–प्रतिमाएँ तथा शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक जन–जीवन पर प्रकाश डालते हैं। महाशिवगुप्त बालार्जुन के राज्यकाल को छत्तीसगढ़ का 'स्वर्णयुग' माना जाता है। बालार्जुन के उत्तराधिकारी के बारे में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। इस वंश का अंत कैसे हुआ तथा कोसल के उत्तराधिकारी सोमवंशियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध था? अंधकारमय है। विद्वानों का यह विचार है कि महाशिवगुप्तबालार्जुन के कमजोर उत्तराधिकारियों को कोसल के नलवंशी राजाओं ने समाप्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।[16]

जैन–कलाकृतियाँ

मोक्ष द्वारा ज्ञान–प्राप्त करने एवं सभी इंद्रियों के विजेता (जिन) कहलाते हैं, अतएव 'जिन' शब्द के कारण ही इस मत का नाम जैनमत पड़ा।[17] जैनप्रतिमा–ग्रंथों, वृहत्संहिता, मानसार, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा और रूपमंडन आदि ग्रंथों में जैनधर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं के निर्माण एवं प्रतिमा–लक्षणों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। ब्राह्मणधर्म की श्रुति एवं स्मृतियों को मान्यता न देने के कारण जैनमत भी नास्तिकमत कहलाता है। तीर्थंकर ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते, अपितु वे ऐसे लोकोत्तर–सामर्थ्य के पुरुष होते हैं, जो तपस्या के बल पर काम–क्रोधादि विकारों को वश में करके कर्मफल को हटाकर अपनी आत्मा को परिशुद्ध कर लेते हैं। ऐसे पुरुष को तीर्थंकर, केवली, अर्हतु, अरिहन्त आदि नामों से पहचाना जाता है। तीर्थंकरों की कुल संख्या चौबीस है। इनमें आदिनाथ या ऋषभनाथ प्रथम तीर्थंकर हैं और वर्धमान या महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर हैं।

'जिन–प्रतिमाएँ' केवल दो आसनों में बनाई जाती है। एक तो कायोत्सर्ग, जिसे खड्गासन भी कहते हैं तथा द्वितीय पद्मासन जिसे पर्यंकासन भी कहा गया है। इन दो–आसनों को छोड़कर किसी अन्य आसन में जैनप्रतिमाओं के निर्माण का निषेध किया गया है।[18] जनसेन के जिनमूर्ति को शान्त, नासाग्रदृष्टि, ध्यानावस्था में बताया है। कायोत्सर्गमुद्रा में हाथ लम्बवत रहते हैं एवं पद्मासन–प्रतिमा के वामहस्त की हथेली पर रखी हुई होती है।[19] जिन–प्रतिमा, दिगम्बर श्रीवृक्ष युक्त, नख, केशविहीन परम शान्त वृद्धत्त्व तथा बाल्य–रहित तरुण एवं वैराग्यगुणों से भूषित होती है।[20] सुनन्दि[21] ने भी जिन–प्रतिमा के उपर्युक्त लक्षणों का निरूपण किया है। 'विवेकविलास' में कायोत्सर्ग और पद्मासन–प्रतिमाओं के सामान्य–लक्षण बताए गए हैं। अर्हत्–अवस्था की प्रतिमा में अष्ट–प्रतिहार्यों के साथ दाहिनी ओर यक्ष, और बायीं ओर यक्षी[22] लांक्षण और प्रतिहार्यों की योजना का विधान है।[23] प्रत्येक तीर्थंकर–प्रतिमाओं में इनके विशिष्ट–लक्षण भी दिखाई जाते हैं, जैसे–आदि जितेन्द्र की प्रतिमा–जटाशेखर युक्त होती है।[24] सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प के पाँचफणों का छत्र[25] और पार्श्वनाथ के मस्तक पर सातफणों वाले नाग का छत्र होता है।[26]

दक्षिण कोसल–क्षेत्र जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र था। शैव, वैष्णव एवं शाक्त–सम्प्रदायों के समान जैनों ने यहाँ अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किए। अड़भार[27] (बिलासपुर) की तीर्थंकर–प्रतिमा, मल्हार[28] से प्राप्त 8वीं शती.ई. की महावीर की प्रतिमा तथा उत्कृष्ट कलाकृति के रूप में सिरपुर से आदिनाथ की

काँस्य–प्रतिमाएँ[29] भी प्राप्त हुई हैं। सिरपुर के गंधेश्वरमंदिर[30] के निकट प्राचीन जैनमंदिर के भग्नावशेष उपलब्ध हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ[31] की प्रतिमाएँ रतनपुर एवं मल्हार से मिली हैं। मल्हार के समीप बूढ़ीखार ग्राम के जैन–मंदिर में संरक्षित तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कलात्मक है। जैन–मंदिर के अंदर समपादमुद्रा में स्थानक खड्गासन जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की प्रतिमा–मुद्रा प्रदर्शित है। द्वारभाग में अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं।

इस प्रकार दक्षिणकोसल का सम्पूर्ण क्षेत्र जैन–पुरातत्त्व से भरा हुआ है, जिनका विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत है–

ऋषभनाथ – प्रथम जैनतीर्थंकर 'ऋषभनाथ' को आदिनाथ के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। ऋषभनाथ का लांछन 'वष्षभ' है और यक्ष–यक्षी गोमुख एवं चक्रेश्वरी है। मल्हार–संग्रहालय से जैन–ध र्म के प्रथम–तीर्थंकर ऋषभनाथ की एकाधिक प्रतिमाएँ सूचित हैं। तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रतिमा (184×56×35सें.मी.) खड्गासनमुद्रा में प्रतिष्ठित है। लाल–बलुए–प्रस्तर पर निर्मित–प्रतिमा का दाहिने पैर का घुटना टूटा हुआ है। उनके दोनों पार्श्वों में, पैरों के पास एक–एक चाँवरधारी प्रदर्शित हैं। पादपीठ पर दोनों ओर अंजलिहस्तमुद्रा में एक उपासक भी दष्ष्टव्य है। 'त्रिछत्र' एवं मालाधारी आदि प्रतिहार्य भी यहाँ अंकित हैं। प्रतिमा की पादपीठ पर सामने की ओर ऋषभनाथ के जीवन के दृश्य बनाए गए हैं। सिंहासन पर पद्मासनस्थ ऋषभनाथ की एक अन्य–प्रतिमा (90×51सें.मी.) भी उल्लेखनीय है। तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में बैठे हैं, तीर्थंकर के दोनों पार्श्वों में एक–एक 'जिन' आकृति को खड्गासनमुद्रा में खड़े दिखाया गया है। पादपीठ पर सामने उनका लांछन 'वष्षभ' दृष्टव्य है यहाँ 'त्रिछत्र' का भी अंकन है। इस प्रतिमा को त्रितीर्थ जैन प्रतिमा की संज्ञा दे सकते हैं। ऋषभनाथ की एक अन्य खड्गासन–प्रतिमा (65×15सें.मी.) मल्हार–संग्रहालय में संरक्षित है। यहाँ तीर्थंकर के साथ सामान्यतः त्रिछत्र चाँवरधारी, मालाधारी–गंधर्व तथा प्रतिहारी हैं। प्रतिमाओं की तिथि 8वीं शती. से लेकर 9वीं शती को प्रथमचरण तक निर्धारित की जा सकती है।

मल्लिनाथ – तीर्थंकर मल्लिनाथ की कायोत्सर्गमुद्रा में सिंहासन पर बने एक विकसित पद्म पर खड़ी प्रतिमा मल्हार–संग्रहालय से है। तीर्थंकर के पैर खण्डित हैं तथा उनके साथ यक्ष–यक्षी का परम्परागत अंकन है। इस 'जिन–प्रतिमा' (37x22सें.मी.) के सिंहासन पर सामने लांक्षन 'कलश' का अंकन है। इसकी निर्माण तिथि 8 वीं शती.ई. निर्धार्य है।

नेमिनाथ – तीर्थंकर नेमिनाथ की एक कायोत्सर्गमुद्रा में निर्मित प्रतिमा मल्हार–संग्रहालय में संरक्षित है। लाल–बलुए–प्रस्तर पर निर्मित इस प्रतिमा में तीर्थंकर के उदर के नीचे का ही भाग ही वर्तमान में अवशिष्ट है। यहाँ पर जैन प्रतिमा–विज्ञान की परम्परा के अनुसार चाँवरधारी तथा यक्ष–यक्षी दृष्टव्य हैं। पादपीठ पर उनका लांछन 'शंख' दृष्टव्य है।

पार्श्वनाथ – भारतीयकला मे पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का निर्माण प्रथम शती.ई.पू. से प्रारम्भ हो गया था। जिनके उदाहरण चौसा एवं मथुरा आदि स्थलों से ज्ञात हैं। सिरपुर से प्राप्त एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा संप्रत्ति महंत घासीदास–स्मारक, संग्रहालय, रायपुर में संरक्षित हैं। 'जिन' पार्श्वनाथ को एक ऊँचे सिंहासन पर पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे प्रदर्शित किया गया है। लाल बलुए–प्रस्तर पर निर्मित इस तीर्थंकर प्रतिमा (102×77 सें.मी.) के सिर पर 'श्रीवत्स' प्रतीक तथा दोनों–स्कंधों पर लटकते केश–गुच्छ प्रदर्शित हैं। प्रतिमा के पृष्ठभाग में नाग–कुण्डलियों को दर्शाया गया है। इनके कुंचितकेश उष्णीशबद्ध है।

कलाशैली के आधार पर इसकी तिथि 7 वीं. शती.ई. निर्धारित की जा सकती है। पार्श्वनाथ की एक अन्य–प्रतिमा (एस.पी. 26–29) सम्प्रति, सिरपुर–संग्रहालय मे संरक्षित है। पीले धूम्र–प्रस्तर पर निर्मित यह प्रतिमा (95×53×32सें.मी.) नागकुण्डलियों पर पद्मासन में बैठी प्रदर्शित है। ध्यानमुद्रा में प्रदर्शित इस प्रतिमा के सिर पर नागफणों का आच्छादन है। नागकुण्डलियाँ पार्श्वनाथ के पृष्ठ भाग में प्रदर्शित है। जिस सिंहासन पर आमूर्तित है वह अत्यंत क्षतिग्रस्त अवस्था में है। अतः इसके कलात्मक विवरण अस्पष्ट है। इसके दोनों किनारों पर बैठी एक–एक सिंहाकृति स्पष्टतः दृष्टव्य है। कदाचित सिंहासन के मध्य में 'ध र्मचक्र' भी प्रदर्शित है, जो प्रस्तर–क्षय के कारण किंचित अभिज्ञात है। कलागत विशेषताओं के आधार पर इसे लगभग 8वीं शती.ई. के प्रथमचरण में निर्मित निरूपित किया जा सकता है। (चित्र सं.01) मल्हार से ज्ञात एक सिरविहिन पद्मासन पर स्थित पार्श्वनाथ की प्रतिमा की पादपीठ पर 24 लघु जिन आकृतियाँ बनाई गई है।

जिनचतुf"dk – सिरपुर स्थित गंधेश्वरमंदिर के बाह्य–प्रांगण के निकट ही विशाल प्रांगण में 'जिन–चतुष्टिका' की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। काले बेसाल्ट–प्रस्तर पर निर्मित प्रतिमा की लम्बाई 65 सें.मी. तथा परिधि 92 सें.मी. है। चतुष्किका के चारों ओर एक–एक तीर्थंकर–प्रतिमा खड्गासनमुद्रा में खड़ी प्रदर्शित की गई है। इसमें तीर्थंकर प्रतिमाओं के कुंचितकेश है। इनके वक्ष पर 'श्रीवत्स' चिन्ह् अंकित हैं। इनमें तीन प्रतिमाएँ ही सुरक्षित है जिनके पैर खण्डित है। इस तीर्थंकर–प्रतिमा का सिर्फ मुख ही वर्तमान में दष्टव्य है। उसके नीचे का सम्पूर्ण भाग अब नष्ट हो चुका है, जिसके नीचे प्रत्येक तीर्थंकर–प्रतिमा के ऊपर एक 'त्रिछत्र' का अंकन किया गया है। मूर्तिशिल्प एवं कलाशैली के आधार पर उक्त प्रतिमा की तिथि लगभग 8वीं शती.ई. निर्धारित की जा सकती है।

अंबिका – अम्बिका (कूष्माण्डी) 'जिन–नेमिनाथ' की यक्षी है। जैनधर्म की दोनों परम्पराओं (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर) में सिंहवाहनी यक्षी के करों में आम्रगुच्छ एवं शिशु के प्रदर्शन का निर्देश है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर–परम्पराओं में अंबिका की उत्पत्ति की कथाएँ वर्णित हैं। जिनप्रभ रचित अंबिकादेवीकल्प तथा यक्ष कथा आदि ग्रंथों में अंबिका से सम्बद्ध प्रसंग हैं। श्वेताम्बर–परम्परा में इन्हें अम्बिणी और दिगम्बर–परम्परा में अग्निला आदि नामों से अभिहित किया गया है। निर्वाणकलिका[32] के अनुसार सिंहवाहनी कूष्माण्डी चतुर्भुजी है। उसके दाहिने हाथ में मातुलिंग एवं पाश और बाएँ में पुत्र एवं अंकुश है। प्रतिष्ठासारसंग्रह[33] में सिंह वाहनाकुष्माण्डी (आम्रादेवी) को द्विभुजी और चतुर्भुजी बताया गया है, पर आयुधों का उल्लेख नहीं है। अपराजितपृच्छा[34] में द्विभुजी–अंबिका के करों में 'फल' एवं वरदमुद्रा का उल्लेख है। देवी के समीप ही उसके दोनों पुत्रों के प्रदर्शन का विधान है, जिसमें से एक गोद में बैठा होना चाहिए। जैन–धर्म के तीर्थंकर के साथ शासन–देवताओं के निर्माण की परम्परा भारतीयकला में लगभग पाँचवीं शती.ई. से आरम्भ हुई। जैन–यक्षी अंबिका को 6वीं शती.ई. शिल्प में अभिव्यक्ति मिली[35] जैन–यक्षी अंबिका को वैदिक–धर्म में दुर्गा, अंबिका एवं कुष्माण्डी आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है।[36]

लाल बलुए–प्रस्तर पर निर्मित अंबिकादेवी की द्विभुजी–प्रतिमा मल्हार से ज्ञात है। प्रतिमा के बायीं गोद में शिशु है, जिसे वे बाएँ हाथ से सम्भाले हुए हैं। जबकि दायाँ हाथ भग्न है। अंबिका, अलंकृत–मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर एवं कटिमेखला आदि आभूषणों से अलंकृत है। पीछे प्रभामण्डल दृष्टव्य है। प्रतिमा के ऊपरी भाग के दोनों पार्श्वों में परिचायक एवं निचले दाहिने पार्श्वो में पुरुष–प्रतिमा का अंकन है। सम्भवतः वह देवी अंबिका का दूसरा पुत्र है। कलागत–विशेषताओं के आधार पर यह प्रतिमा 9वीं शती.

ईं की है। मल्हार के पातालेश्वरमंदिर–परिसर से चतुर्भुजी–अंबिका देवी (90×52 सें.मी.) की प्रतिमा ज्ञात है। क्षय–ग्रसत्ता के कारण इस प्रतिमा के अवयव स्पष्ट नहीं है। कलाशैली के आधार पर प्रतिमा की निर्माण तिथि 7 वीं शती.ई. की प्रतीत होती है।

सिरपुर–संग्रहालय में जैनयक्षी–अंबिका की एक प्रतिमा (एस.पी. 35–59) संरक्षित है। गुलाबी ध ूम्र–प्रस्तर पर निर्मित यक्षी–अंबिका की प्रतिमा (184×53×33सें.मी.) एक अर्द्धचंद्राकार प्रस्तर–चौकी पर आम्रवष्क्ष के नीचे द्विभंगमुद्रा में खड़ी प्रदर्शित की गई है। द्विभुजी देवी का दाहिना हाथ खण्डित है। अंबिका के वामकर में पुत्र–प्रदर्शित है, जिसे वे अपनी कटि पर बैठाए बाएँ हाथ से गोद में लिए है। दाहिना हाथ भुजा से कलाई तक खण्डित है, उसका अग्रभाग पूर्णतः सुरक्षित है। वे गोद में लिए बालक को अपनी जाँघों के मध्य लटकते बाएँ पैर को अत्यंत सावधानी पूर्वक सुकोमल स्पर्श दे रही हैं। शिशु के पैर में नूपुर है। उनके दाहिने पैर के पास दूसरा पुत्र भी खड़ा हुआ प्रदर्शित है। जो खण्डित अवस्था में हैं। प्रतिमा के वामपार्श्व में समभंग में खड़ी एक अनुचरी हाथों में सनालपद्म लिए अत्यंत विनम्र भाव से नीचे की ओर निहारती हुई आमूर्तित है। यहाँ देवी के एक हाथ में परम्परानुसार धारण की जाने वाली आम्र–गुच्छ नहीं है और न ही 'पद्म' का अंकन किया गया है। प्रतिमा के केश जटाभारशैली में नियोजित है, जिसे बीच में एक मोटे पुष्पहार से बाँधा गया है।

प्रतिमा के मस्तक पर मणिमुकुट–सुशोभित है। वे कुण्डल, ग्रैवेयक, द्विवली, हार, केयूर, कटिमेखला, नूपुर आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। वे पैरों तक लटकती हुई चुस्त साड़ी भी पहने है, जिसका पर्यस्तक दोनों जाँघों के बीच से होकर नीचे तक लटक रहा है। शीर्षपर अंकित 'आम्रवृक्ष' पर आम्रगुच्छ अत्यंत मनोहारी ढंग से अंकित किए गए हैं। फलों के भार से लदी डालियों पर यत्र–तत्र बैठे वानर एवं शुकयुगल आम्ररस का तन्मयता के आस्वादन कर रहें हैं। यहाँ यक्षी–अंबिका का वाहन 'सिंह' तथा उनके लांक्षन आम्रगुच्छ को प्रदर्शित नहीं किया गया है। इस प्रतिमा के 'पुत्र–वल्लभा–नायिका' होने का भ्रम होता है, परंतु प्रतिमा के आध्यात्मिक भावशीर्ष पर अंकित आम्रवृक्ष, बायीं गोद में पुत्र तथा दाहिने पैर के पास खड़ी एक वामन पुरुष–आकृति (पुत्र) के आधार पर इसका अभिज्ञान तीर्थंकर 'नेमिनाथ' की यक्षी–अंबिका के रूप में किया जाना ही समीचीन होगा। कलागत विशेषताओं के आधार पर इसका निर्माण तिथि 6 वीं शती.ई. का अंतिम चरण संभाव्य है। (चित्र सं.02)

दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) के सिरपुर, मल्हार, पाली, रतनपुर, आरंग, धनपुर (बिलासपुर), नगपुरा, महेशपुर के अतिरिक्त बस्तर–क्षेत्र; महन्त घासीदास–पुरातत्त्व–स्मारक–संग्रहालय, रायपुर; राजनांदगाँव (जिला पुरातत्त्व संग्रहालय); विश्वविद्यालय–संग्रहालय, खैरागढ़ इत्यादि स्थानों में सोमवंशी तथा कलचुरिकालीन जैन तीर्थंकर–प्रतिमाएँ, यक्ष–यक्षी तथा जैन–मंदिर विद्यमान हैं। इससे पता चलता है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध–मत के साथ–साथ जैन–धर्मावलम्बिलयों का वर्चस्व रहा है।[37]

चित्र कं 01 चित्र कं 02
पार्श्वनाथ प्रतिमा,सिरपुर अंबिका प्रतिमा, सिरपुर

संदर्भ सूची

1. जैन, बालचंद; उत्कीर्णलेख रायपुर पृष्ठ–7.
2. एपिग्राफिया इण्डिका भाग–4, पृष्ठ–257.
3. उपर्युक्त, भाग –31 पृष्ठ–314.
4. जैन, बालचंद; उत्कीर्णलेख, रायपुर, पृष्ठ–28.
5. हीरालाल, सू. क्रमांक 208 पृष्ठ–125.
6. कर्जेन्स , प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1904, पृष्ठ–54 भण्डारकर–सूची क्र. 1651 हीरालाल–सूची क्र. 208.
7. एपिग्राफिया इण्डिका भाग–7 पष्ठ–106; हीरालाल–सूची क्र.171; इ.आ.रि. 1958–60, पष्ठ–57 भण्डारकर–सूची क्र. 1652.
8. क.आ.स.ई. रि. भाग 17, पृष्ठ–55.
9. शर्मा, राजकुमार; मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रंथ भोपाल 1974, पृष्ठ– 52.
10. ए.इ. भाग–13 पृष्ठ 219.
11. ए.इ. भाग–11 पृष्ठ– 184.
12. जैन, बालचन्द्र; उत्कीर्ण–लेख, पृ. 8 से 10 तक(रायपुर).
13. पाण्डेय, लोचनप्रसाद ; ए.इ. भाग–28 पृष्ठ 319–25.
14. मिराशी तथा पाण्डेय ; ए.इ. भाग– 23 पृष्ठ 113.
15. हीरालाल, ए.इ. भाग–11 190,भण्डारकर–सूची क्र. 1654, हीरालाल–सूची क्र. 186.
16. शर्मा, राजकुमार ; उपर्युक्त पृष्ठ–53.
17. भारतीय शिल्प–संहिता पृष्ठ– 172.

18. द. को. की कला, पृष्ठ– 117.
19. प्रतिष्ठावाद, 70.
20. वही, 151–52.
21. विवेक–विलास, 79, 128, –130.
22. प्रतिष्ठासारोद्धार 1, 76–77.
23. अपराजितपृच्छा, 133, 26, –27.
24. लिलोटायष्णसती, 40, 230.
25. पद्मानंद–महाकाव्य, 1, 10.
26. उपर्युक्त, 1, 26.
27. बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट, गजेटियर पृष्ठ– 255.
28. इं. आ. रि. 1960 –61, पृष्ठ– 61.
29. खण्डहरों का वैभव, पृष्ठ– 153–54.
30. कनिंघम, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया–रिपोर्ट, भाग –7, पृष्ठ– 170,118.
31. प्राच्य–प्रतिभा, भाग– 4 क्र. 2 पृष्ठ– 212.
32. निर्वाणकलिका, 18–22.
33. प्रतिष्ठासार–संग्रह, 564–66.
34. अपराजितपृच्छा, 221–36.
35. साह, यू.पी.; बंबई 1959 पृष्ठ– 28–31.
36. बेनर्जी, जे. एन.; डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आयकोनोग्राफी, कलकत्ता, 1956, पृष्ठ–562.
37. ठाकुर, विष्णुसिंह; राजिम, भोपाल, 1972, पृष्ठ –126.

12 छत्तीसगढ़ की अभिकल्प परम्परा में मार्जर व्याल (कलचुरि काल के विशेष संदर्भ में)

डॉ. आशुतोष चौरे

छत्तीसगढ़ के शिल्पियों ने देवालयो की अलंकरण की परम्परा में प्रमुख अभिकल्पों के रुप में व्यालो को पर्याप्त महत्व दिया क्योंकि उनका ऐसा विचार था कि रिक्त स्थानो में अमांगलिक शक्तियो का वास होता है। अतः मंदिर वास्तु में अभिकल्पो कें रुप में व्यालाकृतियों का बहुतायत से भित्तियो के सन्धिस्थलो, अधिष्ठान में उत्कीर्ण पत्थरों में मूर्तियों के मध्य भाग में स्वतंत्र एवं समूह में उत्खचित किये। यह तत्कालीन समय का सर्वाधिक तथा लोकप्रिय अभिप्राय है जो अपनें आप में एक गूढ़ रहस्य को छिपाये हुये है । छत्तीसगढ़ कला अलंकरण प्रधान है। आरम्भ से ही यहाँ के कलाकारों ने अपनी कृतियों को भाँति–भाँति के अलंकरणों से सुसज्जित करने में रूचि दिखाई। ईहामृग या कल्पना प्रसूत पशु–पक्षियों की आकृतियाँ को मूल रूप से प्राकृतिक जगत से लिया, किन्तु कलाकारों ने अपनी कल्पना के बल पर उन्हें अनेक रूपों में विकसित किया है।[1]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ऋग्वेद[2] में उल्लिखित शब्द 'यातु' व्याल के लिए ही सम्बोधित है। इस सम्बन्ध में उन्होंने छः प्रकार के यातुओं का विवरण दिया है। ये उलूक, (उल्लू) शुशुलुका (उल्लू का बच्चा), श्व (श्वान), कोक (कोयल), सुपर्ण (चील) एवं गृद्ध (गिद्ध) यातु है। ये ही काम, क्रोध आदि के छः विकार है जो मनुश्यों में मुखविकृति उत्पन्न करते है। वेद में इन्हें इन्द्र के वशवर्ती कहा है। जैसे पुराणों में गण रूद्र के वष में है। पक्षी महिष और सुपर्ण महिष का विवरण अथर्ववेद[3] में प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में विवरण मिलता है कि रावण के भवन के मध्यभाग में खड़े हुए बुद्धिमान पवनकुमार कविवर हनुमान ने मणि तथा रत्नों से जटित एवं तपे हुए सुवर्णमय गवाक्षों की रचना से युक्त उस विशाल विमान को पुनः देखा। वह सब प्रकार के रत्नों से विभूषित पुष्पक नामक दिव्य विमान स्वर्गलोक में विष्वकर्मा ने ब्रह्माजी के लिये बनाया था। कुबेर ने बड़ी भारी तपस्या करके उसे ब्रह्माजी से प्राप्त किया और फिर कुबेर को बलपूर्वक परास्त करके राक्षसराज रावण ने उसे अपने हाथ में कर लिया उसमें भेड़ियों की मूर्तियों से युक्त सोने–चांदी के सुन्दर खम्भे बनाये गये थे, जिनके कारण यह भवन अद्भूत कांति

से उद्दीप्त सा हो रहा था।[4] पुराण–साहित्य[5] में भी इसका उल्लेख है जैसे गजानन, हयानन, सिंहानन, व्याघ्रानन, मृगेन्द्रवदन, खरमुख, मकरानन, ईहामृगमुख, हंसवन्त्र, गृद्धमुख आदि। इसे 'विकट' के नाम से भी जाना जाता है। सबसे बड़ा व्याल चार सींगों का था जिसका वर्णन ऋग्वेद[6] में भी किया गया है।

भारतीय कला में व्यालों का अंकन शुंगकाल से अपने प्रारम्भिक रूप में परिलक्षित होने लगता है।[7] कुशाण काल की कला ईहामृग या विकटाकृति पशुओं से भरी हुई है क्योंकि इस प्रकार के ऐंठे–गैंठे शरीर वाले पशुओं में शकों की स्वयं बहुत रूचि थी।[8] सी. शिवराममूर्ति ने भारतीय कला में पक्षी एवं पशुओं के अंकन के भारतीय साहित्य एवं कला में उनके अंकन के महत्व का प्रतिपादन किया है और इस ओर संकेत किया है कि शिल्पियों ने उनका अंकन कर उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया है और उनको सीखाने के लिए नहीं अपितु उनके गुणों से सीखा जा सकता है।[9]

प्रारभिक काल से ही मंदिर स्थापत्य कला में काल्पनिक जीव–जन्तुओं के अंकन की परम्परा रही है जिसके शरीर का निचला भाग जिसमें उसके अग्र एवं पश्चपाद, उदर, पूँछ सिंह के समान रहती है, जबकि सिर किसी अन्य पशु का। इसी आधार पर इनका नामकरण होता है जैसे– गजव्याल, नरव्याल, अश्वव्याल, सिंहव्याल आदि। सामान्यतः व्याल की पीठ पर एक मानव सवार दिखाया जाता है, जो व्याल पर प्रहार करता हुआ उसे वश में करने का प्रयास करता दिखाई देता है। पशु के पैरों के नीचे मानव या गज की आकृति को पददलित करते प्रदर्शित किया जाता है। यह सर्वाधिक विशिष्ट एवं लोकप्रिय अभिप्राय है, जो अपने में एक गूढ़ रहस्य को छिपाये है। मानक हिन्दी शब्दकोष[10] में व्याल के अर्थ साँप, चीता, शेर, हिंसक जन्तु, दुष्ट हाथी बताये गये है। मूर्तिकला में गजव्याल को मध्यकालीन प्रासाद–वास्तु के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इनका अंकन खजुराहो, कोसल तथा उड़ीसा में बहुतायत से पाया जाता है। मूर्तिकला में इस अभिकल्प का अवतरण मूलतः उड़ीसा की देन है, जिसका उल्लेख ओ.सी. गांगुली ने किया है।[11] प्रोफेसर निर्मलकुमार बोस के अनुसार उड़ीसा में प्रचलित 'विडाल' संस्कृत शब्द व्याल का ही अपभ्रंश है।[12]

पूर्व मध्यकालीन शिल्पग्रन्थों यथा समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छा एवं सिंहली ग्रन्थ रूपमाला में व्यालों के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। इस सभी ग्रन्थों में सोलह प्रकार के व्यालों का विवरण है, किन्तु उनके प्रकारों में भिन्नता है। 11वीं शती ई. के शिल्प ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार में सोलह प्रकार के व्यालों का विवरण है। वे है– हिरण, गिद्ध, शुक, कुक्कुट, सिह, व्याघ्र, वश्क, अज, गण्डकी, गज, वाराह, अश्व, महिष, श्वान, वानर, एवं खर।[13] बारहवी शती ई. के एक अन्य शिल्पग्रन्थ अपराजितपच्छा (भुवनदेवकृत) में भी सोलह प्रकार के व्यालों का उल्लेख है। ये है– सिंह, हाथी, मानव, वृष, भेड़, शुक, वाराह, महिष, मूषक, कीट, वानर, हंस, कुक्कुट, और सर्प।[14] सिंहली ग्रंथ रूपमाला भी सोलह प्रकार क ही व्यालों का विवरण देता है। विवेचित जन्तु उपरोक्त तालिका में से ही है।[15] अपराजितपृच्छा से प्राप्त उल्लेख के अनुसार सोलह प्रकार के व्यालों को अपनी सोलह प्रकार की मुद्राओं में अंकित किया जाता था। अतः इनके रूपों की कुल संख्या दो सौ छप्पन तक जा पहुँचती है।

व्यालों को सामान्यतः पिछले दो पैरों पर या हाथी या किसी योद्धा के ऊपर खड़े प्रदर्शित किया जाता है। मूर्तिकारों ने इस प्रकार के अंकन में व्याल के शौर्य प्रदर्शन की अवधारणा को निरूपित किया है। खजुराहो उड़ीसा एवं छत्तीसगढ़ में मंदिरों में व्याल कभी–कभी योद्धाओं को अपनी पीठ पर बैठाये हुये दिखाये गये है। व्यालों का अंकन चौतरफा गोलाई में अथवा उद्भृत दोनों रूपों में मिलता है।

नीरज जैन[16] ने पशु की विभिन्न मुखाकृति के सन्दर्भ में अपनी व्याख्या देते हुए कहा है कि जब हम क्रोध में चूर होते है तब सिंह या व्याघ्र की आकृति हमारी विकारी मनोवृत्ति की परिचायक है। शक्ति के मद में मतवाले व्यक्ति की भावना हाथी की आकृति से उजागर होती है, कामवासना को व्यक्त करने के लिये अज या मेढ़ा के रूप में पर्याप्त है ओर मन की चपलता तथा वेग अश्व के द्वारा समझा जा सकता है। मायाचारी के मधुर वार्तालाप में लुभाकर जब अपनी स्वार्थ साधना की जाती है तब तोते की आकृति उसका अच्छा प्रतीक कही जा सकती है। जहाँ अपनी वासना पूर्ति के लिए साधु का ही भेष धारण कर लिया जाये वहाँ मानव मुखाकृति पशु का अंकन छद्म रूप प्रकट करता है। इस प्रकार व्यालों की विभिन्न मुखाकृतियों का रहस्य सहज ही उजागर हो जाता है। छत्तीसगढ़ की कलचुरी कालीन मूर्तिकला में मार्जर व्याल भी प्राप्त होते है । इसका भी मंदिर की भित्तियो पर महत्वपुर्ण अंकन मिलता है मार्जर व्याल का उल्लेख सिंहली ग्रंथ रूपमाला[17] में प्राप्त होता है।

मार्जर व्याल शिव मंदिर पालीः– शिव मंदिर पाली में मार्जर व्याल (Cat Vyal) का अंकन मिलता है।

1. **मार्जर व्याल –** मार्जर व्याल फलक के बायीं ओर गतिशील होकर सामने की ओर देखता हुआ प्रदर्शित है। वह दो पैरों पर खड़ा होकर निचले दाहिने पैर से प्रहारत योद्धा को पददलित करते दिखाया गया है। इस मूर्ति फलक का माप 65.17.07 से.मी. है। मार्जर व्याल को उसके चेहरे का भाव एवं उसके कपोलों पर रेखाएँ उसके मार्जार व्याल होने का स्पष्ट करती है। उसकी आँखे बड़ी तथा बाहर निकली हुई है। उसके श्रृंग एवं कर्ण छोटे है। चेहरे पर मूँछे है तथा मुख खुला एवं जिह्वा बाहर निकली हुई है। उसके वक्षों की गोलाई में मणिमालाओं का अभिकल्प उत्कीर्ण है। पैरों के निचले भाग में दांतेदार डिजाइन बनी है। पैरों के नीचे योद्धा कटार से व्याल की पूँछ पकड़कर उस पर वार कर रहा है। व्याल उसको पददलित करने का प्रयास कर रहा है। योद्धा के मुख पर वीरता का भाव स्पष्ट है। उसका केश–विन्यास सुन्दर है तथा सिर के पीछे जूड़ा बंधा है। कानों में गोलाकार कुण्डल है। हाथ में केयूर, कंकण तथा पैर में पादवलय धारण किये है। उसने अधोवस्त्र धारण कर रखा है। व्याल एक पादपीठ पर स्थित है। वह आभूषणों से सुसज्जित है। ऐसा लगता है कि उड्डियान भारवाहकों ने इन व्यालों को उठा रखा है जिससे उनके अन्तरिक्ष में स्थित देव मण्डल की कल्पना के साकार रूप को कलाकारों द्वारा सुन्दर ढंग से उकेरा गया है। **(चित्र क्रमांक –01)**

पुरातत्त्व संग्रहालय, तुम्माण :–

2. **मार्जर व्याल –** नृत्यरत शिव की प्रतिमा के दोनों ओर दो खड़े व्यालों की मूर्तियों उत्कीर्ण है। इसका माप 53×50×35 से.मी. है। इसमें मार्जर व्याल को स्थानक अवस्था में अंकित किया गया है। व्याल का ऊपरी शीर्ष खण्डित है। उसकी आँखें बड़ी एवं बाहर निकली हुई है। नासिका शुक के समान तीखी तथा मुँह पर मूँछों का अंकन है। व्याल का ऊपरी बायाँ पैर मूँछों पर तथा ऊपरी दाहिना पैर आगे को लटकता हुआ प्रदर्शित है। दाहिना निचला पैर मुड़ा हुआ तथा बायाँ निचला पैर सीधा है। यह व्याल की एक अलग मुद्रा है।

3. **मार्जर व्याल –** त्रिपुरान्तक शिव के दोनों ओर दो व्यालों का अंकन है जिसमें दूसरा व्याल भी मार्जर व्याल है। इसका माप 55×49×29 से.मी. है। इस दूसरे व्याल को भी स्थानक अवस्था में उत्कीर्ण किया गया है। उसके श्रृंग बड़ी आँखे मूँछ आदि से इसकी भयावहता का अनुमान होता है। उसके गले में हार है उसका पेट बड़ा तथा बाहर निकला हुआ है। अगला पैर मूँछ पर तथा एक पैर सामने की ओर लटकता हुआ है। ये व्याल आंगिक अनुपात में ठीक नहीं है।
4. **मार्जर व्याल –** मार्जर व्याल के फलक का माप 62×37×33 से.मी. है। मार्जर व्याल प्रत्यालीढ़ मुद्रा में अपने पिछले बायें पैर से नीचे बैठे गज को पददलित करते हुए प्रदर्शित किया गया है। वह अपने दो पैरों पर खड़ा है। वह फलक के दाहिनी ओर गतिषील होकर पीछे बायी ओर विस्फारित नेत्रों से देख रहा है। इस फलक में व्याल के रौद्र भाव का प्रदर्शन मिलता है। उसके नेत्र बड़े तथा खुले है, मुँह खुला है वह गरर्जना कर रहा है। सिर श्रृंग का अंकन है। ऊपरी दाहिना पैर खण्डित है। गले में हंसुली जैसा गोल आभूषण है। वक्ष पर लड़यों युक्त आभूषण धारण किये है। उसके शरीर में पर्याप्त लचीलापन है। उसका आंगिक अनुपात ठीक है। (**(चित्र क्रमांक –02)**
5. **मार्जर व्याल –** विष्णु मंदिर नारायणपुर की द्वारशाखा (गर्भगृह की) के बायीं ओर नीचे एक मार्जर व्याल की मूर्ति उत्कीर्ण है। ये चार पैर पर आधृत है तथा सामने घूरते हुए दर्शायी गयी है। उसके विस्फारित नेत्र खड़े कान, तनी हुई पूँछ एवं भश्कुटि उसके क्रोध के भाव को स्पष्ट दिखा रहे है। उसकी मूँछों का भी अंकन किया गया है। उसके गले तथा अगले पर पर मनकों की लड़ियों का सुन्दर अंकन है।

विष्णु मंदिर, जाँजगीरः–

6. **मार्जर व्याल –** विश्णु मंदिर जांजगीर की उत्तरी भित्ति में एक मार्जर व्याल का अंकन है। वह पाशाण फलक के बायी ओर गतिशील होकर आलीढ़ मुद्रा में अपना पिछला दाहिना पैर ऊपर उठाये हुए हैं वह क्रोध में चपलता के साथ पीछे की ओर देख रहा है। उसका मुँह खुला है वह गरज रहा है। उसके नेत्र गोल तथा बाहर निकले हुए है। उसके ऊपर श्रृंगों का अंकन है। उसके कान खड़े तथा वह गले में मनकों की माला पहने है गले के बालों का कटाव सुन्दर है। उसकी पूँछ पीछे से आगे की ओर जाकर गोलकार अभिकल्प के रूप में उत्कीर्ण है। व्याल के शरीर में लोच है, गति है परन्तु आंगिक अनुपात ठीक नहीं है। **(चित्र क्रमांक –03)**

सीतादेवी मंदिर, देऊरबीजा :–

7. **मार्जर व्याल –** सीतादेवी मंदिर देऊरबीजा के रथों के मध्यभाग के लघुकोण पगों में मार्जर व्याल मूर्तियों का प्रदर्शन है। मंदिर के पार्श्व में पश्चिम भित्ति पर विष्णु प्रतिमा के दोनों ओर मार्जर व्यालों की मूर्तियाँ निर्मित है। ये व्याल मूर्ति अपने दोनों पिछले पैरों पर समपाद मुद्रा में क्रोधित होकर खड़ी है। उसके दाँत भयंकर दृष्टव्य है वे दहाड़ रहे है उनकी जिह्वा बाहर निकल आयी है। मुख पर मूँछों का अंकन है। आँखे बड़ी तथा बाहर निकली हुई है। उसके कान खड़े है। मार्जर व्याल की पूँछ उसके दोनों पैरों के मध्य से होती हुई आगे उदर भाग को स्पर्श कर रही है। दोनों अगले पैर नीचे की ओर मुड़े हुए है। उसके पैरों के नीचे किसी प्रकार की मानव या गज की आकृति नहीं है। वे अपने आप में एक भिन्न मुद्रा है जिसमें उन्हें सामने की ओर मुख किये खड़े दर्शाया गया है।[18]

8. **मार्जर व्याल –** मंदिर की उत्तर की भित्ति पर महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा के निकट एक मार्जर व्याल का अंकन है जो सुरक्षित है। उसके विस्फारित नेत्र है। सींग भी दृष्टव्य है। कान नुकीले तथा खड़े है। जिह्वा बाहर निकली हुई है तथा मुख पर मूँछों का अंकन है। मार्जर पिछले दोनों पैरों पर खड़ा है तथा दहाड़ता हुआ प्रतीत होता है। उसकी पूँछ दोनों पैरों के मध्य से निकलकर आगे उदर भाग को स्पर्ष कर रही है। आंगिक अनुपात की दृश्टि से मूर्ति सुन्दर नहीं है क्योंकि उसका सिर धड़ के अनुपात में बड़ा दिखाया गया है। यहाँ के सभी व्याल एक ही प्रकार की मुद्रा में प्रदर्शित किये गये है इस प्रकार का अंकन छत्तीसगढ़ में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। **(चित्र क्रमांक –04)**

विष्णु मंदिर नारायणपुरः–

9. **मार्जर व्याल –** विष्णु मंदिर नारायणपुर की भित्ति में मार्जार व्याल का भी अंकन मिलता है। वह फलक के बायी ओर गतिशील होकर आलीढ़ मुद्रा में दाहिना पिछला पैर ऊपर उठाये हुए हैं वह मार्जर व्याल सामने की ओर देख रहा है। उसकी आँखे बड़ी है तथा कान खड़े है मुँह पर मूँछो का अंकन है। जिह्वा बाहर निकाले हुए है। ये एक पुष्पों वाली पादपीठ पर अवस्थित है। इसका माप 50×15×4 से.मी. है। **(चित्र क्रमांक –05)**
10. **मार्जर व्याल –** इस मंदिर की भित्ति में एक और मार्जर व्याल का अंकन है। वह फलक के बायीं ओर गतिशील होकर आलीढ़ मुद्रा में सामने की और विस्फारित नेत्रों से देख रहा हैं उसके कान खड़े श्रृंगों का अभाव है। मूँह पर मूँछों का अंकन है। पूँछ दोनों पैरो के मध्य से होकर आगे की ओर गोलाकार हो गयी है। ये एक सादा पादपीठ पर अवस्थित है।

मार्जार व्याल का अंकन छत्तीसगढ़ की कलचुरिकालीन कला में विविधता लिये हुए है। इनका अंकन शिव मंदिर पाली, विष्णु मंदिर जांजगीर, पुरातत्त्व संग्रहालय तुम्माण, सीता मंदिर देऊरबीजा, विष्णु मंदिर नारायणपुर आदि में मिलता हैं ये कभी दाये बायें मुँह किये या कभी सम्मुख मुँह किये प्रदर्शित है। कभी एकल तो कभी गज को पददलित कर शौर्य प्रदर्शन करते हुए दिखलाये गये है। रूपमाला ग्रन्थ के मार्जर व्याल की छत्तीसगढ़ की कला में पुष्टि होती है।

संदर्भ सूची

1. वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला 1977, पृष्ठ 78
2. उलेकयातुं शूशलूकंयातुं जहि श्वायातुमुत कोकेयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृहयातुं दृशदेव प्रमश्ग रक्ष इन्द्र ।। 22 ।।
(ऋग्वेद 7/104/22)
3. चित्रश्चिकिटवान महिशः सुपर्ण आरोचयन् रोदसो अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परिसूर्य वक्षाने प्रास्य विश्वातिरतो वीर्यार्णि ।। 32 ।।
(अर्थववेद 13/2/32–33)
4. ईहामृग समायुक्तैः कार्तस्वरहिण्ययैः।
सुकृतैरचितं स्तभैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ।। 13 ।।
(वाल्मीकि रामायण 9–13)
5. मत्स्यपुराण (154.4.45), हरिवंष (2/124), वायुपुराण (10/260–64)

6. ऋग्वेद (4/52/2)
7. एम.ए. ढाकी– द व्याल फिगर्स ऑन मीडिवल टेम्पल्स ऑफ इण्डिया 1965, पृ 30 पाद टिप्पणी नं. 6
8. वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला 1977, पृ 5
9. सी. शिवराममूर्ति – बर्ड्स एंड एनीमल्स इन इण्डियन आर्ट स्कल्पचर्स, भूमिका राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली 1974
10. मानक हिन्दी शब्द कोश – हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1966 पृ 13
11. ओ.सी. गांगुली – लायन आन एलिफेन्ट मोटिफ इन ओरिसन आर्ट जिल्द 4 क्रम 1 एवं 2
12. ओ.सी. गांगुली – लायन आन एलिफेन्ट मेटिफ इन ओरिसन आर्ट पृ 2
13. व्यालः शोडशाः निदृष्टा हरिनो गृध्रकाः शुकः
    कुकुटाः सिंह शार्दूल वृक–अज गण्डकी गजः 27
    क्रोड अश्व महिश ष्वानो मर्कट खर इत्यादि 28
    समरांगणसूत्रधार अध्याय 75
14. सिंह व्यालम् गज व्यालम अश्वव्यालम नरादिकम
    वश्षव्यालम् मेशव्यालम् शुकव्यालम् च सौकरम् 4
    महिशम् मूशक व्यालम् कीटव्यालम् च वानरम्
    हंस कुक्कुट मयूरम, त्रिपल्ली सर्पव्यालकम् 5
    इति शोडश व्यालानि उक्तानि मुखभेदतः
    शरीरम् अहि वद रूपम् हस्तपाद पूँछ आदिकम् 6
    व्यालान अन्तर तो रूपम अनेक आकारः स्मर्षतितम् 7, अपराजित पष्च्छा अध्याय 233
15. केसरी हरिनी व्याघ्रि वाराहि शिशुमारनी
    मातंगी च शिखि भोगी गरुड़ा विजय
    भूललूका मार्जार तुंग शाखामृग विराटिका
    सिंह आदि वर्ग इति आदि भाग षोडषम् एवं च
    ओ.सी. गांगुली लायन एण्ड एलीफेंट मोटिफ इन ओरसन आर्ट, ओ.एच. आर. जे खण्ड 4, जून–सित. 1955 पृ 2
16. नीरज जैन–खुजराहो के जैन मंदिर, पृ 27
17. ओ.सी. गांगुली – लायन एण्ड एलीफेट मोटिफ इन ओरिसन आर्ट, ओ.एच. आर. जे खण्ड–4, जून–सित. 1955 पृ 2
18. कला वैभव अंक 17, आशुतोष चौरे का लेख, वर्श 2008 पृ 98

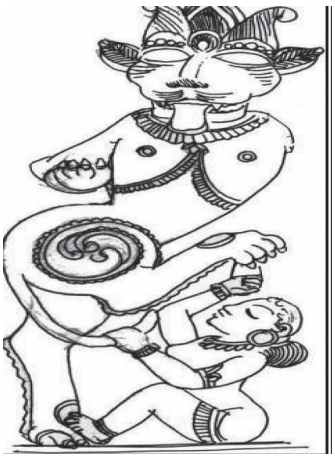

मार्जर व्याल

मार्जर व्याल, शिव मंदिर, पाली

मार्जर व्याल, पुरातत्त्व संग्रहालय, तुम्माण

मार्जर व्याल, सीतादेवी मंदिर, देऊरबीजा

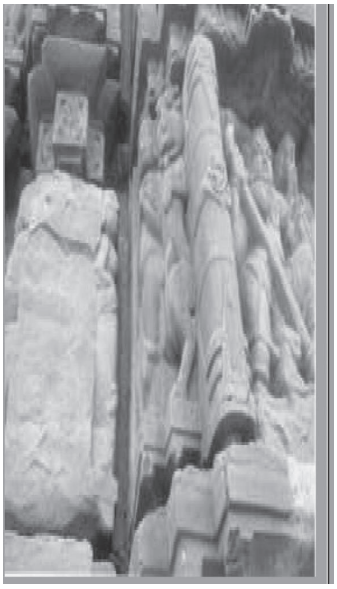

मार्जर व्याल देऊरबीजा

मार्जर व्याल, शिव मंदिर, नारायणपुर

13 बुन्देली संस्कृति और अम्बिकाप्रसाद 'दिव्य' के उपन्यास

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

बुन्देलखण्ड अपने गौरवमय इतिहास और समृद्ध संस्कृति के लिए विश्व प्रसिद्ध है। इसकी बेमिसाल पहचान खजुराहो के मंदिर हैं। लोक नृत्य राई, आल्हा काव्य, संत कवि प्राणनाथ तथा महाराजा छत्रसाल, महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती आदि के षौर्य–पराक्रम से भला कौन परिचित न होगा। यह अध्यात्म का भी क्षेत्र रहा है। भोगवाद से भी यह अंचल अछूता नहीं रहा है। युद्ध की न जाने कितनी गाथाएँ इस भूमि पर रची गईं। लोक कवि ईसुरी के फागें आज भी लोक का कण्ठहार बनी हुई हैं। विवाह, पर्व, व्रतोत्सव तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य नई सदी में भी अपनी पारम्परिक पहचान अक्षुण्ण रखे हुए हैं। कहावतें, मुहावरे, लोकाचार, लोकोत्सव, लोकविश्वास, भोजन, वस्त्राभूषण आदि में भी बुन्देली रंग और ठाठ बना हुआ है। बरेदी, जवारा, करमा, सैरा आदि लोकनृत्यों की खनक में बुन्देली समाज अपनी अस्मिता को बचाये रखे हुए है। बुन्देली भाषा की सामर्थ्य और शक्ति को साहित्य में बखूबी पहचाना जा सकता है। बुन्देली लोक संगीत और लोक चित्रकला का मनोहारी रूप लोगों के मन–मस्तिष्क में आज भी बसा हुआ है। बुन्देलखण्ड के प्रकृति सौन्दर्य और वनाच्छादित विंध्यपर्वत श्रृंखलाएँ हर प्रकृति प्रेमी व्यक्ति को मोह लेती हैं।

भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में देखें तो बुन्देलखण्ड के गौरवमय इतिहास के कितने ही आख्यान हमें गौरवान्वित और प्रेरित करते हैं। यहाँ के राजे–रजवाड़ों, रानियों, वीर पुरुषों के पराक्रम, त्याग, बलिदान और बुन्देलखण्ड की जनता के संघर्ष व पुरूषार्थ की कहानियों से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। बुन्देलखण्ड की गौरवमय संस्कृति की खोज अम्बिकाप्रसाद दिव्य के कथा साहित्य में करना दुर्लभ अनुभव है। दिव्य जी बुन्देली माटी के सपूत थे। अपनी माटी के प्रति उन्होंने अपना ऋण साहित्य सर्जना के द्वारा चुकाया। यहाँ के इतिहास को अपने उपन्यासों में दर्ज कर मातृभूमि के प्रति अपनी अपार निष्ठा ही नहीं, उसका गौरव नयी पीढ़ी को सौंपने का महनीय कार्य किया।

बुन्देली भूमि जिनके साहित्य से गौरवान्वित हुई, उनमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी अजमेरी, नाथूराम माहौर, घासीराम व्यास, घनश्याम दास पाण्डेय, अम्बिका प्रसाद दिव्य आदि का नाम सर्वोपरि

है। अम्बिकाप्रसाद दिव्य कवि, कथाकार, नाटककार, निबंधकार और चित्रकार के रूप में न केवल बुन्देलखण्ड, वरन् देश में विख्यात हुए। बुन्देलखण्ड के पन्ना जिले के अजयगढ़ में जन्में दिव्य जी ने जीवनपर्यन्त बुन्देलखण्ड में रहकर अध्यापन कार्य करते हुए श्रेश्ठ साहित्य–सर्जना की। वे इतिहास, समाज और संस्कृति के मर्मज्ञ थे। बुन्देलखण्ड का इतिहास, समाज और संस्कृति उनके साहित्य और चित्रकला के विषय थे। चित्रकार दिव्य की चित्रकला के केन्द्र में खजुराहों के मंदिर ही नहीं, वरन् बुन्देलखण्ड के राजा, रानियाँ, वीर प्रतापी व्यक्तित्व, लोक गीतकार, संगीतकार आदि रहे हैं। 'बुन्देलखण्ड चित्रावली' और 'खजुराहो की चित्रकला' उनके चित्रकला और इतिहास प्रेम का अनूठी कृति है। बुन्देलखण्ड के इतिहास–प्रसंगों, घटनाओं व ऐतिहासिक व्यक्तियों पर केन्द्रित उनके उपन्यास हैं–बेलकली, खजुराहों की अतिरूपा, जयदुर्ग का रंगमहल, पीताद्रि की राजकुमारी, काला भौंरा, सती का पत्थर, जूठी पातर, जोगीराजा, फजल का मकबरा और प्रेम तपस्वी। दिव्य जी ने बुन्देलखण्ड के तत्कालीन राजघरानों को स्वयं बहुत ही निकट से देखा था तथा सेवा का अवसर भी प्राप्त किया था। इसीलिए राजघरानों में चलने वाली दुरभि–संधियों, कुचक्रों एवं षड़यत्रों से वे भली–भांति परिचित थे। राजघरानों व सामान्य जनता के जीवन में बुन्देली संस्कृति के प्रत्येक रंग का उन्होंने साक्षात्कार किया। बुन्देलखण्ड की संस्कृति में दिव्य जी का पूरा जीवन रचा–बसा रहा, इसीलिए उनके उपन्यासों में बुन्देली संस्कृति के चटक रंग यथा संदर्भ उभरे हुए हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने चापलूस तांत्रिकों, साधुओं के यज्ञों, अनुष्ठानों तथा धार्मिक पाखण्ड के प्रति अपना प्रबल आक्रोश व्यक्त किया है। 'निमियां' और 'मनोवेदना' शीर्षक सामाजिक उपन्यासों में बुन्देलखण्ड के सामाजिक जीवन व संस्कृति में आये परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है। 'मनोवेदना' में वे नारी शिक्षा तथा अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर रहे हैं। बुन्देली बोली–बानी की झलक इन उपन्यासों में मिलती है।

दिव्य जी संगठित राष्ट्र की कल्पना करते हैं और इसके लिए शिक्षा को अपरिहार्य मानते हैं। 'जूठी पातर' उपन्यास में स्वामी प्राणनाथ के शब्दों में वे कहते हैं–''बिखरे हुए राष्ट्र को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना है। यह हथियार के द्वारा संभव नहीं। शिक्षा और विवेक के द्वारा ही संभव हो सकता है। सबको एक सी शिक्षा मिले। सब में विवेक उदय हो।''[1] आज इसी विवेक का संकट है।आस्था और विश्वास के सहारे भारतीय समाज अपना हर संकट पार कर लेता है। ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास बुन्देलखण्ड वासियों में सर्वोपरि है। निमियाँ' उपन्यास का एक पात्र कहता है–''महाराज हाथ से निकल गये तो कोई हानि नहीं, ईश्वर को हाथ से न निकलना चाहिए जिसके हाथ में सारे विष्व का राज्य है।''[2] पर ईश्वर के प्रति लोगो की सोच बदलने लगी है। 'निमियाँ' का ही युवराज कहता है–''भजन का जमाना गया, अब पुरूषार्थ का जमाना है।''[3] ऐतिहासिक उपन्यास 'बेलकली' में ईश्वरवादी भावना व्यक्त करते हुए लेखक लिखता है–''संसार में जो कुछ होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है। मनुष्य तो उस सूत्रधार के हाथ की कठपुतली है।''[4]

बुन्देली समाज षताब्दियों से देवी–देवताओं की उपासना करता आया है। 'काला–भौंरा' उपन्यास का नायक महाराज यशोवर्मन का कथन है–''जिस मनुष्य के सामने कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता, तब वह देवी–देवता और यज्ञ–हवन आदि का सहारा लेता है।''[5] बुन्देली संस्कृति सर्वधर्म समन्वयवादी रही है। 'जूठी पातर' में स्वामी प्राणनाथ कहते हैं''..... ईश्वर एक है, धर्म एक है, मनुष्य एक है, सृष्टि एक है। भेदभाव की सारी विभाजक रेखाएं असत्य हैं। उस ईश्वर का पार किसी ने नहीं पाया। वह अगम

है, अनादि है, अनन्त है।''[6] दिव्य जी समतावादी चेतना के कथाकार हैं। उपन्यास के पात्र युवराज के शब्दों में वे कहते हैं–'' मनुष्य, मनुष्य सभी एक हैं। सभी हाड़–मांस के बने हैं। समान सुविधाएँ मिलने पर सभी एक से बनाए जा सकते हैं। वर्तमान विशमता स्वार्थी और बेईमान समाज की बनाई हुई है।''[7] इसी प्रसंग में 'जूठी पातर' के नायक प्राणनाथ का यह कथन बरबस मानस में उभर आता है– 'जाति–पांति' छुआछूत मिटाना है। कर्म और मजहब का भेदभाव मिटाना है। शरीर पर नहीं, मनुष्य की बुद्धि पर विजय पाना है। जाहिलपन, कट्टरता, धर्मान्धता सभी हानिकारक तत्व है।''[8]

'पथरीलो पिया तोरो देस, मोयी अनी तो मुरक गई बिछिया की' गीत गाती हुई बुंदेली स्त्री बुन्देलखण्ड की पथरीली भूमि को इसलिए कोसती है कि उसकी बिछिया की अनी मुरक जाती है। पर इसी भूमि में वीरों के पराक्रम की जयगाथाएँ भी रची गयी हैं। 11वीं शती के जगनिक कृत आल्हाखण्ड में लोक का आदर्श युद्ध में खेत रहना था। जैसे

खटिया पर के जैमर जैहैं–नांव डूब पुरखन को जाय
जैमर जैंहें रन खेतन मां–साखो चलो अंगारू जाय।

मध्यकाल में विजातीय धर्म और संस्कृति के आक्रामक रूप के कारण यही लोक विश्वास शास्त्र धर्म के प्रतीक रूप में आस्था का संदेश देता रहा और बुन्देलों के राज्य काल तक लोकमानस का प्रेरणास्त्रोत बना रहा।'[9] चन्देल कालीन नारी में सतीत्व के प्रति अनन्य विश्वास था। 'जयदुर्ग के रंगमहल' में गजमोतिन के सतीत्व का प्रसंग वर्णित है।

बुंदेली समाज में धर्म के प्रति गहन आस्था का भाव है। बुन्देली स्त्री की धार्मिक आस्था व विष्वास का कोई सानी नहीं है। 'पीताद्रि की राजकुमारी' में महारानी कंचना चंदेल नरेश शालिवाहन से आग्रह करती हैं– 'कालिंजर की दुर्गा–मैया आजकल बहुत फुर रही हैं, सबकी मनोकामना पूरी करती है।''[10] लेखक का विचार है कि ''नारियों का देवी–देवताओं से विष्वास हटाना कठिन है।''[11]

प्रकृति से अन्तरंग और व्यापक रिश्ता बुन्देली समाज का है। बुन्देलखण्ड में पष्थ्वी, आकाष, बादल, वनस्पति और पशु–पक्षी संबंधी नाना प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं। वृक्षों पर देवी–देवताओं का वास, बेलपत्र शिव का आहार, आंवले की पूजा से पापनाश, मृत्यु के समय तुलसीदल मुख में डालने से पापनाश आदि बातें आज भी लोकमानस में सुरक्षित हैं। 'फजल का मकबरा' उपन्यास में महाराज मधुकरशाह शेर को इसलिए नहीं मारते, क्योंकि वे 'नृसिंह' को अपना इष्टदेव मानते थे। कौवे का घर की मुंड़ेर पर कांव–कांव करना अतिथि आगमन का सूचक है। 'काला भौंरा' उपन्यास में छोटी रानी कौआ से बोलीं–''जो कोई आता हो उड़ जा।'' कौआ तत्काल उड़ गया।''[12] नदियों के प्रति लोक का गहन विश्वास है। नदियों को 'मैया' कहा जाता है। गंगा मैया, यमुना मैया, सरजू मैया आदि। 'काला भौंरा' में अगस्त ऋषि के सामने विन्ध्य पर्वत सिर झुका देता है। इस प्रकार दिव्य के उपन्यासों में प्रकृति संबंधी लोक विश्वास व्यक्त हुए हैं। आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की अनन्य पहचान है। आध्यात्मिक गुरू के रूप में भारत विश्व में वंदनीय रहा है। भारत वर्ष के हर भू–भाग में आध्यात्मिक संस्कृति फली–फूली और आज भी जीवित है। आध्यात्म भारतीय जीवन दर्शन का अपरिहार्य रूप है। आध्यात्मिक चेतना से विलगकर भारतीय समाज को देखना संभव नहीं है। बुन्देलखण्ड भी आध्यात्मिक चेतना से जुड़ा हुआ क्षेत्र है। धर्म एवं ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा की सम्पन्न भावना ही आध्यात्मिकता है। ब्रह्य की सर्वव्यापकता आत्मा की अमरता, प्रत्येक पदार्थ में स्वतः परिणमन, कर्मवाद इस आध्यात्मिकता का आधार है। दिव्य जी ने अपने

उपन्यासों में आध्यात्मिक चेतना का निदर्षन किया है। 'काला भौंरा' में महाराज यशोवर्मन आश्चर्यचकित होकर सोचते हैं–'ये देखो ईश्वर की लीला.....। हमारा जीवन–मरण निश्चय ही उसी अज्ञात शक्ति के हाथ में है जो इस शिशु को इतनी दूर से उस भयंकर आंधी–पानी से बोझिल इस नदी की गोद में झुलाती चली आ रही है।''[13]

सेवा परायणता भारतीय संस्कृति का अप्रतिम आदर्श है। मानव–मात्र में सहयोग एवं सद्भावना के प्रचार एवं प्रसार हेतु दिव्य जी ने अपने विचार विभिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्त किए हैं। देशप्रेम और देश सेवा उनका आदर्श रहा है। बुंदेलखण्ड की आन–बान–शान के लिए कितने शूरवीरों ने आत्मबलिदान किया–इतिहास गवाह है। दिव्य के उपन्यास भी इसके प्रमाण हैं। 'काला भौंरा' में महाराज धंग कहते हैं' 'मैं यह जानता हूँ कि मुझे चलना चाहिए। ऐसे अवसर पर मैं देश के काम न आया तो कब आऊँगा।''[14] महारानी हेमा के विचार देखिए–'महाराज! देश के सामने मेरा क्या महत्त्व है? मेरी जैसी देश पर अगणित रानियाँ और महारानियां भी बलिदान कर दी जावें तो भी कुछ नही .....''[15] महाराज छत्रसाल का यह कथन उनके देशप्रेम की अभिव्यक्ति है–'' मैं देश को बर्बर मुगलों के षिकंजे से छुड़ाने का ही व्रत लिए हूँ। मैं छत्रसाल बुन्देला हूँ।''[16] यह आत्मबलिदानी भावना बुन्देलखण्ड की पहचान है।

स्त्री के प्रति बुन्देली समाज में अपार सम्मान का भाव विद्यमान है। महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती आदि नारियाँ विश्व पटल पर बुन्देलखण्ड के गौरव का प्रतीक हैं। दिव्य जी ने अपने उपन्यासों में स्त्री शक्ति की पहचान को रेखांकित किया है। अनेक स्त्री चरित्रों की सृष्टि में बुंन्देली स्त्री का गौरव व्यक्त हुआ है। एक स्थल पर लेखक कहता है–''नारी पुरूष से कहीं अधिक स्पष्ट सोचती है। पुरूष नारी के कहने में चले तो कभी किसी संकट में न पड़े। नारी में श्रद्धा होती है, भक्ति भावना होती है।''[17] नारी का तो पति के सुख में ही सुख होता है। सच्ची पतिव्रता नारी पति के किसी काम में आड़े नहीं आती।''[18] नारी के लिए पति ही परमेश्वर है, प्रेम और आनंद का केन्द्र है, पति के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग अपने ही कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग है।''[19] ऐसे ही विचार बुन्देली स्त्री को गौरव प्रदान करते हैं। वीरांगना दुर्गावती का चरित्र आदर्श भारतीय नारी का प्रतिरूप है। वह मुगल सम्राट् अकबर के पत्र को प्राप्त कर भयभीत नहीं होती, बल्कि दृढ़ता और साहस का परिचय देती हुई उत्तर देती है–''तुम भी लिख दो अमात्य! जुलाहों का काम हूकूमत करना नहीं, कहीं बैठकर रूई धुनकें। मैं पींजन भेज रही हूँ, सोने का पींज्जन। रूपमती को नहीं भेजा जा सकता। दुर्गावती गीदड़ भभकियों से नहीं डरती। ईंट का जबाव पत्थर से दिया जावेगा।''[20]

पर्दाप्रथा, दहेजप्रथा, और सतीप्रथा–ये तीन प्रथाएँ बुन्देली स्त्री के लिए अग्नि परीक्षा से कम न थी। अभिशाप थीं। स्त्री के स्वाभिमान व गरिमा के खिलाफ थीं। अमर्यादित थीं। किन्तु, बुन्देलखण्ड में स्त्री जीवन से जुड़ी प्रथाएँ सदियों तक बनी रहीं और आज भी सती प्रथा के अलावा अनेक परंपराएँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री जीवन से सम्बद्ध हैं। मुसलमान आक्रांताओं के कारण सतीप्रथा का रिवाज आया और स्त्री का जीवन घर की चहारदीवारी और पुरूष की पहरेदारी में बीता। 'निमियां' उपन्यास में बहूरानी अपने पति श्यामलाल की गिरफ्तारी पर सोचती है–''सब को मौत है, मुझे मौत भी नहीं, इस पर्दे में आग लगती है, इसके मारे घर से बाहर पैर निकालना कठिन है। नहीं तो अपना सब कुछ कर लिया करती, किसी की खुशामद न करनी पड़ती।''[21] वह अन्यत्र भी अपनी व्यथा प्रकट करती है–''बेड़ियाँ तोड़ना कैदी के लिए भले ही सरल हो पर स्त्री के लिए पर्दा तोड़ना नहीं।''[22]

सतीप्रथा का विरोध राजाराममोहन राय जैसे समाज सुधारकों ने किया और ब्रिटिश सरकार को सती प्रथा विरोधी कानून बनाने के लिए विवश किया। आजाद भारत के पहले देश में सतीप्रथा की घटनाएँ प्रायः होती रहीं। बुन्देलखण्ड भी इस कलंक से अछूता नहीं रहा है। दिव्य जी ने तो 'सती का पत्थर' उपन्यास लिखकर इस बात को पुष्ट किया है कि बुन्देलखण्ड में सती प्रथा का प्रचलन था। लेखक ने लिखा है कि ''युद्ध भूमि में मरना ही क्षत्रीत्व था। उनकी अर्धांगिनियों पर भी सती होने की धुन सवार थी। समय की शिक्षा उनके मस्तिष्क को पकड़े हुए थी, किसके बुद्धि थी जो मुँह खोलता। महारानी सोचती हैं–कैसी बुरी प्रथा चला दी है नारियों के लिए जो शव के साथ नहीं जलतीं उन्हें पतिव्रता नहीं समझा जाता...वाह रे संसार तू कितना बर्बर है। ——— अंधविश्वासों ने कितनी गहरी जड़ें जमा ली है।''[23]

लोकनृत्य सामाजिक और धार्मिक उत्सवों के अंग और लोकगीतों के संगी हैं। वे उतने ही पुराने हैं जितने आदिम मानव के समूह गीत और नष्त्य। आल्हखण्ड में सोहर के साथ नृत्य का उल्लेख है। संस्कार संबंधी गीतों के साथ लोक नृत्य सदैव होते रहे हैं और आज भी उनका प्रचलन है। वैसे प्रमुख बुन्देली लोक नष्त्य हैं–कर्मा, शैला, राई, सहरिया और कांड़रा।''[24] दिव्य जी के उपन्यासों में लोक नृत्यों की झलक देखने को मिलती है। 'जूठी पातर' उपन्यास में नायिका पदमा पर दीवान मुगल मदारी बनकर भालू का नाच दिखाता है और गाता है–

नाच भालू नाच, बन जा छत्ता,
आतताई मुगलों के–उड़ा दे लत्ता।''[25]

बुन्देलखण्ड के राजदरबारों में राज नर्तकी का होना गौरव की बात होती थी। दिव्य जी के उपन्यासों में राज–नर्तकियों का स्पष्ट संकेत मिलता है। 'असीम की सीमा' उपन्यास में राजकुमार बाहुबली को बलिदान से बचाने वाली राजनर्तकी थी। महाराज ऋषभदेव की एक नर्तकी दौड़ी हुई आती है और महाराज के सम्मुख करबद्ध खड़ी होकर आर्त स्वर में बोली, ''महराज! आप क्या कर रहे हैं? अपने ही श्रेष्ठतम राजकुमार का बलिदान।''[26] पन्ना नरेश महाराज अमानसिंह के बहिनोई प्राणसिंह के यहाँ एक नर्तकी होने का उल्लेख है। प्राणसिंह की हत्या करके अमानसिंह उसे अपने साथ पन्ना ले आये थे। उसके द्वारा गाये एक गीत की कुछ पंक्तियाँ है–

सभा प्राणसिंह की लगी–बुन्देला छत्रसाल की लली।
खनुआ खसौड़ी के धोखे – अकौड़ी से लड़ी।
बहुतक सिर मारी – पै एक न चली।''[27]

'सती का पत्थर' उपन्यास में कई प्रसंग वर्णित हैं जहाँ कभी वेश्याओं का नृत्य होता, कभी भाड़ों की नकल, हर समय मधुर संगीत, मंगल ध्वनियों से आकाश गूंजता रहता।[28]

विंध्याचल पर्वत की श्रृंखलाओं की प्राकृतिक शोभा में डूबा बुन्देलखण्ड का भू–भाग अत्यंत मनोरम है। यहाँ के जन–जीवन में प्रकृति का अपूर्व योगदान है। प्रकृति के बीच उसकी सुशमा एवं सौन्दर्य से प्रभावित होकर बुन्देली जन ने चित्रकला के सहारे प्रकृति की महिमा का गायन किया और प्रकृति का सौन्दर्यांकन भी किया। पदमाकर कवि अपने प्रकृति सौंदर्य वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं। ''भीत पर चित्र बनाने की लीक पुरानी है, दीवाली में भित्ति पर लाल गेरू के रंग से सुरातु आज भी चित्रित किये जाते हैं, विभिन्न प्रकार के चौक, मंगल कलश पर मांगलिक प्रतीक या कोई अल्पना, हाथों पर मेंहदी के आलेखन पुरानी

लोककला का आभास देते हैं।''[29] अम्बिकाप्रसाद दिव्य स्वयं एक चित्रकार थे। उन्होंने अपनी तूलिका से शताधिक चित्र बनाये। उन्होंने उपन्यासों में भी बुन्देली लोक चित्रकला की ओर संकेत किया है'–''दायें–बांए मंगल कलश रख दिये गये। जगह–जगह बंदनवार बांधे गये। ध्वज–पताका भी बीच–बीच में फहराने लगे। दीवालों पर चित्रकारी भी कर दी गई।''[30] 'सती का पत्थर' उपन्यास में दीवाली के अवसर पर दीवालों पर चित्रकारी का उल्लेख किया गया है–''सारे नगर में सजावट होने लगी जैसे दीवाली ही आ रही हो घरों की बाहरी भित्तियों पर कलई की जाने लगी। किसी–किसी ने विशेष आनन्द उल्लास को अभिव्यक्त करने के अभिप्राय से अपने द्वार पर चित्रकारी भी की।''[31]

लोकगीतों, लोककथाओं, लोक कहावतों, लोक गायन आदि से ही लोक जीवन–संस्कृति का आंगन गुलजार रहता है। और यह गुलजार बना रहे, स्त्रियाँ इस दायित्व का निर्वहन सदियों से करती आ रही हैं। लोक का यह रंगीन व सुन्दर संसार स्त्रियाँ ही रचती हैं। वे अपना अन्तस् खोलकर रख देती हैं। इन लोक रचनाओं में सुख–दुख, हर्ष–विशाद रीति–रिवाज, संस्कार–परम्परा का सारा ताना–बाना लोक साहित्य, लोककलाओं में स्त्रियाँ ही तो बुनती और रचती हैं। बुन्देलखण्ड सांस्कृतिक परंपराओं, रीति–रिवाजों, गीत–संगीत आदि की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। इसका श्रेय बुन्देली स्त्रियों को दिया जायेगा। दिव्य जी के सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रसंगानुसार बुन्देली क्षेत्र के लोक संगीत, गीत, लोककथाएँ, रीति–रिवाज, परंपराए आदि अभिव्यक्त हुई हैं। 'प्रेमतपस्वी' लोककवि ईसुरी का जीवन चरित है। इस उपन्यास में ईसुरी की फागें वर्णित हैं। 'बेलकली' उपन्यास का नारी गीत बुन्देलखण्ड की शस्य श्यामला भूमि, पशुपालन, भाई–बहिन का प्रेम, वीर पुरूषों की वीरता तथा देश प्रेम की याद दिलाता है–

नन्हीं नन्हीं बुंदियन मेघा बरस गये,
जमी है अरवाड़िन दूब।
दूबा जो मेरी भैंसन चरलई,
देती हैं गगर भर दूध।
दूधा जो मेरे वीरन पालये
लेत मुगलसन से जूझ।
जूझ करत मुगल ऐसो पछारो
वाहबा भई जो खूब।।''[32]

खजुराहो चंदेलकालीन मूर्तिकला का नायाब नमूना है। विश्व प्रसिद्ध धरोहर हैं। मंदिरों में जड़ी हुई मैथुन मूर्तियाँ आकर्षण का केन्द्र हैं। दिव्य जी ने 'खजुराहो की अतिरूपा' उपन्यास लिखकर खजुराहो के मंदिरों, मूर्तिकला के निर्माण की पूरी कथा रचकर अप्रतिम कार्य किया है। भैरवी यज्ञ, तंत्र साधना, नरबलि आदि का वर्णन अत्यंत रोचक है। मंदिर के बाहरी भाग और आंतरिक भाग में कामकला को दर्शाने वाली मूर्तियाँ कला और सौन्दर्य का अन्यतम उदाहरण हैं। मूर्तियों की सजीवता का अनुभव दिव्य जी ने बड़ी संजीदगी से किया है। उपन्यास में एक स्थल पर आक्रमणकारी महमूद का सलाहकार भी मैथुन मूर्तियों की कला पर आश्चर्य चकित होकर कहता है–''यह मंदिर देवी–देवताओं का नहीं। इंसानी जज्बात का मंदिर है, कारीगरों ने अजीब तसत्वुर में गर्क होकर उन्हें पत्थर पर उभारा है। उनकी कारीगरी लासानी है। नक्कासी लाजवाब है। मंदिर की जूनूसाजी और फुसूंकारी काबिलेगौर और काबिले भद्र है।''[33]

'काला भौंरा' उपन्यास में यज्ञ भूमि के चयन और एक हजार एक मन साकल्य की व्यवस्था के प्रबंधन का जिक्र किया गया है। चावल, जव, घृत, मेवा, तिल आदि साकल्य सामग्री है। यज्ञ जड़ी–बूटियों से भी कराया जाता है। जड़ी–बूटियों से सुगंधित धूम से शरीर की सारी शिराओं के द्वार खुल जाते हैं!.... मनुष्य के भोजन की सामग्री को जलवाना पाप है।''[34] ग्रहदशा पर विचार बुन्देली संस्कार में मौजूद है। वसंत पंचमी उत्सव (सती का पत्थर) यज्ञ बलि, जोगियों का प्रभाव व उनके करतब, छल–प्रपंच आदि से भी हम परिचित होते हैं।

खजुराहो चंदेल कालीन स्थापत्य कला का अद्‌भुत नमूना है। जीवंत कला–वैभव के प्रतीक खजुराहो मंदिरों की सूक्ष्म कल्पना, वृत्ति–वैभव एवं विश्लेषण परंपरागत और नूतन है। इन शिल्प रत्नों की संरचना मूर्ति विज्ञान के सिद्धांतों के विकास का परिचय देती है। चंदेलों की संस्कृति और कला उच्चकोटि की थी। कालिंजर का दुर्ग, अजयगढ़ का किला, खजुराहा का महल, मनियागढ़ (काला भौंरा) स्थापत्य कला के सुंदर उदाहरण हैं। मंदिरों की कारीगरी को देखकर मन मुग्ध हो उठता है। उपन्यास में लेखक ने लिखा है–''भित्तियों पर जड़ी हुई उल्लासमयी रूपगर्विता सुंदरियों की प्रतिमाएँ मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। क्षीणकाय न स्थूलकाय, यौवन और सौन्दर्य से सर्वांग सुसज्जित, भूषण–आभूषणों से अलंकृत कितने ही ढंगों से वेणी बांधे हुए, रंगमंच के लिए तैयार सी खड़ी दिखती। कहीं एकाकी शृंगार सजाती, कहीं पत्र लिखती, कहीं पैर का कांटा निकालती, कहीं भूषण–आभूषण सम्हालती, कहीं निर्वस्त्र मैथुन–मुद्राओं में पुरूष के साथ समाहित अलौकिक आनन्द का रसपान–सी करती, सम्पूर्ण जीवन की संपूर्ण झांकियों–सी प्रस्तुत करती–सी प्रतीत होती।''[35]

चित्रकला को भी दिव्य जी ने अपने उपन्यासों में उपयुक्त स्थान दिया है। वे बुन्देली कलम के भी चित्रकार है। अपने 'जूठी पातर' उपन्यास में महाराजाधिराज छत्रसाल के राज्याभिषेक के सुअवसर पर नगर में सजावट की गई। घर के द्वार की भित्तियों पर कलई की गई, उन पर विविध रंगों से चित्रकारी की गई। चित्रों में महाराजाधिराज छत्रसाल के संघर्षमय जीवन की झांकियाँ प्रस्तुत की गईं। किसी चित्र में उन्हें डांगी के भीमकाय राजा केशवराय से द्वन्द्व युद्ध करते दिखाया गया है। दोनों अपने–अपने घोड़ों से बल्लम का प्रहार करते दिखाए गए। किसी चित्र में तहबर खां उनके सामने नतमस्तक क्षमा याचना की मुद्रा में खड़ा है। उसे कुछ बुन्देली योद्धा बांधे खड़े हैं। किसी चित्र में दिखाया गया है कि महराज छत्रसाल ने मुराद खां का सिर काट लिया। उसका कबंध अंधाधुंध मार कर रहा है। किसी चित्र में स्वामी प्राणनाथ छत्रसाल के मस्तक पर मिट्‌टी का तिलक लगा रहे हैं और महाराज विनम्र भाव से उनके सम्मुख हाथ जोड़े हुए नतमस्तक खड़े हैं।[36] दिव्य जी ने अपनी कलाकृतियों में संगीत कला और काव्यकला को भी प्रतिबिम्बित किया है। राजा–महाराजाओं के दरबार की राजनर्तकियों का उल्लेख करते हुए संगीत की विवेचना की गई है। काव्य कला उनके उपन्यासों में यत्र–तत्र दर्शनीय है। वस्तुतः दिव्य जी ने ललित कलाओं का सुंदर एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया है।

बुन्देलखण्ड की सीमा का निर्धारण करने वाली चार नदियां हैं– यमुना, टोंस (सोन), नर्मदा और चम्बल (बेतवा, सिंधु)। इन चार नदियों से घिरा हुआ भूभाग ही बुन्दलेखण्ड कहलाता हे। बुन्देलखण्ड की संस्कृति के निर्माण में इन नदियों की भूमिका है। दिव्य जी ने अपने उपन्यासों में चारों नदियों का जिक्र प्रसंगवार किया है।

अस्तु, बुन्देलखण्ड की माटी के साहित्यकार अम्बिकाप्रसाद दिव्य के उपन्यासों के विस्तृत कथा फलक पर बुन्देलखण्ड का गौरवमय इतिहास और संस्कृति जीवंत हुई है। बुन्देली संस्कृति पात्रों के जीवन, उनके आचार–विचार, परम्पराओं आदि में पदे–पदे झलक उठी है। यद्यपि अब बुन्देली संस्कृति के स्वरूप में समय के बदलाव के साथ पर्याप्त परिवर्तन हुआ है, फिर भी, इतिहास, साहित्य, कला के अनेक चित्र है जो हमें दिव्य जी के उपन्यासों में मिलते हैं। वे प्रेरणादायक व गौरवमय है। निश्चय ही अम्बिकाप्रसाद दिव्य के उपन्यास बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक एवं सांस्कषतिक पहचान का प्रमुख आधार है।

संदर्भ

1. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : जूठी पातर, पृ. 183
2. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : निमियां, पृ. 91
3. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : निमियां, पृ. 208
4. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : बेलकली, अध्याय 37
5. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : काला भौंरा, पृ. 21
6. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : जूठी पातर, पृ. 64
7. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : निमियां, अध्याय 36
8. अम्बिकाप्रसाद दिव्य : जूठी पातर, अध्याय 11
9. डॉ श्यामसुन्दर दास (संपा.), छत्रप्रकाश, पृ. 77 पर संकलित
   डॉ नर्मदाप्रसाद गुप्त का लेख 'मध्यदेशीय लोक–संस्कृति, छतरपुर, 1986, पृ. 48
10. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, पीताद्रि की राजकुमारी, पृ.3
11. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, पीताद्रि की राजकुमारी, पृ.36
12. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 181
13. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 3
14. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 226
15. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 228
16. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 228
17. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, पीताद्रि की राजकुमारी, पृ. 129
18. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 129
19. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, असीम की सीमा, पृ. 129
20. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, पीताद्रि की राजकुमारी, पृ. 163
21. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, निमियां, पृ. 174
22. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, निमियां, पृ. 276
23. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 148
24. नर्मदाप्रसाद गुप्त : मध्यदेशीय लोक संस्कृति, पृ. 59
25. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, जूठी पातर, पृ. 22
26. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, असीम की सीमा, पृ. 18
27. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, बेलकली, अध्याय 13
28. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, सती का पत्थर, पृ. 69
29. नर्मदाप्रसाद गुप्त : मध्यदेशीय लोक संस्कृति, 1986 पृ. 60
30. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, सती का पत्थर, पृ. 44
31. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, वही, पृ. 184

32. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, बेलकली, अध्याय 1
33. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 114–33–34
34. अम्बिका प्रसाद दिव्य, काला भौंरा, पृ. 33–34
35. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, खजुराहों की अतिरूपा, पृ. 141
36. अम्बिकाप्रसाद दिव्य, जूठी पातर, पृ. 190

14 बुन्देली कहावतें, मुहावरें, पहेलियों में प्रतिबिम्बित बुन्देली संस्कृति

डॉ. बी.के. श्रीवास्तव

बुन्देली लोक साहित्य में कहावतों (लोकोक्तियों) मुहावरों, पहेलियों की भरमार मिलती है। हम यह भी कह सकते हैं कि उनका बुन्देली लोक साहित्य में विशिष्ट स्थान है। कहावतें, गागर में सागर भरने का कार्य करती हैं। यही बात मुहावरों के संदर्भ में भी कही जा सकती है। मुहावरे अपना लक्षणा या व्यंजना मूलक अर्थ रखते हैं। इनका पूर्ण अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब इनका वाक्य में प्रयोग किया जाता है। कहावतों की भॉति इनका स्वतंत्र अर्थ नहीं होता। यही कहावत एवं मुहावरे में मुख्य अंतर है। बुन्देलखण्ड में कई पहेलियाँ भी प्रचलित हैं, जिनका उत्तर खोजने में मस्तिष्क को व्यायाम करना पड़ता है। बुन्देलखण्ड में ज्योतिष बताने वाली भी कतिपय कहावतें प्रचलित है। कई कहावतो का संबंध स्वास्थ्य से भी है। कहावतों में यह तथ्य निहित रहता है कि स्वस्थ जीवन के लिये क्या खाये क्या न खायें।

बुन्देली कहावतें :

बुन्देलखण्ड में कहावतों को कॉनाते, कहनेत, टउका या अहाना भी कहते है। कतिपय कहावतों के पीछे कुछ संक्षिप्त लोक कथायें भी जुड़ी होती हैं। अहाने किसी कहावत के केन्द्रीय भाव पर आधारित लघु लोक कथा होती है।[1] अहाने में व्यंग की प्रधानता होती है। इन्हें कहावत की व्याख्यात्मक प्रस्तुति कह सकते है। इसी तरह टउका या टहूका थोड़े से बड़े आकार के चुटकुले होते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होता है। अधिकांशतः यह किसी लोकोक्ति या मुहावरे से संबंद्ध होते हैं। इन पर आधारित कहावत या मुहावरे को इनके पीछे अन्तर्निहित कथा के बिना समझा नहीं जा सकता।[2] ऐसी कहावतों के पीछे की कथा जानकर सुनने वाला अत्याधिक आन्नद का अनुभव करता है।

बुन्देलखण्ड में जो दूध बेचने वाले, दूध में पानी मिलाकर बेचते है उन पर व्यंग कसने वाली एक कहावत प्रचलित है, जो इस प्रकार है–

'पानी कौ धन पानी में, नाक कटी बेईमानी में'

इस कहावत के पीछे का अहाना (कथा) इस प्रकार है–एक दूध बेचने वाली दूध में पानी मिलाकर बेचने की आदत से मजबूर थी। दूध में पानी मिला–मिला कर बेच कर उसने अत्याधिक धन संग्रहित कर

लिया। एक बार वह शहर गई और उस धन से अपने लिये अति सुन्दर एवं भारी सोने की नथ खरीदी। उसे पहन कर वापस अपने गाँव लौट रही थी। नथ पहन कर अपनी सुन्दरता देखने का लोभ संभरण वह न कर पायी उसने रास्ते में पड़ने वाले कुए के पास जाकर उसमें झॉककर नथ पहने हुये अपना चेहरा देखा। चेहरे पर फवती नथ को वह निहार कर प्रसन्न हो ही रही थी उसे हिला–डुलाकर अपना चेहरा देख प्रसन्न हो रही थी। उसी समय एक पक्षी तेजी से आया और उसकी नाक से टकराया। इससे उसकी नथ निकल कर कुएं में गिर गई। नथ निकलने से उसकी नाक भी कट गई और खून बहने लगा।[3] तभी से यह कहावत प्रचलित है–'पानी कौ धन पानी में, नाक कटी बेईमानी में'

❖बनियॉ कौ साड़ौ और अहीर कौ गाड़ो नई छूटत

दुकानदार हर सामान की कीमत में साड़े (साड़े दस, साड़े सोलह रुपये) लगाता है ऐसे ही दूध बेचने वाला सदा अपना दूध गाड़ा ही बताता है। दोनों की यह आदत छूटती नहीं है।

❖भॉग मॉगे मीठौ, गॉजौ मॉगे घी।

दारु मॉगे पॉच पनइयॉ, जो चाहे सौ पी।।

यह नशाखोरों पर व्यंग है। भांग खाने वाले मिठाई नही खा सकते, गॉजा पीने वालो घी नहीं खा सकते। दारु पीने वाले लोगों की मार खाते हैं, अतः इन्हें छोड़ना ही समझदारी है।

❖संग सोंज तिरिजा भली, भोजन सुत के संग।
और संग सब जान दो, होरी जू के संग।।[4]

किसी भी प्रकार के संग साथ के लिये पत्नी सबसे अच्छी होती है। पुत्र के साथ भोजन करना श्रेष्ठ अनुभव है। बाकी लोगों के संग कालान्तर में दुःखदायी होते है। साथी के संग तो बस होली ही खेलना चाहिये।

❖आलस नींद किसाने नासै, चौर नासै खॉसी,
हॅसी खुशी सन्यासी नासै, विप्रैं नासै दासी।

कृषक के लिये आलस, चोर के लिये खॉसी, उनकी परेशानी का कारण बनती है। सन्यासी के लिये आमोद–प्रमोद का जीवन ठीक नहीं है। ब्राहमण के लिये दासी के प्रति अनुरक्ति नाशकारी है।

❖एक तो बड़न बड़न में नाव, दूसरें बीच गैल में गॉव।
ऊ पै भये पैसा से हीन, हमपे है जे विपदा तीन।।

यह कहावत मध्यम वर्ग की स्थिति को दर्शाती है। एक तो बड़े लोगो में पहचान है। दूसरे रास्ते में (प्रमुख जगह) घर होने से लोगों/रिश्तेदारों का आना जाना लगा रहता है। तीसरे पैसा की कमी है। यह हमारे ऊपर तीन बड़ी विपत्तियाँ है।[5]

❖एक दिना के पॉवने, दूसरे दिना के पई।
तीसरे दिना रए तौ बेसरम कई।।

पई = अज्ञात, अर्थात मेहमान को किसी के घर एक दिन से अधिक नहीं रुकना चाहिये।

❖ गॉव दमन्दा मूसर चन्दा, दोर दमन्दा आदौ।
घर दमन्दा गदा बिरोवर जो चाहौ सौ लादौ।।

दामाद को गॉव का नहीं होना चाहिये, ससुराल के पास नही होना चाहिये। घर जमाई बना तो उससे कोई भी कार्य लिया जा सकता है।

❖चाय तौ सबरे तीरथ कर लो, चाय अकेले बालाजू।
चाय तौ सौ बामन खुआ लो, चाय अकेले लालाजू।।

चाहे सारे तीरथ कर लो या फिर अकेले बालाजी के दर्शन कर लो। चाहे सौ ब्राहमणो को भोजन करा दो या फिर किसी एक कायस्थ (ज्ञानी व्यक्ति) को भोजन करा दो। पुण्य बराबर ही मिलेगा।[6]

❖नाक, मूँछ और नारी, बारे से जात संमारी

(नाक) इज्जत, मूँछ (प्रतिष्ठा) एवं नारी को प्रारंभ से संभालना पड़ता है।

❖हॉके से टट्टू निगै, सुँगे अतर बसाय।
पूँछे बेटा जानिये, नीनऊँ देय बहाय।।

यदि घोड़ा हॉकने पर चले तो, वह घोड़ा नहीं टट्टू है, इत्र की खुशबू स्वतः न आकर सूँघने पर इत्र का अहसास कराये तो वह इत्र किसी काम का नहीं है। यदि किसी बच्चे से पूछना पड़े कि वह किसका पुत्र है, तो वह पुत्र बेकार है। पुत्र के व्यवहार में, कुशलता में, गुणों में पिता की झलक दिखनी चाहिये। वह ऐसा सपूत होना चाहिये जो अपनी पहचान बिना पूछे ही जता दे।

ऐसे बेकार के टट्टू, इत्र, पुत्र किसी काम के नहीं होते।[7]

❖ऊँग न देखे टूटी खाट, प्यास न देखे धोबी घाट।
प्रेम न देखे जात कुजात, भूख न देखे जूठी भात।।[8]

❖ज्ञानी से ज्ञानी मिलै करै ज्ञान की बात।
गद्धा से गद्धा मिलै मारै लातई लात।।

❖पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही स्यानों काम।।

❖पैलो मूरख फॉदे कुआ। दूजौ मूरख खेलै जुआ।
तीजो मुरख बहिन कें भाई। चौथो मूरख घर जमाई।।[9]

❖भाई, भतीजौ, भानजो, भुइयां उर भूपाल।
इन पॉचऊअन को छोड़के अंत करौ व्यापार।।[10]

❖सात सुखो से संबंधित कहावत

पेलों सुख निरोगी काया, दूजौ सुख घर में माया।
तीजों सुख पूत आग्याकारी, चौथो सुख पतिवरता नारी।
पॉचौं सुख राज में पासा, छठो सुख सुस्थान वासा।
सातौ सुख विद्या फलदाता, ए सातई सुख रचे विधाता।।[11]

❖ पावक, बैरी रोग ऋण सपनेहुँ रखिये नाह।
जे थोड़े हूँ बढ़त पुन बड़े जतन से जाहि।।

❖ प्रातः काल करैं अस्नाना। रोग दोश एकौ नही आना।।

❖ सूर्योदय, सूर्यास्त में भोजन कबहूँ न खाय।
जो मनुष्य भोजन करे, वृद्धि नष्ट हुई जाय।

● प्रतिदिन भोजन का समय, निश्चित कर जो खाय।
मिटै कब्जियत बल बड़ै, अरु जठराग्नि बढ़ाय।।

❖ ऑखों मे हर्रे दाँतों में नोन, भूखा राखे चौथा कोन।
ताजा खावे, बायॉ सौवे ताकैं रोग कबहूँ न होवे।
आखिन त्रिफला, दॉतन नौन, पेट में भरिये तीनों कोन।
सीत बचाय सदा जौ सौवे, ताके वैद्य पिछोरे रोये।
मोटी दतुवन जो करे, भुनी हर्र चबाय।
दूध बियारी जो करे तिन घर वैद्य न जाय।
आंखे अन्नजन दांतों मंजन नित दे नित दे।
कानें लकड़ी नाके अंगुरी मत दे मत दे।[12]

❖ भोजन करके पड़े उतान, आंठ श्वांस ताको फरमान।
सोलह दाहिने बत्तिस बायें, तब कल पड़े अन्न के खाय।।[13]

सौ वर्ष तक जीने (जीवेम् शरदः शतम) की कहावत को चरितार्थ यह पंक्तिया करती हैं

कातिक दूध अगहन में आलू,
पूस पान अरु माघ रतालू।
फागुन शकर घी जो पाय
चैत ऑवला कच्चा खाय
बैशाखे जो खाय करेला
जेठे दाख आषाढ़े केला
सावन निशि में जब तब खाय
भादों व्यारु कबहूँ न पाय
क्वार कामना देव बचाये
तो शत वर्ष आयु हुई जाय।

❖ भोजन न पचने का कारण निम्न कहावत में वर्णित है–

पियें न अधिक जल नित्य जो, बिना भूख जो खाय।
अधिक जगे, सोवे अधिक शौच समय नहीं जाय।।
भय ईर्ष्या, अरु क्रोध में, तथा लाभ अरु शोक।
कबहुँ न भोजन पच सके, जो लघु शंका रोक।।

❖ बुन्देलखण्ड में लोग तम्बाखू का सेवन बहुत करते है। यहाँ तेंदूपत्ता बहुतायत में पाया जाता है, अतः सागर में बीढ़ी उद्योगों की बहुलता है। तम्बाखू को सुरती भी कहते हैं। एक कहावत में इस सुरती के दोश बताकर लोगो को अगाह किया गया है कि जितनी शीघ्र हो सके तम्बाखू सेवन त्याग दे, अन्यथा हानि होगी।

सुरती कहै मैं सुन्दर नार, पहले देती दॉत बिगार।
दूसरे ऑख ज्योति हर लेऊँ, तीजे जल्द बढ़ा कर देऊँ।।
चौथे एक गुन है मोरा, जो मांगे सो दॉत निपोरा।।[14]

बुन्देली मुहावरे

- ❖ ऑख कौ काजर चुराबो–सफाई से चोरी करना।
- ❖ उड़त चिड़ैया चीन बौ–अनुभवी होना।
- ❖ चढ़त बेल लटकाना–ईर्ष्या वश, उन्नति करने वाले की संभावनाओं को नष्ट करना।
- ❖ चलत बैल खौं अरई गुच्चवो–अनावश्यक हस्तक्षेप करना।
- ❖ सरग तरइॅया टोरबो–अत्यधिक शैतानी, असंभव कार्य करना।
- ❖ सॅकरे में समद्यानों करबौ–संकीर्ण स्थान पर कोई काम करके और अधिक संकीर्णता करना।

बुन्देली ज्योतिष

इन बुन्देली ज्योतिषाचार्यो की पुस्तको में शुभ–अशुभ की भारी चर्चा की गई है। हम यहाँ अशुभ की कम शुभ बातों का अधिक उल्लेख कर रहे है। ज्योतिषाचार्य पड्डरी की कुछ ज्योतिष संबंध अरजायें इस प्रकार मिलती हैं–

- ❖ 'नार सुहागन घट भर ल्यावे, दूध मछली सम्मुख जो आवे।
  सामें गऊ चुखावै बच्चा, ये ई सगुन है सबसे अच्छा।।[15]
- ❖ सोम, शुक, गुरुवार को फूस अमाउस होय।

घर घर बजें बधाइयॉ दुखी न देखे कोय।।[16]

पूस माह के उक्त दिनो में यदि अमावस्या पड़ती है तो सभी ओर खुशहाली का संकेत होता है।

❖ ज्योतिषचार्यो ने शरीर स्वास्थ्य के लिये इड़ा, पिंगला एवं सुश्मना नाड़ी के संबंध में भी जानकारी ही है–

❖ 'वाम भाग नाड़ी चलै, इड़ा कहावै सोय।
ताकौ स्वामी चन्द्रमा, वरनत है बुध जोय।।
जो दछिन स्वर चलत है कहत पिंगला हाय।
ताके स्वामी सूर्य है कहत वेद यह आय।।
दोनो स्वर मिलकर चलें, सुष्मन जानों जोय।
स्वामी ताके शिव कहे, शास्त्र मतै सै सोय।।

इला नाड़ी रीढ़ की हड्डी के बांयी ओर मूलाधार चक्र से उपर की ओर जाती है। पिंगला नाड़ी दायीं ओर होती है। ध्यान योग करने से बीच की सुष्मना नाड़ी की द्वार खुल जाते है। जिसकी सुष्मना नाड़ी जागृत हो जावे वह सर्व संतुष्ट एवं सुखी होता है।

बुन्देली पहेलियॉ :

मानव मस्तिष्क की संरचना ऐसी होती है कि वह सदा किसी भी चीज के लिये जिज्ञासु रहता है। यह प्रवृत्ति उसकी बचपन से ही रहती है। जिस चीज के लिये, जिस बात के लिये उससे मना किया जावे वह उस काम को करने के लिये और अधिक प्रवृत्त होता है। जिज्ञासु के साथ मानव प्रवृत्ति रहस्यात्मक भी होती है। वह किसी भी रहस्य पर से पर्दा उठाने सदैव आतुर होता है। रहस्यात्मक कहानियॉ, उपन्यास, चल चित्र उसे बहुत पसन्द आते है। वह स्वयं भी यदा–कदा ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिसे सर्वसाधारण समझ नहीं सके। मनुष्य की यही प्रवृत्ति धीरे–धीरे पहेली का रूप धारण कर लेती है। कई

मनुश्य तो अपने आप में ही एक पहेली बन जाते है। पहेली में प्रष्न या रहस्य होता है जिसे मानव अपने मस्तिष्क का व्यायाम कर सुलझाने का प्रयास करता है। पहेली का हल खोजना मानव मस्तिष्क का सर्वोत्तम व्यायाम माना जाता है। पहेली का हल खोजना आसान कार्य नहीं होता। इसके लिये जिस क्षेत्र एवं विषय से संबंधित पहेली है, उस क्षेत्र व विशय का ज्ञान होना अति आवश्यक है। सभी विशयो एवं क्षेत्रों का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति किसी भी पहेली का हल खोज सकता है। कृषि से संबंधित पहेली का हल वही बता सकता है जिसे कृषि कार्य की मूलभूत जानकारी हो। बुन्देलखण्ड के ग्रामो में शाम के समय चौपालो पर ग्राम के लोग एकत्रित होते थे और आपस में पहेली बूझते थे। आज भी आकाशवाणी पर आपकी पसंद का लोकगीत सुनिये कार्यक्रम में, कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले, पसंद बताने वाले से पहेली बूझते है। पूछने को पहेली के संदर्भ में बूझना कहते हैं। कुछ ज्ञानी लोग पहेली बूझना चुनौती के रूप में लेते है, वस्तुतः ऐसे लोगो के लिये पहेली बूझना उनके मस्तिश्क का सर्वश्रेष्ठ आहार होती है। बुन्देलखण्ड में प्रचलित कुछ पहेलियॉ इस प्रकार हैं–

1. कारे पहार पै गल गल ब्यानी।
   ऊॅ की तैली बहुत मिठानी।।[17]
2. तनक सी मनकसी हरदी कैसी गॉठ।
   चटाक चूमा ले गई तो हाय मेरे राम।।[18]
3. घरे पजे न हाट बिकाय।
   जिनको देखे पिया रिसांय।।[19]
4. लाल लाल गुटकूँ मैं हाथ डालूँ तुझकूँ
   तू काट खाय मुझकूँ, लप्प उड़ाऊ तुझकूँ।[20]
5. चार गरम, चार नरम, चार बालूसाई।
   जो कोऊ हमारा किस्सा बतै है, ऊॅ खौं पाव भर मिठाई।।[21]
6. छिकर कना दो पूँछरी, दस गोड़े मुख चार।
   एक मुख में जिव्हा नइयॉ, पण्डित करौ विचार।।[22]
7. चोरी की न खून किया।
   उसका सर क्यो काट लिया।।[23]
8. हरी पूँछ और लाल कमान।
   तौबा तौबा करै पठान।।[24]
9. पैले हते हम मर्द, फटे से नार कहाये।
   कर गंगा स्नान जटा सब दूर बहाये।
   कर पत्थर से चोट अगन के ताव सहाये।
   कर मक्खन से मेल मर्द के मर्द कहाये।।

1. शहद 2. बर्र (ततैया) 3. ओले 4. बेर 5. ऋतुएँ 6. गाय दोहता आदमी 7. नाखुन 8. मिर्च 9. उर्द व बरा (दही बड़ा)

कुछ पहेलियॉ ऐसी भी होती है जिनके उत्तर भी काव्यमय ही होते है–

प्रश्न–बताव जू को चाहे बरसवौ को चाहे धुप्प,
को चाहे बोल बो को चाहे चुप्प

उत्तर–माली चाहै बरसवो, धोवी चाहे धुप्प

बाबा चाहे बोलवो, भड़या चाहै चुप्प

इस प्रकार हम देखते है, बुन्देलखण्ड की कहावतें, मुहावरे स्वास्थ्य परक गीत, पहेलियॉ बुन्देली साहित्य के महत्वपूर्ण अंग है। इनमें बुन्देली संस्कृति प्रखरता के साथ परिलक्षित होती है। यहाँ की संस्कृति की सतरंगी महक लेने के लिये ही कहा जाता है कि

'महुआ, मेवा, बेर, कलेवा, गुल गुल बड़ी मिठाई।
जे चीजें खाने हौ तो, बुन्देलखण्ड में करो सगाई।।

पृश्न–जल से पतला कौन है कौन भूमि से भारी
कौन अगन से तेज है, कौन काजर से कारी
उत्तर–जल से पतला ज्ञान है, पाप भूमि से भारी
क्रोध अगन से तेज है, और कलंक काजर से कारी

इस प्रकार हम देखते है, बुन्देलखण्ड की कहावतें, मुहावरे स्वास्थ्य परक गीत, पहेलियॉ बुन्देली साहित्य के महत्वपूर्ण अंग है। इनमें बुन्देली संस्कृति प्रखरता के साथ परिलक्षित होती है। यहाँ की संस्कृति की सतरंगी महक लेने के लिये ही कहा जाता है कि

'महुआ, मेवा, बेर, कलेवा, गुल गुल बड़ी मिठाई।
जे चीजें खाने हौ तो, बुन्देलखण्ड में करो सगाई।।

संदर्भ

1. कैलाश बिहारी द्विवेदी, बुन्देली लोक साहित्य में लोकोक्तियाँ और मुहावरे, सत्येन्द्र प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण पृ. 20
2. वही, पृ.21
3. वही, पृ.20
4. वही, पृ.156
5. वही, पृ.48
6. वही, पृ.76
7. वही, पृ.172
8. बलभद्र तिवारी, बुन्देली लोक काव्य, भाग–प्प्ए बुन्देली पीठ, सागर विश्वविद्यालय 1979, पृ. 356
9. वही, पृ.358
10. वही, पृ.359
11. बलभद्र तिवारी, बुन्देली समाज और संस्कृति, सुप्रिया पब्लिकेशन, सागर, 1996, पृ. 129
12. वही, पृ.175
13. बुन्देली लोक काव्य, भाग–प्प्, पूर्वोक्त, पृ. 352
14. रामचरण हयारण मित्र, बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, पृ. 73–74
15. बुन्देली लोक काव्य, भाग–पूर्वोक्त, पृ. 338
16. वही, पृ. 339
17. बुन्देली लोक काव्य, भाग–पूर्वोक्त, पृ. 361
18. वही, पृ.362
19. वही, पृ.363
20. वही, पृ.362
21. वही, पृ.363
22. वही, पृ.362
23. वही, पृ.362
24. वही, पृ.363

15 तुमैन उत्खनन से प्राप्त श्रृंगार सामग्रियों की सांस्कृतिक समीक्षा

सुल्तान सलाहुद्दीन

प्राचीन समय से ही मानव ने सुन्दर दिखने के लिए भिन्न–भिन्न उपाय किए जिनके फलस्वरुप मानवीय साज–सज्जा की वस्तुओं का निर्माण होना आरम्भ हुआ, इन्हीं साज–सज्जा की वस्तुओं को श्रृंगार की वस्तुएँ भी कहा जाता है। किसी भी पुरास्थल के उत्खनन से तत्कालीन मानवों द्वारा प्रयोग की गई अनेक भौतिक वस्तुएँ तथा उनके अवषेश प्राप्त होते हैं इन्ही अवशेषों में श्रृंगार सामग्रियों का अपना अलग ही स्थान रहता है। किसी पुरास्थल के उत्खनन से प्राप्त श्रंगार सम्बन्धी पुरावशेषों का अध्ययन कर तत्कालीन समाज में प्रचलित सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला जा सकता है, तुमैन पुरास्थल के इन्हीं सांस्कृतिक पक्षों को प्रकाश में लाने के लिए पुरातात्त्विक उत्खनन से प्रकाश में आए पाँचों सांस्कृतिक स्तरों से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मध्यप्रदेश के अशोकनगर जिले में स्थित प्राचीन तुम्बवन नगर का विशेष स्थान है। यह नगर $24^{0}50'$ उत्तरी अक्षांष तथा $77^{0}75'$ पूर्वी देशान्तर के मध्य बेतवा की सहायक लघु नदी 'ओर' (प्राचीन उर्वशी) के किनारे स्थित है। वर्तमान समय में तुम्बवन नगर को तुमैन के नाम से जाना जाता है। जैन ग्रन्थ ''परिशिष्ठपुराण'' से ज्ञात होता है कि तुम्बवन नगर अवन्ति की सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत आता था[1]। यह नगर विदिशा से मथुरा जाने वाले प्रमुख प्राचीन मार्ग के मध्य स्थित होने[2] तथा इसी नगर से एक प्राचीन मार्ग कौशाम्बी को जाने से ही इस नगर की महत्ता का पता चलता है, जिसकी पुष्टि बुद्धघोष के कथन से होती है, उन्होंने अपने कथन में कहा है कि 'यह नगर गोनर्द नगर से यमुना की ओर जाने वाले मार्ग पर विदिशा तथा कौशाम्बी के मध्य स्थित है'[3]।

वराहमिहिर ने भी अपने प्रसिद्व ग्रन्थ ''वृहत्संहिता'' में इस नगर का उल्लेख किया है। जैन अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि वज्रस्वामी का जन्म तुम्बवन नगर में हुआ था[4]। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कई प्राचीन ग्रन्थों से भी इस नगर के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है, जिनमें इस नगर को घने वनो से घिरा हुआ भी बताया गया है। साँची स्तूप की छः वेदिकाओं पर तुम्बवन के नाम का उल्लेख होना तथा कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख में इस नगर के वर्णन मात्र से ही इस प्राचीन नगर की महत्ता बढ़ जाती है।

वर्तमान समय में यह नगर भग्नावशेश टीले के रुप में विद्यमान है, जिसके पुरातात्त्विक अध्ययन का श्रेय प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय के प्रो. कष्ण दत्त वाजपेयी को जाता है, जिन्होनें इस प्राचीन नगर का पुरातात्त्विक उत्खनन करवा कर इसके विस्तृत अध्ययन के लिए अपार सम्भावनाएँ प्रदान की। प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा 1972–73 ई. तथा 1973–74 ई. के मध्य कई सत्रों में इस नगर का पुरातात्त्विक उत्खनन करवाया गया जिसके फलस्वरुप यहाँ से पाँच सांस्कृतिक स्तरों की जानकारी ज्ञात हुई है। इन सांस्कृतिक स्तरों से पाँचवीं शती ई. पूर्व से लेकर आधुनिक काल तक के पुरावशेषों की प्राप्ति हुई जिनके माध्यम से तत्कालीन समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। इस पुरास्थल के उत्खनन के फलस्वरुप प्रकाश में आए पांच सांस्कृतिक स्तरों से श्रंष्गार सम्बन्धी कई पुरावशेषों की प्राप्ति हुई हैं जिनका अध्ययन कर प्राचीन तुम्बवन नगर क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न सांस्कृतिक आयामों का पता लगाया जा सकता है।

प्रथम सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेष–

प्रथम सांस्कृतिक स्तर से पाँचवीं शती ईसा पूर्व से दूसरी षती ईसा पूर्व के मध्य प्रयोग में लाए पुरावशेषों की प्राप्ति हुई है किन्तु इस सांस्कृतिक स्तर से श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं हुई हैं। इस स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं में सर्वाधिक पकी मिट्टी के गोलाकार एवं अर्द्धगोलाकार मनके प्रमुख हैं। पकी मिट्टी के अतिरिक्त स्फटिक पत्थर तथा शीशे के बने गोलाकार मनके भी प्राप्त हुए हैं [5], इनके अतिरिक्त ताँबे का आयताकार मनका भी प्राप्त हुआ है [6]। इन सभी मनकों का प्रयोग कण्ठ माला बनाने में किया जाता था। मनकों के अतिरिक्त षंख एवं षीषे की बनी चूड़ियों के टुकड़ों के साथ–साथ शंख एवं काँसे की बनी अगूँठियाँ [7] तथा सीप से निर्मित कंगन इस स्तर के श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं में महत्वपूर्ण है [8]।

द्वितीय सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रष्ंगार सम्बन्धी पुरावशेष–

द्वितीय सांस्कृतिक स्तर से दूसरी शती ईसा पूर्व से प्रथम षती ईसवी के मध्य प्रयोग में लाए पुरावशेषों की प्राप्ति हुई है। इस सांस्कृतिक स्तर से श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होना आरम्भ हो गयी थी किन्तु पिछले सांस्कृतिक स्तर के समान ही इस स्तर से भी श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं में सर्वाधिक पकी मिट्टी के गोलाकार एवं अर्द्धगोलाकार, विविध पत्थरों तथा षीषे के बने गोलाकार मनके प्राप्त हुए हैं जिनका प्रयोग कण्ठ माला बनाने में किया जाता था।

इस सांस्कृतिक स्तर से मनकों के अतिरिक्त शंख–सीपी तथा पकी मिट्टी से निर्मित चूड़ियों के टुकड़ों के साथ ही शीशे की बनी चूड़ियों के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं [9]। सीपी से बनी अगूँटी तथा कंगन के अतिरिक्त जैस्पर पत्थर से निर्मित (कर्ण फूल) लटकन इस स्तर के श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं [10]। इस सांस्कृतिक स्तर की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता चाँदी एवं ताँबे के बने आभूशण [11] के टुकड़े हैं जो यह इंगित करते हैं कि इस काल में विभिन्न धातुओं द्वारा श्रृंगार सामग्रियों का निर्माण आरम्भ हो गया था।

तृतीय सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेष–

तृतीय सांस्कृतिक स्तर से सर्वाधिक कलात्मक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनका निर्माण एवं उपयोग प्रथम शती ईसवी से पाँचवीं शती ईसवी के मध्य किया गया। इस स्तर से भी पूर्व के स्तरों की भांति पकी मिट्टी, विविध पत्थरों एवं शीशे के गोलाकार, अर्द्धगोलाकार, बेलनाकार आदि आकार के मनके प्राप्त हुए हैं। ये सभी मनके किसी न किसी प्रकार के कण्ठ माला को बनाने में प्रयोग किए जाते रहे होंगे।

कण्ठ माला के अतिरिक्त इस स्तर से श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं में सबसे महत्वपूर्ण सीप एवं शंख तथा हड्डी से निर्मित चूड़ियों [12] के साथ ही साथ शीशा, काँसा, ताँबा तथा मिश्रित धातु से बनी अलंकृत चूड़ियाँ एवं उनके टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं जो अपने आप में विशेष स्थान रखते हैं [13]। इनके अतिरिक्त पीतल धातु से निर्मित अगूँठी तथा दाँत साफ करने की पिन भी प्राप्त हुई है [14]।

चतुर्थ सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेष–

यह सांस्कृतिक स्तर श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेषों के बदलाव का स्तर है जहाँ से पाँचवीं शती ईसवी से बारहवीं शती ईसवी के मध्य प्रयोग में लाए गए पुरावशेषों में पूर्व के स्तरों से बहुत बदलाव दिखाई देता है। इस स्तर से पकी मिट्टी के मनके बहुत कम मात्रा में प्राप्त हुए हैं, इस स्तर के लोगों ने मनकों के निर्माण के लिए कई बहुमूल्य पत्थरों, शीशा तथा विभिन्न धातुओं को प्रयोग में लाने लगे। इस काल में सर्वाधिक शीशे द्वारा निर्मित मनकों से कण्ठ मालाओं के अतिरिक्त अन्य आभूषण निर्मित किए जाने लगे।

इस स्तर के लोग आभूषण एवं अन्य श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों का निर्माण सोना, चाँदी, ताँबा के अतिरिक्त अन्य धातुओं से करने लगे थें जिसकी पुष्टि इस स्तर से प्राप्त सोने के कर्णफूल (लटकन) [15] तथा अन्य पुरावशेषों से की जा सकती है। इस स्तर से जो चूड़ियाँ तथा उनके टुकड़े प्राप्त हुए हैं वे सर्वाधिक काँच द्वारा निर्मित किए जाने लगे थे [16]। काँच के अतिरिक्त सीप–शंख, हड्डी तथा विभिन्न धातुओं से निर्मित चूड़ियाँ भी इस स्तर से प्राप्त हुई है।

पाँचवें सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेष–

यह सांस्कृतिक स्तर सबसे ऊपरी तथा बाद के काल का है जहाँ से बारहवीं शती ईसवी से अट्ठारहवी शती ईसवी के मध्य के पुरावषेशों की प्राप्ति हुई है। इस स्तर से प्राप्त सर्वाधिक पुरावशेष किसी न किसी प्रकार के धातु द्वारा निर्मित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्तर के लोग कुछ आभूषणों को छोड़कर अन्य श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों का निर्माण सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं से करने लगे थे। इस स्तर से जो चूड़ियाँ तथा उनके अवशेष़ प्राप्त हुए हैं वे किसा न किसी धातु द्वारा निर्मित होने [17] के साथ ही हड्डी, सीपी, काँच द्वारा भी निर्मित किए जाते थे किन्तु धातुओं की अपेक्षा इनकी मात्रा बहुत कम है।

तुमैन पुरास्थल अवन्ति जनपद के सीमा क्षेत्र में आता था जिसका प्रारम्भिक समाज ग्राम स्तर का रहा होगा। पुरावशेषों की प्राप्ति के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि तुमैन नगर प्राचीन व्यापारिक मार्ग के मध्य होने के कारण कुछ आभूषण तथा श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियाँ सम्भवतः अन्य स्थानों से भी लायी गयी होंगी। प्रथम सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेषों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल के लोग साज–सज्जा तथा आभूशणों के प्रति आकर्षित हो कर अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आसानी से उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग करते हुए श्रृंगार सामग्रियों का निर्माण करते थे जिनमें पकी मिट्टी के मनके प्रमुख थे। जैसे–जैसे इस पुरास्थल का विकास होता गया वैसे–वैसे

श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों के निर्माण में भी विकास दिखाई देने लगा, जिसके प्रमाण स्वरुप द्वितीय सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त काँच एवं सीपी से निर्मित श्रृंगार सामग्रियों को माना जा सकता है। इसी स्तर से प्राप्त कुछ मृण्मूर्तियों तथा मृद्भाण्डों के अलंकरण भी तत्कालीन समय के साज–सज्जा की जानकारी प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

तृतीय सांस्कृतिक स्तर के आरम्भ होते–होते तुमैन नगर एक विकसित नगर के रुप में स्थापित होने लगा था। यह सांस्कृतिक स्तर गुप्त काल से सम्बन्धित होने के कारण भी अपनी कलात्मक प्रसिद्धि को प्राप्त करने में सफल रहा जिसके प्रमाण इस सांस्कृतिक स्तर से प्राप्त श्रृंगार सम्बन्धी पुरावशेषों को माना जा सकता है जिनमें सीप तथा हड्डी से निर्मित अलंकृत चूड़ियों के साथ पीतल धातु से निर्मित अगूँठी तथा दाँत साफ करने की पिन प्रमुख हैं।

चौथा सांस्कृतिक स्तर आने के पूर्व ही तुमैन नगर में धतुओं से निर्मित दैनिक जीवन की वस्तुओं का निर्माण होने लगा था जो इस सांस्कृतिक स्तर में अपने विकसित स्वरुप में आ गया था जिसके कारण इस काल के लोगों ने कुछ आभूषणों तथा श्रृंगार सामग्रियों को छोड़कर अधिकतर श्रृंगार सामग्रियों का निर्माण भी विभिन्न धातुओं से किया जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोने का बना कर्णफूल (लटकन) है जो इस काल की विशेषताओं में से एक है। इसी स्तर के समान ही पाँचवे सांस्कृतिक स्तर के लोगों द्वारा कुछ श्रृंगार सामग्रियों को छोड़कर अन्य सभी का निर्माण भी विभिन्न धातुओं से किया जाने लगा।

संदर्भ सूची–

1. चक्रवर्ती, मानिक, मालवा इन द पोस्ट–मौर्यन पीरियड, पन्थी प्रकाशन, कलकत्ता, 1981, पृ. 5.
2. जैन, कैलाश चन्द्र, मालवा थ्रो द एजेज़ (फ्रॉम द अर्ली टाईम टू 1305 ए. डी.), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972, पृ. 118.
3. भट्टाचार्य, प्रभात कुमार, हिस्टॉरिकल जियोग्रॉफी ऑफ मध्यप्रदेश फ्रॉम अर्ली रिकार्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972, पृ. 209.
4. जैन, कैलाश चन्द्र, मालवा थ्रो द एजेज़ (फ्रॉम द अर्ली टाईम टू 1305 ए. डी.), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972, पृ. 121.
5. बाजपेयी, के. डी., एक्सकवेशन ऐट तुमैन, डायरेक्टरेट ऑफ आक्रयोलॉजी एण्ड म्यूजियम, भोपाल, 1985, पृ. 48–49
6. वही, पृ. 46.
7. वही, पृ. 55.
8. वही, पृ. 68.
9. वही, पृ. 55.
10. वही, पृ. 48.
11. वही, पृ. 51.
12. वही, पृ. 70.
13. वही, पृ. 53.
14. वही, पृ. 54.
15. वही, पृ. 51.
16. वही, पृ. 56.
17. वही, पृ. 55.

16 बुन्देली संस्कृति का दर्पण : आल्हाखंड

डॉ. आर. पी. सिंह एवं विशाल विक्रम सिंह

भारतीय संस्कृति प्राचीन काल से गौरवपूर्ण रही है। इसे प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया परन्तु लेखन कला के विकास के पष्चात् ही साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने में अधिक सफलता प्राप्त हुयी। इस क्षेत्र में शासकों द्वारा स्थापित करवाये गये अभिलेखों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया, क्योंकि इनमें सामाजिक धार्मिक विचारों को भी स्थान प्रदान किया गया। प्रत्येक साहित्य जिस काल में लिखे जाते थे। उनमें उस समयावधि के समाज, धर्म, संस्कृति का उल्लेख अवश्य मिलता था। इसलिए उन साहित्यों को विरासत कहा जाता है। साहित्य का लेखन क्षेत्र, व्यक्ति, समाज, संस्कृति के पक्षों का ध्यान रख कर किसी एक विषय पर किया जाता रहा है। लेखक द्वारा रचित पुस्तक में उस क्षेत्र को केन्द्र में रखा जाता था, जिस क्षेत्र में वह निवास करता था अथवा जिस क्षेत्र में उसकी रुचि होती थी। जिससे वह अधिक सही ढंग से वहाँ के समस्त पक्षों को प्रस्तुत कर सके। **जैसे–** मेगस्थनीज द्वारा रचित इंडिका में वर्णित सम्पूर्ण भारत का वर्णन पाटलिपुत्र के आधार पर किया गया । उसके पाटलिपुत्र से बाहर न जाने के साक्ष्य यह सिद्व करते हैं कि उस क्षेत्र के समाज को उसने सम्पूर्ण भारत पर आरोपित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र के इतिहास का अलग साहित्य प्राप्त होता है । जिनमें कल्हण की राजतंरगिणी, चन्दबरदाई की पृथ्वीराजरासो, जगनिक का आल्हाखण्ड, बाणभट्ट का हर्षचरित इत्यादि आते हैं। जिन्हे वर्तमान में साहित्यक विरासत के रूप में संजोया गया है।

हर्षवर्धन के काल में ह्वेनसांग के द्वारा बुन्देलखण्ड की यात्रा की गयी एवं इस क्षेत्र को चिह–चि–तो (जझौती) नाम से मध्य भारत के 37 राज्यों में से एक बताया गया।[1] साथ ही ,भवभूति के उत्तररामचरित एवं चन्देल कालीन ग्रन्थों आल्हा, प्रबोधचन्द्रोदय, रूपकशटकम, पृथ्वीराजरासो काव्यमीमांसा में इस क्षेत्र की लोक संस्कृति को उल्लिखित किया गया है।[2] यह क्षेत्र वीर पुरूशों से सम्बन्धित रहा है जिसकी झलक यहाँ के लोक काव्यों से प्राप्त होती है। इस क्षेत्र की वीर गाथा आल्हाखण्ड के रूप में उन क्षेत्रों में अधिक प्रसिद्व हुयी जो हर्ष कालीन कन्नौज के अधीन थे। बुन्देलखण्ड की वीरता को प्रस्तुत करते हुये आल्हा–ऊदल का चित्रण लोक काव्यों के माध्यम से किया गया । इसकी एक अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट

होता है कि इस युग में लोक का प्रथम आदर्श युद्व में वीर गति प्राप्त करना होता था। कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नामक भाट निवास करते थे, जिन्होनें महोबा के दो प्रसिद्व वीरों आल्हा एवं ऊदल के वीर चरित्र का विस्तृत वर्णन किया।[3] जगनिक के मूल काव्य का वर्तमान में पता नहीं चला है। जगनिक द्वारा लिखित परमाल रासो का उल्लेख कुछ ग्रन्थों में अवश्य प्राप्त होता है इसकी रचना का आधार जिस महोबा खंड को बनाया गया है वह चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो से सम्बन्धित है। फिर भी परमालरासो पृथ्वीराजरासो से वृहत्त है। अतः डॉ श्यामसुन्दर दास ने सन् 1792 तथा 1868 की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सन् 1919 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से महोबा– खंड या परमालरासो का सम्पादन किया।[4] जगनिक द्वारा रचित काव्य की मूल प्रतियाँ तो नहीं प्राप्त हुयीं लेकिन हिन्दी भाषी प्रान्तों में अवष्य गायी जाती रही इसका संकलन विंसेंट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड में भाटों की सहायता से किया । आल्हाखण्ड को गायकों के वर्णन के आधार पर 36 खंडो में विभाजित किया गया। इसमें पृथ्वीराजरासो के समान दोहा, सोरठा, पद्वड़िया, पादाकुलन, भुजंगप्रयात, नाराच ,छप्पय ,रसावला, नग्नमाला, मौक्तिकदाम, कुण्डलिवा, अरिल्ल, त्रोटक, हरगीतिका, तोमर, गाथा आदि छन्दों को प्रयुक्त किया गया है।[5] आल्हाखण्ड को वर्तमान में वर्शा ऋतु में बुदेलखण्ड, ब्रज भाषी क्षेत्र,राजस्थान ,बैसवाड़ा, अवधी और भोजपुरी क्षेत्र, कन्नौज के आस पास तथा पश्चिमी गाँवो में गाया जाता है। जिस प्रकार लोक गीतों को एक निश्चित समय में गाने की परम्परा होती है, उसी प्रकार आल्हाखण्ड को भी गाने का समय निश्चित था –

भरी दुपहरी सरवन गाइये, सोरठ गाइये आधी रात।
आल्हा पवाड़ा वादिन गाइये,जा दिन झड़ी लगे दिनरात।।

इस कथन के माध्यम से आल्हाखण्ड के गायन का समय निर्धारित करके ऐसे समय में गाने का वर्णन किया गया है। जिसमें दिन रात वर्षा की झड़ी लगी हो। क्योंकि उस समय किसान समस्त कार्यों से मुक्त रहता है। यह ब्रज, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, अवधी और भोजपुरी भाषाओं में प्राप्त होता है। इसके गायन में ढोलक, हारमोनियम ,ढोल की थाप का प्रयोग करते हुये इसे अत्यन्त ही मधुर किन्तु बुलंद स्वर एवं वीर रस के माध्यम से गाते हैं। आल्हाखण्ड पर विलियम वाटरफील्ड ने अधिक कार्य किया एवं इलियट द्वारा संग्रहित आल्हाखण्ड का अंग्रेजी में दि नाइन लाख चेन अथवा दि मेरी फ्यूड के नाम से अनुवाद किया।

जगनिक द्वारा लिखित आल्हाखण्ड की ऐतिहासिकता पर चर्चा के पूर्व इसके पात्रों का वर्णन आवश्यक है। प्रमुख पात्रों के रूप में कालिंजर के शासक परमार, चौहान शासक पृथ्वीराज, मल्हना देवी, ब्रह्मा, आल्हा, ऊदल, इंदल, माहिल को शामिल किया गया है। कालिंजर के शासक परमाल के संरक्षण में रहने के बाद भी जगनिक के साहित्य में आल्हा एवं ऊदल को प्रमुख वीर के रूप में प्रस्तुत किया गया। आल्हाखंड में तीन राजवंशो चंदेल, गहड़वाल एवं चाहमान का वर्णन किया गया है। वीरगाथा काव्यों के रूप में आल्हा एक ऐसी रचना है जो अपनी जीवनी शक्ति के कारण शताब्दियों से लोककंठ और लोक स्मृतियों के रूप में जीवित रही है।[6] समय के साथ–साथ इसकी भाषा एवं शैली में परिवर्तन अवश्य आया है। परन्तु इसकी लोकप्रियता प्रारम्भ के अनुसार ही विद्यमान रही है। यह साहित्य मात्र बावनगढ़ो की लड़ाइयों को ही नहीं दर्शाता अपितु इसके माध्यम से बुन्देलखण्ड के समाज एवं संस्कृति को भी प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत विवाह ,जन्म एवं जातियों के साथ व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसमें व्याप्त बुराइयों के साथ साथ समाज के लिए उपयोगी कथानकों के कारण यह आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में अपना स्थान बनाये हुए है।

जगनिक द्वारा लिखित आल्हाखण्ड या परमालरासो में आल्हा एवं ऊदल के युद्वों का वर्णन है। साथ ही ,तत्कालीन समाज की स्थिति को भी प्रस्तुत किया गया है। आल्हा लोकहृदय संवादी होने के कारण समाज का प्रतिबिम्ब बनने में सफल रहा ।

सुमर भवानी दाहिने,सनमुख रहे गनेष।
पाँच देव रक्षा करें, ब्रह्म ,विश्णु ,महेष।।[7]

जिस प्रकार से वर्तमान समाज में किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व देवी देवताओं की उपासना की जाती है एवं साथ ही वहाँ के स्थानीय देवताओं का भी आह्वान किया जाता है।

स्थानीय देवता का उल्लेख –
सुमिर भवानी कल्पी वाली मनिया, सुमिर महोबे क्यार।[8]

यह प्रथा वर्तमान में नहीं प्रारम्भ हुई अपितु इसके साक्ष्य प्राचीन काल से ही प्राप्त रहे हैं। उदाहरण के रूप में आल्हाखंड प्रमुख स्थान रखता है। जिसके प्रारम्भ में देवी देवताओं का आह्वान किया गया है। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित जीवन की क्षणभंगुरता के सिद्धान्त का प्रयोग ये युद्ध में किया करते थे। आल्हाखण्ड में जीवन से सम्बन्धित दर्शन का वर्णन भी किया गया है। लोक काव्य होने के कारण तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लेख करते हुये पद्य के रूप में जाति एंव उनके कार्यों का वर्णन किया गया। जैसे–

सगुन विचारै बनियाँ बाटू , बाम्हन सायत लेय बिचार।
हम क्षत्रिय लोहा लादें हैं , सो हम बेचै कौन बजार ।।[9]

जाति में भिन्नता होने के बाद भी इस काव्य में साहचर्य की भावना ओत प्रोत है, क्योंकि क्षत्रिय कुल में जन्म लेने के बाद भी आल्हा एवं ऊदल के द्वारा निम्न वर्ग से घरेलू व्यवहार किया गया है एवं उच्च जातियों का अपमान किया गया है। इसके माध्यम से वर्तमान में जातिगत् भेदभाव को समाप्त करके भ्रातृत्व की भावना स्थापित करने की शिक्षा प्रदान की गयी है। तत्कालीन समाज की भाँति वर्तमान में भी किसानों को प्रकृति से लड़ाई करनी पड़ती है। ऊदल इस आल्हाखंड में कृशक वर्गीय हैंकड़ी और मुटठलेपन का बाँका प्रतीक है तभी वह किसान युवकों का सर्वाधिक प्रिय नायक है।[10] इस कारण किसानों के मध्य आल्हाखण्ड अधिक प्रसिद्व रहा, क्योंकि यह उन्हें प्रकृति से एवं अन्य कई प्रकार के अराजक तत्वों से युद्व करने में शक्ति प्रदान करता है।

आल्हाखण्ड या परमालरासो के अन्तर्गत तत्कालीन समाज की परिस्थितियों को दर्शाया गया है। इसके अन्तर्गत उस काल में प्रचलित विवाह के रूप में राक्षस विवाह को बतलाया गया है। जिसमें कन्याओं का जबरन अपहरण करके उनसे विवाह किया जाता था। परन्तु कवि की कल्पना ने इस विवाह को गन्धर्व विवाह में परिवर्तित किया है क्योंकि इसमें बलात अपहरण की गयी कन्याएँ अपने प्रेमी द्वारा अनुरक्त दिखायी गयी हैं। सामंतों के द्वारा बहुपत्नी विवाह का प्रचलन था। सती प्रथा ने धीरे–धीरे अत्यन्त भयावह रूप धारण कर लिया था। परन्तु प्राचीन काल में इस प्रथा को क्षत्राणियों के लिए अत्यन्त गौरवपूर्ण माना जाता था। इसके उदाहरण के रूप में रानी मल्हना, ब्रह्मादित्य की पत्नी बेला एवं स्वयं आल्हा ऊदल की पत्नियों के सती होने का वर्णन प्राप्त होता है। सती प्रथा का प्रथम साक्ष्य भी आल्हाखण्ड से सम्बधित क्षेत्र बुन्देलखण्ड से प्राप्त होता है। जिसकी समयावधि गुप्त काल सिद्व हुयी। परन्तु यह प्रथा समाज के उन पक्षों को भी दर्शाती है, जिसमें विधवाओं का जीवन अत्यन्त पीड़ादायक जिससे उन्हें सती होना

अधिक सहज लगता था। आल्हा ऊदल की स्वामी भक्ति का अत्यन्त ही मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसलिए वर्तमान में भी इनकी स्वामी भक्ति का उदाहरण दिया जाता है। आल्हाखण्ड में जिस प्रकार से योगियों का वर्णन किया गया है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि साधू–सन्यासी या योगियों को किसी भी प्रकार से परेशान नहीं किया जाता था,उक्योंकि आल्हा ऊदल के द्वारा अधिकांशतः योगियों का भेष धारण किया जाता था जिससे विरोधी उन्हें पहचान भी नहीं पाते थे। आल्हाखण्ड के माध्यम से जनसाधारण का वर्णन किया गया है। जो किसानों तथा निम्न वर्गीय लोगों के ओज को संतुष्ट करता है। इसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के सभी पक्ष प्रदर्शित होते हैं। संस्कारो के अतिरिक्त शिष्टाचार ,सजावट ,रहन–सहन ,खान, पान, आचार–विचार, विश्वास,मान्यताएँ, रीति–रिवाज, प्रथाएँ तथा बोली –बानी इत्यादि आल्हा में है।[11]

आल्हाखण्ड के द्वारा प्रत्यक्ष समाज के एक पक्ष को दिखलाया गया । परन्तु इसके दूसरे पक्ष में अनेकों प्रकार की रूढियों एवं अंधविश्वासपूर्ण कार्यों को भी बतलाया गया है। अनेकों घटनाएँ मात्र कपोतकल्पित प्रतीत होती हैं। जैसे–खम्भ भेदन परीक्षा, जूड़ा काटने पर जादू विद्या का अन्त, पुर्नजन्म में विश्वास, पारसमणि का परमर्दिदेव के पास होना, उड़न बछेरों पर सवार होकर यात्रा करना, उड़न खटोले पर बैठकर यात्रा करना, जादू के बल पर आदमी को मेढ़ा और तोता बनाना तथा साथ ही धार्मिक कुरीतियाँ, मंत्र सिद्वि से देवी प्रसन्न करना, अलौकिक एवं दैवीय शक्तियों द्वारा सहायता करना, देवी को प्रसन्न कर कई चीजो का पता लगाना ,देवी द्वारा स्वप्न में दिशा निर्देष करना इत्यादि का उल्लेख प्राप्त हुआ है।

आल्हाखंड में वीर रस के रूप में जिस प्रकार से मान अभिमान एवं गौरव की अभिव्यक्ति की गयी है वह वर्तमान में जनता की सुप्त भावनाओं को जागष्त कर सकती है।

मानुस देही जा दुरलभ है आहै समै न बारंबार ।
पात टूट कें ज्यों तरवर को कभौ लौट न लागै डार।।
मरद बनाये मर जैबे का खटिया पर के मरै बलाय ।
खटिया पर कें जे मर जैहें नाँउ डूब पुरखन कौ जाय ।।
जे मर जैहें रन खेतन मा साखौ चलो अंगारूँ जाय।[12]

यह पद्य वर्तमान में अत्यंत ही महत्वपूर्ण इच्छाशक्ति को जन्म देने में सहायक है क्योंकि इसके अनुसार वर्तमान में मनुष्य की युद्धभूमि उसकी की कर्मभूमि होती है। अतः अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त हुई मनुष्य योनि का सदुपयोग करके ऐसे कार्य किये जाएं जो जीवन को सफल बना सके। इसके अन्तर्गत परमाल के स्थान पर आल्हा को मुख्य नायक के रूप में प्रस्तुत करते हुये सामान्य लोगों के शौर्य एवं आत्मत्याग को प्रस्तुत किया गया है। विवाह में उपस्थित होने वाले पाँचो नेगी–ब्राह्मण, बारी, नाई, धोबी और माली की उपस्थिति इसमें प्रदर्शित की गयी जो वर्तमान में भी संस्कृति का हिस्सा बने हुये हैं। आज जब बिखराव पैदा करने वाली और राष्ट्र को खंडित करने वाली साम्प्रदायिक शक्तियाँ प्रबल रूप से सकिय होती हैं। आल्हा प्रेम ,सौहार्द ,एकात्म और सद्भावना का संदेश देता है।[13] यह किसानों में वर्तमान में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि ऐसा माना गया है कि इसे वर्षा ऋतु में गाने से वर्शा की गति में वृद्वि होती है। इसमें मानव की प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। उत्तेजित होने पर तुरन्त प्रतिरोध करना वर्तमान युवाओं में अधिकाशतः देखने को मिलता हैं अतः इसमें संयम से काम लेने की शिक्षा देते हुये वीरता का अदभुत परिचय प्रदान किया गया है।

पहली गारी पै ना बोलूँ , न दूजी करिहौ वार।
तीजी गाली के कड़ते खन , मुहँ में धास देहू तलवार ।।[14]

भारत में संस्कृति के विभिन्न आयाम समाज के समस्त पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। लेकिन लोक संस्कृति के द्वारा तत्कालीन सामान्य जन की संस्कृति का वर्णन होता है। वर्तमान में लोक संस्कृति के माध्यम से क्षेत्र की भाषा, रहन–सहन, खान– पान, बोली, वेष– श्शा का सुरक्षित रखा गया है। जगनिक का आल्हाखण्ड इन समस्त पक्षों का सम्मिश्रण है। अतः इसे एक विरासत कहना अधिक उपयुक्त होगा। इससे समाज में सौहार्द, प्रेम, संयम एवं सद्भावना व्याप्त होगी। इसके द्वारा सामाजिक बिखराव को समाप्त करके समाज को अच्छे कार्य हेतु प्रेरित किया जा सकता है। इसमें व्याप्त सांस्कृतिक पक्षों से युवाओं के द्वारा अपने क्षेत्र की प्राचीन सभ्यता को जानने में सहायता मिलेगी। जिस पर युवा गौरवपूर्ण अनुभव कर सकेंगे। जगनिक का आल्हाखण्ड कुछ बुराइयों एवं भ्रामकताओं का संकलन होने के बाद भी इसमें विद्यमान सकारात्मक विचार समाज को वर्तमान में अधिक लाभ प्रदान कर सकते हैं। वर्तमान में भी इसकी प्रासंगिकता अधिक है, क्योंकि इसमें कई ऐसी बातें कही गयी हैं। जिसके द्वारा मनुष्य को प्रेरणा मिलती है। इसमें वर्तमान के युवाओं को धैर्य रखने की शिक्षा भी प्रदान की गयी है। अन्य लोगों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इसके माध्यम से यह बतलाने का प्रयास भी किया गया है। इन पक्षों को एवं वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता को देखते हुए इस काव्य को भारतीय विरासत का एक अभिन्न अंग माना जाता है।

सन्दर्भ–

1. गुप्त, नर्मदा प्रसाद,बुन्देलखंड की लोक संस्कृति का इतिहास ,इंदिरा गांधी राश्ट्रीय कला केंन्द्र ,1995, पेज–41
2. वही, पेज 43
3. रजनीश, गोविन्द, लोकमहाकाव्य आल्हा, इलाहाबाद, 1995, पेज 9
4. वही
5. वही पेज 10
6. वाटरफील्ड, विलिम्सः– द लायस आफ अल्हा ए संग ऑफ राजपूत चिवालरी आक्सफोर्ड न यूनीवरसिटी, 1923, पृ.30
7. गुप्त, नर्मदा प्रसाद, आल्हाखंड और अल्हैत, इंदिरा गांधी राश्ट्रीय कला केन्द्र, प्रथम संस्करण, 1995, पेज 79
8. वही
9. रजनीश, गोविन्द, लोक महाकाव्य आल्हा, इलाहाबाद, 1995 पेज 80
10. वही
11. मित्रा, शिशिर कुमारः– द अर्ली रुलर ऑफ खजुराहों, मातीलाल बनारसीदास, 1977,पृ12
12. गुप्त, नर्मदा प्रसाद, बुन्देलखंड की लोक संस्कृति का इतिहास, पेज 43
13. रजनीश, गोविन्द,पेज 87
14. वही

17 चन्देलकालीन आर्थिक जीवन (अभिलेखो के परिप्रेक्ष्य में)

श्रीमति अर्चना मिश्रा

किसी भी समाज के विकास ''अर्थ'' एक प्रमुख कारक होता है। अतः प्रारंभ से ही समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता, उन्नति एंव सुख–सुविधा पर निर्भर करता है। व्यक्ति के लौकिक एंव भौतिक सुख उसके जीवन के आर्थिक विकास से प्रभावित होते रहे है। चंदेल काल में निर्मित विश्व प्रसिद्ध खजुराहों के मंदिर केवल अपनी भव्यता एंव कलात्मक सौन्दर्य को ही अभिव्यक्त नहीं करते वरन् उस युग के सुसमृद्ध समाज के आर्थिक पक्ष के भी परिचायक है। प्रायः राजाओ व मंत्रियो द्वारा प्रखयापित करो गये अभिलेखो का संबंध राजनीति एंव धर्म से रहा है। अतः उनमें अर्थ से संबंधित विवरण अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त होते है। तथापि दानपत्रो से ग्राम या ग्राम की कुछ भूमि को दान करते समय उपजो, खनिजों एंव व्यवसाय की जानकारी प्राप्त होती है। जिससे तत्कालीन अर्थ–व्यवस्था की रूपरेखा सुस्पष्ट होती है। किसी भी समाज के आर्थिक विकास को दो पहलुओं से देखा जा सकता है– एक तो यह कि उसके ग्रामो में निवास करने वाले बहुसंख्यक लोगो का जीवन–स्तर कैसा है। दूसरा यह कि नगरो में निवास करने वाले नर–नारियो की सुविधाओं का स्वरूप एंव स्तर किस प्रकार का है। अभिलेखो में नगरो से संबंधित नगरीय जीवन की सामग्री कम मात्रा में मिलती है। अतः ग्रामो का वर्णन करने के पूर्व नगरीय जीवन पर प्रकाश डाले तो अति–उत्तम होगा।

नगर

जहां तक नगरों तथा नगरीय जीवन का प्रश्न है, चंदले अभिलेखो में उससे संबंधित कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। उनमें कुछ नगरों के नामो का उल्लेख अवश्य हुआ है। इन नगरो की पहिचान आसानी से की जा सकती है क्योंकि उनके आधुनिक नाम प्रायः वही है जो अभिलेखों में प्राप्त होते है। इन नगरों में प्राप्त पुरातत्वीय सामग्री तथा पुरातात्तिवक स्मारको के आधार पर उनके स्वरूप की एक परिकल्पना उभरती है। जिन नगरों का उल्लेख अभिलेखो में हुआ है, उनका विवरण निम्नांकित है–

खजुराहो

खजुराहो से चंदेल–शासको के अनेक अभिलेख प्राप्त हुये है। धंग के वि.स.1011 खजुराहो अभिलेख में ''खर्जूर–वाहके'' शब्द आया है। वर्तमान काल में अवशिष्ट विश्व प्रसिद्ध खजुराहो मंदिरो से ही उसके अतीत के वैभव को पहिचाना जा सकता है। वर्तमान में यहां पर 24 मंदिर विद्यमान है। इन मंदिरों का निर्माण नवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बारहवी शताब्दी तक सम्पन्न हुआ। वि.स. 1011 खजुराहों अभिलेख से विदित होता है कि राजप्रसादो में ऋषियो के आश्रमो में, सभ्य–गामीणो के गोष्ठी के स्थानो में निम्न वर्ण के लोगो के मिलने के स्थानो में, दुकानो में, चौराहो में, जहां लोग परस्पर यशोवर्मन के गुणो की बाते करते थे। उपरोक्त संदर्भ से प्राचीन खजुराहो नगर नियोजन की सुव्यवस्थित रूपरेखा परिलक्षित होती है।

अजयगढ

अजयगढ कालंजर के दक्षिण–पश्चिम में सडक मार्ग से लभगभ 32 कि.मी. दूर स्थित है। अभिलेखो में इसका नाम जयपुर या अजयगढ मिलता है। अजयगढ दुर्ग चंदेलो का प्रमुख सैनिक शक्ति केन्द्र के रूप में विख्यात था। भोजवर्मन के अजयगढ प्रस्तर अभिलेख से विदित होता है कि आल्हू ने सुन्दर मार्गो का निर्माण बडी कुशलता से कराया था। आगे चलकर आल्हू के वंश में वासेक हुआ, जिसने चंदेलो के साम्राज्य को सभी प्रकार से निष्कंटक कर जयपुर (अजयगढ) को सुन्दर मार्गो से सुशोभित किया। उपरोक्त संदर्भ से विदित होता है कि प्राचीन, जयपुर नगर में मार्गो की सुव्यवस्थित संरचना थी, जो एक अच्छे नगर की पहिचान है।

कालजंर

कालजंर उत्तरप्रदेश के बांदा जिले से लगभग 56 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। कालजंर से कीर्तिवर्मन, मदनवर्मन, परमर्दिदेव के अभिलेख प्राप्त हुये है। कालंजर का महत्व उसके ऐतिहासिक दर्ग के कारण प्रसिद्ध रहा है। वर्तमान में यहां पर स्वर्णारोहण ताल, पातालगंगा, बुढिया ताल एंव कोटि तीर्थ आदि विद्यमान है।

ग्राम

चंदेल राजाओं द्वारा प्रसारित कराये गये अधिकांश दानपत्रों के रूप में लिखे गये है। इनमे से प्रायः सभी का संबंध किसी न किसी ग्राम दान या भूमिदान से है। इसलिये अभिलेखो में नगरो की अपेक्षा ग्रामो का अधिक उल्लेख हुआ। ग्राम दानो के विवरणो से ज्ञात होता है कि प्रत्येक ग्राम की एक निश्चित सीमा होती थी। सीमा के संबंध में प्रायः स्वसीमापर्यत अथवा चतुःसीमा पंर्यत शब्दों का प्रयोग होता था। अभिलेखो में जिन ग्रामो का उल्लेख हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैः–

भूस्वामित्व

इस काल की भूस्वामित्व संबंधी प्रमुख मान्यताओ का उल्लेख डॉ. काणे ने किया है। पृथ्वी के भू–खंडो पर उनका अधिकार माना जाता था। जो उसे जोतते और बोते थे। राजा को केवल उस पर कर एकत्र करने का अधिकार था। पर यदि राजा कोई भूमि खरीद लेता था तो वह उसका पूर्ण रूप से स्वामी हो जाता था और उसे दान में दे सकता था। लगभग यही बात मनु तथा दूसरे स्मृतिकारो ने कही है कि

कर्षित भूमि (जिस पर खेती की जाती हो) पर कृषको का स्वामित्व था और वे उसकी रक्षा के लिये राजा को कर देते थे। शबर स्वामिन के मीमांसा दर्शन के भाश्य में भी कहा गया है कि राज्य के संपूर्ण क्षेत्र और निजी खेतो के स्वामित्व में अंतर था। राज्य क्षेत्र किसी की निजी संपत्ति नहीं होती थी, तथापि फसल की रक्षा करने के फलस्वरूप उसके एक भाग को पारिश्रमिक स्वरूप प्राप्त करने का उसे अधिकार था। मेघातिथि ने भी अनेक स्थानों पर भूमि के निजी संपत्ति होने की बात कही है, जिसके अंतर्गत भूमि संबंधी सभी अधिकार उसके स्वामी को प्राप्त थे। कही–कही उसने स्पष्ट रूप से ऐसे स्वामिन वाले क्षेत्र को कृशि भूमि बताया है, धान्यानाम भवनभूमि। चंदेल अभिलेखो से राज्य के अधिकारियो को दिये गये भूमि–अनुदान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है।

धंगदेव के नन्यौरा ताम्रपत्र में ब्राहाण भट्ट यशोधर को सारे अधिकारियो के साथ युल्ली ग्राम दान में दिया, जो अनुदानों में सामान्यतः दिये जाते थे। चंदेलो के राज्य प्रशासन में कायस्थों को अनेक अनुदान मिले है। कीर्तिवर्मन के अजयगढ प्रस्तर अभिलेखो में वास्तव्य वंषीय कायस्थ राज्याधिकारी जाजूक के दुगौडा ग्राम राजकीय अनुदान के रूप में देने का संदर्भ प्राप्त होता है। भोजवर्मन के अजयगढ अभिलेख से विदित होता है कि गंड के उत्तराधिकारी ने जाजूक को विभागो की देखभाल के लिये ठक्कुर के पद पर नियुक्त किया। जाजूक के उत्तराधिकारी महेश्वर को पीतषैल में कीर्तिवर्मन पर संकट पड जाने पर उनकी सेवा करने के रूप में पिपलाहिका ग्राम दान में दिया एंव कालंजर के दौवारिक के पद नियुक्त कियइसी अभिलेख में त्रैलोक्यवर्मन के शासन काल में दिये एक तीसरे अनुदान का भी उल्लेख मिलता है। उसने इसी कायस्थ परिवार के वाशेक को जयपुर (वर्तमान अजयगढ) दुर्ग के विशिप के पद पर नियुक्त किया और साथ ही एक ग्राम भी दान में दिया, यह ग्राम उसे उसकी सैनिक उपलब्धि के रूप में दान स्वरूप दिया गया था, क्योंकि उसने भोजक नामक व्यक्ति को पराजित किया था। इस परिवार के सदस्यो ने चंदेल राज्य में राजा गण्ड से लेकर भोजवर्मन के शासनकाल तक विभिन्न महत्वपूर्ण सरकारी पदो पर कार्य किया।

कायस्थों के अतिरिक्त ब्राहाणों को भी भूमि दान देने के उल्लेख प्राप्त हुये है। परमर्दिदेव के इच्छाबर ताम्रपत्र में ब्रहाण जनरल मदनपाल शर्मा, को नंदनवन नामक ग्राम को दान देने का उल्लेख प्राप्त हुआ है। मदनपाल शर्मा के पिता, पितामह, परपितामह ठक्कुर की उपाधि से विभूषित थे। (मध्यकाल में ठक्कुर की उपाधि ब्राहाण, क्षत्रिय या कायस्थ सभी राज्याधिकारियो के लिये प्रयुक्त होती थी) यह अनुदान सैनिक उपलब्धि के लिये नहीं, अपितु पुण्य अर्जित करने के उद्देश्य से दिये गये थे।

त्रैलोक्यवर्मन के गर्रा ताम्रपत्र में दिया गया अनुदान उपरोक्त दोनो अनुदानो से भिन्न है। इसमें सामन्त नामक राउत को मृत्युकवृतौ के रूप में एक ग्राम दान में दिया गया, क्योंकि इसके पिता एंव पितामह जो राउत थे, तुरूषको के विरूद्ध लडते हुये मारे गये। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण वीरवर्मन के चरखारी ताम्रपत्र में भी दिखायी देता है। राउत आभि को युद्ध में पराक्रम दिखाने के लिये एक ग्राम दान में दिया। इस प्रकार चंदेल अभिलेखों में तीन प्रकार के विभिन्न प्रकरणों में दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैः– पुण्य अभिवृद्धि के लिये भूदान देना। सैन्य उपलब्धि के लिये भूदान देना। युद्ध करते हुये मारे जाने पर,व्यक्ति के परिवार के सदस्यो को भूदान देना। इस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों से चंदेल राज्य के भू–स्वामित्व की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

कृषि

ग्रामीण लोगो की जीविका मुख्यतः कृषि पर निर्भर होती है। चंदेल अभिलेखो में नगरो की अपेक्षा ग्रामो के विषय में जानकारी अधिक प्राप्त होती है अतः कृशि पर विशेष प्रकाश पडता है। खजुराहों कला में कृषि से संबधित कुछ उपकरण उत्कीर्ण है। इनमें खुरपी, हंसिया, और हल प्रमुख है। अभिलेखों में भी दान देते समय 2 हल, 10 हल भूमि दान देने का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि अर्वाचीन युग की तरह प्राचीन काल में भी खेती हल से की जाती होगी।

कृषि उपज

उपज के विषय में अभिलेखो के सेमरा ताम्रपत्र में गन्ने और शण (सन) की खेती का उल्लेख मिलता है। शण से रस्सी बनायी जाती थी। परमर्दिदेव के ही महोबा ताम्रपत्र में साल, गन्ने, कपास, कुसुम, आम वृक्षो के संदर्भ प्राप्त होते है। त्रैलोक्यवर्मन के सागर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि असन, ईखू, कुसुम कपास षण (सन) आम और महुआ चंदेल साम्राज्य में अधिकता से होते थे। परमर्दिदेव के पछार एंव औगासी ताम्रपत्र कोरदो पर प्रकाश डालते है। वस्तुतः यह कोदो है, जो आज भी बुंदेलखंड के ग्रामीण अंचल में बहुतायत मात्रा में पायी जाती है और ग्रामीणो द्वारा प्रयोग की जाती है। परमर्दिदेव के महोबा शिलालेख से द्राक्षाम (मं) डप एंव कपूर का संदर्भ आता है जिससे विदित होता है अंगूर की पैदावार भी होती थी। इसी अभिलेख में 'मधु' शब्द के आने से ऐसा प्रतीत होता है कि शराब अंगूर या महुआ से बनायी जाती होगी।

सिचाई

अच्छी फसल का होना विशेषतः वर्षा अथवा सिचाई के उपयुक्त साधनो पर निर्भर करता है। चंदेलो ने सिचाई के लिये कृत्रिम व्यवस्था भी की थी। स्थान–स्थान पर कूप एंव तडाग खुदवाये थे। विजयसागर, राहिल्यसागर, कीर्तिसागर, मदन सागर , कल्याण सागर, और विल्व सागर आदि सरोवर चंदेल राजाओ की सहदयता के परिचायक है। अभिलेखो में भी इसके प्रचुर उल्लेख मिलते है।वि.स. 1011 खजुराहो अभिलेख में बैल्व नामक तडाग बनवाने का उल्लेख मिलता है। कीर्तिवर्मन के मंत्री वत्सराज द्वारा देवगढ में एक घाट बनवाने का संदर्भ प्राप्त होता है।परमर्दिदेव के अजयगढ प्रस्तर अभिलेख में कोटिका ग्राम के निवासी तेजल के पुत्र श्री वीर द्वारा बाउली को निर्माण करने का उल्लेख है। धंग, परमर्दिदेव की इस परम्परा का निर्वाह वीरवर्मन और उसकी पत्नि ने भी किया। वीरवर्मन के कालंज प्रस्तर अभिलेख में वीरवर्मन द्वारा तडाग, कूप बनावाने पर प्रकाश पडता है वीरवर्मन के समय के ही अजयगढ प्रस्तर अभिलेख से विदित होता है कि उसकी पत्नी कल्याणदेवी ने एक कुआं बनवाया, जो निर्जर कूप कहलाता था।

पशुपालन

कृषि के साथ पशुओं का अन्योनश्रित (प्रगाढ) संबंध है। महाभारत में चेदि देश को पशुओ के लिये हितकर बताया गया है। चंदेल कला में बकरी,घोडा, बैल, भैसा, आदि का अंकन मिलता है। अतः इससे प्रतीत होता है कि गाय, बैल, भैस, आदि कृषिपयोगी पशुओ का पालन बहुतायत मात्रा में होता था। घोडो का उपयोग सामान ढोने के लिये एंव सवारी के लिये भी किया जाता होगा। देववर्मन के नन्यौरा ताम्रपत्र में '' गोचर '' का संदर्भ आया है। वि.स. 1059 खजुराहों अभिलेख में दान की वस्तुओ में '' धेन ' का उल्लेख

आया है। परमर्दिदेव के बटैश्वर अभिलेख में शत्रुओ की स्त्रियो के संदर्भ में पालतू तोतो एंव पालतू हिरणों कच्चो का उल्लेख हुआ है। इन संदर्भो से विदित होता है कि चंदेल राज्य में घोडा, गाय, हाथी के साथ तोतो एंव हिरणो को भी पालतू पशुओं के रूप में महत्वपूर्ण स्थान था।

खनिज उद्योग

प्रकृति प्रदत्त भूमि का उपयोग कषशि एंव पशुपालन के लिये तो किया ही जाता था। साथ में भूमि में छिपे उपयोगी खनिज पदार्थो का भी लोगो को उस समय ज्ञान था ऐवे संदर्भ अभिलेखो से ज्ञात है। देववर्मन के नन्यौरा ताम्रपत्र में लोहे एंव नमक की खदानों का उल्लेख है। परमर्दिदेव के महोबा ताम्रपत्र में भी लोहे की खदान का संदर्भ आता है। त्रैलोक्यवर्मन के सागर ताम्रपत्र में सोना, नमक एंव लोहे का उल्लेख मिलता है, जिससे विदित होता है कि चंदेल साम्राज्य में लोहे एंव नमक की खदाने पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी तथा इनका व्यवसाय प्रचुरता से किया जाता था। चंदेल साम्राज्य के अंतर्गत पन्ना में हीरो की खाने थी, किन्तु यह एक तथ्य है कि किसी भी चंदेल अभिलेख में हीरो का उल्लेख नहीं है। डॉ. एच. डी. सांकलिया का विचार है कि पन्ना से हीरो की प्राप्ति के कारण चंदेलो ने स्वर्ण मुद्राये बनवाई एंव खजुराहों के भव्य एंव गगनचुबी देवालयो का निर्माण कराया। इसी संदर्भ में कनिंघम महोदय का मत उल्लेखनीय है कि चंदेल शासको की समृद्धि का मूल कारण उनके राज्य में प्राप्त होने वाले हीरे ही थे। डॉ. के. एल. अग्रवाल इस तथ्य से सहमत नहीं होते है। उनका मानना है कि जब सोना, लोहा, तथा नमक जैसी वस्तुओं का उल्लेख दानपत्रो में किया गया है, तब यह युक्तिसंगत था कि हीरा जैसी मूल्यवान वस्तु का भी उल्लेख किया जाता। चंदेलो ने सर्वप्रथम कीर्तिवर्मा के शासनकाल में कलचुरि कर्ण पर विजय प्राप्त कर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया। इस समय तक प्रायः मंदिरो का निर्माण समाप्त हो चुका था। अतः यह संभव प्रतीत होता है कि चंदेलो की समृद्धि का कारण पन्ना के हीरे थे। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि मात्र अभिलेखो में हीरो का उल्लेख न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि चंदेल साम्राज्य की समृद्धि का कारण हीरे नही थे।

अन्य व्यवसाय

वस्तुतः कृषि तथा पशुपालन ही ग्रामीण व्यक्तियो के मुख्य व्यवसाय थे, फिर भी जीवन को अधिक समष्द्ध एंव सुविधाजनक बनाने के लिये अन्य अनेक उद्योग धंधे भी प्रचलित थे। इस प्रकार के व्यवसायिक वर्गो में लोहार, स्वर्णकार, कुम्हार, मालाकार, ताम्रकार, कर्मकार, तन्तुवाय, रज्जू निर्माता, मूर्तिकार, स्थपति, वैद्य, नर्तकी, नापित, धीवर, माहर, भेद, चांडाल, घसियारे आदि सम्मिलित है।

व्यवसायिक संगठन

विभिन्न व्यवसायों के प्रचलन से व्यवसायियों के समूह एंव संगठन बनने लगे। संभवतः संगठित होकर ये व्यवसायी अपने कार्य के पारिश्रमिक की दरे आदि तय करते होगे और अपने हितो की रक्षा के लिये एक दूसरे की सहायता भी करते होगे। ई0पू0 छटवी शती के बाद से राज–दरवारो में श्रेष्ठियो को विशेष सम्मान–जनक स्थान प्राप्त हुआ। वि.स. 1011 खजुराहो अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस अभिलेख में पाहित नामक श्रेष्ठी को धंग के दरबत शांतिनाथ मूर्तिलेख से विदित होता है कि पाहिल एंव जीजू कीर्तिवर्मन के राज्य में परंपरागत मंत्री थे। वस्तुतः श्रेष्ठियो को इस प्रकार से राज–दरबार में श्रेष्ठ स्थान देने से उद्योग एंव व्यापार की उन्नति हुई।

कर मुद्रा एंव विनियम

विवेच्यकाल की अर्थ–व्यवस्था का मूल–आधार कृषि कार्य ही था। अतः कृषि तथा भूमि संबंधी करो का विशेष महत्व था। ग्राम तथा भूमि दान से संबंधित प्रायः सभी ताम्रपत्रो में इन करो का संदर्भ आया है। और उनको सामूहिक रूप से भागभोगहिरण्यादि कर कहा गया है। राज्य की ओर से राजा को कृषि उपज पर कर लगाने तथा उसे उगाहने का अधकार रहता था, किन्तु ग्रामदान या भूमिदान करते समय यह अधिकार राजा प्रतिगृहीता को दे देता था। परमर्दिदेव के सेमरा ताम्रपत्र में कहा गया है कि कोई भी राज्याधिकारी दान में दी हुयी भूमि के संबंध मं हस्तक्षेप न करे और लोग जो कर राज्य को देते थे, वे अब दान पाने ब्राहाण को दे। भूमिदान एंव ग्रामदान करने के साथ ही यह स्पष्ट कर दिया जाता था कि इसके उपर की सपंत्ति (वृक्षादि) और भीतर की संपदा (संपदा) पर प्रतिगृहीता का अधिकार है। इसकी पुष्टि परमर्दिदेव के सेमरा ताम्रपत्र में आये ' बाहाभ्यन्तराक्षय 'शब्दो से होती है।

भागभोग कर

लल्लनजी गोपाल ने भाग–भोगकर की व्याख्या करते हुये विभिन्न विद्वानो केमत उद्धृत किये है। कीलहार्न– यह उपज का एक भाग था। इसे वर्तमन समय के लगान के समतुल्य माना जा सकता है। फलीट– इन्होने भाग–भोग का तात्पर्य शुल्को का भोग करना माना है। ए.एस.अल्टेकर – इन्होने भागकर का अर्थ लगान से और भेगकर का अर्थ राजा के लिये स्थानीय अधिकारियों को दी जाने वाली छोटी–छोटी भेटो से लगाया है।

वस्तुतः भाग एंव भोग दोनो अलग–अलग प्रकार के कर माने गये है। आर.के.दीक्षित आर.डी.बनर्जी, डी. सी. सरकार जैसे विद्वानो का भी यही मत है। डी. सी. सरकार के अनुसार भाग का अभिप्राय राजा को प्राप्त होने वाले उपज के अंश से था तथा भोग उन भेटों तथा सामग्रियो को कहते थे जो समय–समय पर प्रजा (कृषकों) की ओर से राजा को दी जाती थी। आर. एस. त्रिपाठी ने भोग का आशय भूस्वामी द्वारा परती पडी भूमि तथा फसल कटने के बाद मिलने वाली घास, भूसा आदि को उपभोग के अधिकार से लिया है।

हिरण्यकर

मुख्यतः हिरण्यकर स्वर्ण के रूप में स्वीकार किया जाने वाला षुल्क है। हिरण्यकर के संदर्भ में विद्वानो ने अपने अपने मत प्रस्तुत किये है। **एन.सी. बद्योपाध्याय–** सपंत्ति कर अथवा वार्शिक कर से लिया है। **बेनीप्रसाद –** इन्होने स्वर्ण भंडार अथवा सोने की खदानो पर राज्य द्वारा कर लगाने से लगाया है। **यू. एन. घोशाल –** यू एन घोषाल का मत है कि यह कर कुछ विशेष प्रकार की फसलो पर लगाया जाता था। जो सामान्य फसलो से भिन्न होता था। और इस मत को बहुत से विद्वानो ने स्वीकार किया है।

शुल्क से अभिप्राय मार्ग कर अथवा यात्री कर से है और पशु से अभिप्राय पशु कर से है। पशु का एक अभिप्राय ये भी हो सकता है कि आवश्यकता पडने पर राजा को राज्यहित में पशुधन के उपयोग का अधिकार था। चन्देल अभिलेखों मे मुद्रा के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती है। वि.स. 1011 खजुराहो अभिलेख में मुद्राओ के लिये पल एंव हाटक शब्द मिलते है। किन्तु अभी तक यह प्रमाणित नहीं हो सका कि '' पल '' और '' हाटक '' किस युग में प्रचलित थी। एस.के.मित्रा का मत है कि पल सोने को तौलने की इकाई है जबकि हाटक शब्द का अर्थ स्वर्ण से है।

चंदेल राजाओ में कीर्तिवर्मन प्रथम राजा था, जिसकी मुद्राये अब तक प्राप्त हुयी है, जिनका वनज 31ग्रेन से लेकर 63 ग्रेन तक है। कीर्तिवर्मन के पश्चात सल्लक्षणवर्मन की स्वर्ण तथा ताम्र मुउाये प्राप्त हुयी है। ताम्र मुद्राओं पर हनुमान का चित्र बना हुआ है। इनका वनज 60 ग्रेन है। पृथ्वीवर्मन के हनुमान प्रकार के एक सिक्के का वनज 16.2 ग्रेन है यह द्रम का चतुर्थ भाग प्रतीत होता है। चंदेल शासको में सबसे अधिक मुद्राये मदनवर्मन की मिली है। स्वर्ण मुद्राओ का वनज 60 से 62.75 ग्रेन और ताम्र मुद्रओं का वनज 15ग्रेन है। कुछ स्वर्ण मुद्राओ का वजन 13.16 ग्रेन से 16.7 ग्रेन तक है। मदनवर्मन के पश्चात परमर्दिदेव की भी एक स्वर्ण मुद्रा प्राप्त हुई है। इनका वनज 61.4 ग्रेन तक है।परमर्दिदेव के पुत्र त्रैलोक्यवर्मन की भी स्वर्ण तथा ताम्र मुद्राये प्राप्त हुई है। वीरवर्मन अंतिम चंदेल शासक था जिसकी स्वर्ण मुद्राये प्राप्त हुई है, इनका वनज 46 ग्रेन है।

इन मुद्राओं के वनज से चंदेल राज्य की आर्थिक पिन्नता के प्रमशः अपकर्ष को देखा जा सकता है। कीर्तिवर्मन की स्वर्ण मुद्रओ का वनज 62 ग्रेन है जबकि उसके उत्तराधिकारी मदनवर्मन की स्वर्ण मुद्रा 60 से 60.75 ग्रेन परमर्दिदेव की स्वर्ण मुद्रा 61.4 ग्रेन और वीरवर्मन ने 46 ग्रेन के सिक्के जारी किये। इस प्रकार हम देखते है कि कीर्तिवर्मन, मदनवर्मन एंव परमर्दिदेव के समय में चंदेल राज्य की आर्थिक स्थिति संतोशजनक थी किन्तु वीरवर्मन के शासनकाल से आर्थिक विपन्नता प्रारंभ हो चुकी थी।

माप तथा तौल

भूमि राज्य की आय का प्रमुख स्त्रोत थी। अतः उसकी माप की भी समुचित व्यवस्था की जाती थी। चंदेल ताम्रपत्रो में भूमिदान करते समय उसकी माप का उल्लेख किया गया है। चंदेल अभिलेखो में भूमि की माप के लिये हल, प्रस्थ, द्रोण का प्रयोग किया गया ।

हल

मिराशी के अनुसार एक जोडी बैलो द्वारा एक दिन में जोती जा सकने वाली भूमि को एक हल भूमि कहा जाता था ओर सामान्यतया यह भूमि 5 एकड के बराबर होती थी। किन्तु इस विधि से भूमि की माप प्रत्येक स्थान पर एक सी नहीं हो सकती थी। डा. आर.डी बनर्जी का मत है कि एक हल 96 द्रोण के बराबर होता था। डा. रकवार के अनुसार भी हल की माप का परिमाण विभिन्न कालो और स्थानो में अलग अलग था।चंदेल अभिलेखो में हल का उल्लेख इस प्रकार हुआ है। परमर्दिदेव के पछार ताम्रपत्र में एक हल भूमि का तादात्मय 71/2 द्रोण भूमि से किया गया है। औगासी दानपत्र में यह उल्लेख है कि 10 हल भूमि का दान किया गया है, जिसके बोने के लिये 71/2 द्रोण की आवश्यकता होती थी अर्थात् 71/2 द्रोण 10 हल परमर्दिदेव के माहोबा ताम्रपत्र में कहा गया है कि 1 द्रोण लगभग 16 प्रस्थ के बराबर होता था। इसी शिलालेख में आगे कहा गया है – 1 प्रस्थ बीज एक बाघ के बराबर होता है और 10गुणांक 6 बराबर 60 प्रस्थ भूमि 5 हलो से जीती गयी अर्थात 60 प्रस्थ 5 हल भूमि संपूर्ण विश्लेषण से निष्कर्षतः इस प्रकार कह सकते है–

120 प्रस्थ 71/2 द्रोण 10 हल भूमि 60 प्रस्थ 5 हल भूमि 12 प्रस्थ =1 हल भूमि 16 प्रस्थ = 1 द्रोण

अतः प्रतीत होता है कि उस समय भूमि माप की सबसे बडी इकाई द्रोण थी। सारांशतः अभिलेखीय साक्ष्यो के आधार पर चंदेलकालीन आर्थिक जन–जीवन के अनुशीलन से निम्नांकित तथ्य सुस्पष्ट दिखायी देते है– नगरों के विवरण यद्यपि कम मिलते है तथपि साहित्यिक साक्ष्यो एंव पुरावशेषो को देखकर कह

सकते है कि नगरों की स्थिति अच्छी थी। दान लेखो में ग्राम या भूमि दान करते समय ग्रामों का प्रचुर मात्रा में उल्लेख किया गया है। उन ग्रामो का सीमकरण आधुनिक प्रचलित ग्रामों से करे का प्रयास किया गया है। भू–स्वामित्व व्यवस्था वस्तुतः पूर्वमध्यकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में दिखायी देती है। अतः विवेच्यकाल में भी उसका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अभिलेखेा से तीन तरह के विभिन्न प्रकरणों में दान के उल्लेख प्राप्त होते है। सैन्य उपलब्धि के लिये भूदान देना। पुण्य अभिवृद्धि के लिये भूदान देना। युद्ध करते हुये मारे जाने पर व्यक्ति के परिवार के सदस्यों को भूदान देना। ग्रामीण लोगों की जीविका मुख्यतः कृषि पर ही निर्भर होती थी। अतः विवेच्यकाल में कृषि की अच्छी व्यवस्था थी। सिंचाई के लिये चंदेल शासको ने पर्याप्त नहरे, कुएं एंव तडागों को खुदवाया था। अभिलेखो से इसके पर्याप्त साक्ष्य प्राप्त हुये है। इसके अतिरिक्त विजयसागर, शिवसागर, कल्याण सागर एंव मदनसागर आज भी चंदेल शासको की गाथा को की रहे है। विवेच्यकाल में गन्ने, कपास, कुसुम, आम एंव महुआ की विशेष पैदावार के अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त हुये है।

कृषि एंव पशुओ का अन्योन्याश्रित संबंध है। खजुराहों की कला में गाय, बैल, बकरी, भैस के अंकन से पशु पालन की जानकारी प्राप्त होती है।अभिलेखों से नमक, लोहे एंव सोने की खानो के उल्लेख प्राप्त होते है किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि चंदेल साम्राज्य के अंर्तगत पन्ना में हीरो की खानों के होने पर भी उसका अभिलेखो में उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः खेती एंव पषुपालन तो तत्कालीन युग के मुख्य व्यवसाय थे ही किन्तु जीवन को अधिक समृद्ध बनाने के लिये लोहार, स्वर्णकार, ताम्रकार, वैद्य, मूर्तिकार, नापित जैसे वर्ग भी सम्मिलित थे। इन व्यवसायों के प्रचलन के से तत्कालीन समाज में व्यवसायियो के संगठन भी बन चुके थे। वि.स. 1011 खजुराहों अभिलेख में पाहिल का प्रमुख श्रेष्ठी के रूप में उल्लेख किया गया है। कर एंव मुद्रा किसी भी युग की अच्छी आर्थिक स्थिति के प्रमुख आधार माने जाते है। इस युग में कर व्यवथा अच्छी थी। चंदल राजा कीर्तिवर्मन से वीरवर्मन तक की मुद्राये प्राप्त हुयी है। उन मुद्राओ को देखकर तत्कालीन युग की सुसमृद्ध आर्थिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है। अभिलेखों से मुद्रा के विशेष संदर्भ प्राप्त नहीं होते। वि.स.1011 खजुराहों में पल एंव हाटक का संदर्भ आया है। किसी भी राज्य की आय का प्रमुख स्त्रोत भूमि होती है। अतः भूमि के माप की भी समुचित व्यवस्था की गयी थी। हल एंव द्रोण उस समय की प्रचलित भूमाप थी। उपरोक्त तथ्यो को परिभाषित करने से ज्ञात होता है कि विवेच्यकाल में आर्थिक स्थिति अत्यंत समृद्ध थी। एक ओर नगरों से विकासशील व्यावासियक–व्यापारिक जनजीवन की झलक मिलती है। तो दूसरी ओर ग्राम्यपरक आर्थिक स्थिति भी सुदष्ढ थी। दैनिक जीवनोपयोगी वस्तुओ का निर्माण, आर्थिक दृष्टि से कृषि, पशुपालन, लघु उद्योग धंधो पर आधरित ग्रामीण जनजीवन विविध शिल्प कार्यो में संलग्न दिखायी देते है।ग्राम दान भूमि दान तथा अन्य प्रकार के दान देने की प्रक्रिया स्वर्ण सिक्को का प्रचलन आदि आर्थिक समृद्धि के परिचायक है।

संदर्भ

1 का.इ.इ.जिल्द– 7, भाग–3 पृ. 346 श्लोक 40

आस्थानेशु महीभुजां मुनिजन स्थाने सतां सडगमे ग्रामे पामरमण्डलीशु वणिसां (वीथी) पथे चत्वरे।

2 वही पृ.520 श्लोक 13–20 क्रमेण तस्मिन्प्रवभूव धीर आल्हू प्रतोलीरूचिराधिकारः यनावरूद्धे कलूशे वृषेण सदैव रेमे रभ्झसेन दुर्ग्गे।। स्फीतं राज्यमकंठकं गणिगणाक्रान्तासर्व्वास्पदं दानेनोज्वलवद्विधाय विधिवत्सीमाः समसअपि।

3 धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. 124
4 दधृत लल्लनजी गोपाल इ.ला.ना.इंडिया पृ.2.
5 वही पृ. 4
6 काकृइ.इ.जिल्द– 7, भाग–3 पू. 352
7 वही, पृ.376 श्लोक 5–6
8 वही,पृ. 519 श्लोक 6–9 जाजूकसंज्ञ इंति ठक्कुर (ध) र्म्मयुक्तः सर्त्वाधिकारकरणेषु सदा नियुक्ताः यः पीत (षैः) विषयेषु चूडामणि समनुसेव्य समार्ज्जयच्च। श्रीकीर्तिवर्म्मनृपतिं विशिशाभिधानं कालज्जरसय पिपलहाहिकया समेतम्।
9 वही, 520 श्लोक 5–6
10 वही, पृ. 441–442 पंक्ति 16–19
11 वही, पृ. 486 पंक्ति 11–12–13 राउतरणपालपौत्राय रा उतरहणपालपौत्राय ककडादहे तु (रू) धकेण सह युद्धे मृत (ताय) पापेपुत्राय राउतसावन्तनाम्ने मृत्युकवतौ शासनं कष्त्वा प्रदत्त इति मत्वा भवदि्भराज्ञाश्रवण विधेयैर्भूत्वा भागभोगादिक सर्व्वभस्मै समपुनेतव्यं (त्यमं)
12 उर्मिला अग्रवाल खजुराहो स्कल्पचर्य पृ. 182
13 का.इ.इ.जिल्द– 7, भाग–3 पू. 435
14 वही, पृ. 446
15 वही, पृ. 490
16 वही, पृ. 450।
17 वही, पृ. 398 कोर (डे)
18 वही, पृ. 466 (द्राक्षाम (मं) डप ——————————कर्प्पूर)
19 वही, पृ. 388 श्लोक 38 व्यधत्त जलधेवै (बै) ल्वं तडागार्ण्णवम्।
20 वही, पृ. 373 श्रीवत्सराजघटोयं नूनं तेनात्र कारितः।
21 वही, पृ. 438
22 वही, पृ. 510 तडागवापीः स करयामास।
23 वही, पृ. 502 श्लोक 18 सुधोपमैर्निर्ज्जरकूपमेनं (नम्)
24 पषुव्यैशचेव पुण्यश्च सुस्थिरो धनधान्यवान्। 1.57.8
25 उर्मिला अग्रवाल वही, पृ. 183
26 का.इ.इ.जिल्द–7 भाग–3 पृ. 360
27 वही, पृ. 389 '' धधान्धेनुवसुधादानेन ''
28 वही, पृ. 476 सकरूणं लीलाशुको ——————————————कीडाकुरडगीशि षुः
29 वही, पृ. 360
30 वही, पृ. 446
31 वही, पृ. 489–490
32 जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री खंड 44 पष्. 33
33 आ.स.रि.भाग– 21
34 के.एल. अग्रवाल
35 वही, पृ. 348
36 वही, पृ. 366 स्त्रे श्रे ष्ठिपाहिलजीजू ———————————— राज्ये शश्रीकीर्तिवर्मणः तत्कुलामात्य
37 वही, पृ. 435
38 वही, पृ. 434
39 एपी इण्डिका भाग 7 पृ. 160

40 का.इ.इ.जिल्द–3 पृ. 254
41 राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ. 214–16
42 इ.ए.ग्लासरी, पृ. 46–48
43 लल्लनजी, गोपाल इ.ला.ना.इंडिया पृ.35
44 वही, पृ. 35
45 वही, पृ. 39
46 वही, पृ. 39
47 का.इ.इ.जिल्द–7 भाग–3 पृ. 387–389
48 एस.के.मित्रा अर्लो रूलर्स ऑफ खजुराहो पृ. 182
49 वही पृ. 183
50 केटलाग आफ दि क्वाइन्स इन दि इंण्डियन म्यूजियम, पृ. 253
51 जर्नल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, खंड, 16 पृ. 236–238
52 जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी आफ इंडिया, खंड 236–238
53 कलचुरि नरेश और उनका काल, पृ. 67
54 ए.इ.जिल्द–20 पृ. 105
55 ई.ए.ग्लासरी, पृ. 125
56 का.इ.इ.जिल्द–7 भाग–3 पृ. 450
सर्द्धद्रोणस (प्त) परिकलता प्रस्थप्रत्येकवा (बा) धव्यवरथ (स्थ) या। द स (श) हलावच्छिना
57 वही, पृ. 398
58 वही, पृ. 445

18 त्रिपुरी क्षेत्र की धार्मिक परम्पराएँ

डॉ. रामकुमार अहिरवार

प्राचीन काल से ही धर्म, भारत की सभ्यता–संस्कृति ही नहीं वरन् जीवन पद्धति का भी आधार शिला रहा है। यही कारण है कि धर्म की सामाजिक प्रतिबद्धता, सांस्कर्षतिक चेतना और दार्शनिक रहस्वादिता, धर्म के अध्येताओं और जिज्ञासुओं के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है।सामाजिक–आध्यात्मिक आदर्श के दिशा–निर्देश से लेकर जन साधारण के रोजमर्रा के जीवन को नियमित एवं अनुशासित करने में धर्म की अहम भूमिका रही है। इस दृष्टि से त्रिपुरी की धार्मिक परम्परा भी रहस्वादिता, दार्शनिक श्रेष्ठता, कलात्मकता, नैतिकता एवं व्यवहारिकता का प्रतिमान कायम करता हुआ दिखाई देती है। ई0 पूर्व छठी शताब्दी में सौलह महाजनपदों में चेदि जनपद का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रहा। जिसके अन्तर्गत प्राचीन त्रिपुरी अर्थात आधुनिक जबलपुर का भाग सम्मिलित था। कलचुरि अभिलेखों में त्रिपुरी को कलचुरि चेदि राजाओं की राजधानी कहा गया है। और उसे चेदिनगरी तथा चेदिकुल राजधानी नामों से सम्बोधित किया गया है। समयानुसार त्रिपुरी *चेदि, चैद्य डाहल, डभाला, डाहाल, डहाला, डहला* आदि पर्यायवाची नामों से विख्यात हुई।[1] त्रिपुरी के धार्मिक परम्परा का इतिहास ऋग्वैदिक काल से दिखाई देता है। जिसमें वहाँ के **राजा कसुचेद्य** द्वारा **ब्रह्मातिथि** नामक ऋषि को 100 ऊँट और 1000 गायें दान देने का उल्लेख है।[2], इसी प्रकार महाभारत और पुराणों में त्रिपुरी के धार्मिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। **महाभारत** के अनुसार पौरव के पुत्र राजा वसु ने चेदि देश पर राज्य किया था और राज्य का विस्तार कर अपने पुत्रों का राज्याभिषेक कर दिया था।[3], इनके अनेक पीढ़ियों के बाद क्रमशः *दमघोष, शिशुपाल, धष्टकेतु, शरभ* चेदि देश के राजा हुए।[4], जैन महापुराण से ज्ञात होता है कि ऋषभनाथ ने चेदि देश में भ्रमणकर धर्म–प्रचार किया था।ख्ड, बौद्ध साहित्य में चेदि जनपद का उल्लेख मिलता है । जिसकी राजधानी सोत्थिवतीनगर थी।[6] काशी से चेदि जाने वाले मार्ग का उल्लेख है। महासम्मत और मान्धाता से चैद्य राजाओं की काल्पनिक उत्पत्ति का वर्णन है।[7] इस प्रकार वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक त्रिपुरी समाज में अन्य क्षेत्रों की भांति ही वैदिक, बौद्ध, तथा लोक धर्म का प्रभाव रहा है। त्रिपुरी क्षेत्र में **गुप्त और वाकाटक** नरेशों के साथ हिन्दू धर्म का पुनर्उत्थान हुआ। वाकाटक नरेश प्रथम प्रवरसेन ने वैदिक यज्ञ सम्पन्न करवाये । गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेद्ययज्ञ सम्पन्न किये। किन्तु समाज मे श्री मदभागवतगीता का भक्तिमार्ग अधिक प्रचारित हुआ। हिन्दु धर्म के शैव, विष्णु, कार्तिकेय और

आदित्य आदि पौराणिक देवता महत्वपूर्ण हुए। कलचुरि अभिलेखों में इनका उल्लेख मिलता है। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में तिंगवा तथा सिंदूरसी की शैलोत्कीर्ण प्रतिमाएँ समाज में व्याप्त धर्म की पुष्टि करती हैं। ईस्वी सन् आठवीं शताब्दी के लगभग त्रिपुरी कलचुरि शाखा का उदय हुआ और उन्होंने पाँच शताब्दियों तक एक विशाल सम्राज्य पर शासन किया। जिनके संरक्षण एवं उन्नयन में त्रिपुरी अर्थात–जबलपुर परिक्षेत्र का धार्मिक स्वरूप फला–फूला और वैदिक परम्परागत धार्मिक केन्द्रों की स्थापना हुई। समाज में ईश आराधना और विभिन्न प्रकार के यज्ञों की प्रधानता थी। समयानुसार यह परिपाटी अतिव्ययसाध्य होने के कारण नहीं चल सकी, लेकिन वैदिक ब्राह्मण परिवारों में पंच–महायज्ञ की परम्परा चलती रही, जिसकी पुष्टि कलचुरि, सेन्द्रक, गुर्जर, चालुक्य राजवंशों द्वारा प्रदत्त दानपत्रों से होती है।[8] तत्कालीन समाज मे एक ऐसी धार्मिक आस्था थी कि यज्ञों के माध्यम से राजा के राज्य का उत्कर्ष और सम्बर्द्धन होता था। महिष्मती के कलचुरि अभिलेखों में ब्राह्मणों की वैदिक शाखाओं के साथ अनेक गोत्रों का भी उल्लेख है। जिसमें तैत्तरीय, वाजसनेयी, माध्यंन्दिन एवं कण्व प्रमुख थी।[9] वैदिक शाखाओं के साथ क्रमशः उनके गोत्रों, गौतम, कौत्स, कश्यप और पाराषरआदि का उल्लेख है। नरेशों द्वारा ब्राह्मणों को भूमिदान का उल्लेख प्राप्त होता है। समाज में देव यज्ञ, पितष्यज्ञ, भूतयज्ञ, मानुश्य यज्ञ और ब्रह्म यज्ञ आदि के सम्पन्न करने का उल्लेख है। त्रिपुरी के कलचुरियों ने वैदिक परम्परा को ही आगे बढ़ाया। इसके संरक्षण एवं सम्बर्द्धन हेतु दूर–दूर के वेदांगों में पारंगत ब्राह्मणों को दान देकर साम्राज्य में बसाया।[10] जिसकी पुष्टि लक्ष्मणराज के कारीतलाई प्रस्तर अभिलेख[11], यशःकर्ण के खैरहा ताम्रपत्र[12] षबर के बडगाँव प्रस्तर अभिलेख[13] से होती है। इसी प्रकार कुम्भी ताम्रपत्र में उल्लेख है कि सामवेद की छान्दोग्य शाखा का, सवर्ण्य गोत्रिय, पाँच प्रवर वाले ब्राह्मण को विजयसिंह नरेश ने दान दिया था।[14] इसी प्रकार सरयूपार के कलचुरि अभिलेखों में विभिन्न वैदिक गोत्रों और वैदिक शाखाओं का उल्लेख है। इसमें विशेषकर *वाजसनेय बहव्रच, माध्यंदिन, छान्दोग्य और यजुष* प्रमुख है।[15] कलचुरि की रतनपुर शाखा के अभिलेखों में अप्रवासी ब्राह्मणों के वेद वेदांगों के अध्ययन और यज्ञ सम्पन्न करने की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त द्वितीय रत्नदेव के शिवरीनारायण ताम्रपत्र[16] में सामवेद के अध्येताशाखा *नारायण शर्मा* का उल्लेख है। पृथ्वीराज के रायपुर और अमोदा दानपत्रों[17] में सामवेद की छान्दोग्य शाखा तथा ऋग्वेद की बहव्रच–शाखा के ब्राह्मणों का उल्लेख है। इन्हें राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। साथ ही विविध धार्मिक सम्प्रदायों की मूर्तिपूजा उपासना पद्धति का भी विकास हुआ।कला का उद्भव एवं विकास, क्षेत्र की धार्मिक परम्परा पर निर्भर करता है। फलस्वरूप त्रिपुरी की धार्मिक अवस्था का दिग्दर्शन होता है। प्रचलित धर्म, **शैव, वैष्णव, सौर्य, शाक्त, जैन तथा बौद्ध देवों** की उपासना से सम्बन्धित देवालयों के निर्माण एवं उनमें प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की पूजा की जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही **यज्ञ, दान, गष्हदान, ब्रतदेव, तीर्थयात्रा** एवं समाज के विभिन्न वर्ग के धार्मिक प्रक्रियाओं की जानकारी भी प्राप्त होती है। जिनका विवरण इस प्रकार है–

शैव धर्म– शिव की उपासना का हिन्दू धर्म में विशेष महत्व है। वह एक ओर जहाँ संसार के रक्षक हैं वहीं दूसरी ओर सृष्टि के संहारक हैं। धार्मिक ग्रन्थों में उनके विविध नाम मिलते है। इन्हें आर्यों और अनार्यों दोनों का देवता कहा गया है। पुरातात्विक साक्ष्यों कें सन्दर्भ में त्रिपुरी परिक्षेत्र में शिवधर्म की प्राचीनता ई.पूर्व छटवीं शताब्दी से अनुमान लगा सकते है। यहाँ से प्राप्त सिक्कों में शिव के प्रतीकांकों का अंकित होना इसकी पुष्टि करता है।[18] उत्खनन से प्राप्त पाषाण शिवलिंगों से शैव उपासना का अनुमान

लगा सकते है। गुप्तकालीन पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि शैव धर्म के प्रति यहाँ के जनसामान्य में अटूट श्रद्धा एवं विश्वास था। अभिलेखों में शिव को – **ईश**[19], **भूतपति**[20], **महाभैरव**[21], **ईश्वर**[22], **हर**[23],**जयेश्वर** [24], **कपालेश्वर**[25], **कोक मुखस्वामी** [26], **महेश्वर**[27], **पशुपति**[28],**पिनाकी** [29], **शंभु**[30], **शर्व**[31], **शिव**[32], **स्थाणु**[33],, **शूलपाणि**[34],, **शूरभोश्वर** [35], **त्रिपुरांतक**[36], **तथा भवसृज**[37], आदि नामों से संबोधित किया गया है। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त के करमदंडा लिंग अभिलेख में शिव की यात्रा निकाले जाने का उल्लेख मिलता है, जिसे **"देवदृशी"** कहा जाता था।[38],

साहित्य एवं अभिलेखों से सुविदित है कि त्रिपुरी जनपद में कलचुरि राजवंश के शासनकाल से शैव धर्म का सुविकसित स्वरूप सामने आया और समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। लगभग 8वीं शती ई. से लेकर 12 वीं शती ई. की अवधि के बीच शैव धर्म के चरमोत्कर्श के दर्शन होते हैं। राजाओं के आश्रय में शैव सिद्धान्त एवं पाशुपत दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों द्वारा मन्दिरों एवं मठों का निर्माण कराया गया जिनमें प्रमुखतः त्रिपुरी, कारीतलाई, बड़गांव, चन्द्रेह, बिलहरी, भेड़ाघाट, राजाराम डुंगरिया तथा मनकेड़ी में बने मठ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तेवर शिलालेख में शिव को **परमब्रह्म** कहा गया है। त्रिपुरी शाखा के कलचुरि नरेश गयाकर्ण देव के त्रिपुरी से प्राप्त एक शिलालेख (क.सं. 902) से ज्ञात होता है कि लाट देश के एक **पाशुपत संन्यासी भावब्रह्मा** द्वारा एक शिवालय का निर्माण कराया गया।[39], नरसिंह देव के *भेड़ाघाट शिलालेख* (कं.सं. 907) में उसकी माता अल्हणदेवी द्वारा वैद्यनाथन शिव का मन्दिर, शैवमठ (विहार) तथा अध्ययन कक्ष निर्मित करवाने का उल्लेख है।[40], जयसिंह देव के *करनवेल* से प्राप्त शिलालेख में – उसके गुरु द्वारा कीर्तीश्वर शिव के एक मन्दिर निर्माण का उल्लेख है। इसी नरेश द्वारा त्रिपुरी में भी मन्दिर निर्माण किया गया था।[41]इसी शाखा का परिवर्ती नरेश वामराजदेव– परम परमेश्वर भगवान शंकर का उपासक था।[42], इनके ताम्रपत्रों पर राजमुद्रा में नंदी और गजलक्ष्मी का अंकन भी पाया जाता है। युवराज देव द्वितीय के *बिलहरी अभिलेख*[43], से ज्ञात होता है कि – युवराज देव प्रथम की पत्नी नोहला देवी ने चेदिदेश में शैव मन्दिरों एवं मठों का निर्माण कराया। युवराज प्रथम ने भी शिवाचार्यों हेतु गोलकी मठ की स्थापना की थी। गयाकर्णके *तेवर लेख* के अनुसार – संत भाव ब्राह्मण ने एक शिव मन्दिर का निर्माण कराया था।[44], जयसिंह के *जबलपुर लेख* (क.सं. 928) में उल्लेख है कि मालव देश के सीरवा ग्राम निवासी केशव ने शिव मन्दिर का निर्माण किया था।[45], विजयसिंह के तेवर एवं *भेड़ाघाट अभिलेख* (गौरीशंकर देवालय भेड़ाघाट) – शिव देवालय के निर्माण को सूचित करते हैं।[46],

अ. पाशुपत पंथ :– कलचुरि साहित्य एवं अभिलेखों से त्रिपुरी क्षेत्र में पाशुपत मत के संस्थापक की जानकारी प्राप्त होती है। डॉ. वी.एस. पाठक ने महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित ब्रह्मा के पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ को इसका प्रवर्तक बताया है।[47] श्रीकण्ठ को पशुपति का ही रूप माना गया है। तंत्रलोक में उन्हें पाशुपतमत का प्रणोता कहा गया है। शैवमत के प्रमुख आचार्य– लकुलीश, गोरक्ष आदि के समान ही श्रीकण्ठ को भगवान शिव का अवतार माना गया है।[48] **शिवपुराण** एवं **शारदा तिलक**की टीका में *श्रीकण्ठ नाथ* को सारे शैवागमों का प्रथम आचार्य कहा गया है। पाशुपत दर्शन में पंचार्थ शब्द का उल्लेख हुआ है। जिसके अन्तर्गत *कार्य, कारण, योग, विधि* और *दुःखान्त*– पाँच तत्व माने गये है। कलचुरि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन सम्राज्य में शैवधर्म के अन्तर्गत पाशुपत मत का भी प्रचलन था।

युवराज देव द्वितीय के *बिलहरी शिलालेख*[49] जाजल्लदेव तृतीय का शिवरीनारायण *पाषाण शिलालेख* (क.सं. 919)[50] तथा पृथ्वीदेव प्रथम का*रतनपुर शिलालेख* (क.सं. 915)[51] में भगवान श्रीकण्ठ की वंदना एवं मन्दिर निर्माण का उल्लेख मिलता है। *बिलहरी अभिलेख* में अंकित है कि युवराजदेव ने अपना पूरा साम्राज्य भगवान श्री कण्ठ के पूजा करने वाले शिवाचार्यों को समर्पित कर दिया था।[52], *रतनपुर पाषाण अभिलेख* में उल्लेख है कि द्वितीय पृथ्वीदेव द्वारा वरेलापुर में श्रीकंठ के मंदिर का निर्माण करवाया गया था। अल्हणदेवी के *भेड़ाघाट प्रशस्त* से ज्ञात होता है कि कलचुरि नरेश पाशुपत उपशाखा के एकनिष्ठ उपासक थे, उसने एक शिवालय की स्थापना कर लाट देष के पाशुपत अनुयायी संत रुद्रराशि को प्रबंध हेतु सौंप दिया था।[53] गयाकर्ण के *तेवर अभिलेख*[54](कलचुरि संवत् 902) मे दो पाशुपत आचार्यों, *भावतेजस* और उनके शिष्य *भावब्रह्मा* की नित्य की जीवन चर्या का वर्णन मिलता है। भावब्रह्मा, पूर्ण ब्रह्मचारी, नित्य योगाभ्यासी और भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला पाशुपत दर्शन का महान ज्ञाता थे। उसने भिक्षा से प्राप्त धन से एक शिवालय बनवाया था। वाण के अनुसार पाशुपत पंथी अपने मस्तक पर भसम लगाते एवं हाथों में रूद्राक्ष धारण करते थे। इस सम्प्रदाय के अनुसार, दिवाकर मित्र के आश्रम में रहते थे। त्रिपुरी में पाशुपत पंथ की विभिन्न शाखाएं स्थापित हुई जिनका वर्णन निम्नलिखित है :–

1. लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय :– पाशुपत पंथ की विभिन्न शाखाओं में लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय एक है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक लकुलीश का जन्म लाटदेश के कायारोहण नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वायु और लिंग पुराण के अनुसार इस मत का प्रवर्तक शिव का अट्ठइसवाँ अवतार लकुलीश नामक ब्रह्मचारी था। जिसके चार शिष्य हुए, जिन्होंने अपने वंष के आधार पर इस मत को विकसित किया। ये – कुशिक (कुशिक वंश), गर्ग्य (गांगेय वंश), मैत्रेय (मैत्रेय वंश) तथा कौरूष (कौरूष वंश) के नाम से विख्यात हुए। *गणकारिका के कारवाहनमाहात्म्य* खंड में इनके जन्म और शैशवास्था के चमत्कारों की जानकारी मिलती है।[55],

अभिलेखों में लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय की जानकारी कलचुरि नरेश गयाकर्ण के *तेवर शिलालेख* (क. सं. 902) से होती है।[56] इसमें उल्लेख है कि शिव महादेव परमेश्वर हैं, महेश्वर हैं, और प्रधान हैं। वह तीनों लोकों का सृजन करने वाला, तीन वेदों की रचना करने वाला, प्रकाण्ड कवि, तीन शक्तियों (यत्न, बोध, इच्छा) जीतने वाला, स्वयं को अष्ट प्रकारों में प्रकट करने वाला कहा गया है। आगे कहा गया है कि इस मत का आचार्य भावब्रह्मा भिक्षा के बाद थोड़ा सा धन ग्रहण करता था, शुद्ध भस्म पर सोता था, ब्रह्मचर्य का पालन करता तथा कोपीन (लंगोटी) लगाता था। इसी आचार्य को **"सनत् कुमार"** कहा गया है, जिसने अपने योग से भगवान शिव के दर्शन किए थे। अभिलेख में नियम, प्राणायाम एवं समाधि का भी वर्णन प्राप्त होता है।[57] नरसिंह के भेड़ाघाट एवं जयसिंह के *करनबेल अभिलेख* (क.सं. 907)[58] में पाशुपत पंथ से संबंधित शिव के अष्टरूपों का वर्णन प्राप्त होता है। ये आठ रूप – *आकाश, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, होता, जल तथा वायु हैं।* देश के अनेक भागों से लकुलीश की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त होती है। जिनमें उन्हें ऊर्ध्वरेतस, दाहिने हाथ में मातुलिंग और बाँयें में लकुट लिए हुए दर्शाया गया है। **चन्द्रगुप्त द्वितीय** के *मथुरा स्तंभलेख*[59] (380 ई.) में लकुलीश के दो शिष्यों उपमित और उदित का उल्लेख है।

लकुलीश–पाशुपत–दर्शन का मूल सिद्धान्त **पंचार्थिका** के नाम से जाना जाता है, जिसके अन्तर्गत पाँच विषय आते हैं। लकुलीश द्वारा प्रतिपादित पाशुपतसूत्र में *कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त* इन

पाँच पदों की विवेचना की गई है। इनका उल्लेख **गयाकरण** के *तेवर अभिलेख* (क.सं.902) में प्राप्त होता है। कार्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है, वरन् कारण (ईश्वर)पर आधारित है। विद्या, काल और पशु इसके तीन प्रकार है। ईश्वर या महेश्वर जो अपनी असीमित सत्ता में सृष्टि का सृजन, स्थिति और विनाश करने में पूर्ण समर्थ हैं, कारण कहलाता है। **गयाकर्ण** के *तेवर अभिलेख* में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। जिनमें शिव का आह्वान करते हुए उन्हें तीनों लोकों का स्राश्टा और तीन वेदों का रचियता कहा गया है। उनकी इच्छा और ज्ञान असीम है।[60] आत्मा का ईश्वर से संबन्ध स्थापित होनायोग कहलाता है। इसके अन्तर्गत नियम, प्राणायाम एवं ध्यान (समाधि) को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसका उल्लेख भी **गयाकरण** *के तेवर अभिलेख* में हुआ है। इसमें धर्म गुरूभाव तेजस, जिन्होंने पाशुपत मतान्तर्गत योग का पूर्ण अभ्यास किया था। और उसके शिष्य भावब्रह्मा का उल्लेख है। जिन्हें उनकी योगसाधना और अखंड ब्रह्मचर्य पालन के कारण दूसरे सनत्कुमार कहा गया है।[61] इसी अभिलेख में पाशुपत पद विधि और दुखान्त का भी उल्लेख हुआ है। जिसमें *तापस भावतेजस*को भस्म लेपन करते, भस्म पर ही सोते, न्यूनतम् भोजन करते हुए शिव–सायुज्य प्राप्त किया था।[62] इस प्रकार *अंनन्तगोत्रीय भावतेजस* एक महान तापस थे, जिनके शिष्य भावब्रह्मा पंचार्थ के महान ज्ञाता थे।[63]**कोकल्लदेव** के *गुर्गी पाषाण अभिलेख* में पंचार्थिका का उल्लेख है।[64] कलचुरि साम्राज्य के अन्तर्गत लकुलीश की कुछ ही प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है जिनमें प्रमुख रूप से बैजनाथ (रीवा) के वैद्यनाथ मंदिर के ललाट बिम्ब पर उत्कीर्ण लकुलीश की प्रतिमा और सतना के मड़ई स्थित मंदिर की शिरापट्टिका में उत्कीर्ण चतुर्भुजी लकुलीश की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस प्रतिमा के पद्यपीठ के नीचे एक शिवलिंग उत्कीर्ण है।[65]

2. कापालिक सम्प्रदाय :– इस सम्प्रदाय के अनुयायी तांत्रिक साधु होते हैं, वे शिव और शक्ति के उपासक थे और उन्हें कौलमार्ग के अन्तर्गत माना जाता था। इसी को सृष्टि का सृजनकर्ता और संहारक मानते हैं। शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त न हों तो वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकते। अभिलेखों में इस सम्प्रदाय के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता।[66], **राजशेखर** *कृत* ग्रन्थ *''कर्पूरमंजरी''* में इस ग्रन्थ के विशय में प्रचारात्मक उल्लेख मिलता है।[67] **शंकरगढ़** के छोटी *देवरी शिलालेख* में शिव के कापालिक रूप का वर्णन प्राप्त होता है। इस लेख में उन्हें नरंकपाल, माला, श्वेत भस्म, सर्पाभूशण, सर्पकेयूर, धूसरवर्ण तथा विध्नविनाशक कहा गया है।[68] उपरोक्त अभिलेख के अतिरिक्त और कोई पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नही हुए है। जिससे ज्ञात किया जा सके कि विवेच्य क्षेत्र में कापालिक सम्प्रदाय का कोई विशेष प्रभाव था।

3. सोम सिद्धान्त सम्प्रदाय :–सोमसिद्धान्त विचाराधारा का सूत्रपात किस शताब्दी में हुआ, इसके कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अभिलेखों में उल्लिखित सोम और पुराणों के सोमशर्मा, जिन्हें प्रभास में शैवविचारधारा को स्थापित करने का श्रेय प्राप्त हैं, से संबधित कथाएँ वास्तव में एक ही परम्परा के दो रूप है। **सोमशर्मा** का वर्णन न्यायशास्त्र के प्रणेता अक्षशाद और वैषेशिक दर्शन के कणाद के गुरू के रूप में मिलता है, जिससे वे तर्कशास्त्र से सम्बद्ध हो जाते हैं। *चीनी विद्वानों* ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि तर्कशास्त्र में 'नयसोम' के नाम से यह पंथ प्रचलित था।[69] इससे ज्ञात होता है कि न्याय सोम विचारधारा का नामकरण सोमशर्मा के नाम से ही किया गया हो। इससे प्रतीत होता है कि सोम एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिन्होंने अक्षपाद से पहले ही शिव उपासना की इस विचारधारा और न्यायसूत्र का प्रतिपादन किया। इस प्रकार सोमसिद्धान्त विचारधारा का सूत्रपात ईसा की दूसरी सदी के पहले हो चुका था।[70] सोम सिद्धान्त का अधिकांश साहित्य तांत्रिक ग्रन्थों और पुराणों में मिलता है।

सोम सिद्धान्त के संस्थापक के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित है प्रथम *प्रभास पाटन अभिलेख*, के अनुसार सोम (चन्द्रमा) और पुराणों के अनुसार सोमशर्मा (शिव का अवतार) थे।[72] लेकिन दोनों के मत सोम सिद्धान्त शैवमत से सम्बन्धित हैं। कलचुरि नरेशों के अभिलेखों से इस सम्प्रदाय की जानकारी प्राप्त होती है। कलचुरि नरेष **कोकलदेव द्वितीय** के *गुर्गी शिलालेख* में सोमनाथ की वंदना, पूजन तथा इसकी व्यवस्था हेतु ग्रामदान का उल्लेख मिलता है।[73] **युवराज देव द्वितीय** के *बिलहरी शिलालेख* में वर्णित है कि **लक्ष्मणराज द्वितीय** ने त्रिपुरी से सोमनाथ पत्तन तक की यात्रा की तथा ओडू नरेश से प्राप्त कालिया नांग की बहुमूल्य मूर्ति को श्रद्धापूर्वक सोमनाथ भगवान को अर्पण की।[74] इसी प्रकार लक्ष्मणराज द्वितीय के पुत्र **युवराजदेव द्वितीय** ने वह सभी सम्पत्ति जो उन्होंने विभिन्न नरेशों से जीती थी, प्रभास की यात्राकर भगवान सोमेश्वर को अर्पित की थी।[75]इस प्रकार कलचुरि साम्राज्य के अन्तर्गत शैवधर्म के अन्तर्गत सोम सिद्धान्त की विचारधारा भी प्रचलित थी।

सिद्ध सम्प्रदाय :– उत्तर पूर्वमध्यकालीन (11–12वींशताब्दी) समाज में सिद्ध–सम्प्रदाय और चौरासी सिद्धों की परम्परा पर्याप्त प्रभावशाली रही है। इसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों व अन्ध विश्वासों पर तीखा प्रहार कर मानवीय धर्म का प्रचार प्रसार करना था। **सरहपाद** इस परम्परा के प्रमुख कवि थे। तिब्बत के 'तन–नूर' ग्रन्थ में चौरासी सिद्धों की परम्परा का ब्यौरेवार वर्णन है।[76]

त्रिपुरी षाखा के कलचुरि नरेश **विजयसिंह** के *रीवां अभिलेख* (क.सं. 944)[77], एवं **मलयसिंह** के लेख[78] से ज्ञात होता है कि अधिक कठोर तपस्या के बाद सिद्धों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अभिलेख में मलय सिंह का सन्दर्भ है जिन्हें एक **सिद्धार्थ योगी** कहा गया है। सिद्धों का ऋषियों के रूप में उल्लेख मिलता है। अर्थात्–पंथानुयायी शिव–शक्ति के उपासक माने जाते थे। अभिलेख में दो बाते बड़ी महत्वपूर्ण उल्लेखनीय है प्रथम यह कि इसकी आरम्भिक पदावलियाँ बौद्धों के ज्ञान के देवता **मंजूघोष** की बन्दना से प्रारम्भ होती है। वहीं दूसरे राम की भक्ति को भी सराहा गया है। और राजा मलय द्वारा राम मंदिर बनवाने का भी उल्लेख है।[79],

5. शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय :– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक, मध्यकालीन एवं चेदि लेख – कदंब गुहावासी बतलाते हैं, जिसे लिंग, वायु और कूर्म पुराण – शिव का 28 वां अवतार मानते हैं। **कोकल्लदेव** का द्वितीय *गुर्गी अभिलेख*[80], – **प्रबोध शिव** को तथा कश्मीर तंत्रालोक (1–28) **दुर्वाशा ऋषि** को संस्थापक मानते हैं। **डॉ. वी.एस. पाठक के अनुसार**[81], इस गुहावंश की तीन षाखाएँ निर्मित हुईं :–1.आमर्दक शाखा–आमर्दक तीर्थ पंथ, 2.मत्तमयूर–रुद्र शंभु एवं मत्तमयूरनाथ पुरंदर तथा 3.मधुमतेय – पवन शिव। इन तीन शाखाओं में से आमर्दक शाखा का प्रभाव कलचुरि साम्राज्य में नगण्य ही प्रतीत होता है। क्योंकि अधिकांश अभिलेख मत्तमयूर शाखा और माधुमतेय शाखा की ही चर्चा बहुतायत से है। शिव सिद्धान्त में मत्तमयूर तथा गोलकी मठ के आचार्य शिव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस सम्प्रदाय का नाम सिद्धान्त मत होने से मत के आचार्यों को**"सैद्धान्तिक"** कहा जाता था। इस सिद्धान्त में तीन पदार्थों – मति (ईश्वर), पशु (जीव) तथा पाश (बंधन) का विशेष महत्व है। इसके अंतर्गत चार पाद निम्न प्रकार से हैं।

विद्यापाद – ईश्वर, जीव और बंधन के सम्यक् ज्ञान को विद्यापाद कहा गया है।

क्रियापाद – इसमें शिव के एकीकरण हेतु व्यावहारिक उपासना पर बल दिया जाता है।

योगपाद – योगपाद में जप तथा ध्यान पर बल दिया जाता है।

चर्यापाद – इसके अंतर्गत दैनिक क्रिया, मूर्तिपूजा तथा अनुष्ठान रखा गया है। उपरोक्त चार पादों

का वर्णन बिलहरी अभिलेख, कोकल्ल द्वितीय के गुर्गी अभिलेख तथा प्रबोध शिव के *चन्द्रेहे अभिलेख* में किया गया है।[82]

6. लिंगायत सम्प्रदाय (वीरशैव) – इस सम्प्रदाय के अनुयायी वर्ण व्यवस्था के अनुकूल व्यवहार करते हैं। गले में शिवलिंग को लटकाए चलते हैं। त्रिपुरी के कलचुरि साम्राज्य के महाप्रतापी राजा युवराज देव के समय इस सम्प्रदाय का पर्याप्त विकास हुआ। लेकिन आगे मत्तमयूर शाखा के आचार्यों का प्रभाव बढ़ गया था।[83] इस कारण इसका विकास न हो सका।

ब. मत्तमयूर पंथ – मत्तमयूर शाखा का उल्लेख अनेक अभिलेखों में हुआ है। इस शाखा का सबसे महत्वपूर्ण और प्राचीनतम् अभिलेख (10वीं शती) ग्वालियर के समीप स्थित रणोद नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। जिसमें उल्लेख है कि भगवान शिव ने दारुवन में यज्ञानुष्ठान कर शैव सिद्धान्त का उपदेश वहाँ पर उपस्थित ब्रह्मा को दिया था। कालान्तर में यह सिद्धान्त अनेक शाखाओं में अस्तित्व में आया। इसी परम्परा में अनेक आचार्य अवतरित हुए जिनमें से एक इस शाखा में एक मुनि उत्पन्न हुआ, जिसने **मत्तमयूर वंश** की स्थापना की।[84] अभिलेख में इस परम्परा के आचार्यों का वंशवृक्ष दिया गया है। जिसमें – *कदम्बगुहाधिवासिन (कदम्बगुहा के वासी)– शंखमठिकाधिपति (शंखमठिका के अधिपति) – तेरम्बिपाल (तेरम्बि के संरक्षक) – आमर्दकतीर्थनाथ (आमर्दकतीर्थ के अधिपति) – पुरन्दर – कवचशिव – सदाशिव – ह्रदयशिव – ब्योमशिव।* **डॉ. पाठक के अनुसार**[85], मत्तमयूर रोहतक (पंजाब) में स्थित हैं, जबकि *डॉ. मिराशी* ने इसकी समानता कदाहा (मध्यभारत) से की, जहाँ अनेक ऐसे मठ एवं देवालय स्थित हैं। इस पंथ के प्रचार की जानकारी गुर्गी, बिलहरी, जबलपुर चन्द्रेहे, रणोंद के अभिलेखों से प्राप्त होती है।

डॉ. राखालदास बैनर्जी ने अभिलेखों के आधार पर जो शैवाचार्य परम्परा का वंश वृक्ष दिया है, उसी को आधार मानते हुए, डॉ. एम. सी. चौबे ने भी शैवाचार्य परम्परा के आचार्यों का उल्लेख किया है।[86] शैवाचार्य प्रबोध शिव के चन्द्रेहे अभिलेख में इस पंथ के आचार्यों की जानकारी प्राप्त होती है[87], जिसमें*पुरंदर, शिखाशैव* (अथवा मधुमति पति), *प्रभाशिव* (युवराज देव प्रथम का समकालीन), *प्रशांत शिव* तथा *प्रबोध शिव* का उल्लेख है। गुर्गी अभिलेख में भी शैवाचार्य परम्परा का उल्लेख मिलता है– *चूड़ाशिव – प्रभावशिव* – (प्रथम युवराजदेव के समकालीन) – *प्रशान्तशिव* से दो आचार्य प्रथम *ईशान शुंभ* और *प्रबोधशिव* – नाम अपठनीय । **युवराज देव द्वितीय** के *बिलहरी अभिलेख* (980–990 ई.) में मत्तमयूर आचार्यो का वंशवृक्ष दिया गया है। जिसमें *रुद्रशम्भु (कदम्बगुहावासी)–मत्तमयूरनाथ (अवंतिवर्मा के समकालीन) – धर्मशंभु – सदाशिव– मधुमतेय – चूड़ाशिव– ह्रदयशिव – (लक्ष्मण राज का समकालीन) – अघोरषिव* तथा अन्य शाखा के शैवाचार्य – पवनशिव, शबदशिव, ईश्वर शिव (युवराज देव प्रथम का समकालीन) का भी विवरण है। साथ ही इससे गुरु–शिष्य परम्परा की जानकारी भी मिलती है। डॉ. मिराशी ने इन आचार्यों की विस्तृत वंशावली दी है।[88],

इस प्रकार रणोद अभिलेख, ग्वालियर के पतंगशंभु अभिलेख, बिलहरी, गुर्गी और चन्द्रेहे से प्राप्त अभिलेखों के आधार पर **डॉ. महेशचन्द्र चौबे** ने मत्तमयूर परम्परा का आध्यात्मिक वंशवृक्ष इस प्रकार दिया है[89],– *कदाम्बगुहावासिन – शंखमठिकाधिकापति – तेरम्बिपाल – आमर्दकतीर्थनाथ (रुद्रशिव) – पुरन्दर (अथवा मत्तमयूरनाथ)* यहाँ ये दो शाखाएँ निर्मित हुई प्रथम– *कवचशिव – सदाशिव – ह्रदयशिव – व्योमशिव – पतंगशम्भु, द्वितीय परम्परा में धर्म शम्भु, सदाशिव,* द्वितीय*पुरन्दर* अथवा माधुमतेय – *चूड़ाशिव* (इनसे दो शाखाएँ हुई (*ह्रदयशिव, अघोरशिव* एवं *प्रभावशिव, प्रशान्त शिव*– ईशानशंभु एवं

प्रबोधशिव)। **युवराज द्वितीय** के *बिलहरी अभिलेख* में[90], वर्णित है कि युवराज देव प्रथम की पत्नी नोहला देवी ने सदाषिव के शिष्य ईश्वरशिव को आमंत्रित कर *नोहलेश्वर* तथा *बैद्यनाथ मन्दिरों* के मठों का अधिपति बनाया और इनके संचालन के लिए अनेक गाँव भी दान में दिए। आगे यह भी उल्लेख है कि युवराज देव प्रथम के पुत्र लक्ष्मणराज द्वितीय ने मत्तमयूर मठ (बिलहरी में स्थित बैद्यनाथ देवालय) का प्रभारी हृदय शिव नामक षैवाचार्य को बनाया। आगे चलकर इसका भार हृदयशिव ने अपने शिष्य अघोर शिव को सौंप दिया।

कलचुरि नरेश **जयसिंह** के *जबलपुर शिलालेख* में[91], जिन शैवाचार्यों की जानकारी प्राप्त होती है। वे हैं – *विमलशिव* (कोकल्ल द्वितीय) के समय,*वास्तुशिव* (गांगेयदेव), *पुरुषशिव* (यशःकर्ण का राजगुरु), *शक्तिशिव* (गयाकर्ण का राजगुरु), *कीर्तिशिव* (नरसिंह का राजगुरु), *विमलशिव* (जयसिंह का राजगुरु)। कालान्तर में मत्तमयूर पंथ के दो केंद्र स्थापित हुए –**प्रथम मठ**–कगकरोनी(संभवतः मध्यभारत–?), **द्वितीय मठ** – त्रिपुरी (जबलपुर)।द्वितीय मठ वर्तमान तेवर (त्रिपुरी) में **चौसठयोगिनी मंदिर** के नाम से प्रसिद्ध है। जो जबलपुर नगर से 15 कि.मी. पश्चिम में भेड़ाघाट नर्मदा तट के किनारे ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ एक वृहत गोलाकार देवालय का निर्माण किया गया था। जिसकी छत खुली है। इसमें इक्यासी कोष्ठ है। प्रत्येक कोष्ठ में एक योगिनी प्रतिमा प्रतिष्ठित है, और बीच में गौरी–शंकर का मंदिर बना हुआ है। मंदिर की गोलाकार आकृति के कारण इसे गोलकी मठ के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस मठ से सम्पूर्ण भारत के मत्तमयूर मठों का संचालन होता था। इसमें गणेश सहित चौंसठ योगिनी की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थीं जो अभी खण्डित अवस्था में संरक्षित हैं। इसका प्रमुख **आचार्य विश्वेश्वरशम्भु** था। जो आचार्य धर्म शम्भु के शिष्य थे।[92], वे गौड देश के राढा प्रदेश स्थित पूर्वग्राम से डाहल मंडल आये थे। युवराज प्रथम के समय इस गोलकी मठ का महत्व बढ़ गया था।

कलचुरि अभिलेखों में इस शाखा के शैवाचार्यों के क्रियाकलापों की जानकारी विस्तारपूर्वक दी गई है।[93] शैवाचार्यों का जीवन कठिन साधना के लिए समर्पित, अतिसंयमी और सादगीपूर्ण था। निर्विघ्न तपस्या के लिए वे जनकोलाहल से दूर एकान्त स्थानों में रहते थे। पवित्र नदियों के किनारे उनके मठ बने होते थे ताकि वे वहाँ रहकर शान्त वातावरण में ध्यान और जप कर सकें। वे आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते और कंद, मूल और फलों के आहार पर ही जीवन निर्वाह करते थे। अग्रहारों और मठों से होने वाली आय का उपयोग वे जनकल्याणकारी और धार्मिक कार्यों के लिए करते थे। **जयसिंह** के *जबलपुर शिलालेख* (क.सं. 926) में *आचार्य विमलशिव* की वंशावली दी गई है। इसके अलावा उसके द्वारा वेद, वेदांगों का अध्ययन, तीर्थयात्रा, मन्दिर–मठ, खाद्यगृह, आवासों का निर्माण, दान इत्यादि धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है। अपने गुरु कीर्तिशिव के नाम पर शिव का कीर्तिशिव विशाल मन्दिर का निर्माण कराया। अनेक गांव, भूमि दान में दिए तथा इसके समय में शैव धर्म के प्रोत्साहन हेतु अनेक कार्य किये गए।

इस प्रकार मत्तमयूर सम्प्रदाय और इसकी विभिन्न शाखाओं के सिद्ध, तपस्वी – आचार्य उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक फैले थे। जिसके अन्तर्गत उत्तर भारत, मध्यभारत, मालवा, वर्तमान मध्यप्रदेश का अधिकांश भाग और दक्षिण के कई क्षेत्र समाहित थे। इससे ज्ञात होता है कि यह सम्प्रदाय तत्कालीन समाज में कितना प्रभावशाली था। इन शैवाचार्यों का सामान्य जनता से लेकर महाराजाओं एवं उनके दरबारियों पर गहरा प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के संस्थापक **आचार्य पुरंदर** को**'राजाओं के गुरू'** के विशेषण से संबोधित किया गया है। कुछ शिवाचार्य तो इतने महान थे कि राजा उनके चरणों में हमेशा

अपना शीश झुकाते थे। *प्रभाव शिवके* राजकीय महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनकी पादपीठ पर समस्त राजाओं के मणियों से शुशोभित शीश झुकाते थे। कलचुरि नरेशों की मुकुटमालायें गोलकीमठ के आचार्य वामशम्भु के चरणों की शोभा बढ़ाती थीं। *गुर्गी और चन्द्रेह अभिलेखों* से स्पष्ट होता है कि **आचार्य वामशम्भु** के श्री चरणों पर सात प्रतापी कलचुरि नरेश नतमस्तक रहते थे। **आचार्य** विश्वेश्वरशम्भु गोलकीमठ के अत्यन्त प्रतिष्ठित और प्रभाव शाली आचार्य थे। वे अपने समकालीन चोल, मालव और कलचुरि राजाओं के पूज्य तथा काकतीय नरेशों के दीक्षागुरू भी थे। जबलपुर शिलालेख में अंकित शैवाचार्य परम्परा से ज्ञात होता है कि *आचार्य पुरूष शिव, शक्ति शिव, कीर्तिशिव तथा विमल शिव* का कलचुरि नरेशों पर बहुत प्रभाव था। और राज्य प्रशासनिक कार्यों में भी इनकी संक्रिय भूमिका थी। विमलशिव इसी प्रकार के प्रभावी आचार्य थे जो राजा के सभी कार्यों में नीतिगत ज्ञान देते थे। जयसिंह के जबलपुर ताम्रपत्र अभिलेख में उल्लिखित राज्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों में विमल शिव का भी नाम है जिनके सामने जयसिंह भक्ति भाव से सदा विनत रहते थे।[94]इस प्रकार त्रिपुरी जनपद में षैव धर्म की विभिन्न शाखाएँ स्थापित हुईं, जिनकी उपरोक्त अभिलेखीय साक्ष्यों से जानकारी मिलती है। **शिल्पशास्त्रीय अध्ययन** से पता चलता है कि त्रिपुरी परिक्षेत्र में शैव धर्म अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठित था। यहाँ शिव की गुप्तकालीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस जिले में गुप्तकाल के समय भी मूर्तिपूजा अवश्य रही होगी। गुप्तकाल के बाद 10वीं शती ई. के लगभग कलचुरि कालीन मन्दिरों के जंघा भागों, स्तम्भों, द्वारषाखाओं, भित्तियों तथा गर्भगृहों में शिव के विभिन्न स्वरूपों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गईं मिलती हैं। इनमें अधिकतर शिव के मन्दिर बनाए गए। तिगवां के कंकाली मन्दिर गर्भगृह में प्रणाली (नाली) गर्भगृह में बनी हुई है। इससे मन्दिर में शिवलिंग स्थापित होने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

कलचुरि राजवंश द्वारा मूर्तिकला के अंतर्गत शैव धर्म के अनेक पक्षों का रूपायन किया गया। नरेशों ने, शिव से संबंधित लिंग प्रतिमाएँ, उमा–महेष्वर, हरिहर, शिव–पार्वती परिणय, व्याख्यान शिव, वीणाधर शिव, दंडधारीशिव, गंगाधर, चन्द्रशेखर, भैरव, ईशान, त्रिपुरान्तक, अंधकासुर वध, परिवार सहित शिव, ऊमा–कार्तिकेय, गणेश तथा विष्णु शक्ति से संबंधित प्रतिमाएँ निर्मित करवाईं जो आज भी पुरातात्त्विक साक्ष्य के रूप में उपलब्ध हैं। शैवाचार्यों ने भी शिव के विविध रूपों की प्रतिमाओं का निर्माएा करवाया था। जिसमें प्रमुख रूप से आचार्य व्योमशिव ने उमा–महेश्वर, उमा–नटेश्वर और विनायक की मूर्ति की स्थापना की थी। इसी प्रकार प्रभावशिव ने उमामहेश्वर, षडानन, सरस्वती और गणपति की प्रतिमाएँ स्थापित की थीं।[95] शिव की नटेश्वर–छवि उनका सबसे लोकप्रिय स्वरूप था। इसका उल्लेख अनेक अभिलेखों मे मिलता है। किन्तु शिव के पंचकृत्य रूप की विवेचना किसी भी अभिलेख में नहीं मिलती। सभी शिलालेखों में गणपति, कार्तिकेय, उमा, सरस्वती आदि को शैवधर्म के सबसे महत्वपूर्ण देवता माना गया है।

तेवर से चौंसठ क्रीड़ारत उमा महेष्वर प्रतिमा, शिव पार्वती, कारीतलाई से भैरव, ध्यानमग्न पार्वती प्रतिमा, खापा (सगड़ा) से परिवार सहित पार्वती शिव, बिलहरी से प्राप्त शिव की एकमुखी लिंग प्रतिमा तथा विष्णु की एक वराह प्रतिमा पर ''एकादश रुद्रों'' का अंकन, मनकेड़ी, मजीठा, भेड़ाघाट, क्षेणी से प्राप्त हुई हैं, जिनमें अनेक प्रतिमाएं रानी दुर्गावती संग्रहालय, जबलपुर, पं. रविशंकर शुक्ल संग्रहालय (रा.दु.वि. वि., जबलपुर), महन्त गुरु घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर तथा अन्य संग्रहालयों में संग्रहित हैं।

कलचुरि नरेशों की मुद्राओं में नंदी का अंकन दिखाया गया है। अतः अभिलेखीय, साहित्यिक, मुद्रा एवं शिल्पशास्त्रीय अध्ययन से स्पष्ट है कि जबलपुर जिले के कलचुरिकाल में शिव को एक राजधर्म की प्रतिष्ठा मिली थी। इस प्रकार की स्थिति ने इस धर्म की राज, समाज तथा जनसामान्य में बहुविध व्याप्त होने का अवसर दिया।

वैष्णव धर्म–वैष्णव धर्म, जिसको भागवत धर्म भी कहा जाता हैं, विष्णु की भक्ति को केन्द्र मानकर विकसित हुआ। वैष्णव धर्म विशुद्ध वैदिक है, आर्य है, या इस पर आर्येत्तर प्रभाव भी है, इस विषय पर मतभेद है। विष्णु पूजन सारे भारत वर्ष में तथा बाहर के देशों मे भी प्रचलित रहा। **वैदिक साहित्य** में विष्णु देवता की उपासना तो है लेकिन प्रमुख देवता के रूप में नहीं । उत्तरवर्ती साहित्य में वे अधिक प्रभावी, शक्तिशाली तथा सृष्टि की स्थिति के कारण बन गयें। **पुराणों** में विष्णु के अवतार ने समाज को बहुत प्रभावित किया।

साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर त्रिपुरी जनपद में वैष्णव धर्म का अस्तित्त्व दिखाई देता है। गुप्तकालीन समाज में ऐसी मान्यता थी कि जो व्यक्ति विष्णु का भक्त होता है, वह उनके अनुग्रह का पात्र बन जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर स्वर्ग को जाता है। इसी कथानक के अनुसार गुप्तकालीन वैष्णव धर्म में विष्णु के वराह, नृसिंह, वामन्, कृष्ण–लीलाओं का अंकन एवं लक्ष्मी की स्वतंत्र उपासना इत्यादि का प्रचलन दिखाई देता है। **गुप्तकालीन नरेशों** द्वारा विश्णु–धर्म को राजाश्रय प्राप्त हुआ और मन्दिरों एवं मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। इसकी जानकारी उनके अभिलेखों, सिक्कों एवं शिल्पशास्त्री अध्ययन से होती है। गुप्त नरेशों की मुद्राओं पर लक्ष्मी, गरुड़ध्वज, विष्णुध्वज, विष्णु–लक्ष्मी का अंकन, परम भागवत की उपाधि तथा अन्य साक्ष्य उनके वैष्णव धर्मावलम्बी होने की बात कोप्रमाणित करते हैं।[96] **कालिदास** ने लक्ष्मी को विष्णु भगवान की पत्नी माना है।[97] त्रिकूटक राजवंश के सिक्कों पर भी वैष्णव धर्म का अंकन मिलता है। हरियाणा से प्राप्त अभिलेखों में चार पीढ़ियों के भागवत होने का अभिलेख है।

गुप्तकाल के पतन के बाद पूर्व मध्यकालीन राजवंशों ने भी वैष्णव धर्म को आश्रय प्रदान किया। इन राजवंशों में गुर्जर प्रतिहार, परमार, चंदेल, कच्छपघात, चालुक्य, पाल, सेन तथा कलचुरि प्रमुख थे। त्रिपुरी की मूर्तिकला में इनका कुछ न कुछ अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। इस क्षेत्र में प्रमुख रूप से कलचुरि काल की प्रतिमाएँ एवं अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि शैव धर्म के राजधर्म होते हुए भी अनेक धर्मों को राजाश्रय प्राप्त हुआ था। त्रिपुरी के कलचुरि नरेश **लक्ष्मण राज द्वितीय** के कारीतलाई शिलालेख[98], से ज्ञात होता है कि उसने बरगांव में नारायण मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसी अभिलेख में 23वें राजकुमार शंकरगढ़ को परम् वैष्णव कहा गया है और यह मन्दिर विष्णु के वराह रूप को प्रदान किया गया। मंदिर का नाम सोमस्वामी था , जो उसकके निर्माणकर्त्ता, सोमेश्वर के नाम पर था। विष्णु के वामन अवतार की चर्चा द्वितीय लक्ष्मणराज के कारीतलाई और विजय सिंह के रीवा अभिलेख में भी की गई है। **गांगेयदेव** के *रीवा मुकुन्दपुर शिलालेख* (क.सं. 772) के अनुसार[99], दामोदर नामक एक श्रेष्ठी ने एक जलाशय तट पर जलाशयन विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था। **कर्ण** के *रीवा अभिलेख* (क.सं. 812)[100], में उल्लेख है कि उनके पराक्रमी सेनापति बप्पुल्ल ने *श्रीवत्सविष्णु* का एक मंदिर बनवाया था जिसके चारों ओर विभिन्न देवी–देवताओं की प्रतिमाऐं स्थापित थी। **विजयसिंह** के *गोपालपुर शिलालेख*[101], में उल्लेख है कि हरिगण ने अपनी पतिव्रता पत्नी महादेवी की स्मृति में एक विशाल विष्णु मंदिर बनवाया

था। **लक्ष्मणराज प्रथम** के *कारीतलाई लेख* (क.सं. 893)[102] का शुभारम्भ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की वंदना से किया गया है। इसमें विश्णु के विभिन्न अवतारों की स्मरण की गई है। **युवराज देव प्रथम** के *बांधवगढ़ अभिलेख* सें[103] उसके मंत्री भानु के पुत्र गोल्लो ने भगवान विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह तथा परशुराम प्रतिमाओं के निर्माण का ज्ञान होता है। त्रिपुरी के कलचुरियों के कुछ अभिलेख विष्णु, गणपति और शिव की स्तुति से प्रारम्भ होते हैं।

युवराजदेव प्रथम के *गोपालपुर लेख*[104,] में गोल्लाक द्वारा बलराम की मूर्ति बनवाने का उल्लेख है। **विजयसिंह** के *रीवा अभिलेख* [105] से वामन् प्रतिमा का ज्ञान होता है। इसी नरेष के *गोपालपुर शिलालेख*[106] से विष्णु के नृसिंह अवतार की जानकारी प्राप्त होती है। **कर्ण** के *बनारस अभिलेख* [107] में विष्णु के रामावतार तथा **यश:कर्ण** के *खेरहा अभिलेख* [108] में परशुराम की प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। *सियादोनी अभिलेख* [109] का शुभारंभ भगवान वासुदेव के नमस्कार के साथ होता है। इसमें वामन् भगवान की स्तुति की गई, इसके अतिरिक्त विष्णु के अनेक नाम भी मिलते हैं – *श्रीनारायण, भट्टारक, वामन् स्वामी, चक्रपाणिदेव, त्रिभुवन स्वामी तथा मुरारी।* त्रिपुरी के कलचुरियों की भांति दक्षिण कौशल के कलचुरिकालीन अभिलेखों में द्वितीय पृथ्वीदेव (क.स. 893) का राजिम*पाषाण अभिलेख*[110], तथा वाहर के *कोसगई प्रस्तर अभिलेख*[111], विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होते हैं। खरोद अभिलेख[112] से ज्ञात होता है कि द्वितीय रत्नदेव के प्रधानमंत्री गंगाधर ने खरोद में विष्णु का एक बहुत बड़ा मण्डप बनवाया था। इसी प्रकार रायपुर की कलचुरि शाखा के हरिब्रह्मदेव के *खलारी प्रस्तर अभिलेख*[113], में नारायण की स्तुति की गई है। एक रोचक प्रसंग है कि देवपाल नामक एक मोची ने खल्लिवाटिका ग्राम में भगवान विष्णु के लिए एक मण्डप बनवाया था।[114] त्रिपुरी के कलचुरि नरेशों के कुछ अभिलेखों में विष्णु को लक्ष्मी पति की संज्ञा दी गई है। इनकी मुद्राओं में लक्ष्मी, शिव–लक्ष्मी का अंकन भी मिलता है।

शिल्पशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर जबलपुर परिक्षेत्र में गुप्तकाल से वैष्णव धर्म दिखाई देता है। उदाहरणार्थ – दिठवारा, मजीठा तथा तिगवां–गुप्तकालीन वैष्णव केन्द्र हैं। दिठवारा वैष्णव मन्दिर पूरी तरह से क्षतिग्रस्त हो चुका है, केवल नींव तथा ईंटों का चबूतरा ही रह गया है। तिगवाँ, मरीहा से विष्णु तथा उनके अवतार की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। सिन्दूरसी में उत्तर गुप्तकालीन वैष्णव प्रतिमा में शेषशायी विष्णु तथा नृसिंह की प्रतिमा शैलोत्कीर्ण हैं। अतः ये प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि यह क्षेत्र गुप्त तथा उत्तर गुप्त नरेशों के राज्यों के अन्तर्गत रहा है। जबलपुर जिले के मझौली ग्राम में भी दशावतार युक्त विष्णुवराह का एक मंदिर है। यहाँ पर लगी शीर्षपट्टिका पर योगनारायण पद्मासन की मुद्रा में विराजमान हैं। उनके दोनों ओर नवग्रह अंकित हैं। मंदिर के प्रांगण में यज्ञवराह की एक विशाल प्रतिमा है जो 8. 7 फुट ऊँची और 4.5 फुट चौड़ी है। इसके नीचे, चौकी पर, शेषनाग के ऊपर तथा वराह के थूथन के नीचं पद्मासन लगाए, ध्यानावस्था में योग नारायण विराजे हैं। वराह के शरीर पर सभी देवता गण उत्कीर्ण है। इसके पिछले एक पैर में अग्नि, दूसरे पैर में दुर्गा और नीचे रुद्र विराजमान हैं। अगले एक पैर में तुम्बरू और दूसरे में वरुणदेव बैठे हैं।[115] भगवान कृष्ण के जीवन से संबन्धित एक शिलापट्ट सोहागपुर के ठाकुर साहब के महल में भी रखा है। मड़ई के सूय्रनारायण स्तम्भ पर भी ऐसा ही अंकन मिलता है। लक्ष्मी की प्रतिमाएँ एकल रूप में या नारायण के साथ पाई जाती है। गढ़ा पुरवा की माला देवी की प्रतिमा कलचुरि शिल्प–कला का अद्वितीय उदाहरण हैं। कलचुरियों की राजमुद्रा **गजलक्ष्मी** है। गांगेयदेव के सिक्कों पर भी लक्ष्मी का चित्रण हुआ है। कई स्थानों पर तो विष्णु के वाहन गरुड़ का भी चित्रण मिलता है।

अन्य क्षेत्रों से भी कलचुरि कालीन विष्णु एवं उनके विविध अवतारों से सम्बद्ध मन्दिर, प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें मत्स्य, कूर्म, वामन् वराह, राम, परशुराम, नृसिंह, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, बलराम, लक्ष्मीनारायण, गरुडनारायण, अच्युत, उपेन्द्र, गोविन्द, हरिहर, गजलक्ष्मी तथा उनकी अन्य लीलाओं से सम्बद्ध प्रतिमाएँ प्रमुख हैं जो जिलों के कारीतलाई, बिलहरी, बड़गांव, मनकेड़ी, राजाराम डुंगरिया, पाटन, सकरा, नुनसर इत्यादि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। वैष्णवधर्म के विभिन्न देवताओं की प्रतिमाओं के साथ देवी सरस्वती की प्रतिमाएँ भी कुछ स्थानों से प्राप्त हुई हैं। सरस्वती को वाक्, वाग्देवी, भारती, वागेश्वरी और वाणी के नाम से भी अभिहित किया गया है। अधिकांश प्रतिमाएँ रानी दुर्गावती संग्रहालय जबलपुर, पं. रविशंकर शुक्ल संग्रहालय (रा.दु.वि.वि.), महंत घासीदास स्मारक संग्रहालय रायपुर तथा देश के अन्य संग्रहालयों में संग्रहीत हैं।

शाक्त धर्म– त्रिपुरी अन्य धर्मों की भांति शाक्त या तान्त्रिक सम्प्रदाय का भी प्रमुख केन्द्र रहा है। इस सम्प्रदाय ने व्यक्तिगत स्तर पर जनमानस को प्रभावित किया। शाक्त–तांत्रिक धर्म सभी के लिए सुलभ था। इसका उदय कई सम्प्रदायों के समावेश से हुआ। अतः इसका प्रभाव सभी के सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। शक्ति के पूजक ही शाक्त कहे जाते थे। शाक्त धर्म का मूल उद्गम रूप शिव की पत्नी उमा अर्थात् पार्वती है। शैवमत के शाक्तमत में परिवर्तित होने के कारण योगिनी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। वस्तुतः उनका तांत्रिक और दार्शनिक विकास शक्ति के रूप में हुआ। अतः शिव और शक्ति की अभिन्नता स्वाभाविक है। हिन्दु धर्म में विष्णु और शिव के अतिरिक्त यदि किसी देवता की महिमा चरम सीमा तक पहुँची तो वह केवल शक्ति की। कालान्तर में यही सम्प्रदाय प्रभावकारी और चमत्कारी सम्प्रदाय मेंपरिणित हो गया। पूर्वमध्यकाल तक आकर शक्ति की उपासना अत्याधिक बढ़ गई तथा उनकी आराधना सृष्टिकर्त्ता, पालक और संहारकर्त्ता के रूप में की जाने लगी। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि त्रिपुरी जनपद में शाक्तधर्म प्राचीनकाल से चला आ रहा है। **ककरेहटा के उत्खनन** से पूर्व–मौर्यकालीन एक मातृदेवी की मृणमूर्ति प्राप्त हुई है।[116] इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में मातृदेवी की पूजा का प्रचलन था। इसी प्रकार त्रिपुरी के उत्खनन से ईस्वी सन् प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी के स्तरों से **मातृदेवी** की दो मृणमूर्तियाँ प्राप्त हुई है।[117] इनके निर्माण से त्रिपुरी में प्रचलित दो विभिन्न शैलियों की जानकारी मिलती है। एक दक्षिण भारत की और दूसरी उत्तर भारत की। दक्षिण भारतीय शैली में यहाँ देवी अपने पैरों को चौड़ाकर बैठी हुई है। देवी के गुप्तांग स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे हैं। यह *लज्जागौरी* की प्रतिमा है। इस प्रकार की प्रतिमा महाराष्ट्र के कोल्हापुर उत्खनन से प्राप्त हुई है। उत्तर भारत की शैली में मातृदेवी की दूसरी मूर्ति प्राप्त हुई हे। जो कुषाणकाल में उत्तर–भारत विशेषतः गंगानदी की घाटी में प्रचलित पद्धति के अनुसार बनाई गई है। इन मूर्तियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में त्रिपुरी में दक्षिण और उत्तर भारत प्रचलित दोनों धम शैलियोँ का प्रभाव था। त्रिपुरी से एक अन्य कुषाणकालीन खण्डित देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो नागपुर संग्रहालय में प्रदर्शित है।[118], धार्मिक प्रतिमाओं के अतिरिक्त लोकजीवन से संबन्धित यक्षिणी की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई है। जो तत्कालीन समाज में शाक्त धर्म की जानकारी देती हैं।

त्रिपुरी से **गुप्त–परिव्राजककाल** की पाँच मातृका मूर्तियाँ चौसठयोगिनी मंदिर भेड़ाघाट में संग्रहीत है।[119], जिसमें ब्राह्मी, इन्द्राणी देवी की प्रहचान मातृदेवियों में की गई है। शेष खण्डित है। ऐसा लगता है कि गुप्तकाल में देवीपूजा की लोकप्रियता बढ़ी तथा सप्तमातृकाओं, सरस्वती, गंगा–यमुना आदि देवियों

की कल्पनाएँ की गईं, जिसमें प्रमुख स्थान विष्णु पत्नी, सुख, धन, समृद्धि एवं सौन्दर्य की देवी लक्ष्मी का था। लक्ष्मी दो रूपों में दिखाई देती है – प्रथम गजलक्ष्मी और द्वितीय श्रीलक्ष्मी। इस काल के शिल्पशास्त्री साक्ष्य से पता लगता है कि इस काल में सप्तमातष्काओं की भी पूजा लोकप्रिय हुई जिसकी पुष्टि साहित्यिक साक्ष्यों से भी होती हैं। **ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, वराही, इन्द्राणी, यमी अथवा चामुण्डा**[120], शक्तियाँ क्रमषः ब्रह्मा, शिव, विष्णु, वराह, इन्द्र, यम की पत्नियों के रूप में स्वीकार की गईं। वस्तुतः सप्त मातृकाएं इन उपरोक्त देवताओं से संबंधित रहीं लेकिन कालान्तर में वे उनसे सर्वथा भिन्न हो गईं। ये करुणा और वात्सल्य की प्रतीक मानी जाने लगीं। उनका यह रूप बड़ा प्रचलित और रूढ़ हो गया।[121], गुप्तशासकों के स्वर्ण सिक्कों पर भी सिंहवाहिनी दुर्गा का अंकन हुआ है, जो संभवतः महिष्मर्दिनी का प्रारम्भिक स्वरूप है।[122]

त्रिपुरी के पूर्वमध्यकालीन समय में शक्ति की उपासना का आम जनता में प्रसार हो चला था। जिसका प्रभाव शैव और वैष्णव मतों पर भी समान रूप से पड़ा। यही कारण है कि शिव के साथ शक्ति और विष्णु के साथ लक्ष्मी की उपासना जोर पकड़ने लगी। शैवों और वैष्णवों ने अपने–अपने सम्प्रदायों को जनप्रिय बनाने के प्रयास में शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया तथा अपने अनुरूप उसकी व्याख्या करके अपनी–अपनी उपासना पद्धतियों में शक्ति को यथोचित स्थान दिया। त्रिपुरी के कलचुरि शासकों ने विभिन्न सम्प्रदायों के साथ शाक्त धर्म को भी प्रोत्सान दिया। कर्पूरमंजरी में शिव–शक्ति के सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है।[123]त्रिपुरी क्षेत्र में कलचुरियों द्वारा शाक्त सम्प्रदाय को दिए गए प्रोत्साहन के प्रमाण अभिलेखीय तथा षिल्पगत मूर्तियों से प्राप्त होते हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों में **कलचुरि नरेश कर्ण** के *पैकोर शिलालेख* [124], में मातृदेवी के गुणों की व्याख्या की गई है। **नरसिंह देव** के *अल्हघाट शिलालेख* [125] (वि. सं. 1216) में देवी अम्बिका (जैन यक्षी) को समर्पित मन्दिर के निर्माण का वर्णन है। **त्रिलोकमल्ल** के *धुरेड़ी ताम्रपात्र* (क.सं. 963)[126] में पार्वती एवं सरस्वती की महिमा का वर्णन है। **युवराज देव** के *बिलहरी शिलालेख* [127] में शक्ति को भवानी, उमा, रुद्राणी, लक्ष्मी, वैदेही के नामों से जोड़ा गया है। इन्हें मनोकामना की पूर्ति करने वाली कहा गया है। **राजा कर्ण** के *गोहरवा ताम्रलेख*[128], में बादामी देवी (जो तपस्वियों के हृदय में निवास करने वाली है) का वर्णन किया गया है। इस प्रकार उपरोक्त शिलालेखीय साक्ष्य त्रिपुरी जनपद के अन्तर्गत शाक्त धर्म की विकसित परम्परा का उल्लेख करते हैं।

त्रिपुरी जनपद में शिल्पशास्त्री साक्ष्यों से भी शाक्त धर्म की जानकारी गुप्तकाल से प्राप्त होती है। इसमें तिगवाँ के कंकाली मन्दिर के द्वार पर 5वीं शती ई. की बनी मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की प्रतिमा हैं। इसी प्रकार दिठवारा के विष्णु मन्दिर में विष्णु की प्रतिमाओं के साथ बनी परन्तु अद्यावधिखण्डित मूर्तियों के लक्ष्मी होने की सम्भावना की जा सकती है। सिन्दूरसी में शैलोत्कीर्ण महिषासुर मर्दिनी को दिखाया गया है, जो उत्तरगुप्तकालीन है। इससे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में गुप्तकाल के समय से ही देवी शाक्त धर्म का प्रचार–प्रसार था। नवीं– दसवीं श्ताब्दी ई. में शैवमत के शाक्तमत में परिवर्तित होने के कारण योगिनी – सम्प्रदाय का जन्म हुआ। **योगिसंप्रदायविसकृति, नवनाथभक्तिसार** आदि ग्रन्थों में योगिनी सम्प्रदाय का वर्णन मिलता हे। शाक्त–तांत्रिक सम्प्रदाय की चरमाभिव्यक्ति कौलमत ही रही है। साधना विधि में विभिन्नता हाने के कारण यह **कौलमार्ग** कहलाया, जो पूर्णरूपेण अद्वैतवादी साधक थे। कौलमार्ग की अनुष्ठान – विधि का मूलआधार योगिनी– चक्र या भैरवीचक्र हैं जिसे कौलचक्र भी कहते हैं। इसके अनुसार साधक अपनी योगिनी के साथ इस चक्र के मध्य में बैठकर पंच–मकार की

साधना करता है। कौलमार्ग के अनुसार भोग के माध्यम से ही योग की उपलब्धि होती है। योगिनी शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में किया जाता हे। तंत्रों में सात योगिनियों की चर्चा की गई हे। **राजशेखर** के अनुसार ये वाममार्गी गुह्रय साधना में भागीदारी होती थीं।[129] योगिनीमंदिर में स्थापित योगिनियाँ एक और भिन्न श्रेणी में आती हैं। जिनका संबन्ध कौलमार्ग से हैं। कौलज्ञाननिर्णय के अनुसार नाथ सम्प्रदाय के प्रथम गुरू मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलमार्ग में योगिनी– आराधना का प्रवेश करवाया। उन्होंने योगिनीकौल नामक एक पंथ चलाया जिसे चंद्रदीप और कामरूप में भैरव के नाम से जाना गया। मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी माना जाता है। योगिनियाँ मंत्रों और साधना के द्वारा इतनी अपरिसीम शक्तियाँ प्राप्त कर लेती थीं। जिनके बल पर वे न केवल मनचाहे कोई भी कार्य करने में समर्थ हो जातीं वरन् स्वयं ही ब्रह्मा, रुद्र और हरि बन जाती थीं।[130]

विवेच्य क्षेत्र के अनेक स्थानों से देवी–शाक्त के विभिन्न रूपों की कलचुरिकालीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें चौंसठयोगिनियों की प्रतिमाएँ प्रमुख हैं, जो भेड़ाघाट के गौरीशंकर मन्दिर के परिकर के चारों और विद्यमान हैं जिन्हें शाक्त सम्प्रदाय के विकसित स्वरूप की प्रचलित परम्परा का संकेत माना जा सकता है। ये प्रतिमाएं वैदिक आर्य एवं अनार्य संस्कृति के मिश्रण के फलस्वरूप समाज में कल्पित हुईं, जिन्हें कलचुरि नरेशों के समय में, अपनी कला में स्थान मिला और ये अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुईं। सप्तमातृकाएँ भी योगिनियों के अन्तर्गत आती हैं, जिनके *ब्राह्मी, माहेश्वरी, वैष्णवी, वज्रहस्ता, योगेश्वरी, अघोरशी* आदि नाम हे। कुछ धार्मिक ग्रन्थों में इन्हें दुर्गा के ही विभिन्न रूप बतलाएँ गया है। जो उन्होंने शुम्भ, निशुम्भ तथा रक्तबीज आदि राक्षसों का वध करने के लिए धारण किए थे। वास्तव में योगिनियों की संख्या सात व आठ है जो कालानतर में चलकर चौसठ योगिनी –सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई।[131]चौसठ योगनियाँ की संख्या को लेकर विद्ववानों में मतभेद है। फिर भी सामान्यतया इनकी संख्या चौसठ ही मानी जाती है। इसी आधार पर अनेक चौसठ योगिनी मंदिरों के निर्माण हुए। भेड़ाघाट का योगिनी मंदिर, चौसठ योगिनीमंदिर के नाम से अवश्य जाना जाता है कि लेकिन वास्तव यहाँ इक्यासी योगिनी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हे। श्री विद्या दहेजिया के मतका समर्थन करते हुए **डॉ. महेशचन्द्र चौबे** ने भी माना कि *–जब सामान्य जनता अपने स्वयं के उत्कर्ष या स्वास्थ्य– कामना के लिए मंदिर निर्माण करती थी तो वे चौसठ योगिनियों के बनते थे। जब कोई शासक अपने राज्य के सीमाओं में वृद्धि अथवा अपने स्वास्थ्य लाभ हेतु मंदिर बनवाता था तो ये इक्यासी योगिनियों के बनते* थे।[132] भेड़ाघाट का योगिनीमंदिर भी इक्यासी कोष्ठों का है, जिनमें योगिनियाँ की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित है। भारत के योगिनी मंदिरों में जबलपुर का चौसठयोगिनी मंदिर सबसे बड़ा है। इसके घेरे का व्यास 1254 फुट है जिसके मध्य में शिव मंदिर है। इसका निर्माण कलचुरि द्वितीय नरेश युवराजदेव के समय दसवीं शताब्दी में हुआ था। इसके मध्य भाग में गौरीशंकर के मंदिर में वरेश्वर शिव की कल्याणसुन्दर प्रतिमा है। शिवमंदिर का निर्माण जयसिंह(1159–1166 ई.) की रानी गोसलदेवी ने अपने पुत्रों, विजयसिंह और अजयसिंह के आरोग्य होने पर कृतज्ञता–स्वरूप करवाया था।[133] प्रत्येक येागिनी प्रतिमा की पाद पीठ पर उनके नाम उत्कीर्ण हैं। जिनका अध्ययन **श्री आर. डी. बनर्जी[134], कनिंघम[135], हीरालाल, डॉ.अजय मित्र शास्त्री[136], और डॉ. आर. के. शर्मा**[137] ने किया है। इनके नाम है– *श्री थकिणी, श्री वीरेन्द्री, श्री फणेन्द्री, श्री क्षत्रधर्मिणी, श्री शतनुसँवरा, श्री भीषणी, वैष्णवी, श्री ढढ्ढरी, श्री घंटाली, श्री थीक्किणी, श्री जहा, श्री रंगिनी, श्री दर्प्पहारी, श्री वंधणी, श्री डाकिनी, श्री जान्हवी, श्री गंधारी, श्री ऋत्पमादा, श्री देड्उरी, श्री लम्पटा, श्री णालिनी, श्री उत्ताला,*

श्री गागिंनी, श्री इन्द्राणी, श्री गहनी, श्री इन्द्र जाली, श्री ठाणी, श्री ईश्वरी, श्री हंसिनी, श्री पद्मंहसा, श्री तपनी, श्री टकारी, श्री माहेश्वरी, श्री ब्रह्माणी, श्री एंडिणी, श्री चण्डिका, श्री अजिता, श्री मानन्दा, श्री छत्रसँवरा, श्री रिढालीदेवी, श्रीउभेरवर्द्धनी, श्री अःखला, श्रीपिंगला, श्रीषण्डिनी, श्रीतेरंवा, श्रीनीलडंवरा, श्री पांडवी, श्री यमुना, श्री औंडारा, श्री जांववी, श्री खेमखी, श्री थिरचित्ता, श्री सर्व्वतोमुखी, श्रीमंदोदरी, श्री वाराही, श्री वीभत्सा, श्री नन्दिनी, श्री एरूडी, श्री अंतकारी, श्रीरणाजिरा, श्रीकामदा, श्री रूपिणी, श्री सिंहासिंहा, श्री कल्याणदेवी।

मूलतः यही योगिनी मंदिर योगिनी कौल सम्प्रदाय की उपासना का केन्द्र था जिसे इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने बनवाया था। किन्तु अल्हणदेवी के काल में इसकी संरचना और पूजाविधि में परिवर्तन हुआ और पाशुपतों का केन्द्र बन गया। महाराज गयाकर्ण की **राजमहिषी अल्हणदेवी** स्वयं पाशुपत सम्प्रदाय में रुचि रखती थीं। यही कारण था कि उन्होंने भेड़ाघाट के वैद्यनाथ की देख भाल के लिए लाटदेश (गुजरात) से रुद्रराशि नामक शैवाचार्य को यहाँ बुलवाया था। अतएव भेड़ाघाट का योगिनी मंदिर पाशुपतों के अधीन हो गया तो कट्टरवादी कौलसम्प्रदाय के समर्थकों ने अपने उपासनागृह के लिए एक नये स्थान गोपालपुर को चुना जो भेड़ाघाट से एक किलोमीटर दूर था। इसमें कलचुरियों के एक सामंत शक्ति उपासक *गोपालदेव* की सहायता मिली। **गोपालदेव** *के पुजारी अभिलेख में उल्लिखित है कि गोपालदेव ने उपासना से दुर्गा को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त किया था। इतना ही नही उसने केदार, प्रयाग, वाराणसी, गोपालपुर(नर्मदातट स्थित) तीर्थों की यात्रा की थी।*[138] शिलालेख में, 37 श्लोक तक शक्तिदेवी के सौम्य, रौद्र दोनों रूपों का लक्षणों सहित वर्णन किया गया है। इसमें आयुध, प्रतिमा लक्षण, वाहन आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन है – लेख में उल्लिखित देवी हैं–*वराही, वैष्णवी, त्रयी, नरसिंही, ऐन्द्री, चामुण्डा, त्वरित, त्रिपुरा, मारीचा, विजया, महामाया, महाकाली, तारा, कामाक्षी, तोतला एवं चर्चिका, महालक्ष्मी, क्षमा, दया, सिद्धि, सरस्वती, गौरी, कीर्त्ति, प्रज्ञा पराजिता, अम्बिका, महिषमर्दिनी, चण्डिका। साथ देवों की विभिन्न स्वरूपों की पूजा की थी,* इत्यादि। वर्तमान भी गोपालपुर में देव–देवियों की अनेक प्रतिमाओं के भग्नावशेष पड़े हुए है, ये इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है कि कलचुरिकाल में गोपालपुर एक शक्तिपूजा का प्रमुख तीर्थ केन्द्र बन गया था। बिलहरी से भी योगिनी प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें कुछ प्रतिमाएँ रानी दुर्गावती संग्रहालय, जबलपुर में संग्रहीत हैं। इन योगिनी प्रतिमाओं का प्रचार–प्रसार सिर्फ जबलपुर कटनी के क्षेत्रों तक सीमित नहीं था, बल्कि रायपुर, बिलासपुर, रतनपुर तथा महाराष्ट्र में भी इनका प्रभाव पड़ा। प्रतिमाओं के पादपीठ पर अंकित पृथक नामों का अपना एक पृथक महत्व है। लगभग सभी प्रतिमाएं चतुर्भुजी, विविध आयुध एवं अलंकरण युक्त स्थानक एवं आसन स्थिति में हैं समय की दृष्टि से इन्हें लगभग 10 वीं शती ई. में देखा जा सकता है। इनके अलावा क्षेत्र में लक्ष्मी, पार्वती, विनायकी, स्वाहा तथा सप्तमातृकाओं की प्रतिमाएँ भी प्राप्त होती है। गांगेयदेव[139],कर्ण, यषःकर्ण तथा विजयसिंह की मुद्राओं में गजलक्ष्मी का अंकन दिखाया गया है। अतः स्पष्ट है कि त्रिपुरी के धार्मिक परिदृश्य में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के होते हुए भी शाक्त धर्म का प्रभाव था।

बौद्ध धर्म– त्रिपुरी जनपद में बौद्ध धर्म की प्राचीनता ई. पूर्व द्वितीय शती से दिखाई देती है। जिसमें ग्वारीघाट से प्राप्त बुद्ध मूर्तियों में **सर्वप्रथम कुषाणकाल** से **गांधाार शैली** की प्रतिमाओं का विशिष्ट स्थान है।[140] इस प्रकार की मूर्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म द्वितीय शती ई.पू. से बहुत पहले ही प्रवेश कर चुका था और द्वितीय सदी ई.पू. तक उसका शिल्पांकन होने लगा था। कुछ

विद्वानों का मत है कि त्रिपुरी जनपद में गुप्तकाल के समय बौद्धधर्म का प्रचार–प्रसार कम था। लेकिन 1952 के त्रिपुरी उत्खनन के दौरान वहाँ ईंट से निर्मित भवन मिले हैं, जिन्हें विद्वानों ने *सातवाहनकालीन बौद्ध विहार* माना है। यहाँ के स्तरों से स्वस्तिक, पूर्णपट्, त्रिरत्न, ठप्पांकित मृदभाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। उत्खननकर्ता ने माना है कि त्रिपुरी में ईसा पूर्व प्रथम शती से लेकर द्वितीय शताब्दी के अंत तक बौद्ध धर्म लोकप्रिय था।[141]सातवाहन काल के बाद बौद्ध धर्म का त्रिपुरी जनपद के बोधिवंश राजाओं द्वारा प्रचार हुआ।[142], इस क्षेत्र में उत्तर गुप्तकालीन बौद्धधर्म के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। **ह्वेनसांग** ने भी सातवीं शताब्दी में त्रिपुरी में बौद्धधर्म के प्रचलन का उल्लेख किया है।तेवर से एक मृण्ड्मय मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें उत्तर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में–**"श्रीनालन्दा महाविहाराचार्य भिक्षु सङ्घस्य"** लेख उत्कीर्ण है। संभव है कि त्रिपुरवासी बौद्ध नालंदा से अपने साथ स्मृति चिह्न के रूप में लाया हो। कलचुरिकाल में बौद्धधर्म की लोकप्रियता यहाँ से प्राप्त प्रतिमाओं से स्पष्ट है। त्रिपुरी के **कलचुरि नरेश कर्ण** के *सारनाथ शिलालेख* (क.सं. 810) से ज्ञात होता है कि वहां उसने महाबोधि महाविहार बनवाया, वहाँ महायान् पंथ की मामका नामक उपासिका ने **"अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता"** नामक ग्रन्थ की प्रति तैयार करवाकर वहाँ के भिक्षुओं को अर्पण किया था।[143] **विजयसिंह** के *रीवा अभिलेख* (क.सं. 944) में बौद्ध धर्म के विद्यादेवता मंजुघोष की स्तुति प्रारम्भ की गई है। त्रिपुरी, गोपालपुर, बिलहरी, कारीतलाई, राजाराम डुंगरिया से बौद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें गोपालपुर से उपलब्ध बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, एवं तारादेवी की प्रतिमाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। एक प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है कि धेनुआ नामक स्त्री ने बोधिसत्व प्रतिमा बनवाई थी। भेड़ाघाट (चौंसठ योगिनी मंदिर में स्थित बौद्ध देवी तारा), तिलवाराघाट (में बौद्धदेवी तारा) तेवर से प्राप्त पूर्ण विकसित कमलद्वय के आसन पर प्रदर्शित अन्य बोधिसत्व प्रतिमाएँ लेखयुक्त है। निश्चय ही ये यहाँ बौद्धधर्म के विकसित होने की कहानी कहती है। इस काल में विष्णु के दशावतारों में बुद्ध का अन्तर्भाव होने लगा था, इसलिए अनेक शिल्याङ्कनों में उनकी मूर्ति विष्णु की प्रभावली में भी उत्कीर्ण की गई मिलती हैं।[144], इस प्रकार कला के महान उन्नायक कलचुरि सम्राटों के काल में अन्य धर्मों की मूर्तिकला के साथ–साथ बौद्ध मूर्तिकला का भी विकास हुआ। कालान्तर में पूर्व निश्चित लांक्षणों के साथ – साथ उसने अन्य दिशाओं में भी कलाकारों ने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया फलस्वरूप अधिक अलंकरणों के कारण भावपक्ष दब सा गया और यान्त्रिकता तथा रूढ़िभाव का विस्तार हुआ।त्रिपुरी जनपद की बौद्ध प्रतिमाएँ फिर भी अपनी कुछ कलागत विशेषताओं के लिए प्रख्यात रहीं। कलाकार ने बौद्ध प्रतिमाओं के निर्माण में शास्त्रसम्मत विधानों के अनुसरण के साथ ही स्थानीय मान्यताओं के रूपायन का भी प्रयास किया है। जिनकी प्रमुख विशेषता है–प्रशान्त मुख पर अदम्य–सौम्यता का भाव, ऑख कटीली, चेहरा अण्डाकार, डुड्डी उठी हुई, कोहनी नुकीली, मस्तक पर उश्णीश तथा रत्नजड़ित अलंकृत मुकुट, प्रतिमाओं में विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ एवं आसन– भूमि स्पर्शमुद्रा, व्याख्यान मुद्रा, धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा, अभय मुद्रा, वरद मुद्रा, ललितासन, पद्मासन इत्यादि। प्रलम्बकर्ण, आजानुबाहु, विस्तृत वक्षस्थल, प्रतिमाओं में राजसी परिधानों का अंकन, सुन्दर अलंकरणों की बहुलता, षरीर के अंगों के अनुसार सुकुमारता एवं नमनीयता का प्राचुर्य, पूर्वमध्यकालीन बौद्ध धर्म के अस्तित्व की ओर इंगित करती है। इस प्रकार त्रिपुरी की बौद्ध मूर्तिकला अपनी स्थानीय मान्यताओं के रूपायन की दृष्टि से भारतीय बौद्ध धर्म में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

जैन धर्मः– त्रिपुरी जनपद में जैन धर्म का प्रचार–प्रसार दिखाई देता है। जैन महापुराण से ज्ञात होता है कि ऋषभनाथ ने चेदि देश में भ्रमणकर धर्मप्रचार किया था।[145] इससे यहॉ के जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। तेवर बिलहरी, मनकेड़ी, राजाराम डुगरिया से कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिली हैं, जिन पर सम्पूर्ण शिखराकृति आमलक, कलश सदृश खुदे हुए हैं। कार्योत्सर्ग मूतियाँ जो सपरिकर हैं, उन पर गुप्त मन्दिरों की षैली का बहुत असर दिखाई देता है। ऐसी अनेक प्रतिमाएं मुनिकान्तिसागर के निजी संग्रहालय में संग्रहीत थीं।[146]इनका परिकर सुन्दर एवं मौलिक है जिनमें दो कीचक उड़ते दिखाए गए हैं, यद्यपि मुनिकान्ति सागर जी ने समय की दृष्टि से इन्हें गुप्तकालीन माना है। कलचुरि नरेशों ने जैन धर्म का भी बड़ा प्रचार–प्रसार किया, इसे हेतु अनेक मन्दिर एवं प्रतिमाओं का निर्माण करवाया। गयाकर्ण के बहोरीबंद लेख में[147],साधु सर्वधर के पुत्र महाभोज द्वारा तीर्थंकर शांतिनाथ के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है, जो आज भी सुरक्षित है। त्रिपुरी से प्राप्त खण्डित जिन प्रतिमाओं की पीठ पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि उसे मथुरा निवासी जसदेव एवं जसपाल ने ई.संवत् 1148 (क.सं. 900) में बनवाया था।[148] इसके अतिरिक्त क्षेत्र के अन्य विभिन्न स्थानों से प्राप्त जैन धर्म से संबंधित अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। कटनी में जैन मन्दिर (तोरणद्वार), कारीतलाई की पांच जिन प्रतिमाओं, कुलान, कोनी, हनुमान ताल जबलपुर, तिगवाँ की पार्ष्वनाथ मूर्ति, तेवर की ऋषभनाथ एवं अन्य तीर्थंकर, प्रतिमाओं पनागर, बहोबंद की विशाल शांतिनाथ, मझौली, सुनहरा, स्लिमनाबाद की नवग्रह युक्त जैन प्रतिमाओं का विशेष महत्व दिखाई देता है। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ पं. रविशंकर शुक्ल संग्रहालय (रा.दु.वि.वि., जबलपुर), महंत गुरु घासीदास स्मारक संग्रहालय रायपुर, रानी दुर्गावती संग्रहालय जबलपुर तथा अन्य संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं।

अन्य धार्मिक सम्प्रदाय ब्रह्मा :– ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता माना जाता है। त्रिपुरी जनपद में ब्रह्मा की उपासना भी प्रचलित थी। राजशेखर ने ब्रह्मा को भगवान स्वयम्भू, चतुराणमुख ब्रह्मदेव,[149], प्रजापति, विधाता,[150], परमेश्वर[151], नामों से सम्बोधित किया है। इसकी पुष्टि अभिलेखों एवं शिल्पकला से भी होती है। तिगवाँ के गुप्तकालीन कंकाली मन्दिर में तथा सिन्दूरसी के शैलोत्कीर्ण शेषशायी विष्णु के नाभि से निकलते हुए कमल पर ब्रह्मा को दिखाया गया है।[152] कलचुरि काल के अभिलेखों में ब्रह्मा की वंदना की गई है और इनका सम्बन्ध अत्रि ऋषि से जोड़ा गया है। कलचुरि नरेश यशःकर्ण के खैरहा तथा जबलपुर ताम्रपत्र (क.सं. 823)[153] में ब्रह्मा की (प्रथम श्लोक में) वंदना की गई है जिसमें **''यथा सिद्धि'' ओ नमो ब्रह्मणे''** मिलता है। जयसिंह के जबलपुर ताम्रलेख (क.सं. 918)[154] में भी ब्रह्मा की स्तुति की गई है। इसी जयसिंह के तेवर शिलालेख (क.सं. 928)[155] में त्रिमूर्ति का उल्लेख मिलता है जिसमें ब्रह्मादि देवताओं द्वारा देवाधिदेव महादेव की सेवा करने का सन्दर्भ मिलता है। क्षेत्र की शिल्पकला में ब्रह्मा की प्रतिमाएँ सामूहिक तथा स्वतंत्र दोनों रूपों में प्राप्त हुई हैं, जो संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। इससे स्पष्ट है कि जबलपुर परिक्षेत्र में अन्य सम्प्रदायों के साथ–साथ ब्रह्मा की उपासना भी प्रचलित थी।

सूर्य :– सूर्य देवता के उपासक सौर कहलाते थे। सूर्य की उपासना और उसका आवाहन वैदिक युग से प्रचलित रहा है। त्रिपुरी जनपद में गुप्तकाल तक सूर्य प्रतिमा अभी तक तो प्राप्त नहीं हुई, लेकिन गुप्तकालीन नरेष, कुमारगुप्त, स्कंदगुप्त तथा उच्चकल्प के महाराज सर्वनाग के अभिलेखों में सूर्य मन्दिर के निर्माण तथा जीर्णोद्धार का उल्लेख अवश्य आया है।कलचुरि काल में भी सूर्य उपासना होती थी। इसके प्रमाण कलचुरि साम्राज्य के अन्तर्गत पाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की मूर्तियों से मिलते है। धार्मिक ग्रन्थों

में सूर्य को पूषण, भाग, विश्ववत्, विष्णु और मित्र आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। राजशेखर ने सूर्य को *सूर्यदेव, भास्कर,*[156] *दिनमणि*[157] आदि नामों से सम्बोधित किया है। सूर्य की स्वतंत्र एवं सामूहिक दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ इस क्षेत्र में पाई गयी है जिन्हें संग्रहालयों में प्रदर्शित किया गया हैं। इस प्रकार की प्रतिमाएँ गोपालपुर, बिजौरा (बरगीबांध), त्रिपुरी, पनागर, बिलहरी, भेड़ाघाट, कारीतलाई आदि स्थानों से प्राप्त प्राप्त हुई है। इससे स्पश्ट है कि इस काल में सूर्य–उपासना प्रचलित थी।[158]

गणेश :– गणपति का पूजन भारत में छठी शताब्दी ई. में प्रारम्भ हुआ था। ये बुद्धि के देवता थे और विघ्नविनाशक समझे जाते थे। प्रत्येक कार्य के आरम्भ में विघ्नों के निवारण के लिए गणपति पूजन की परम्परा हो गई थी। त्रिपुरी जनपद में गाणपत्य का अस्तित्व भी तत्कालीन अभिलेखों तथा शिल्पकला से दिखाई देता है। अभिलेखों में षिव उमा के साथ गणपति की वन्दना का भी उल्लेख मिलता है। शिल्पकला में वे अपने पिता, शिव तथा माता – पार्वती के साथ तथा यत्र–तत्र स्वतंत्र रूप में भी दिखाई देते हैं। त्रिपुरी के कर्ण नरेश के *पैकोर शिलालेख* में गणपति को रक्षक कहा गया है। इसी **कर्ण नरेश** के *रीवा अभिलेख* (क.सं. 812)[159] में तथा**जयसिंह** के *रीवा ताम्रलेख* (क.सं. 926) में गणेश की वंदना की गई है और उनके हैरम्ब रूप का वर्णन किया गया है तथा साथ ही गणनायक की उपाधि दी गई है। **त्रैलोक्य मल्ल** के *धुरेड़ी ताम्रलेख* (क.सं. 963) आरम्भ में ही गणेश की स्तुति की गई है। विवेच्य क्षेत्र के शिल्पकारों ने गणेश को विभिन्न रूपों में दिखलाया है।

कार्तिकेय :– शिव के पुत्र कार्तिकेय की जानकारी गुप्तकाल से देखी जा सकती है। कुमार गुप्त के सिक्कों पर इसकी छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। त्रिपुरी जनपद में कार्तिकेय की उपासना का ज्ञान कलचुरि अभिलेखों और मूर्तिशिल्प से भी होता है। **युवराज देव द्वितीय** के *बिलहरी अभिलेख* के तीसरे श्लोक में शड़ानन कार्तिकेय का उल्लेख प्राप्त होता है। **कोकल्ल द्वितीय** के *गुर्गी शिलालेख* में कलचुरि राजा युवराज देव प्रथम द्वारा कार्तिकेय को समर्पित मन्दिर बनवाने का उल्लेख है।

इस क्षेत्र से कार्तिकेय की कलचुरिकालीन प्रतिमाएं बहुलता में प्राप्त हुई हैं। रानी दुर्गावती संग्रहालय जबलपुर में संग्रहीत एक प्रतिमा में कार्तिकेय मयूर को दाना खिलाते दिखलाए गए हैं। इसी संग्रहालय में त्रिपुरी से प्राप्त कार्तिकेय की बारहभुजी प्रतिमा भी संरक्षित है। इसके अतिरिक्त अनेक गौण देव–देवियों की जानकारी भी प्राप्त होती है। जो बहुतायत समाज के लौकिक जीवन से जुड़े हुए देव थे।

वैदिक यज्ञ–याज्ञादि तथा पौराणिक तीर्थ, दानादिः– प्राचीन भारत में विविध धर्मिक सम्प्रदायों तथा दार्शनिक विचारों के विकसित होने पर भी प्रायः एक से धार्मिक कर्मकाण्डों का विकास हुआ था। विभिन्न कार्यो के करने से धर्म की वषद्धि होती है। इनमें मुख्य है– वैदिक यज्ञ–यागादि तथा पौराणिक तीर्थ, दानादि। त्रिपुरी जनपद में वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों की जानकारी प्राप्त होती है। जो इस प्रकार है–प्राचीन भारतीय संस्कृति में यज्ञों का बहुत अधिक महत्व रहा है। शतपथ ब्राह्मण में इसको श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। यज्ञ पद के अनेक अर्थ है।– देवपूजन, परोपकार, कर्त्तव्यपालन। कलचुरि अभिलेखों में तत्कालीन समाज में होने वाले धार्मिक यज्ञों की जानकारी प्राप्त होती है। लेखों में त्रिपुरी के कलचुरी नरेश लक्ष्मणराज प्रथम को वेदों, श्रुतियों और धार्मिक आचार–विचारों में रत कहा गया है।[160] इस काल में अग्निहोत्र, सोम तथा अन्य वैदिक यज्ञों की जानकारी प्राप्त होती है। **शंकर गण** के *अमोना* तथा (क.सं. 347)161,, **बुद्धराज** के (क.सं. 360)[162] अनेक ताम्रलेखों[163] में ब्राह्मणों द्वारा किये गए बलि, चरु, वैष्वदेव, अग्निहोत्र यज्ञों की जानकारी प्राप्त होती है। निश्चय ही ये यज्ञ राज्याश्रय के अंतर्गत होते रहे

होंगे। **लक्ष्मणराज द्वितीय** के *कारीतलाई अभिलेख* में[164] उसके प्रधानमंत्री सोमेश्वर द्वारा यज्ञादि नियमों का पालन करने तथा यज्ञकार्य सम्पन्न करने का विवरण है। उसने इस अवसर पर रेश्मी वस्त्र उतारकर ''क्षोमवस्त्र'' धारण किए थे। उनकी पत्नी ने भी इस कार्य में पूरा सहयोग दिया। इन अभिलेखों में यज्ञादि कार्य करने वाले पुरोहित की जानकारी भी मिलती है। **विजयसिंह** के *रीवा शिलालेख* (क.सं. 944) से सोम और श्येन आदि यज्ञों की जानकारी प्राप्त होती है।[165] त्रिपुरी जनपद के कलचुरि समाज में **पंच महायज्ञों** की जानकारी प्राप्त होती है, जो प्रत्येक परिवार का व्यक्ति इन ऋणों को पूरा कर मुक्ति प्राप्त करता था। ये हैं – *देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ।* त्रिपुरी के **कलचुरि नरेश शंकरगण** के *सनखेड़ा* ताम्रलेख[166] में इन पाँच महायज्ञों के सम्पादन कार्य का संदर्भ मिलता है। **विजयसिंह** के रीवां शिलालेख (क.सं. 944)[167] में ब्राह्मण रामचन्द्र द्वारा इन यज्ञों के कार्य पूर्ण करने की जानकारी मिलती है। इनमें ब्रह्मयज्ञ – वैदिक अध्ययन एवं ज्ञानार्जन के माध्यम से होता था। शेष यज्ञ देवताओं, पितरों तथा अतिथियों को अर्पण किया जाता था। **लक्ष्मणराज द्वितीय** के *कारीतलाई शिलालेख* से भी उपरोक्त यज्ञों की जानकारी प्राप्त होती है।

पूर्व मध्यकाल में पौराणिक धर्म के प्रभाव में तीर्थयात्रा, व्रत और दान के उल्लेख मिलते हैं। इन्हें मनुष्य अपने को मोक्ष प्राप्ति हेतु करता था। तीर्थ यात्रा एवं दान के अनेक प्रसंग (त्रिपुरी) कलचुरि अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। **कर्ण** के *बनारस ताम्रलेख* (क.सं. 797)[168], में उल्लेख है कि कर्ण के पिता गांगेयदेव ने तीर्थस्थल त्रिवेणी में स्नान कर, सदाशिव की पूजा कर ब्राह्मण को एक गांव दान में दिया था। **यशःकर्ण** के *खैरहा ताम्रलेख* (क.सं. 823)[169] से ज्ञात होता है कि गांगेयदेव ने अपनी 100 रानियों सहित प्रयाग के एक पवित्र वटवृक्ष के नीचे अपने प्राण त्यागे थे। **कोकल्लदेव द्वितीय** के *गुर्गी अभिलेख*[170], से पता चलता है कि शैवाचार्य शिव द्वारा वाराणसी में गंगा किनारे एक मठ का निर्माण कराया गया था। **जयसिंह** के *जबलपुर* (क.सं. 920)[171], एवं ***करनवेल शिलालेख*** में उल्लेख है कि आचार्य विमलशिव ने यहाँ धार्मिक कार्य किए और ब्राह्मणों को बहुमूल्य उपहार में दिए। इस प्रकार के कार्य सम्पादन से उसने देवऋण से मुक्ति प्राप्त की, स्वयं इसके तथा गोकर्ण द्वारा गया की तीर्थयात्रा का भी वर्णन प्राप्त होता है। **विजयसिंह** के *कुम्भी अभिलेख* (क.सं. 932)[172] में तुलापुरुष (बहुमूल्य रत्न) दान की चर्चा की गई है। **लक्ष्मणराज द्वितीय** के *कारीतलाई शिलालेख* में ***''विश्वजीत''*** नामक यज्ञ एवं दान का उल्लेख भी है।[173]**युवराज देव** के*बिलहरी लेख* में – *राजों, अश्वों, श्वेत वस्त्रों, बहुमूल्य हारों एवं चंदन* इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है।

अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में यज्ञ–यज्ञादि, दान, तीर्थ यात्रा अादि की आस्था थी। उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन त्रिपुरी की धार्मिक परम्परा समन्वय वादी रही है। विविध धर्म सम्प्रदायों और उनके सांस्कृतिक अवदान को आदरपूर्वक अंगीकार कर समाज अभिभूत हुआ। विविधता में एकता स्थापित हुई है। इतिहास के विविध युग में विविध धर्म के उतार–चढ़ाव देखे फिर भी वैदिक परम्परा निरन्तरता बनी रहीं। अतः त्रिपुरी की धार्मिक परम्परा प्राचीन काल से आज भी प्रवाहमान बनी हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1.शर्मा राजकुमार, सुल्लेरे सुशीलकुमार, गुप्त चन्द्रशेखर : कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–1, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–19

2. एपियाग्राफिया एंडिका, भाग–1 पृष्ठ–255

3. महाभारत, आनन्द आश्रम प्रेस पूना,1942, 1.5.7.2

4. कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–1, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–18

5. महापुराण – 2.4.287, तुलनीय, वही पृष्ठ–18

6. अंगुत्तरनिकायपालि, प्रथम भाग,सं. स्वामी द्वारिकादाशास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 2002 पृष्ठ– 197

7. चेतिय जातक, क्रमांक– 422, जातक, हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग वि.सं. 2013

8. कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–2, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–272

9. मिराशी, वा. वि., कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम् (का. इ. इ.), खण्ड 4, इंसक्रिप्शन्स ऑफ दि कलचुरि चेदि एरा, ऊटकमंड, 1955, अभिलेख क्र. 12, 13, 14, 15

10. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र.42,50,53,58

11. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र. 42

12. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र.56

13. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र. 43

14. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,वही परिशिष्ट. 4

15. कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–2,, नई दिल्ली, 1998, पष्ठ–273

16. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र. 82

17. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, खण्ड 4,अभिलेख क्र. 91

18. शर्मा, आर. के. – क्वानेज आफ सेन्ट्रल इण्डिया, न्यू दिल्ली, 2011

19. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–3, पंक्ति–23, पृष्ठ–83.

20. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ –225.

21. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्,, पंक्ति–4, पृष्ठ – 236.

22. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग–1, पृष्ठ–160.

23. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–3, पंक्ति–21, पृष्ठ–283

24. .एपिग्राफिका इण्डिका, पष्ठ – 166.

25. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, . पंक्ति–6, पष्ठ–289.

26. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग–15, पृष्ठ–138.

27. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, पृष्ठ–165–289.

28. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पंक्ति–30, पृष्ठ–16.

29. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ–152.

30. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्,, पृष्ठ–35.

31. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ–146.

32. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ–236.

33. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ – 146.

34. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ – 146.

35. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग–9, पृष्ठ–170.

36. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, पृष्ठ–289.

37. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ–289.

38. राय, उदयनारायण–गुप्तसम्राट और उनका काल, इलाहाबाद, पष्ठ–70.
39. शास्त्री, अजयमित्र–त्रिपुरी, भोपाल, 1971 पृष्ठ – 160.
40. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, पृष्ठ,313.
41. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पष्ठ 42.
42. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख संख्या 50.
43. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख संख्या,45,
44. जर्नल सोसायटी ऑफ बंगाल, ग्रन्थ–30, पृष्ठ–317, एपिग्राफिया इण्डिका, पष्ठ–254.
45. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 58.
46. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1971, पृष्ठ–161.
47. शर्मा, राजकुमार–म.प्र. के पुरातत्त्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, भोपाल, पृष्ठ–142
48. पाठक, व्ही. एस.– शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1960, पृष्ठ–8.
49. शर्मा, राजकुमार, सुशील कुमार सुल्लेरे, गुप्त, चन्द्रशेखर, कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–2,आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–278
50. शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1960, पृष्ठ–6.
51. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 98.
52. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख संख्या – 96
53. चित्रं यच्च सरस्वतीकृतरतिः श्रीकण्ठपूजा परः, वही, अभिलेख पृष्ठ–241, श्लोक 69
54. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग–79, पृष्ठ–77.
55. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृष्ठ 306–307, तुलनीय, कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–2, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–278
56. कलचुरि राजवंश और उनका युग, खण्ड–2, नई दिल्ली, 1998 पृष्ठ–278
57. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1971, पृष्ठ–160.
58. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 58.
59. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पृ. 60
60. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, वही पृष्ठ – 234
61. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्,, वही, अभिलेख 56, श्लोक.01, तुलनीय, कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–279
62. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख 56,श्लोक.08, कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, पृष्ठ–279
63. वही, कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–279
64. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख 46, श्लोक.05
65. कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–279
66. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, मध्यकालीन धर्मसाधना, इलाहाबाद, 1952, पृष्ठ–41
67. कर्पूर मंजरी, सं. श्री रामकुमार आचार्य, वाराणसी,1963, पृष्ठ – 1–11.
68. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 36
69. पाठक, व्ही. एस.– शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1960, पृष्ठ–25
70. कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–280
71. भवनगर अभिलेख, पृष्ठ–186–187
72. कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–281
73. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख संख्या – 46.
74. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख संख्या – 45.
75. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अंक–2, पंक्ति–7.

76. कलचुरि राजवंश और उनका युग, पृष्ठ–282
77. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–2, श्लोक–52.
78. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, वही,
79. कलचुरि राजवंश और उनका युग, दिल्ली, 1998, पृष्ठ–282
80. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1
81. शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, पृष्ठ–27, 30.
82. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 46, पृष्ठ 5, 17
83. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग – 4, अंक–1.
84. कलचुरि राजवंश और उनका युग, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–285
85. शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, पृश्ठ–341.
86. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 237
87. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 231.
88. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 45, पृष्ठ – 43–44.
89. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 287–288
90. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 45, पृष्ठ – 43–44.
91. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 64, श्लोक–6.
92. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 296
93. दि हैहय ऑफ त्रिपुरी एण्ड देअर मूवमेन्ट, मेमोरियल ऑफ आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया न.23, कलकत्ता, 1931, पृष्ठ–78.
94. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, खण्ड–2, 1998 पृष्ठ – 291
95. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली,खण्ड–2, 1998 पृष्ठ – 302
96. लूणिया, वी. एम.– प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं संस्कृति इतिहास, इन्दौर, पृष्ठ–47, 66, 79, 84
97. कालिदास–रघुवंशम् (सम्पादित), वाराणसी, पृष्ठ–66.
98. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 42, ष्लोक क्रमांक–33, पृष्ठ–43.
99. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 47, पृष्ठ – 43.
100. ॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 53, श्लोक–13.
101. शर्मा, आर. के.– दि कलचुरीज एण्ड देयर टाइम्स, दिल्ली, पृष्ठ–218.
102. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 37, पंक्ति 1–3, पृष्ठ–18.
103. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, – भाग–4, अभिलेख संख्या – 39–40.
104. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 41.
105. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 67.
106. शर्मा, आर. के. – दि कलचुरीज एण्ड देयर टाइम्स, दिल्ली, पृष्ठ–219.
107. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख क्रमांक – 48, पृष्ठ–4.
108. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–2, पृष्ठ – 433.
109. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ – 22.
110. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, पूर्वोक्त– अभिलेख क्र. 88
111. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख क्र. 106
112. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख क्र. 100 श्लोक.–32
113. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, अभिलेख क्र. 108, श्लाक–9–10
114. कनिंघम, आर्किर्योलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, खण्ड 13, पृ.–4
115. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 22

116. शर्मा, आर. के. एवं मिश्रा, एस. एन.– एक्सकेवेशन्स एट ककरेहटा,दिल्ली,पृष्ठ.205
117. शास्त्री, अजयमित्र (सम्पादक– डॉ.राजकुमार शर्मा)– त्रिपुरी, भोपाल, 2009, पृष्ठ–148
118. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ–132
119. त्रिपुरी, भोपाल, 2009, पष्ठ–132, स्त्री–मूर्तियाँ संख्या क्र.–22,30, 67,67अ, 73
120. मिश्र, इन्दुमती–प्रतिमा विज्ञान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, पृष्ठ–157.
121. भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ–607.
122. गुप्त परमेश्वरी लाल– गुप्त सम्राज्य, वाराणसी, पृष्ठ 499–500.
123. कर्पूरमंजरी– 1.3, सम्पादन–श्री रामकुमार आचार्य, वाराणसी, 1963
124. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या–50, पृष्ठ 251–252.
125. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या–62, पृष्ठ–323–324.
126. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 72, पृष्ठ–371.
127. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 45.
128. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 50, पृष्ठ–255.
129. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 304
130. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, खंड 23, नं. 4, दिसम्बर 1952, पृ. 366
131. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 304
132. विद्या, दहेजिया, योगिनी कल्ट एंड टैम्पल्स, न्यू देहली, 1986, पृष्ठ– 125, तुलनीय, कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 304
133. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998से उद्धृत पृष्ठ – 304
134. बनर्जी, आर. डी.– दी हैहयाज आफ त्रिपुरी एण्ड देयर मानुमेण्ट्स, कलकत्ता, 1931, पृष्ठ– 78–80
135. कनिंघम,ए.– आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, जिल्द 9, पृष्ठ– 63–70
136. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ–165–168
137. शर्मा, आर. के.– दि टेम्पुल आफ चौंसठ योगिनी ऐट भेड़ाघाट, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ–48–176
138. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998,से उद्धष्त पृष्ठ – 305
139. शर्मा, आर. के. क्वानेज आफ सेन्ट्रल इण्डिया, न्यू दिल्ली, 2011 चित्र फलक–44
140. अहिरवार, रामकुमार– त्रिपुरी की मूर्तिकला, दिल्ली, 2004, पृष्ठ– 135
141. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ 28, 29, 41, 42, 115.
142. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ–115.
143. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–94.
144. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 94.
145. महापुराण –2.4.287
146. मुनिकान्ति सागर–खण्डहरों का वैभव, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1959, पृष्ठ – 62–63.
147. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, खण्ड–1, अभिलेख संख्या – 59.
148. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ–12.
149. काव्यमीमांसा, गंगासागर राय, वाराणसी, 1984, पृष्ठ– 3, 56
150. विद्धशालभंजिका, सं. रमाकान्त त्रिपाठी, वारणसी, 1965, 2/43–44
151. बालरामायण, गंगासागर राय, वाराणसी, 1984, पृष्ठ – 25
152. त्रिपुरी की मूर्तिकला, दिल्ली, 2004, देखे, चित्रफलक क्रमांक – 17–18.
153. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 48.
154. त्रिपुरी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2009, पृष्ठ –103.

155. कलचुरि नरेश और उनका काल, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ – 394–96. काव्यमीमांसा, अनुवादक– गंगासागर राय, वाराणसी, 1982, पृष्ठ – 136, 212
156. कर्पूरमंजरी, सं. श्री रामकुमार आचार्य, वारणसी, 1963, पृष्ठ – 111
157. त्रिपुरी की मूर्तिकला, दिल्ली, 2004, देखे, चित्रफलक क्रमांक – 33, 34, 35.
158. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अभिलेख संख्या – 53.
159. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेखीय संख्या – 37, पंक्ति–11.
160. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेखीय संख्या – 12, पंक्ति–17.
161. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 74, पंक्ति–18.
162. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 15, पंक्ति–19 आदि.
163. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 42, पंक्ति–11.
164. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 42, पंक्ति–16.
165. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 123, पंक्ति–14, पृष्ठ–46.
166. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 67, पंक्ति–353.
167. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 48, पंक्ति–36.
168. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 56, श्लोक–20, पंक्ति–121.
169. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 46, श्लोक–14, पृष्ठ–232.
170. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 64, पंक्ति–33.
171. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–2, पष्ठ–642.
172. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इन्डीकैरम्, भाग–4, अंक–1, अभिलेख संख्या – 45, श्लोक–62.

19 कलचुरि कालीन समाज में नारी की स्थिति (कलचुरि अभिलेखों के विशेष सन्दर्भ में)

प्रो. आर. एन. विश्वकर्मा,

पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास में कलचुरि शासकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कलचुरियों की प्रमुख दो शाखाओं यथा– त्रिपुरी के कलचुरियों का डाहल मंडल एवं रतनपुर के कलचुरियों का दक्षिण कोसल में शासन स्थापित था। कलचुरि नरेश अत्यन्त पराक्रमी, कुशल विजेता एवं ललित कलाओं के आश्रयदाता थे। उनकी धर्म सहिष्णुता के फलस्वरूप सभी धर्मों एवं तत्जनित कलाओं का प्रभूत मात्रा में विकास हुआ, जिसके प्रमाण आज भी महाकोशल में तेवर, गोपालपुर, मंडला, कारीतलाई, गुर्गी, सतना, जबलपुर, शहडोल एवं अमरकंटक तथा दक्षिण कोशल में रतनपुर, पाली, खरोद, जांजगीर, सिरपुर, राजिम, देवरबीजा, भोरमदेव, गंडई, घटियारी, जगदलपुर, बारसूर एवं, दन्तेवाड़ा आदि पुरातत्त्विक स्थलों में दृष्टव्य हैं। इनके शासनकाल में मूर्तिकला, स्थापत्यकला के साथ ही साथ उच्चकोटि के साहित्यिक कृतियों एवं बहुत से अभिलेखों की भी रचना की गई। कलचुरि काल में पूर्व परम्परानुसार गद्य, पद्य एवं चम्पू–काव्य शैली में ही अभिलेखों का लेखन प्राप्त होता है। कलचुरि कालीन अभिलेख जिन कवियों द्वारा लिखे गए हैं, वे अनेक विषयों के उद्भट विद्वान थे। तत्कालीन अभिलेखों में न केवल राजनीतिक, वरन सांस्कृतिक उपलब्धियों का भी विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। कलचुरि अभिलेखों में वर्णित नारी की स्थिति का विवेचन ही प्रस्तुत शोधलेख का प्रतिपाद्य विशय है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही स्त्रियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस सन्दर्भ में अपाला, गार्गी, अरुन्धती, अनसूया आदि का नामोल्लेखनीय हैं, जो अपने ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं। स्त्रियों के पुत्री, पत्नी एवं माता के रूप में उनके महत्त्व को देखते हुए कहा गया है– *''यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः''*। जहाँ तक कलचुरि युग में स्त्रियों की स्थिति की बात है, इस सन्दर्भ में पूर्व परम्परा का ही पालन दृष्टिगोचर होता है।

पुत्री के सन्दर्भ में पृथ्वीदेव द्वितीय कालीन रतनपुर प्रस्तर अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें जगतसिंह की पुत्री भोपा को कलयुग की बुराइयों से अछूती एवं तीनों लोकों को पवित्र करने वाली नदी अर्थात गंगा की तरह बताया गया है।[1]

पत्नी की गृहस्थाश्रम धर्म के पालन में विशेष भूमिका होती हैं। उसके बिना यज्ञादि कार्य भी पूरा नही होता। गृहस्थाश्रम धर्म एवं पत्नी की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए जयसिंह के करनबेल प्रस्तर अभिलेख में कहा गया है कि जगत की स्थिरता के लिए जिस प्रकार शिव ने पार्वती का पाणिग्रहण किया था, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए गयाकर्ण ने पाणिग्रहण किया।[2]

माता के महत्त्व के सन्दर्भ में विजयसिंह का कुम्भी ताम्रपत्रलेख दृष्टब्य है, जिसमें कहा गया है कि गोसलदेवी की दृष्टि से अमृत–वर्षा होती है, उसका सानिध्य एक श्रेष्ठ कोश है और उसकी वाणी इच्छापूर्ति हेतु मणि स्वरूप है।[3] भारतीय समाज में माता का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि उसे देवता बतलाया गया है– *''मातृदेवो भव''*। उसकी आज्ञाओं का पालन उसका पुत्र तो करता ही है, शत्रुपक्ष भी माता की आज्ञा का सम्मान करता है। इस सन्दर्भ में जाजल्लदेव प्रथम का रतनपुर प्रस्तर अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है कि जाजल्लदेव ने सोमेश्वरदेव को पराजित कर उसे मंत्रियों एवं पत्नियों सहित बन्दी बना लिया था, किन्तु बाद में उसकी माता के कहने पर सबको मुक्त कर दिया।[4] इस प्रकार कलचरि शासकों के काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं समादष्त थी।

कलचुरि कालीन स्त्रियों के **वस्त्राभूषण एवं प्रसाधन** आदि के सन्दर्भ में यदा–कदा ही अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं। लक्ष्मणराज द्वितीय कालीन कारीतलाई प्रस्तर अभिलेख में कहा गया है कि पर्वों पर स्त्रियाँ कमर में करधनी के स्थान पर मूंज की रस्सी तथा रेशमी वस्त्रों के स्थान पर सूती वस्त्र धारण करती थीं।[5] इससे पता चलता है कि तत्कालीन समाज में लोग रेशमी एवं सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे, किन्तु विशेषतः पर्वों पर रेशमी वस्त्रों की अपेक्षा लोग सूती वस्त्रों को अधिक महत्त्व देते थे। कलचुरि कालीन समाज में **स्त्री–पुरुष दोनों आभूषणों** यथा– गजरा, कर्णाभूषण, हार(कण्ठहार, चन्द्रहार, वक्षहार एवं उदरहार), ग्रैवेयक, बाजूबंद, केयूर, कंकण, अंगूठी, कटिसूत्र, कड़े, पायजेब एवं नूपुर आदि का प्रयोग करते थे, जिसके प्रमाण तत्कालीन मूर्तियों में उत्कीर्ण आभूषणों से मिलता है। कलचुरि अभिलेखों में भी प्रसंगतः लक्ष्मणराज द्वितीय कालीन कारीतलाई प्रस्तराभिलेख[6] में कमरधनी (करधनी), युवराजदेव द्वितीय कालीन बिलहरी प्रस्तर अभिलेख[7] में मोतियों की माला, जयसिंह के रीवा ताम्रपत्रलेख[8] में कुण्डल और कीरीट तथा ब्रह्मदेव के रायपुर प्रस्तर अभिलेख[9] में कंगन (कंकण) का उल्लेख है, जिनका तत्कालीन समाज में उपयोग होता था।

प्रसाधन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि नरसिंह के भेड़ाघाट प्रस्तर अभिलेख[10] में **शृंगारशाला** का उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि कलचुरि काल में प्रसाधन के रूप में लोग कुछ वस्तुओं का प्रयोग अवश्य करते रहे होंगे, जिससे उनका सौन्दर्य बढ़ सके। इस सन्दर्भ में विजयसिंह के रीवा प्रस्तर अभिलेख[11] में केसर का लेप, कर्ण के रीवा प्रस्तर अभिलेख[12] में अंजन, यशःकर्ण के खैरहा ताम्रपत्रलेख[13] में चन्दन का लेप, पृथ्वीदेव द्वितीय कालीन बिलाईगढ़ ताम्रपत्रलेख[14] में कर्पूर का चूर्ण तथा कर्ण के गोहरवा ताम्रपत्रलेख[15] में सिंदूर आदि का उल्लेख है।

मानव–जीवन में **मनोरंजन** का विशेष महत्त्व है। कलचुरि अभिलेखों में मनोरंजन के साधनों में **द्यूत–क्रीड़ा, जल–क्रीड़ा, नृत्य और संगीत** आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। युवराजदेव द्वितीय कालीन बिलहरी प्रस्तर अभिलेख[16] में शिव–पार्वती के बीच द्यूत–क्रीड़ा का उल्लेख किया गया है, जिसमें पार्वती ने चन्द्रमा को भी जीत लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कलचुरि काल के समाज में द्यूतक्रीड़ा बहुत लोक प्रिय थी। अतः अभिलेखों में इसके उल्लेख के साथ ही साथ तत्कालीन मूर्तियों में भी शिव और पार्वती के बीच द्यूत–क्रीड़ा (चौपड़) का अंकन किया गया है।

इस सन्दर्भ में दक्षिण कोसल के अन्तर्गत बिलासपुर जिले में ताला के देवरानी मंदिर के ऊर्द्ध द्वारशाखा में प्राप्त द्यूत–क्रीड़ारत उमा–महेश्वर की प्रतिमा सर्वाधिक प्राचीन है।[17] इस क्रम में पातालेश्वर मंदिर में द्यूत क्रीडा का अंकन लम्बवत् तीन प्रखण्डों में किया गया है। प्रथम प्रखण्ड में शिव–पार्वती सम्मुख बैठकर चौपड़ खेल रहे हैं। द्वितीय खण्ड में देवी की परिचारिका नन्दी को पकड़ कर ले जाने के लिए तैयार है, जिसमें एक गण व्यवधान उत्पन्न कर रहा है और तीसरे खण्ड में नन्दी के स्वामित्त्व के विवाद को लेकर शिव के गण तथा देवी की परिचारिका आपस में लड़ रहे हैं।[18] इस प्रकार के कलचुरि कालीन अनेक प्रतिमा फलक मध्यभारत से प्राप्त होते हैं। इन प्रतिमा फलकों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में द्यूत–क्रीड़ा प्रचलित रही होगी, जिसे नारी–पुरुष दोनों की खेलते रहे होंगे।

जल–क्रीड़ा मनोरंजन के साथ–साथ स्वास्थ्यवर्धक भी है। रामायण में वर्णित सहस्त्रार्जुन की नर्मदा नदी में जल–क्रीड़ा सर्वप्रसिद्ध है।[19] कालिदास ने रघुवंश में कुश[20] एवं अग्निवर्ण[21] तथा मेघदूत[22] में युवतियों के तोय–क्रीड़ा का वर्णन किया है। कलचुरिकालीन कवि राजशेखर ने बालरामायण में सहस्त्रार्जुन की जल–क्रीड़ा का उल्लेख किया है, जिसमें बताया गया है कि सहस्त्रार्जुन की पत्नियाँ अपने हाथ रूपी यन्त्र से जल उछाल–उछाल कर क्रीड़ा कर रही थीं। उनके हाथों से निरन्तर फेंके जाने वाला जल क्रम–भंग न होने के कारण जल की लताओं के समान प्रतीत हो रहा था।[23] उल्लेखनीय है कि कलचुरि सम्राट अपनी उत्पत्ति कार्त्तवीर्य सहस्त्रार्जुन से मानते हैं। अतः उन्होंने शिव एवं पार्वती समेत कैलास पर्वत को उठाने वाले लंकाधिपति रावण जैसे बलशाली शासक को हराने वाले सहस्त्रार्जुन का उल्लेख बड़े ही गर्व के साथ अपने अभिलेखों में किया है। इस क्रम में नर्मदा नदी में सहस्त्रार्जुन द्वारा जल–क्रीड़ा की चर्चा स्वतः हो जाती है। इस कथा का कलचुरि अभिलेखों में सर्वप्रथम उल्लेख कर्ण के वाराणसी ताम्रपत्रलेख में प्राप्त होता है।[24] पृथ्वीदेव प्रथम के अमोदा ताम्रपत्रलेख[25], रत्नदेव द्वितीय कालीन सर्खों ताम्रपत्रलेख[26] और पृथ्वीदेव द्वितीय कालीन दाइकोनी ताम्रपत्रलेख[27] में यह प्रकरण ज्यों का त्यों उत्कीर्ण किया गया है। रत्नदेव द्वितीय कालीन शिवरीनारायण ताम्रपत्रलेख[28] में यह कुछ शब्दों के हेर–फेर के साथ वर्णित है। रत्नदेव द्वितीय कालीन दो अभिलेखों में अलग–अलग प्रकार के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रसंग उसे बहुत प्रिय था।[29] कलचुरि शासक विजयसिंह के रीवा प्रस्तर अभिलेख[30] में स्वतंत्र रूप से पत्नियों के साथ जल–क्रीड़ा का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया में नारी–पुरुष एक दूसरे पर पिचकारियों द्वारा भी जल फेंकने का वर्णन है।[31] नृत्य और संगीत मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन है। प्राचीन गुफा चित्रों से लेकर अद्यतन इसके संकेत प्राप्त होते हैं। कलचुरि काल में भी शिव के ताण्डव नृत्य की चर्चा प्रबोध शिव के चन्द्रेह प्रस्तरलेख[32], नरसिंह के भेड़ाघाट प्रस्तरलेख[33] तथा पृथ्वीदेव द्वितीय कालीन कोनी प्रस्तरलेख[34] में प्राप्त होती है। इस काल की मूर्तियों में भी प्रभूत मात्रा में नृत्य का अंकन प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि तत्कालीन समाज में नृत्य और संगीत अत्यधिक लोकप्रिय था और लोग उसकी विविध विधाओं एवं इस तथ्य से भी परिचित थे कि नृत्य के लिए पर्याप्त प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि अंधकार में किया गया नृत्य सार्थक नहीं हो पाता।[35]

प्राचीन काल में प्रचलित **सती प्रथा** का परिपालन कलचुरि काल में भी होता था। कलचुरि काल में सती प्रथा का सर्वप्रथम अभिलेखीय साक्ष्य भानुगुप्त कालीन एरण प्रस्तर लेख(510 ई.) में प्राप्त होता है।[36] कलचुरि काल में यशःकर्ण के खैरहा[37], जबलपुर[38], कौशाम्बी ताम्रपत्रलेख[39] तथा रानी वीक्कलदेवी के कौशाम्बी ताम्रपत्रलेख[40] में कर्ण द्वारा प्रयाग में अक्षयवट के समीप अपनी सौ पत्नियों के साथ मुक्ति प्राप्त

करने की चर्चा है। जाजल्लदेव द्वितीय कालीन शिवरीनारायण प्रस्तर अभिलेख में भी वर्णन प्राप्त होता है कि युद्ध में उल्हणदेव की मृत्यु हो जाने पर भर्तृभक्ता उसकी तीनों पत्नियाँ सती हो गयी थीं।[41] इस प्रकार कलचुरि युग में सती प्रथा का ज्ञान प्राप्त होता है, जो स्वेच्छया सम्पन्न हुआ था, उसमें किसी प्रकार के बल–प्रयोग का संकेत नही प्राप्त *होता* है। सती प्रथा के इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता हे कि कलचुरि काल में बहु विवाह की भी प्रथा प्रचलित थी। इस प्रकार विविध प्रकार के वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि कलचुरियुगीन नारी की स्थिति अत्यन्त सम्मानजनक थी।

सन्दर्भ ग्रंथ :–

1. भोपास्य दुहिता साध्वीकलिकाल विचेष्टितैः।
   अस्पष्टा स्वद्धुनीवेयं भुवनत्रय पावनी।।
   – कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इडिकेरम (का. इं. इं.), खण्ड 4, पृष्ठ 487।
2. तस्याः स पाणिना पाणिं गयकर्ण्णमहीपतिः।
   जग्राह जगतां स्थित्यै शिवाया इव शंकरः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 639।
3. दर्षष्टियस्याः सुधावर्षश्टिः सन्निधिश्चाश्पि सन्निधः।
   वाणी चित्तामणिः श्रीमज् जीयद् गोसलदेव्यसौ।।– का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 649।
4. लक्ष्मीः सप्तविधापि यस्य जगष्हे युद्धे च सोमेश्वरो।
   दग्धममितं सैन्यं निहत्यामुना।
   बद्धं मंत्रिकलत्रसार्थमनु तन्मातुर्ग्गिरा सोचितं
   येन ब्रूत स ईदष्शः क्षितिपतिदर्ष्टः क्षितौ वा श्रुतः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 413।
5. आपास्तकाञ्चिधर्ष्तमुंज रज्जुग्र्गलद्दुकूलो वष्तवूरवासाः।
   अलौकिकत्वेन विशेशचारुर्यद्योशितां पर्व्वणि शेशः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 189।
6. का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 189।
7. वीरश्रियः क्षितितले विवतञ्चतुश्कं मुक्तादलेन ननु कीर्तिवधूश्चकार।
   – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 212–213।
8. कर्ण्ण इव कुण्डलकीरीटधारी। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 342।
9. जटाधरं खंड शशांक शेखरं। सदा महापन्नगवस्त्र कंकणम्।।
   – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 571।
10. श्रृगारशाला कलशी कलायां लावण्यमाला गुणपण्यभूमिः।
   – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 316।
11. दिव्यांगनांग नव कुंकमपंकपिंगवारिप्रपूरलवचित्रितरोममालाः।
   क्रीडंति यत्र सुखिनो भुवि राजहंसा अम्भोनिधानमतुलं प्रसरः ससर्ज्ज।।
   – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 353।
12. यस्मिन्समासीदति गुर्ज्जरीणां गण्डस्थले साञ्जनबाश्पलेशाः।
   भालादवैधव्य विधानवर्ण्णाः पर्यन्तभाजां स्खलिता इवासन्।। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 270।
13. इंदुप्रभां निंदति हारगुच्छं जुगुप्सते चंदनमाधिपन्ती।
   यत्र प्रभौ दूरतरं प्रयाते वियोगिनीव प्रतिभाति कीर्तिः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पष्ठ 293।
14. यस्याशोभियशोभिरम्बरतलं कर्प्पूरपारिप्लवश्रीखंडद्रवसोदरैरिव
   सदा लिप्तं समन्तादपि।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 461।
15. आसीद्यद्विजयप्रयाण जनित व्यायाम स्वेदोदयोन्मज्जन सैनिकगात्र सिंदूरशिरः
   सिंदूरपूरारुणः। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 256।

16. यं खेलाय शडाननः शिशुतया कृत्त्वाग्रह मार्गति
ग्रंथोयश्च दुरोदरैः पुरभिदो देव्या समं दीव्यतः।
केलीकोपकलासु येन तनुते हेतिक्रियां पार्व्वती
पायाद्वः स जटावनैक कुसुमं शार्व्वः सुधादीधितिः।। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 209।
17. रायकवार, गिरधारी लालः बिलासपुर जिले की शैव प्रतिमायें, पुरातन (भारतीय कला में शैव परम्परा), भाग 6, पृ. 187।
18. पूर्वोक्त।
19. अजुनो जयतां श्रेष्ठो माहिष्मत्याः प्रतिप्रभुः।
क्रीडते सह नारीभिर्नमदातोयमाश्रितः।। – रामायण, उत्तरकाण्ड, 33/2।
20. रघुवंश, 16/54–72।
21. वही, 19/ 9–11।
22. भत्तुः कण्ठच्छविरितगणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
द्यूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्यास्तोय
क्रीडीनिरत युवतिस्नान तिक्तैर्मरुद्भिः।। – मेघदूत, 1/37।
23. रेवाम्भोगर्भमज्जद्विविधवरवधूहस्तयन्त्रोज्झिताभिः
क्रीडान्वारां तलाभिः स्मतसि यदकरोदर्जुनः कार्त्तवीर्यः।
तद्दोश्णां यत्तु रामो रणभुवि विदधे वेगवल्गत्कुठारः
प्रायः पौलस्त्य सा ते श्रवणपरिणतिं नो गता किंवदन्ती।। – बालरामायण, 2/38।
24. देवः श्रीकार्त्तवीर्यः क्षितिपतिरभवद्भूशणं भूतधात्र्या
हेलोत्क्षिप्ताद्रिबिम्बत्तुहिनागिरिसुताश्लेशसन्तोशितेशम्।
दोर्द्दण्डाकाण्डसेतुप्रतिगमितमहापूररेवाप्रवाह
व्याधौतत्र्यक्षपूजागुरुजनितरुशं रावणं यो बबन्ध।। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 241।
25. का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 404।
26. का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 426।
27. का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 444।
28. यः क्रीडया स्वभुजसेतुनिरुद्धरेवावारिप्रवाहितहरार्च्चनवष्द्धरोशम्।
कैलासतोलनभयार्त्तभवानि गात्रसंश्लेशतोशितशिवं जितवान्दशास्यम्।। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 421।
29. श्रीवास्तव, सत्य प्रकाश,संस्कष्त साहित्य एवं कलचुरि अभिलेखों में उदकधात, कला वैभव, जिल्द 13–14, पृष्ठ 241।
30. क्रीडाप्रवृत्ताः पतिभिः सरोब्धौ संयम्य चासून्कथमास्थितानाम।
तसां भ्रुर्वोगानि कुचोरुजंघा दृष्ट्वाक्षसूत्राण्यपतन्मुनीनाम्।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 352–353।
31. तिग्मांशुतापक्लमनोददक्षैरुक्षां विचक्रुस्त्रिय आत्मनोगे।
प्रणेशहस्तप्रतिक्लृप्तयन्त्रनिर्म्मुक्तधार पयसां कणौधैः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 352।
32. चारी संचरण प्रवीण चरण व्यापारणाघूर्ण्णित
क्षोणीकुण्डपमत्फणीश्वरफणं विद्राणदिग्वारणम्।
दोर्द्दण्ड भ्रमणादकाण्डचलितब्रह्माण्डखण्ड मुदे
भूयाद्वोनिबिक्वणड्डमरुकं चण्डीपतेस्ताण्डवम्।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 200।
33. शक्तिहेतिपरप्रीतिहेतुश्चन्द्रकचर्च्चितः
तण्डवाडंबरः कुरूर्यान्नीलकण्ठः प्रियाणि वः।। – पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 315।
34. पूर्वोक्त, खण्ड 4, पृष्ठ 315।

35 कुर्वन्तु कीर्त्तानशतानि रणांगणेशु मथ्नन्तु वैरिनिकरं धनमुत्सृजन्तु।
कालान्ते तदखिलं प्रबलान्धकारनष्त्योपमं कविजनैरनिबद्धयमानम्।। – का. इं. इं., खण्ड 4, पृष्ठ 467।
36. भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता। भार्य्यावलग्नानुगताग्निराशिम्।।
– सरकार, डी. सी. : सलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, खण्ड 1, पृष्ठ 336।
37. प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेश बन्धो सार्द्ध शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्।
पुत्रौश्ष्स्य खड्गदलितारि करीन्द्रकुम्भमुक्ताफलैः स्म ककुभोर्च्चति कर्ण्णदेवः।।
– कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इडिकेरम्, खण्ड 4, पृष्ठ 293।
38. वी. वी. मिराशी, कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इडिकेरम्, खण्ड 4, पृष्ठ 303।
39. दैवकरणि, विरजानन्द : प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, पृष्ठ 18।
40. पूर्वोक्त, पष्ठ 20।
41. राज्ञ्यत्रिस्त्रोष्ष्नुजग्मुस्तं भतृेभक्तिपरायणाः।
उपभोक्तुमिव स्वग्र्ग्यान्भोगान् भर्त्रा समं दिवि।
– कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इडिकेरम्, खण्ड 4, पृष्ठ 524।

20 पूर्वमध्यकालीन मध्यभारत में स्त्री प्रतिरुपों का अवलोकन

डॉ0 सुरेन्द्र कुमार यादव

किसी भी समाज के सांस्कृतिक विकास का निर्धारण वहाँ की स्त्रियों की स्थिति से किया जाता है। जिस समाज में स्त्रियों को आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा एवं अधिकार प्रदत्त किया जाता है वह समाज सभ्य एवं श्रेष्ठ माना जाता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्राचीनकाल से ही स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वह माता, पत्नी एवं कन्या के रुप में आदर्श मानी जाती है। स्त्रियों का परिवार, समाज एवं राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारतीय समाज में स्त्री को विभिन्न प्रतिरुपों में वर्णित किया गया है, जिनमें कन्या, पत्नी, माता, विधवा, वैश्या, परिचायिका, शासिका आदि प्रमुख है। प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा सामाजिक मान्यताओं के अनुरुप प्रत्येक कालखण्ड में निरन्तर परिवर्तित होती रही। वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक उसमें अनेक परिवर्तन हुये, जो सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में परिलक्षित होता है। हर्शवर्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वीं तक का काल भारत में 'राजपूतकाल' या 'पूर्वमध्यकाल' के नाम से जाना जाता है। यह भारत में राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का काल था, जब स्थानीय सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोशणा करते हुए छोटे–छोटे राज्यों के रूप में अपने राजवंशों की स्थापना की। पूर्वमध्यकालीन मध्यभारत में कई नवीन राजवंशों का उदय हुआ, जिनमें गुर्जर–प्रतिहार, जैजाकभुक्ति के चन्देल, ग्वालियर के कच्छपघात, मालवा के परमार, कलचुरि तथा चेदि वंश प्रमुख थे। इन राजवंशों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का सीधा प्रभाव स्त्रियों के जीवन पर पड़ा। पूर्वमध्यकालीन समाज की आर्थिक समृद्धि का प्रभाव स्त्री जीवन के सांस्कृतिक व कलात्मक पक्ष की उन्नति एवं आर्थिक अधिकारों के वृद्धि में दृष्टिगोचर होती है। इस काल की महिलाओं ने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में अपना अमूल्य योगदान दिया। प्रस्तुत शोध पत्र में मध्य भारत के पूर्वमध्यकालीन समाज में स्त्रियों के विविध प्रतिरुपों पर प्रकाश डाला गया है।

कन्या के रूप में नारीः– पूर्वमध्यकालीन समाज में प्रायः पुत्री का स्थान पुत्र से निम्न रहा है। उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकार अपेक्षाकृत गौण रहे हैं। इस युग में दहेज

प्रथा के कारण कन्यावध जैसे जघन्य कृत्यों को भी प्रोत्साहन मिला।[1] विवाहोपरान्त माता–पिता एवं परिजनों से कन्या का पृथक् होना भी अपार कष्ट का कारण होता था, आज भी वही स्थिति है। वह पराई वस्तु मानी जाती थी, जिसे विवाह के पश्चात अपने माता–पिता का गृहत्याग कर पति का वरण करते हुये उसका अनुगमन करना पड़ता था। यद्यपि प्रत्येक माता–पिता अपनी कन्या के विवाह के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये सजग रहते थे। पूर्वमध्यकाल में कन्या का विवाह अल्पवय में होता था। इसका कारण विदेशी आक्रमण का होना था। इन आक्रमणों से भारतीय समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जिसके कारण माता–पिता अपनी पुत्रियों का विवाह कम आयु में ही करने लग गये थे। बाल विवाह प्रथा इस समय प्रचलित थी।[2] इस समय ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसमें कन्या के विवाह की आयु 8 से 10 वर्ष पाई गई है।[3] इस काल में 8 वर्ष की आयु की लड़की को 'गौरी' तथा 10 वर्ष की लड़की को 'कन्या' कहा गया है। मेघातिथि ने कन्या का विवाह आठ वर्ष की उम्र में श्रेष्ठ होना बतलाया है।[4] सोमदेव ने कन्या के विवाह की आयु बारह वर्ष निर्धारित की है।[5] कभी–कभी तो लोग अपने बच्चों का जन्म से पूर्व ही विवाह निर्धारित कर देते थे। अल्बेरूनी के अनुसार हिन्दू अल्पायु में ही अपनी कन्या का विवाह कर देते थे।[6] सामान्यतः स्मृति ग्रंथों के अनुरूप ही कन्या का विवाह किया जाता था।[7] यद्यपि प्रेम विवाह एवं स्वयंवर में यह अपवाद था। तिलकमंजरी के अनुसार ऐसे युगल जो आपस में प्रेम करते थे, वे भी विवाह के लिये अपने माता–पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करते थे।[8] परमार नरेश सिंधुराज ने नाग राजकन्या शशिप्रभा से प्रेम विवाह किया था, जिससे प्रतीत होता है कि समाज में इस प्रकार के विवाह का भी प्रचलन रहा होगा।[9] विभिन्न शासकों ने आपसी मतभेद, सौहार्द्र, शान्ति एवं कूटनीति संबंधों की स्थापना के लिये अपनी कन्याओं का विवाह दूसरे शासकों से करते थे। तिलकमंजरी में इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों पर जोर दिया गया है।[10] कल्याण के कलचुरि शासक जोगम ने अपनी कन्या सावलदेवी का विवाह चालुक्य नरेश विक्रमादित्य शश्टम् के साथ कर अपनी स्थिति मजबूत की। बनारस ताम्रपत्र[11]के अनुसार कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण ने चन्देल कन्या नट्टादेवी से तथा युवराजदेव–प्रथम ने बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, कश्मीर पर आक्रमण कर उन प्रदेशों की राजकन्याओं के साथ विवाह किया।[12] कभी–कभी शासकों के बीच की शत्रुता को समाप्त करने के लिये भी राजकन्याओं का विवाह परस्पर किया जाता था।[13] परमार नरेश उदयादित्य ने अपनी कन्या श्यामलदेवी का विवाह इसी उद्देश्य से मेवाड़ के गुहिल नरेश विजय सिंह से किया था। परमार नरेश अर्जुनवर्मन की प्रथम रानी चालुक्य राजकुमारी थी। गंगवंशीय नरेश नरसिंह ने एक मालव–नरेश की कन्या से विवाह किया था।[14]

पूर्वमध्यकालीन समाज में कन्या की कम उम्र में विवाह का प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा। कुलीन एवं शासकवर्ग की कन्याओं के अतिरिक्त सामान्य वर्ग की कन्याओं को प्रायः शैक्षणिक गतिविधियों से वंचित रहना पड़ा। इस युग में अनेक ऐसी प्रतिभा–सम्पन्न महिलाएं हुयी, जिन्होंने उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रणयन से साहित्यिक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रतिहार नरेश के दरबारी कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवयित्री एवं टीकाकार थी।[15] मंडन मिश्र एवं शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी थी, जो तर्क, मीमांसा, वेदान्त एवं साहित्य में पूर्ण पारंगत थी।[16] इस युग में कुछ ऐसी अविवाहित कन्याओं का भी विवरण प्राप्त होता है, जो वैराग्य धारणकर (परिव्राजिका) धर्मदर्शन, चिन्तन, मनन एवं धार्मिक उपदेश प्रदान करती थी।[17] पूर्वमध्यकालीन समाज में कन्या के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के विषय में उल्लेख है कि पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान पुत्रियाँ भी बराबर की

अधिकारिणी होती थी।[18] किंतु किसी सीमा तक ही परिवार की सम्पत्ति में उन्हें यह अधिकार दिया गया था।[19] लेकिन कहीं–कहीं उल्लेख है कि पुत्र के अभाव में ही पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार होता था। पूर्वमध्यकालीन समाज में कन्या की अपेक्षा पुत्र का अधिक महत्व था। पूर्व मान्यता के अनुरुप ही इस काल में कोई भी व्यक्ति बिना पुत्र के पितृ–ऋण से मुक्त नहीं हो सकता था।[20] पुत्र का जन्म प्रायः हर्षोल्लास के रूप में मनाया जाता था।[21] राजशेखर ने कन्या की उत्पत्ति को दुःखों का कारण बतलाया है। यद्यपि माता–पिता कन्या का लालन–पालन पुत्र के समान ही किया करते थे तथा उनके विवाह योग्य हो जाने पर चिन्तित रहते थे।

माता के रूप में नारीः– प्राचीन परम्परा के अनुरुप ही पूर्वमध्यकालीन समाज में माता का स्थान सर्वोपरि, गरिमायुक्त एवं महत्वशाली था। परिवार में उसका पद अत्यन्त सम्मानित, आदर्शात्मक एवं महिमामय रहा। पूर्वमध्यकालीन समाज में योग्य संतान को जन्म देने वाली माताओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इस काल में माताओं के वात्सल्य रुप का अंकन कलचुरि एवं चन्देल कलाओं के स्थापत्य एवं मूर्ति शिल्प में दिखलायी देता है। पूर्वमध्यकाल में राजमाताओं द्वारा शासन कार्य में भी हस्तक्षेप का वर्णन मिलता है। कलचुरि नरेश जाजल्लदेव ने सोमेश्वर को पराजित कर मंत्रियों एवं पत्नियों समेत उसे बंदी बना लिया था, बाद में उसने अपनी माता के हस्तक्षेप के फलस्वरूप सबको स्वतंत्र कर दिया।[22] राजमाताएं निर्माण कार्य में भी सहयोग प्रदान करती थी। भेड़ाघाट अभिलेख में कलचुरि नरेश नरसिंहदेव की माता अल्हणदेवी द्वारा वैद्यनाथ षिव मन्दिर, एक मठ तथा व्याख्यानमाला के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[23]

पत्नी के रूप में स्त्री : पूर्वमध्यकालीन समाज में पत्नी का विशिष्ट स्थान था। उसे पति की अर्धांगिनी, सहधर्मिणी, सहकर्मिणी तथा सहमर्मिणी कहा गया है। उसका मुख्य कर्त्तव्य पति–सेवा, पातिव्रत्य धर्म का पालन, पारिवारिक सदस्यों के प्रति अगाध स्नेह, गृहकार्य करना, अतिथियों का आदर–सत्कार करना तथा परिवार के सामाजिक स्तर की उन्नति में प्रमुख भूमिका का निर्वहन करना था। रतनपुर के कलचुरि नरेश जाजल्लदेव द्वितीय के मल्लार अभिलेख में वर्णित है कि स्त्रियाँ अपने गुणों के कारण ही सुन्दर प्रतीत होती हैं।[24] इसके अतिरिक्त एक अन्य अभिलेख में रानी राज्जलादेवी को लक्ष्मी एवं पार्वती देवी के समान पति प्रेम में संलग्न एवं प्रसन्नचित्त पत्नी के रूप में बतलाया गया है।[25] चन्देल शासक मदनवर्मा की पत्नी आवर्सा अत्रि ऋषि की पत्नी अनसुईया के समान अपनी धर्मपरायणता के कारण पूज्य थी।[26] इसी प्रकार सम्राट यशोवर्मन की पत्नी पुष्पादेवी को सतीत्व में अरूंधती एवं इन्द्र की पत्नी शची के समान साध्वी माना गया है, जिनकी कोई भी निंदा नहीं करता था। इस काल में शिक्षित स्त्रियों का वर्णन भी मिलता है। कलचुरि नरेश कर्ण के सारनाथ अभिलेख में महायान धर्मानुयायी धमेश्वर की पत्नी मामका ने ''अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा'' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा उसकी प्रतियाँ वहाँ के भिक्षुओं को प्रदान की।[27]

मृतभर्तृका (विधवा) के रूप में नारीः– पूर्वमध्यकालीन समाज में विधवा नारी के लिये दो मुख्य कर्तव्य निर्देशित थे। इनमें किसी एक का विधवा के लिये अनुसरण करना वांछनीय था। प्रथम में विधवा का पति के साथ सहमरण या अनुमरण (सती होना) होना तथा द्वितीय में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये शेष जीवन व्यतीत करना होता था।[28] पति की मृत्यु के बाद विधवा को कठोर वैधव्य जीवन का अनुसरण करना पड़ता था, क्योंकि वैदिक काल के पष्चात् नारी के पुनर्विवाह का अधिकार समाप्त हो गया था।

उसका जीवन अत्यन्त कठोर एवं नीरस हो जाता था। वृद्धहारीत ने विधवा नारी के लिये अनेक नियम बतलाये और व्यवस्था दी कि वह केशसज्जा, पान, गन्ध, पुष्पादि, अलंकार, आँखों में अंजन, रंगीन वस्त्रों का त्याग तथा दिन में दो बार भोजन करे।[29] विधवा को श्वेत वस्त्र धारण, क्रोधहीन, साध्वी, जितेन्द्रिय, तन्द्रा तथा आलस्य से रहित, सुनिर्मल तथा मधुर आचरण वाली होना चाहिए, उसे रात में जमीन पर कुश की शैय्या बिछाकर सोना चाहिए तथा ध्यान एवं योग साधना करनी चाहिए। विधवाओं को अमंगल सूचक कहा जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उपनयन, विवाह एवं धार्मिक उत्सवों इत्यादि शुभ अवसर पर उनका जाना निशिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार विधवा की स्थिति समाज में बहुत अधिक दयनीय, नियंत्रित एवं दु:खद थी।

पूर्वमध्यकालीन समाज में विधवा नारी के विषय में अनेक ऐतिहासिक उद्धरण प्राप्त होते हैं। रीवा अभिलेख में वर्णित है कि कलचुरि नरेश कर्ण के आगमन पर पड़ोसी प्रदेश में रहने वाली गुर्जर स्त्रियों की आँखो से अश्रु–मिश्रित आंजन बहने लगे तथा उनके ललाट से साध्वा के प्रतीक रंगीन चिन्ह भी विष्लेषित होने लगे।[30] एक अन्य कलचुरि शासन विजसेन के रीवा शिलालेख में मलयसेन के विशय में वर्णित है कि विधवा होने के अतिषय दुःख से दुःखी होने के कारण शत्रु पत्नियों की आँखों से दीर्घकाल से प्रवाहित अश्रुधारा ने उसकी क्रोधाग्नि के लिये राहत का कार्य किया।[31] अरबयात्री अल्बेरूनी ने विधवा के विशय में कहा है कि जब तक वह जीवित रहती है उसके साथ प्रायः बुरा ही व्यवहार किया जाता था।[32]

पूर्व मध्यकालीन समाज में विधवा महिलाओं के लिये द्वितीय विकल्प मृतपति के साथ चिता में आत्मदाह करना था। इसका कारण वे अत्यन्त दुखःपूर्ण एवं अपमानित जीवन के भय से सती होना अधिक श्रेष्ठकर मानती थी। विभिन्न ग्रन्थों में सती के लिये अन्वारोहरण, सहगरून, सहमरण और अनुमरण आदि अनेक शब्द प्रचलित थे। इस काल में विधवा स्त्रियों को सती होने के लिये विवश नहीं किया जाता था यह उनकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर करता था। अल्बेरूनी एवं सुलेमान ने भी लिखा है कि विधवा स्त्रियाँ अपनी इच्छा से सती होती थी।[33] निम्न जाति की स्त्रियाँ विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थी। सती प्रथा का प्रथम अभिलेखीय प्रमाण गुप्तकाल में प्राप्त होता है, जब हूणों के विरूद्ध संघर्ष में सेनापति गोपराज को वीरगति प्राप्त होने पर उसकी पत्नी चिताग्नि में प्रविष्ट हो गयी थी।[34] पूर्वमध्यकाल में सती प्रथा के अनेक अभिलेखिक व साहित्यिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। अरब लेखकों के अनुसार सती प्रथा राजपूत एवं योद्धा वर्ग में विशेष रुप से प्रचलित था।[35] कलचुरि नरेश गांगेयदेव के साथ उनकी एक सौ पत्नियों ने त्रिवेणी संगम में जल समाधि ले ली। मध्य प्रदेश के विभिन्न अंचलो से विवेच्यकाल के अनेक सती स्तम्भ लेख प्राप्त हुये हैं, जो क्षेत्र में सतीप्रथा की बाहुल्यता को इंगित करते है। यद्यपि तत्कालीन शास्त्रकारों ने सतीप्रथा का घोर विरोध किया है, जिनमें मेघातिथि व देवण्ण भट्ट आदि प्रमुख हैं।

वेश्या के रूप में नारीः– प्राचीन काल से ही समाज में वेश्याओं का अस्तित्व रहा है। वेश्याऐं गीत, संगीत, नृत्य अथवा अपना शरीर बेचकर जीविकोपार्जन करती थी। इनकी दो श्रेणियाँ थी, जिनमें प्रथम श्रेणी में वे वेश्याऐं आती थी, जो राजमहोत्सव एवं प्रजा–रंजनार्थ गीत, संगीत, नृत्य आदि द्वारा जीविकोपार्जन चलाती थी। शुभ अवसरों पर उनकी उपस्थिति मांगलिक मानी जाती थी। इनका समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था। द्वितीय प्रकार की वेश्याऐं अपना शरीर बेचकर जीवन निर्वाह किया करती थी। वेश्याओं में अनेक गुणों का होना आवश्यक माना जाता था, जैसे बुद्धि, शील, विनम्रता, कृतज्ञता, दूरदर्शिता,

वाद–विवाद से दूर, स्थान और समय को पहचानने वाली, शिष्टाचार एवं गुणयुक्त याचना, निष्प्रयोजन हास्य, चुगलखोरी, परनिंदा, लोभ, क्रोध, अभिमान, इत्यादि दुर्गुणों से रहित, अकारण न बोलने वाली तथा कामशास्त्र के कौशलों एवं कामशास्त्र की समस्त अंग–विधाओं की पूर्ण जानकारी।[36] समयामातृका, कुट्टनीमतम्, प्रबन्धचिन्तामणि, मानसोल्लास एवं राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों में विविध प्रकार की वेश्याओं का वर्णन मिलता है। अल्बेरूनी ने वेश्यावृत्ति को राजाओं द्वारा प्रोत्साहित माना। क्योंकि बिना राजा की आज्ञा के कोई भी ब्राह्मण अथवा पुरोहित मंदिरों में उन स्त्रियों को सहन नहीं कर सकता जो गायन, नृत्य एवं क्रीड़ा करती हो। इसके लिये राजा का आर्थिक कारण, नगरों का आकर्शण तथा अपनी पूजा के लिये प्रमोद का प्रलोभन था। इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण अपने अविवाहित सैनिकों की कामुकता से अपनी प्रजा की रक्षा करना था। एक अन्य अरबयात्री ने भी लिखा है कि भारत में वेश्यावृत्ति अवैध कार्य नहीं समझा जाता था।[37] वेश्याओं द्वारा विविध प्रकार के लोकोपकारी एवं धार्मिक कार्य करवाने का भी उद्धरण मिलता है, जिसमें मंदिर, तालाब, वृक्ष, दान, देवताओं को भोग प्रबंध आदि महत्वपूर्ण है।[38] इससे यह प्रतीत होता है कि समाज मे अन्य वर्गों की तरह वेश्याओं में भी समाज सेवा कर प्रतिष्ठा प्राप्त करने की अभिलाषा थी।

देवदासी के रुप में नारी : विविध प्रकार के वेश्याओं के अतिरिक्त समाज में देवदासियों का एक ऐसा वर्ग था, जो मंदिर की सेवा से संबंद्ध था। इनका मुख्य कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये नृत्य–गायन एवं संगीत द्वारा चित्ताकर्शक कार्यक्रम प्रस्तुत करना था। ये मंदिरों में ही निवास करती थी। पूर्वमध्यकाल के मध्यचरण में मंदिरों में नाट्य मंडप का निर्माण इस बात की पुष्टि करता है। देवपारा लेख में इस तरह की मन्दिर गणिकाओं का वर्णन है।[39] मंदिरों के विभिन्न भागों पर अंकित नर्तकियों एवं वादकों के अंकन भी देवदासियों पर प्रकाष डालते हैं। इस काल से संबंधित अनेक मन्दिरों यथा ग्यारसपुर, खजुराहो, जांजगीरा तथा भोरमदेव आदि मंदिरों में इस प्रकार के षिल्पांकन मिलते हैं। विल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित में क्षेमगुप्त द्वारा निर्मित क्षेमगौरीश्वर महादेव मंदिर में अनेक रूपवती नर्तकियों द्वारा नष्त्य करने का वर्णन प्राप्त होता है।[40] अल्बेरूनी सहित अनेक अरबी लेखकों ने देवदासियों के विशय में लिखा है।[41] इसी प्रकार राजतरंगिणी, प्रबंधचिंतामणि आदि ग्रंथों में इस प्रथा का विशद् वर्णन मिलता है।[42] देवदासियों के रूप में विवाहित स्त्रियों को भी मंदिरों में अर्पित किया जाता था। चौहान नरेश जाज्जलदेव अपने दरबारियों के साथ सोत्साह देव मन्दिर के उत्सव में सम्मिलित होता था, जहाँ देवदासियाँ नृत्य करती थी।[43] चन्देल नरेश मदनवर्मा के कालिंजर स्तम्भ लेख में नीलकण्ठेश्वर मंदिर में महानचिनी पद्मावती का उल्लेख किया गया है।[44] पूर्वमध्यकालीन समाज का एक वर्ग मंदिरों में देवदासियाँ रखने के कट्टर विरोधी थे। नाडोल राजा जाजल्लदेव के अभिलेख में वर्णित है कि प्रत्येक मुखिया ने अपने वंषजों को निर्देश दिया कि विभिन्न मंदिरों में देवदासियों के लिये उसके द्वारा की जाने वाली सेवाओं के बदले जो व्यवस्था की गई है, उसमें कोई सन्यासी या ब्राह्मण हस्तक्षेप करते हैं, तो उन्हें तुरंत बंद किया जाना चाहिए।[45] सभी विरोध एवं आलोचनाओं के बावजूद भी इस देवदासी प्रथा का अस्तित्व बना रहा क्योंकि यह राजस्व प्राप्ति का एक साधन था, अतः राज्य इस व्यवसाय को सुनिश्चित करने में सहायता करता था। पूर्वमध्यकाल के शासक वर्ग व राजनीति पर प्रभाव, कुलीन वर्ग के मनोरंजन के साधन तथा आर्थिक क्रियाओं में धन के उच्च वर्ग से गायक, वादक, नर्तक तथा शिल्पकारों के हाथों में हस्तांतरण की दृष्टि

से इस वर्ग ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

परिचारिका के रूप में नारीः– इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकालीन समाज में नारियों का एक ऐसा वर्ग भी था जो स्वयं आत्मनिर्भर रहकर अपना जीवनयापन करता था। इन्हें इनके कार्यों के आधार पर विविध नामों से संबोधित किया जाता था यथा दासी, धात्री, परिचारिका, प्रेष्या, भुजिश्या, दूती, चंवरधारिणी, परिहारिन आदि। दासी का मुख्य कार्य उच्च एवं धनाढ्य वर्ग की सेवा करना था। दासियों में सबसे सम्मानपूर्ण स्थान 'धात्री' दासी का था, जिसका मुख्य कार्य बच्चों की देखभाल करना था। परिचारिकाओं का मुख्यकार्य उच्चघरानों की स्त्री–पुरुषों की सेवा–षुश्रुषा करने से थी। वे स्नान, वस्त्र, प्रसाधन, शैय्या एवं आसन आदि से संबंधित कार्यों को करके अपनी आजीविका चलाती थी। कुछ सेविकायें छत्रधारिणी, चँवरधारिणी, द्वारपाली एवं प्रतिहारी के रूप में कार्य करती थी। यद्यपि इनके वेतन के विषय में किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त नहीं होती, किन्तु निश्चित ही आजीविका के रूप में इन्हें पर्याप्त पारिश्रमिक प्राप्त होता रहा होगा। नवसाहसांकचरित से ज्ञात होता है कि राजघरानों की दासियाँ राजनीति एवं व्यवहारिक नीतियों की जानकार होती थी तथा अपनी योग्यता से रानियों की प्रिय बन जाती थी। इसी ग्रन्थ में पाटला नामक रूपवती दासी का उल्लेख मिलता है।[46] कलचुरि अभिलेख कारीतलाई एवं तिलकमंजरी में रनिवासों में रखैलों एवं दासियों के रहने का उल्लेख मिलता है।[47] ये दासियाँ अपने कर्तव्य पालन में सदैव तत्पर रहकर अपने मधुर स्वभाव से सबको प्रभावित करती थी।

प्रशासिका, धार्मिक एवं लोकहितार्थ के रूप में नारीः– पूर्वमध्यकाल में रानियाँ प्रशासन में सलाहकार के रुप में भी कार्य करती थी। कुछ रानियों ने प्रशासन व्यवस्था तथा युद्ध कौशल में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। उन्होंने अपने राजकुमारों की अल्पवयस्कता में संरक्षिका का कार्य किया। सामन्तों एवं राजाओं की कन्याओं को युद्ध कला की शिक्षा दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर शासन प्रशासन के कार्य का संचालन सफलतापूर्वक कर सकें। शासन व्यवस्था में स्त्रियों के हस्तक्षेप के उदाहरण पूर्वमध्यकाल में देखने को मिलते हैं। रतनपुर के कलचुरि षासक जाजल्लदेव ने युद्ध में पराजित एवं बन्दी बनाये हुये सोमेश्वरदेव तथा उसकी रानियों को राजमाता के अनुरोध पर मुक्त कर दिया।

कलचुरिकालीन अभिलेखों में ऐसी रानियों के उल्लेख मिलते है, जिन्होंने अनेक लोकहितार्थ कार्य किये। इनमें जयसिंह की विधवा रानियाँ कल्हणदेवी एवं गोसलादेवी द्वारा ब्राह्मणों को ग्रामदान, शिवालय निर्माण एवं गोसलपुर नामक नगर की स्थापना का उल्लेख मिलता है।[48] लक्ष्मणराज द्वितीय की महारानी राहडा ने कारीतलाई में राजाज्ञा द्वारा मन्दिर व्यवस्था के लिये ग्रामदान तथा युवराजदेव प्रथम की पटरानी नोहलादेवी ने गुर्गी, चन्द्रेहे, बिलहारी एवं नोहटा (नोहलेश्वर मन्दिर) में मन्दिरों एवं मठों का निर्माण एवं उसकी व्यवस्था के लिये ग्राम अनुदान में दिये।[49] भेड़ाघाट अभिलेख के अनुसार गयाकर्ण की रानी अल्हणदेवी ने अपने पुत्र नरसिंहदेव के शासन काल में वैद्यनाथ शिवमन्दिर, मठ एवं व्याख्यानशाला का निर्माण करवाया।[50] निश्चित रुप से ये अभिलेखीय साक्ष्य कलचुरि रानियों के धार्मिक प्रवृत्ति के साथ–साथ उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को भी रेखांकित करते हैं। पूर्वमध्यकालीन चन्देल अभिलेखों में भी रानियों के प्रशासनिक व्यवस्था में योगदान का उल्लेख प्राप्त होता है। अजयगढ़ शिलालेख में चन्देल राजा वीरवर्मन की राजमहिषी कल्याणदेवी को विविध गुणों से युक्त बतलाया गया है, जिन्होंने अनेक जनकल्याणकारी कार्य किये।[51]

उपरोक्त विवरणों के आधार पर पूर्वमध्यकालीन मध्यभारत में स्त्रियों के सामाजिक,

धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों के विविध प्रतिरुपों पर प्रकाश पड़ता है। इस काल में नारी की गरिमामय उपस्थिति के साथ–साथ कुछ सामाजिक वर्जनाओं के कारण उनके जीवन पर कुछ नकारात्मक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ एक ओर वह नैतिकता एवं आदर्श की प्रतिमूर्ति दिखलायी पड़ती है, वही दूसरी ओर उसे शूद्रों की श्रेणी में रखकर कठोर ह्रदयवाली, अविवेकी एवं बुराई का भण्डार भी कहा गया। किन्तु यथार्थ रुप में इस काल में भी नारी के बिना परिवार की कल्पना करना कठिन रहा है। माता रुप में वह आदर एवं श्रद्धा का पात्र रही हैं, वही कन्या रुप में उसे पुत्रों जैसा स्थान तो नही प्राप्त हुआ किन्तु माता पिता द्वारा उसकी देखभाल पुत्रों जैसी ही होती थी। पत्नी के रुप में उसकी स्थिति में गिरावट दिखलायी देती है। उसके ऊपर जिम्मेदारियों का इतना भार डाल दिया गया कि वह परिवार की मात्र सेविका बन कर रह गयी। इसके पीछे तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ रही हैं। इस युग में कन्या, पत्नी एवं माता तीनों ही रुपों में नारी पुरुष की संरक्षिका के रुप में दिखलायी देती है। पूर्वमध्यकालीन में पुनर्विवाह एवं नियोग प्रथा पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लग गया। तत्कालीन धर्मशास्त्रकारों मेघातिथि एवं विज्ञानेश्वर ने नारी के अधिकारों की बात की, जो उनकी स्थिति में परिवर्तन का सूचक है। इस युग में सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन विधवा स्त्रियों को सम्पति में अधिकार को देना था। बहुपत्नी प्रथा के प्रचलन ने स्त्रियों की स्थिति में और अधिक गिरावट लायी। कलचुरि, प्रतिहार, चन्देल आदि राजवंषों में यह प्रथा विशेष रुप से प्रचलित थी। चेदि नरेश गांगेयदेव की सौ पत्नियाँ थी। अरब यात्री सुलेमान ने लिखा कि शासकों पर कई पत्नियाँ रखने का कोई बन्धन नही था। वे कई पत्नियाँ रखते थे। बहुपत्नी प्रथा ने स्त्रियों की अधिकारों में कमी तथा ईष्या–द्वेष को बढ़ावा दिया। अंतर्जातीय विवाह के भी साक्ष्य मिलते हैं। इस काल में कम उम्र में विवाह को प्रोत्साहन मिला। बाल विवाह के कारण स्त्रियों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी।

पूर्वमध्यकाल में सती प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें दृढ़ कर ली थी। जहाँ एक ओर सती प्रथा में त्याग एवं शौर्य की भावना प्रतीत होती है, तो वहीं दूसरी तरफ उसमें सामाजिक विवशता का होना भी नकारा नहीं जा सकता। यथार्थ रुप में यह प्रथा वैधव्य दुख से त्राण पाने का साधन बन गया था। बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्‌दष्य से लोभवश सती होने के लिये उसे विवश कर दिया जाता था। इस युग में मन्दिरों से संबद्ध देवदासी की प्रथा को भी धार्मिक मान्यता प्राप्त थी। वस्तुतः इस प्रथा ने देवालयों में वेश्यावृत्ति को जन्म दिया। धार्मिक स्तर पर देवदासियों के मुख्यकार्य देवमन्दिर में नृत्य एवं गायन थे, जिसे समाज निन्दनीय नही मानता था। बहुत संभव है कि मन्दिरों की कलाकृतियों में कामलिप्सा कामिनियों के श्रृगांरपूर्ण अंकन इसी कारण उकेरे गये हो। पूर्वमध्यकाल में राजवंश से संबंधित स्त्रियों ने अनेक धार्मिक एवं लोकहितार्थ कार्यों में सहभागिता की। उन्होंने वापि, मठ, अध्ययनषाला एवं मन्दिरों का निमार्ण करवाया। यह उनकी धार्मिक सहिष्णुता के साथ –साथ प्रशासनिक कार्यो में हस्तक्षेप को भी इंगित

करता है।

संदर्भ :

1. वेदालंकार, हरिदत्त हिन्दू परिवार मीमांसा, सरस्वती सदन, दिल्ली, प५0 199
2. मिश्र, आनन्दस्वरुप, कन्नौज का इतिहास, 2006, द्वितीय संस्करण, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प५0 297
3. शर्मा कृष्णगोपाल, जैन हुकमचन्द, शर्मा मुरारीलाल, भारत का इतिहास, 2006, सप्तम संस्करण, जयपुर, पृष्ठ संख्या 439
4. मनुस्मृति पर मेघातिथि की टीका, 9/4
5. मित्तल, अमरचन्द, परमार कालीन सभ्यता एवं संस्कृति, दिल्ली, 1986, पृ0 74
6. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवी शदी का भारत, पटना, 1992, पृ0 137
7. बौधायन धर्मसूत्र, 4/1/12–14
8. धनपालकृत, तिलकमंजरी, संपादक शास्त्री भवदत्त एवं परब, के0 पी0, बम्बई, 1903, पृ0 103–104.
9. मित्त्तल, अमरचन्द, परमारकालीन सभ्यता एवं संस्कृति, दिल्ली, 1986, पृ0 72
10. धनपालकृत, तिलकमंजरी, संपादक शास्त्री भवदत्त एवं परब, के0 पी0, बम्बई, 1903, पृ0 110
11. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड–चतुर्थ, प्रथम, पृ0 242
12. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड–चतुर्थ, प्रथम, पृ0 211, श्लोक 24
13. धनपालकृत, तिलकमंजरी, संपादक शास्त्री भवदत्त एवं परब, के0 पी0, बम्बई, 1903, पृ0 243
14. एंशियण्ट इण्डिया संख्या 2 पृष्ठ 7, 22
15. काव्यमीमांसा, राजशेखरकृत संपादक दलाल डी0, बम्बई 1954, पृ0 53
16. शंकरदिग्विजय, 8.51 विधाय भार्या विदुषीं सदस्यां विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र।
17. पद्मपुराण 133/112, महापुराण 24/176–177
18. महापुराण, 8/38/154
19. विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा, 2/143, 115, 123, वेंटेश्वर प्रेस, बंबर्द, 1930
20. भोजकृत श्रृंगारमंजरी कथा, सं. के , बम्बई, 1958, पृ0 85
21. तिलकमंजरी, पृ0 17–18
22. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, चतुर्थ, अंक प्रथम, 1955, क्रम 77, श्लोक 22।
23. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड–चतुर्थ, प्रथम, पृ0 317
24. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्षनम इंडिकेरम, खण्ड चतुर्थ, 1955, क्रम 97
25. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड चतुर्थ, 1955, क्रम 77
26. एइ. जिल्द 1, पृ0 200
27. मिराशी, वी0वी0, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड–चतुर्थ, प्रथम, पृ0 277
28. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन, दिल्ली, 1992 (पंचम संस्करण), पृ0 435
29. वृद्धहारीत, 11.205.10
30. कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, चतुर्थ, क्र. 51
31. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, चतुर्थ, क्र. 67
32. शर्मा, रजनीकान्त, अल्बेरुनी का भारत, भाग 3, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, पृ. 199
33. इलियट, एम0 एच0 एण्ड जे0 डायसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड हिज ऑन हिस्टोरियन, बम्बई, 1929, पृ0 111
34. फ्लीट, एफ. जे, कॉपर्स इन्सक्रिप्शन इण्डिकेरम्, भाग–3, 38, सं. 20, वाराणसी, 1963ई
35. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवी शदी का भारत, पटना, 1992, पृ0 164–65
36. वात्सायनकृत कामसूत्र, शास्त्री देवदत्त टीका, वाराणसी, 1964, 687

37. अबूजैद, उद्धृत होडीवाला, 12, इब्न खुर्दाद्व ' इब्न अल फकी, और इब्न रोसेथ उद्धृत फेरंड, 28, 63, 73
38. कामसूत्र, 672
39. एपीग्राफिया इण्डिका, ए. एस. आई. 1 पृ0 310
40. विल्हण कृत विक्रमांकदेवचरित, टीका शास्त्री विश्वनाथ, बनारस, 1960, पृ0 195
41. शर्मा, रजनीकान्त, अल्बेरुनी का भारत, भाग 3, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, पृ0 157
42. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ.159–61
43. एपीग्राफिया इण्डिका, पृ0 26
44. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 2002, पृ0 144
45. मिश्र, उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 2002, पृ0 137
46. परिमल पदमगुप्त कृत नवसाहसांकचरित, भारतीय जितेन्द्रचन्द्र टीका, वाराणसी, 1963, 4/45
47. धनपालकृत तिलकमंजरी पृ0 156
48. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड 4–i, पृ0 336, श्लोक 44–47
49. बनर्जी, आर0 डी0, दी हैहयाज ऑफ त्रिपुरी एण्ड देयर मानुमेण्ट्स, मेमॉयर ऑफ आर्कियोलॉजी सर्वे ऑफ इण्डिया, क्र0 23, कलकत्ता, 1931, पृ0 110 कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड 4–i पृ0 198–204
50. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 6, पृ0 298 कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड 4–i पृ0 320–21
51. अजयगढ़ शिलालेख, संख्या 14, श्लोक 22

21 मध्यप्रदेश के शक्तिपीठ की सांस्कृतिक उपादेयता

शैला यादव

मध्यप्रदेश प्राचीन काल से ही अपने धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है। यह क्षेत्र वैष्णव, शैव एवं शाक्त आदि धर्मों की तीर्थभूमि के रुप जाना जाता है। शाक्त धर्म की मान्यतानुसार यहाँ पर स्थान–स्थान पर देवी के मंदिर एवं उनसे संबंधित मान्यताएँ प्रचलित है। यहाँ के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में देवी भगवती की उपासना लोकदेवी के रूप में की जाती है। अन्य प्रान्तों की भांति यहाँ भी शक्ति उपासना का प्रचलन परम्परा से चला आ रहा है, जो इस परिक्षेत्र के सांस्कृतिक वैभव एवं उसकी गरिमा की श्रीवृद्धि में विशेष महत्वपूर्ण है। हिन्दू मान्यता के अनुसार जहाँ–जहाँ देवी सती के अंग के टुकड़े, धारण किये हुए वस्त्र अथवा अलंकरण गिरे, वहाँ–वहाँ शक्तिपीठ अस्तित्व में आया। शक्तिपीठ की उद्‌भावना से संबंधित कथा का उल्लेख हमें विभिन्न पुराणों एवं शाक्त–शैव ग्रंथों में प्राप्त होता है। जो इस प्रकार है – एक बार दक्ष प्रजापति ने 'बृहस्पति सर्व' नामक विशाल यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें सभी देवताओं को आमंत्रित किया गया, किन्तु द्वेषवश अपने जमाता भगवान शिव एवं पुत्री सती को नहीं बुलाया। सती ने इसे अपने पति का अनादर समझा और क्रुद्ध होकर यज्ञाग्नि में प्रवेश कर गयी।[1] यह देख भगवान शिव सती के शोक में प्राकृत पुरुष की भांति संतप्त हो उठे। तदनन्तर शिव के उग्र रूप को शान्त करने हेतु ब्रह्मा एवं विष्णु द्वारा स्तुति करने पर जगदम्बा दर्शन देते हुए कहती है कि – शम्भो ! मैनें आपका परित्याग नहीं किया, आप ही मुझ महाकाली के हृदयस्थ्ल है।[2] हे शिव! आप स्थिरचित्त हो, मैं स्वयं हिमालय की पुत्री बनकर तथा मेना के गर्भ से जन्म लेकर पुनः आपको पति रूप में वरण करुँगी।[3] आपने पतिभाव से मेरा अनादर किया था, इसीलिए मैं कुछ समय तक पत्नी रूप में आपके साथ नहीं रह सकूँगी। महेश्वर ! मेरा छाया शरीर दक्ष के यज्ञ भवन में पड़ा हुआ हैं, आप उसे सिर पर धारण कर सम्पूर्ण भूतल पर भ्रमण करें। मेरा वह शरीर अनेक खण्डों में विभक्त होकर पृथ्वी पर गिरेगा और उन स्थानों पर पापों का नाश करने वाले शक्तिपीठ उदित होंगे[4] –**स देहो बहुधा भूत्वा पतिष्यते धरातले। तत्र तद्धि महापीठं भविश्यत्यघनाशनम्।।**

सती के अंग–प्रत्यंग पृथ्वी पर जिन–जिन स्थानों पर गिरे वहाँ पर देवी के पवित्र पावन शक्तिपीठों का निर्माण हुआ। प्रत्येक शक्तिपीठ में एक 'शक्ति' और एक 'भैरव' विभिन्न रूप एवं विभिन्न नाम धारण कर विराजमान है।[5]

पंचाशदेकपीठानि एवं भैरवदेवताः
अंगप्रत्यंगपातेन विष्णुचक्रक्षतेन च।।

शक्तिपीठों की संख्या संबंधी विवरण विभिन्न पुराणों एवं शाक्त–शैव ग्रंथों में भिन्न–भिन्न पाया जाता है। देवीपुराण में शक्तिपीठों की संख्या इक्यावन बतलायी गयी है।[6] वही दूसरी ओर देवीभागवतपुराण[7], मत्स्यपुराण[8], पद्मपुराण[9], स्कन्दपुराण[10] आदि में 108 शक्तिपीठों का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु परम्परागत देवीभक्तों एवं सुधीजनों में इक्यावन शक्तिपीठ की ही विशेष मान्यता हैं। इन इक्यावन शक्तिपीठों में से तीन शक्तिपीठ मध्यप्रदेष के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में स्थित है, जो आज भी भक्तों की उपासना का केन्द्र हैं। पृथ्वी पर ये स्थान महातीर्थ एवं मुक्ति क्षेत्र के रूप में जाने जाते हैं। यह स्थान सिद्ध शक्तिपीठ है, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं। यहाँ भगवती के निमित्त जो हवन, अर्चना करता है, उसे उसका कोटिगुणा फल प्राप्त होता है। ये शक्तिपीठ परम पवित्र एवं त्वरित फलदायक माने गये है। इन शक्तिपीठों का विवरण इस प्रकार है –हरसिद्धि शक्तिपीठ – समस्त लोकोत्कर्ष को जीतने वाली उज्जयिनी अपने धार्मिक वैभव के कारण अनादिकाल से ही पूजनीय रही है। यह नगर दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् (स्वर्ण का एक कांतिमान खण्ड), विष्णोपादमवन्तिकाय (विष्णु का पदकमल), मणिपूरकचक्रः (ब्रह्माण्ड का नाभि केन्द्र) एवं महाकाल की नगरी आदि उपमाओं से विभूषित है। उज्जयिनी का महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग जहाँ मुक्तिपद का मार्ग दिखलाता है,[11] वही दूसरी ओर माता हरसिद्धि देवी इस क्षेत्र को शक्तिपीठ के रुप में स्थापित करती है। यहाँ प्रत्येक बारह वर्षों में कुम्भ का मेला भी लगता है। उज्जयिनी में ही रुद्रसरोवर के समीप हरसिद्धि देवी का प्राचीन मन्दिर स्थित है, जो इक्यावन शक्तिपीठों में से एक है। इस पवित्र स्थल में भगवती सती की कोहनी का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति 'मांगल्यकपिलाम्बर' है[12] –

उज्जयिन्यां कर्पूरं च मांगल्यकपिलाम्बरः। भैरवः सिद्धिदः साक्षात् देवी मंगलचण्डिका।।

यह उज्जयिनी शक्तिपीठ चारों ओर से दीवारों द्वारा आच्छादित है। मन्दिर के मुख्य पीठ पर मूर्ति के स्थान पर श्रीयन्त्र स्थापित है और उसके पीछे भगवती अन्नपूर्णा की मूर्ति विराजमान है। इसके साथ ही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती एवं महामाया की भी मूर्ति विराजमान है। वर्तमान समय में मन्दिर के गर्भगृह में स्थित माता हरसिद्धि देवी की मूर्ति की भी पूजा अर्चना की जाती है। स्कन्दपुराण में इस शक्तिपीठ से संबंधित एक कथा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार चण्ड–प्रचण्ड नामक दो असुरों ने जब कैलाश पर्वत पर प्रवेश करने का दुस्साहस किया, तब नन्दी द्वारा मार्ग रोकने पर क्रुद्ध असुरों ने उन्हें घायल कर दिया। भगवान शिव ने जब असुरों का यह दुष्कृत्य देखा तो उन्होनें तत्क्षण भगवती चण्डी का स्मरण किया, देवी प्रकट हुयी और शिव जी ने उन्हें चण्ड–प्रचण्ड के संहार का आदेश दिया। चण्डी ने तत्क्षण ही उन असुरों का वध कर दिया। इस पर भगवान हर (शिव) प्रसन्न होकर बोले – 'हे चण्डी ! तुमने इन दुष्ट–दानवों का जो वध किया, मैं उससे प्रसन्न हूँ। अतः समस्त लोक में तुम 'हरसिद्धि' नाम से जानी जाओगी'।[13] जो मनुष्य परम श्रद्धापूर्वक एवं भक्तिमय होकर हरसिद्धि देवी के दर्शन करेगा, वह अक्षय भोग प्राप्त कर मृत्यु पर्यन्त शिवलोक को जायेगा।

हरसिद्धि देवी का मन्दिर मराठाकालीन है। बृहद् परकोटा, चतुश्द्वार, द्विदीपस्तम्भ एवं प्राचीन जलाशय से युक्त पूर्वाभिमुख मन्दिर की शोभा अद्वितीय हैं। सर्वार्थसिद्धिदात्री माता हरसिद्धि की प्रतिमा श्रीयन्त्र पर उकेरी गयी है, जिन्हें सिन्दूर चढ़ाने की परम्परा है। नवरात्र के पर्व पर देवी की महापूजा की जाती है एवं स्वर्णरजत मुखौटा से इनका विशेष श्रंगार किया जाता है। दोनों दीपस्तम्भों पर दीप प्रज्ज्वलित किये जाते

है, इन दीपस्तम्भों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश में सितारे जगमगा रहे हों। मन्दिर परिसर में आदिशक्ति महामाया का मन्दिर है, जहाँ अखण्ड ज्योति जलती रहती है। साथ ही चिन्ताहरणविनायक एवं श्रीकर्कोटेश्वर का भी मन्दिर यहाँ विराजमान है। मन्दिर की सीढ़ियों से ऊपर जाते ही देवी के वाहन सिंह के दर्शन होते हैं। इस शक्तिपीठ में नित–प्रतिदिन असंख्य भक्तगण माता हरसिद्धि के दर्शन के लिए आते है। प्रातःकालीन पक्षियों का कलरव यहाँ के वातावरण को भक्तिमय बना देता है। पक्षियों के भक्तिमय इस गुंजार से ऐसा प्रतीत होता है, मानो ब्राह्मणों का समूह एक स्वर में दुर्गासप्तशती का गान कर रहा हो। देवी हरसिद्धि के दर्शन समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले है।

भैरवपर्वत शक्तिपीठ : इस शक्तिपीठ की स्थिति के विषय में विद्वानों में द्विमत है। कुछ विद्वान मध्यप्रदेश के उज्जैन के समीप शिप्रा नदी के किनारे स्थित भैरव पर्वत को तो कुछ गुजरात के गिरनार पर्वत के सन्निकट भैरव पर्वत को वास्तविक शक्तिपीठ मानते है। किन्तु शक्ति के अवन्ती (अवन्तिका) होने से उज्जैन में ही शक्तिपीठ की प्रासंगिकता अधिक उचित प्रतीत होती है[14]। इस स्थल पर देवी सती के छाया शरीर के उर्ध्व ओष्ठ का पतन हुआ था।[15] यहाँ माता सती की 'अवन्ति' तथा भैरव की 'लम्बकर्ण' के रुप में पूजा की जाती है। मन्दिर की आकृति अद्वितीय है, जो अलग अलग रंगों से निर्मित है। यहाँ देवी की प्रतिमा सदैव लाल रंग के वस्त्र से आवरित रहती है। नियमित रूप से यहाँ प्रार्थना एवं अन्य अनुष्ठान किये जाते है। शिवरात्रि एवं नवरात्रि के अवसर पर यहाँ अनन्य भक्ति भावना से विशाल उत्सव का आयोजन किया जाता है एवं विशाल जागरण, कीर्तन एवं भण्डारे आदि की भी व्यवस्था की जाती है।

रामगिरि शक्तिपीठ : इस शक्तिपीठ के विषय में भी दो मान्यतायें प्रचलित हैं, जिसमें कुछ चित्रकूट में स्थित शारदा मन्दिर को शक्तिपीठ की मान्यता प्रदान करते है, तो कुछ मैहर में अवस्थित शारदा मन्दिर को[16]। किन्तु दोनों ही स्थान पवित्र एवं ख्यातिलब्ध तीर्थस्थल है और दोनों मध्यप्रदेश जनपद में स्थित भी है। इस स्थल पर देवी सती के देह के दाएं स्तन का निपात हुआ था।[17] इस शक्तिपीठ की सती 'शिवानी' तथा भैरव 'चण्ड' हैं।

शारदा शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ मध्यप्रदेश के सतना जिले के मैहर क्षेत्र में स्थित है। इसे मैहर शक्तिपीठ के भी नाम से जाना जाता है। इस शक्तिपीठ में माता सती का हार गिरा था, जिससे इस शक्तिपीठ का नाम मैहर (माँ का हार) पड़ा। भारत के इक्यावन शक्तिपीठों में इसका प्रमुख स्थान है। 1063 सीढ़ियों वाली यह शक्तिपीठ मैहर शहर के 600 फीट ऊँचाई वाले त्रिकुटा पर्वत पर विराजमान है, जहाँ सती का शारदीय स्वरुप माता शारदा के रुप में दर्शनीय है। ऐसी मान्यता है कि इस मन्दिर का निर्माण गोंड शासकों ने करवाया था।

इस तीर्थ स्थल के विषय में दो लोककथाएँ प्रचलित है[18]। जिसमें से प्रथम लोककथा के अनुसार लगभग दो सौ वर्ष पूर्व मैहर में दुर्जन सिंह जुदेव नामक राजा राज्य करता था। उनके राज्य में एक ग्वाला नित प्रतिदिन गाय चराने के लिए जंगल में जाया करता था। वह जंगल अत्यन्त घनघोर, दिन में अंधकार से युक्त एवं विभिन्न प्रकार के भयावह शब्दों से गुंजायमान था। रोज की तरह वह गायों को चराने के लिए जंगल में गया था, अकस्मात् उसकी दृष्टि उन गायों के मध्य में स्थित एक सुनहरी गाय पर पड़ी, जो उसकी नहीं थी और शाम होते ही वह अचानक गायब हो गयी। अगले दिन जब वह जंगल में आया तो उसने पुनः उस सुनहरी गाय को अन्य गायों के साथ घास चरते हुए देखा। उस ग्वाले ने यह निश्चय

किया कि वह उस सुनहरी गाय के विषय में जान कर रहेगा। तब उसने उस गाय का अनुगमन करते हुए उसका पीछा किया। उसने देखा की पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक गुफा में गाय ने जैसे ही प्रवेश किया, वह गुफा बन्द हो गया। वह उस द्वार पर खड़ा होकर उसके खुलने का इंतजार करने लगा। वहाँ उसे एक बूढ़ी माता मिली। उन्हें देखते ही वह बोला कि माई! मैं आपकी गाय को चराता हूँ। अतः उसके बदले मैं आपसे अपना पारिश्रमिक चाहता हूँ, इसी आशा से मैं आपके पास आया हूँ। तब बूढ़ी माता ने उसे लकड़ी के सूप से जौ के दाने देते हुए कहा कि तुम इस भयावह जंगल में ऐसे अकेले भ्रमण नहीं किया करो। ग्वाले ने कहा कि माई गायों को जंगल में चराना ही मेरा काम है। परन्तु आप इस जंगल में अकेली रहती हैं आपको भय नही लगता तब वह हँसकर बोली, बेटा! ये जंगल, ये ऊँचे पर्वत ही मेरा घर हैं, यहीं मेरा निवास–स्थल है। इतना कह कर वह अचानक अन्तर्ध्यान हो गई। ग्वाल जब घर आकर जौ के दाने वाली पोटली खोलता है तो वह आश्चर्यचकित हो जाता है, क्योंकि उसमें जौ के स्थान पर हीरे– मोती रहते हैं। वह सोचने लगता है कि वह इन हीरे–मोतियों का क्या करेगा, तब वह राजा के दरबार में जाकर सारा वृत्तान्त सुनाता है। ग्वाले की बात सुनकर राजा ने अगले दिन ही जंगल में जाने का निर्णय लिया। उसी दिन रात्रि में राजा को उस बूढ़ी माता के दर्शन हुये और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि वह और कोई नहीं आदिशक्ति माँ शारदा ही हैं। माता ने राजा से वहाँ मूर्ति प्रतिष्ठापित करने की आज्ञा दी, और कहा जो मेरा सच्चे भाव से दर्शन करेगा, उसकी समस्त मनोवांछित कामनाएं पूर्ण होगी। राजा ने प्रातः उठते ही माता की आज्ञानुसार मूर्ति स्थापित करवाया। शीघ्र ही शारदा देवी की महिमा चतुर्दिक प्रसरित हो गयी। दूर–दूर से भक्तगण आकर अपनी मनोकामनाएं पूरी करने लगे। कालान्तर में यहाँ माँ शारदा देवी के भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया।

इस तीर्थ स्थल से संबंधित दूसरी लोककथा भी प्रसिद्ध है, जो आल्हा–उदल नामक दो वीर वनाफर योद्धाओं से संबंधित है। ये दोनों योद्धा माता शारदा के अनन्य भक्त थे। माना जाता है कि सबसे पहले इन्होंने ही जंगलों के मध्य शारदा देवी के इस मन्दिर की खोज की। आल्हा के बारह वर्षों की कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर माता ने उन्हें अमरत्व का वरदान दिया। ऐसा कहा जाता है कि दोनों भाइयों ने भक्तिभाव के वशीभूत होकर अपनी जिह्वा माँ शारदा को समर्पित की थी, किन्तु माता ने प्रसन्न होकर वह जिह्वा उन्हें पुनः प्रदान की। आल्हा, माता को शारदा माई कहकर संबोधित करता था, तभी से यह मन्दिर शारदा माई के नाम से भी जाना जाने लगा। आज भी जनमानस में यह लोक किंवदन्तियाँ है कि माँ शारदा का प्रथम दर्शन आल्हा–उदल द्वारा ही किया जाता है। मन्दिर के ठीक पीछे पहाड़ों के नीचे एक तालाब दिखाई देता है, जो आल्हा तालाब कहा जाता है। तालाब से लगभग दो किलोमीटर नीचे आकर एक अखाड़ा भी है, जहाँ आल्हा–उदल कुश्ती किया करते थे।

भारतीय पुरातत्व के जनक अलेक्जेण्डर कनिंघम ने इस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया था। उन्होंने अपने सर्वेक्षण में माँ शारदा एवं नरसिंह प्रतिमा के साथ दो अभिलेखों का उल्लेख किया है। प्रतिमा पर देवनागरी लिपि में अंकित है कि सरस्वती पुत्र दामोदर ही कलियुग के व्यास मुनि कहे जायेंगे। इन प्रतिमाओं को नुपुला देवी द्वारा शक 424 चैत्र कृष्ण पक्ष, सन् 502 ईस्वी में स्थापित किया गया था। देवनागरी लिपि में अंकित चार पंक्तियों वाला यह अभिलेख 3′ 4′′ लम्बा एवं 2′ 10′′ चौड़ा है।[19]

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में देवी की उपासना विविध रुपों में की जाती रही है। प्रारम्भ में वह प्राकृतिक व दैवीय शक्तियों के रुप में पूजी जाती थी, जिनमें पृथ्वी, उषा, नदी, सविता आदि के

रूप में वे आराध्य थी। कालान्तर में देवी को मूर्त रुप प्रदान कर प्रतिमा के रुप में पूजा जाने लगा। प्रतिमा रुप में देवी का शक्ति रुप में अंकन इक्यावन पीठों में मिलता है। शक्ति के विग्रह से निर्मित इन शक्तिपीठों का मुख्य उद्देश्य दुर्जनों का संहार एवं सज्जनों का कल्याण करना है। भारतीय संस्कृति एवं समाज के अभिन्न अंग के रुप में समाहित ये शक्तिपीठ जहाँ जनमानस की आध्यात्मिक जिज्ञासा का शमन करने में समर्थ है, वहीं अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा सामाजिक दृष्ट्या लोकोपकार भी करते हैं। यह शक्तिपीठ सामान्यतः दुर्गम स्थलों पर ही अवस्थित है, जिसके मूल में यह तथ्य निहित है कि जिस प्रकार कठिन परिश्रम से ही सफलता के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार इन दुर्गम पर्वतों को कठिनता से पार कर किया गया देवी का दर्शन भक्तों की वांछित मनोकामना को पूरी करती हैं। मध्यप्रदेश के विविध भू–भागों में अवस्थित ये शक्तिपीठ पुराकाल से ही धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे हैं। यह तीर्थस्थल अपने स्पर्ष एवं दर्षन मात्र से ही भक्तों के समस्त पाप कुंजो का तत्क्षण समूल नाश करने वाले हैं। ये शक्तिपीठ न केवल तीर्थस्थल, तपोभूमि एवं आध्यात्म केन्द्र है, अपितु अभ्यारण्य एवं अमूल्य वनौषधियों से भी परिपूर्ण है, जो एक तीर्थस्थल के साथ–साथ पर्यटन स्थल के रूप में भी विकसित हो

हरसिद्धि शक्तिपीठ, उज्जैन

रामगिरि शक्तिपीठ,चित्रकूट

शारदा शक्तिपीठ, मैहर

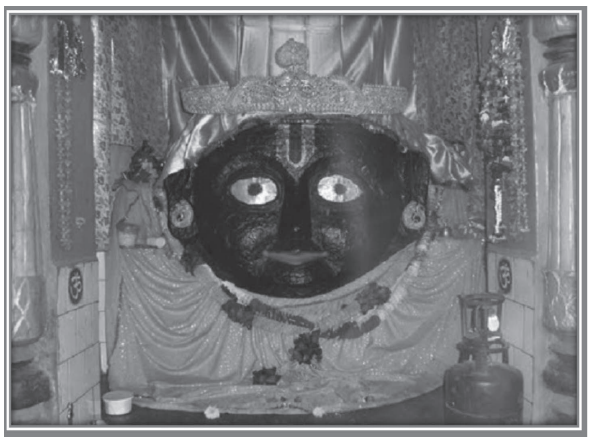

भैरवपर्वत शक्तिपीठ, उज्जैन

सकते है।

संदर्भ :

1 देवीपुराण,(हनुमान प्रसाद) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1998, 9/5 शक्नोमि भस्मसात्कर्तुं पितृहत्याभयेन् तत्। न करिष्यामि किंत्वेन मोहये सह दैवतैः।।
[2] देवीपुराण,(हनुमान प्रसाद) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1998, 11/37
[3] देवीपुराण,(हनुमान प्रसाद) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1998, 11/35
[4] देवीपुराण,(हनुमान प्रसाद) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1998, 11/41
[5] तन्त्रचूड़ामणि, पीठनिर्णय श्लोक, 3
[6] देवीपुराण,(हनुमान प्रसाद) गीताप्रेस, गोरखपुर, 1998, 12/29,30
[7] श्रीमद्देवीभागवतपुराण, पण्डित श्रीरामतेज पांण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988, 30/55–83
[8] मत्स्यपुराण,श्रीराम प्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्यिक प्रेस, 2008, 13/26–53
[9] पद्मपुराण, (हीरालाल जैन), अयोध्या प्रसाद गोपालीय, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 2003 17/184/211
[10] स्कन्दपुराण, वेदव्यास, संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, 1973, 98/64–92
[11] द्वादषज्योतिर्लिंगस्तोत्रम्, 3अवन्तिकां विहितावतारं मुक्तिप्रदानाय च सज्जनानाम्। अकालमष्त्योः परिरक्षणार्थ वन्दे महाकालमहासुरेषम्।।
[12] तन्त्रचूड़ामणि, पीठनिर्णय श्लोक, 16
[13] स्कन्दपुराण, अवन्तिकाखण्ड, वेदव्यास, संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, 1973,15/32
[14] महाशक्तियाँ एवं उनके इक्यावन शक्तिपीठ, गोपालजी गुप्त, पुस्तक महल, दिल्ली पृ 903
[15] तन्त्रचूड़ामणि, पीठनिर्णय, 44श्वोर्द्वोष्ठो भैरवपर्वते। अवन्ती च महादेवी लम्बकर्णस्तु भैरवः।।
[16] रामायण, आदिकवि वाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1959, 2/54/30 यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः।।
[17] तन्त्रचूड़ामणि, पीठनिर्णय, 37 रामगिरौ स्तनान्यञ्च शिवानी चण्डभैरवः।
[18] मैहर दर्शन, (संपादक) लक्ष्मी प्रसाद सोनी, गाइड, विद्यासागर बुक स्ऑल, सतना,

22 कलचुरि काल में सौर सम्प्रदाय

प्रो. नवीन गिडियन

कलचुरि काल में शैव एवं शाक्त धर्मों की प्रधानता थी। इन दोनों धर्मों से संबंधित विस्तृत विवरण अभिलेखों एवं मूर्तियों से प्राप्त होता है। इन प्रमुख धर्मों के अतिरिक्त कलचुरि काल में कुछ गौण सम्प्रदाय भी विकसित हुए। इन गौण सम्प्रदायों में सौर, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणपति इत्यादि मुख्य हैं। ये गौण सम्प्रदाय प्रमुख धर्मों के पूरक के रूप में अपनी भूमिका निभाते हैं।

सौर सम्प्रदाय

सूर्य पूजा की परम्परा अत्यंत ही प्राचीन है। वैदिक काल के पहले भी सूर्य पूजा के पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त हुये हैं। प्रागैतिहासिकालीन मानव भी गुफाओं की भित्तियों पर सूर्य के प्रतीक को चिह्नित करते थे। इस प्रकार के अंकन सिंहनपुर (रायगढ़ मध्यप्रदेश) की गुफाओं में दर्शित हैं।[1] सूर्य यद्यपि नवग्रहों में प्रमुख है किंतु देवताओं में उनकी प्रतिमाओं का पृथक ही महत्व है। आकाश को दैदिप्यमान करने वाले इस ज्योतिर्पिण्ड के प्रति वैदिक काल में भी श्रद्धा थी। वैदिक साहित्य में सूर्य की पूजा से संबंधित विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है[2] एवं 14 सूक्तों में भी सूर्य की चर्चा की गई है। ऋग्वेद में सूर्य को अदिति पुत्र या अद्वितीय कहा गया है।[3] सूर्य के प्रचलित नाम सविता, पूषन, विवस्वत, मित्र एवं अर्यमन उसी काल के हैं। वेदोत्तर काल में सूर्य पूजा का और भी विकास हुआ।[4] पुराणों एवं उपनिषदों में भी सूर्य पूजा से संबंधित विवरण प्राप्त होते हैं। महाकाव्य रामायण[5] एवं महाभारत[6] में भी सूर्य पूजा के विवरण हैं सूर्य की किरणें ही उनके अश्व हैं, जिनकी संख्या ऋग्वेद में सात कही है।[7] ईसा की प्रारंभिक सदियों में इस देवता के उपासकों द्वारा एक सम्प्रदाय ही विकसित किया गया जो सौर सम्प्रदाय के नाम से जाना गया। विद्वानों का अनुमान है कि यह सब ईरानी प्रभाव से था। इस विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में सूर्य देव को देवों में सम्मानीय स्थान प्राप्त था।

वृहत्संहिता में[8] सूर्य प्रतिमा का उल्लेख है, जिसमें सूर्य को कुण्डल, हार एवं मुकुट से शोभित, कमल द्युति, प्रभामण्डल वाले उदीच्यवैश्य, कंचुक एवं अव्यंग धारण किये हुए, पैरों से वक्ष तक आवृत्त एवं हाथों में पद्म लिये उल्लेखित हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में[9] सूर्य प्रतिमा का उल्लेख करते हुये यह स्पष्ट किया

गया है कि सूर्य के दोनों ओर अनुचर रहते हैं। दाहिनी ओर पिंगल नामग सेवक एवं बायीं ओर सुंदर रूप वाला दण्ड नामक अनुचर रहता है। इन दोनों सेवकों के ऊपर सूर्य हस्त रहते हैं। पिंगल के हाथों में पत्र एवं लेखनी तथा दण्ड के हाथों में चर्म, शूल एचं दण्ड है। इसके अतिरिक्त एक ध्वज सूर्य के बायीं ओर है जो कि सिंह ध्वज से भूषित है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण[10] में ही सूर्य के रथ पर आरूढ़ रूप का भी विवरण है। रथारूढ़ रूप में सूर्य सात अश्वों द्वारा खींचे जाने वाले रथ में बैठे रहते हैं। रथ का एक चाक दिखता है जिसमें छह दण्ड रहते हैं तथा सूर्य का सारथी अरूण रहता है। ई. पू. मौर्य काल में रजत एवं ताम्र की प्रचलित आहत मुद्राओं पर सूर्य को चक्र तथा किरणों सहित दर्षाया है।[11] कुषाण काल में सूर्य प्रतिमा को चार घोड़ों वाले रथ में विराजमान दर्षाया है।[12] मौर्य काल में सूर्य की मानवीय रूप की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं।[13] गुप्तकाल से सूर्य प्रतिमाओं में पुनः सात घोड़ों का अंकन किया जाने लगा व पार्श्वचर रूप में दण्डी एवं पिंगल का भी अंकन किया जाने लगा। सूर्य प्रतिमाओं में सारथी भी दृष्टिगोचर होने लगा। गुप्तकाल में तो सूर्य की आसनस्थ एवं स्थानक दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। वर्तमान में इस काल की कुछ सूर्य प्रतिमायें मथुरा संग्रहालय में प्रदर्षित हैं।[14] ब्रह्म पुराण में सूर्य को संपूर्ण जगत का माता, पिता, गुरू, पितरों के भी पिता, देवताओं के भी देवता इत्यादि रूपों में वर्णित किया गया है।[15] इसी पुराण में सूर्य के द्वादश रूपों का उल्लेख है।[16] इसी पुराण में सूर्य के 21 नामों की चर्चा है जिनकी अर्चना के द्वारा शरीर को आरोग्य, समृद्धि एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति होने की मान्यता प्रचलित थी।[17] सौर सम्प्रदाय के अनुयायी मस्तक पर लाल रंग के चंदन से सूर्य की आकृति का निर्माण करते, गले में लाल फूलों की माला पहनते, उदयोन्मुख सूर्य की ब्रह्म रूप में, मध्याह्न सूर्य की ईश्वर रूप में तथा अस्तोन्मुख सूर्य की विष्णु के रूप में पूजा करते हैं। भण्डारकर ने कनिश्क के सिक्कों पर अंकित सूर्य की आकृति को आधार मानकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि कुषाण काल में सूर्य पूजा की परम्परा ईरान से भारत आई एवं मुल्तान का सूर्य मंदिर लगभग इसी काल में बना होगा।[18]

स्कन्दगुप्त के शासन काल में सूर्य उपासना का अत्यधिक प्रसार था।[19] कुमारगुप्त ने 436 ई. में अपने शासन काल में लाट प्रवेश से बुनकरों की एक श्रेणी ने दशपुर (मदसौर) में एक सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया।[20] 573 ई. में इसी श्रेणी ने मंदिर का जीर्णोद्धार भी करवाया।[21] सूर्योपासना तो उच्चकल्प के महाराजा सर्वनाम के अभिलेख[22] व हूण शासक मिहिर कुल के शासन के 15वें वर्ष में सूर्य मंदिर निर्माण का उल्लेख है।[23]

कलचुरि काल में सौर सम्प्रदाय

सूर्य

कलचुरि काल में सूर्य उपासना के स्पश्टतः उल्लेख अभिलेखों में नहीं मिले हैं। किन्तु कलचुरियों की त्रिपुरी शाखा द्वारा शासित क्षेत्र से प्राप्त अनेक सूर्य प्रतिमायें इस काल में सूर्योपासना की लोकप्रियता को स्पश्ट करती हैं। सूर्य को 'नवग्रहों' में प्रधानग्रह माना है। कलचुरि काल में प्राप्त प्रतिमाओं में अधिकांश प्रतिमायें रथारूढ़, समभंग, स्थानक मुद्रा में तो कभी–कभी नवग्रहों के साथ प्राप्त हुई हैं।[24] विशेष रूप से इस काल में मंदिर के गर्भग्रह के प्रवेशद्वार के ऊपर नवग्रह पट्ट स्थापित किया जाता था। रीवा के तोरण में सूर्य को शिव की बारात में दिखलाया गया है, जहाँ वे दोनों हाथों में कमल लिये रथ पर विराजे हैं।[25] रीवा के विश्वनाथ मंदिर में इन्हें चार अश्वों के रथ पर बैठे दिखलाया गया है इनके दोनों ओर ऊषा और

प्रत्यूशा का आलीढ़ एवं प्रत्यालीढ़ मुद्रा में दर्षाया है। ये दोनों अपने धनुष बाण से अंधकार को दूर हटाने का प्रयास कर रही हैं। सूर्य की पत्नियाँ रजनी एवं निक्षुभा दोनों ओर विराजी हैं। बीच में उनका सारथी अरूण भी है।[26] इसी प्रकार की एक प्रतिमा गढ़ी (रीवा) के उच्चतर माध्यमिक शाला[27] परिसर में निर्मित एक छोटे से मंदिर में स्थापित है। इसी प्रकार की सूचित प्रतिमायें भेड़ाघाट,[28] पनागर,[29] त्रिपुरी,[30] बिलहरी,[31] कारीतलाई[32] आदि स्थानों से प्राप्त हुईं हैं। गोपालपुर से प्राप्त एक सूर्य प्रतिमा आद्यतन पुरातत्व संग्रहालय, जबलपुर विश्वविद्यालय में है। भेड़ाघाट के चौंसठ योगिनी मंदिर में सूर्य की जूते पहिने/बूटधारी[33] प्रतिमा स्थापित है।

वीरसिंहपुर पाली से कलचुरि कालीन 11वीं शताब्दी की एक द्विभुजी सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है जो सनाल पद्म लिये स्थानक मुद्रा में है।[34] उक्त सूर्य प्रतिमा प्रभामण्डल, जटामुकुट, ग्रेवेयक, केयूर, मेखला एवं अधोवस्त्र आदि से अलंकृत है तथा ऊपर विद्याधरों, षार्दूल नीचे परिचारक – परिचारिकायें एवं भक्तों का अंकन है। पादपीठ पर सात अष्व अंकित हैं। शहडोल संग्रहालय में भी स्थानक दो सूर्य प्रतिमायें हैं जो अन्य वर्णित सूर्य प्रतिमाओं की ही भाँति हैं।[35] पथरहटा से एक द्विभुजी आसनस्थ सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई जिसमें देव दोनों हाथों में कमल व पद्म लिये हैं।[36] कलचुरि कालीन एक अन्य सूर्य प्रतिमा कूड़नगाँव के एक आधुनिक मंदिर में है जो भेड़ाघाट मार्ग पर स्थित है।

कलचुरि काल में धार्मिक स्थिति जो भी रही हो किंतु इतना तो अवश्य है कि इस काल में सूर्य उपासकों का एक वर्ग विद्यमान था। यद्यपि प्राप्त अभिलेखों में सूर्य पूजा का उल्लेख नहीं मिलता किंतु सूर्य की प्रतिमाओं का मिलना इस तथ्य की पुश्टि करता है।

रेवन्त

कलचुरि काल में सूर्य की पूजा की भाँति रेवन्त की पूजा भी की जाती थी रेवन्त को सूर्य पुत्र कहा गया है। विष्णु पुराण में रेवन्त के जन्म की कथा का बड़ा ही विस्तृत विवरण है। युद्ध के देवताओं में रेवन्त की गणना की जाती है। कालिका पुराण में भी रेवन्त की पूजा विधि बतलाई गई है।[37] वृहत्संहिता[38] में रेवन्त की प्रतिमा को अश्वारूढ़ आखेट करते प्रदर्शित किया गया है। साथ ही सूर्य की भाँति रेवन्त के पैरों के बीच स्वान (कुत्ता) एवं वाद्ययंत्रों सहित संगीतज्ञ भी रेवन्त प्रतिमाओं में दर्शाये गये हैं। वासुदेव उपाध्याय[39] का मत है कि वन में आखेट के समय नगाड़ा बजाया जाता था एवं स्वान इस शिकार कार्य में सहायता हेतु रहते थे। रेवन्त की प्रतिमा का निर्माण वास्तव में गुप्तकाल से ही प्रारंभ होता है।[40] रेवन्त की एक प्रतिमा शहडोल संग्रहालय में है[41] यह प्रतिमा 10वीं शताब्दी ई. की कलचुरि कालीन है। उक्त प्रतिमा में रेवन्त अपने अनुचरों सहित शिकार करते दिखलाये गये हैं। पट्ट पर तीन अश्वारोही मृगया हेतु दक्षिणावर्त की ओर बढ़ते दर्शाये गये हैं। बीच में अश्वारूढ़ रेवन्त स्थित हैं। रेवन्त किरीट, मुकुट, कुण्डल, ग्रेवेयक, केयूर एवं वस्त्र पहने प्रदर्शित हैं। पीछे अनुचर उनके शिरोभाग पर छत्र लिये हैं। सामने दो अनुचर कलश लिए हैं। रेवन्त बायें हाथ से अश्व का वल्गा पकड़े हुये एवं दाहिने हाथ में चषक लिये हैं। शिला पट्ट पर अंकित प्रथम अश्वारोही अश्व को स्थिर कर पीछे की ओर देखते हुए प्रतीक्षारत हैं। ऊपरी भाग पर उत्कीर्ण अनुचर आखेट से प्राप्त वाराह को कंधे पर रखे हैं। पृष्ठ भाग पर स्थित अन्य अष्वारोही दाहिने हाथ से घोड़े की वल्गा पकड़े हैं एवं बायें हाथ में षूल लिये हैं। पार्श्वभाग में अंकित अनुचर खड्ग लिए प्रदर्शित हैं। अश्वों के पैरों के मध्य में वराह अंकित है। कालिका पुराण में[41] रेवन्त की आराधना द्वार पर

ही जल से करने के निर्देश हैं। इस शिलाफलक में यही वर्णन दर्शाया गया है। वृहत्संहिता में रेवन्त को अपने अनुचरों सहित मृगया में रत बताया गया है। उक्त प्रतिमा में मृगया का भी अंकन है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण[43] में रेवन्त को सूर्य के समान ही ढके हुये पैर एवं अश्व पर आरूढ़ अंकित किया गया है। स्पष्ट है कि कलचुरि कालीन शिल्पियों द्वारा शास्त्रानुसार एवं अत्यंत ही कलात्मक रूप से रेवन्त प्रतिमाओं का शिल्पांकन किया गया किन्तु उनकी इस तरह की प्रतिमायें अल्प ही प्राप्त होती हैं।

संदर्भ

1. पान्डेय, गया प्रसाद : सनवर्षिप इन ऐंशियंट इण्डिया, नई दिल्ली, 1992, पृष्ठ 190।
2. ऑल्डनबर्ग (अनुवादक) : ऋग्वेद, 1/115/1, जिल्द 47, ऑक्सफोर्ड, 1897।
3. वही, 1/50/13, 8/101/11।
4. बनर्जी, जे. एन. : डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रफी, कलकत्ता, पृष्ठ 428–431।
5. रामायण, लंकाकाण्ड, 106, ओरियन्टल रिसर्च इन्सटिट्यूट, बड़ौदा, 1960।
6. महाभारत, 11/50/16, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटिट्यूट, पूना, 1923।
7. ऋग्वेद, 4/13/4।
8. वराह मिहिर : वृहतसंहिता (अनुवादित), वाराणसी, 1959, 58/46–48।
9. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1957, 67/5–8।
10. वही, 67/11।
11. गुप्ता पी. एल. : क्वाइंस, वाराणसी, 1977, पृष्ठ 83।
12. उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, 1982, पृष्ठ 123।
13. वही, पृष्ठ 119।
14. वही, पृष्ठ 120।
15. ब्रह्मपुराण, श्री वेंकटेष्वर प्रेस, बम्बई, 1913, अध्याय 29।
16. वही।
17. वही, अध्याय, 31 एवं 33।
18. भण्डारकर आर. जी. : वैष्णवइज्म, शैवइज्म एंड माइनर रिलिजंस, वाराणसी, 1965, पृष्ठ 176–78।
19. का. इ. इ., भाग–3, पृष्ठ 83।
20. वही, श्लोक, 17–19।
21. वही, श्लोक, 20–21।
22. वही, पृष्ठ 128–29।
23. वही, पृष्ठ 165।
24. अली, रहमान : आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ द कलचुरीज, दिल्ली, 1980, पृष्ठ 153।
25. वही।
26. वही।
27. वही, पृष्ठ 153–54।
28. बनर्जी आर. डी., : दि एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज, कलकत्ता, 1931, पृष्ठ 91।
29. मुनि कान्तिसागर : खण्डरों का वैभव, काषी, 1954, पृष्ठ 326।
30. वही, पृष्ठ 327।
31. वही, पृष्ठ 328।
32. वही, पृष्ठ 378।
33. बनर्जी जे. एन. : द डेव्हलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ 30।

34. मेकल क्षेत्र की मूर्तिकला का अध्ययन, (अप्र. शो. प्र.) पृष्ठ 130।
35. सर्वेक्षण रिपोर्ट : जिला पुरातत्व संग्रहालय, शहडोल, 1987, क्रमांक, 112–136।
36. वही, सर्वेक्षण रिपोर्ट, 1987।
37. कालिका पुराण, अध्याय, 85।
38. वृहतसंहिता, 58/56।
39. प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 130।
40. सिंह, भगवान : गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 110।
41. सर्वेक्षण रिपोर्ट : जिला पुरातत्व संग्रहालय, शहडोल, 1987, क्रमांक–11।
42. कालिका पुराण, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1927, 5/49।
43. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 76/12–15।

द्वितीय खण्ड
मध्यभारत का पुरातत्व

23 बुन्देलखण्ड का पुरातत्त्व

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

बुन्देलखण्ड में यमुना, टोंस, धसान, बेतवा, कालीसिंध आदि नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों से पाषाणकालीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इस भू–भाग में सदियों पूर्व नदी–घाटी की सभ्यता से लेकर नगरीय सभ्यता की मानव–संस्कृति तथा इतिहास की जानकारी मिलती हैं। प्रकृति–निर्मित शैलाश्रय आदिम मानव–जीवन के संरक्षण में सहायक थे। वनों से आच्छादित क्षेत्रों में मानव का आरंभिक जीवन मूलतः उसकी आखेटक वषत्ति पर निर्भर थी। तथापि उपलब्ध कंद–मूल, फल–फूल, तथा वनस्पतियाँ उसकी उदर आपूर्ति के साधन थे। सागर के समीपवर्ती स्थानों से चित्रित शैलाश्रयों की महत्वपूर्ण खोज पुराविदों द्वारा की गई है। सागर के समीप नरयावली, आबचंद, बड़ोदा भापेल, खानपुर, मोलाली, छानबीला आदि के शिलाचित्रों के अतिरिक्त दमोह जिले में बटियागढ़ के समीप आंजनीबेरखेरी और फतेहपुर के समीप पटारनाला से ज्ञात शिलाचित्रों से आदिम मानव की कला–रुचि का पता चलता है। पन्ना क्षेत्र के बरियारपुर और सधुवापुल के पास नाले की तह से पूर्व पाषाणकालीन उपकरण मिले हैं। चौरहट तथा जामुनी पहाड़ी के सर्वेक्षण से प्राप्त लघुपाषाण उपकरण तथा पन्ना से उत्तर–पूर्व में लगभग 40 कि.मी. की दूरी पर बाघन नदी के तट पर स्थित, बृजपुर के बृहस्पति कुंड में शैलचित्रों की खोज की गई है। पन्ना नगर के दक्षिण में 14 कि.मी. दूर बराछ ग्राम के समीप नाले के किनारे पंडवन शैलाश्रय तथा पन्ना पहाड़ी खेड़ा मार्ग पर इटवा ग्राम के सामने लालपुतरिया शैलाश्रय, मझपहाड़, टपकनियां, हाथीडोल, पुतरिहाउ घाटी, कल्याणपुर–बिलाड़ी आदि स्थलों की खोज से दुर्लभ शैलचित्र प्रकाश में आए हैं। इन शैलचित्रों में मानव तथा पशु–पक्षियों की आकृतियाँ परस्पर युद्ध शिकार, सामूहिक–नृत्य, अश्वारोही, जंगली भैंसा, सांभर, वृशभ, मछलियां तथा आयुधों में भाला, बरछा, धनुष–बाण, ढाल–तलवार अंकित हैं। मनोरंजक वेशभूषा, विविध वाद्य तथा मांगलिक प्रतीकों के रोचक अंकन पूरक तथा आरेखन शैली में देखने को मिलते हैं। इन चित्रणों में गहरा लाल, कत्थई साधारण गेरुआ तथा सफेद रंगों को प्रयोग में लाया गया है। प्रारम्भिक चित्रकला के स्वरूप तथा क्रमिक विकास के अध्ययन में ये चित्र सहायक सिद्ध हुए हैं।

बुन्देलखण्ड के सागर जिले में खुरई तहसील के अंतर्गत मण्डीबामोरा रेल्वे स्टेशन से लगभग 8 कि. मी. उत्तर–पूर्व में 'एरण' ग्राम पौराणिक वेत्रवती (आधुनिक बेतवा) की सहायक बीना, प्राचीन 'वेण्वा' नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है। अभिलेखों में एरण का नाम 'ऐरिकिण' मिलता है। स्थानीय जन इसे 'एरन बत्तीसी' के नाम से जानते हैं। कहा जाता है कि आसपास के 32 गाँव एरण ग्राम के अंतर्गत थे। इस

ग्राम के समीप बीना नदी अर्द्ध–चन्द्राकार रूप में प्रवाहित होकर एरण ग्राम को तीन ओर से बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करती है। सुविख्यात् पुराविद्, प्रोफेसर के.डी.वाजपेयी के निर्देशन में 1960 से 1965 तक एरण में प्राचीन टीलों का उत्खनन कराया गया है। तत्पश्चात् 1986 से 1988 तक प्रो.सुधाकर पाण्डेय तथा 1998 में प्रो.व्ही.डी. झा के निर्देशन में एरण में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ। बुंदेलखंड में आद्यैतिहासिक अथवा ताम्राश्मकालीन सभ्यता के अवशेष केवल सागर जिले के एरण ग्राम के प्राचीन टीलों की खुदाई से ही मिले हैं। कहा जाता है कि महाभारत काल में दशार्ण प्रदेश (धसान नदी के आसपास के क्षेत्र) पर शिशुपाल का राज्य था। एरण–उत्खनन से ज्ञात प्राचीनतम पुरावशेष ताम्रपाषाणकाल की सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। इस काल का मानव पत्थर के औजारों के साथ–साथ ताम्बे की बनी कुल्हाड़ियों का भी उपयोग करने लगा था। इस काल के पकी मिट्टी के बर्तन बनावट, रंगकारी, पशु–पक्षियों, फूल–पत्तियों तथा ज्यामितिक चित्रकला में अपनी विशेषता रखते हैं। इसी काल की पत्थर तथा ताम्बे की कुल्हाड़ियाँ, अर्धकीमती पत्थरों के आभूषण, पत्थरों के छोटे औजार, पकी मिट्टी की मानवीय तथा पशु–पक्षियों की आकृतियाँ, मिट्टी के खिलौने, कुटे हुए फर्श, चूल्हे, भवनों के अवशेष, काले–लाल तथा भूरे रंगों वाले चित्रित मृद्भाण्ड, श्रृंगार और सौन्दर्य की वस्तुयें तथा घरेलू उपयोग की पुरा–वस्तुयें एरण की खुदाई से मिली हैं। एरण उत्खनन से प्राप्त पुरावस्तुओं तथा निम्नतम स्तरों के विश्लेषण से विवेच्य क्षेत्र में ताम्राश्मकालीन मानव संस्कृति की प्राचीनता ईस्वी पूर्व 2100 वर्ष से लेकर ई.पूर्व 9 वीं 8 वीं शती तक सुनिश्चित की गई है। उत्खनन में प्राप्त मिट्टी की बनी प्राचीन रक्षा–दीवार तथा जल से आप्लावित परिखा उल्लेखनीय हैं। इस रक्षा–दीवार का निर्माण ताम्राश्मकालीन मानव ने दो चरणों में पूरा किया था। इस प्रकार आद्यैतिहासिक कालीन एरण तीन ओर अर्द्धचन्द्राकार प्रवाहित होने वाली बीना नदी से तथा दक्षिण–पश्चिम में बनी रक्षा दीवार और बीना नदी के जल से आप्लावित परिखा से सुरक्षित था। ई. पूर्व 9वीं–8वीं शती के लगभग एरण क्षेत्र पर गंगाघाटी की लौहकालीन संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। यह लौहकालीन संस्कृति गंगाघाटी, राजस्थान, तथा मालवा प्रदेश से होते हुए यहाँ पहुँची। लौहकालीन संस्कृति के प्रभाव से ताम्राश्मकालीन संस्कृति का विघटन हो गया और तत्कालीन जन–जीवन में एक नई आर्थिक एवं औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। जिसके परिणामस्वरूप कृशि–उपज, उद्योग–धंधे, व्यापारिक लेन–देन, जीवन–पद्धति, रहन–सहन तथा आवासीय भवनों के विकास से धीरे–धीरे एरण में नागरीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो गई। एरण के उत्खनन तथा सर्वेक्षण से आहत, चिन्हांकित, ढले हुए तथा एरण नगर नाम वाले ताम्बे के सिक्के मिले हैं, जिससे पता चलता है कि एरण में प्राचीन सिक्के ढालने की टकसाल थी।

ई. पूर्व छठी शती से एरण का सम्बन्ध विदिशा, सांची, पद्मावती (पवाया) एवं एरच (झाँसी) आदि प्राचीन नगरों से रहा है। महाजनपदकाल के पश्चात् एरण नगर मौर्य–साम्राज्य का अंग बन गया। एरण–क्षेत्र पर स्वतंत्र शासन करने वाले शासक, ''धर्मपाल'' की जानकारी एरण से प्राप्त उसके सिक्के से हुई है। यह सिक्का मेजर जनरल कनिंघम को प्राप्त हुआ था। ईस्वी पूर्व तीसरी शती के अंत में एरण क्षेत्र का स्वंतत्र षासक धर्मपाल था। एरण क्षेत्र पर स्वतंत्र शासन करने वाले एक अन्य शासक राजा 'इन्द्रगुप्त' की सीलयुक्त सीसे का लगभग 3 कि.मी. ग्राम वजन का बांट उत्खनन से प्राप्त हुआ है, जो मौर्ययुगीन बाजारों पर शासन के नियंत्रण तथा नियमन का अद्वितीय प्रमाण है। विदिशा नगर से प्राप्त दो ताम्र–मुद्राओं से शिवगुप्त तथा सखदेव (विशाखदेव) दो स्वतंत्र शासकों की जानकारी मिली हैं। मौर्यों

के पश्चात् एरण–क्षेत्र पर शासन करने वाले शुंग, सातवाहन, शक, कुषाण, क्षत्रप, नाग, हूण, गुप्त तथा परवर्ती शासकों की हमें जानकारी मिलती हैं। उत्खनन में इन राजवंशों के सिक्के तथा क्षत्रप शासकों के सिक्के ढालने के पकी मिट्टी के सांचे प्राप्त हुए हैं। लगभग 3 हजार दो सौ अड़सठ ताम्बे के आहत सिक्कों का ढेर भी प्राप्त हुआ है। गुप्त शासक रामगुप्त के गरुड़, सिंह, वृषभ प्रकार के अनेक दुर्लभ सिक्के एरण तथा विदिशा से मिले हैं। जिनसे इस शासक की ऐतिहासिकता का पता चलता है। विदिशा संग्रहालय में दुर्जनपुर ग्राम से प्राप्त तीन जैन तीर्थंकर पुष्पदंत तथा चन्द्रप्रभ की प्रतिमाओं की चरण–चौकी के ऊपर 'महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त' के लेख उत्कीर्ण हैं।

एरण से प्राप्त प्रमुख शिलालेखों में समुद्रगुप्त का प्रस्तर–अभिलेख, बुधगुप्त का गरुड़–ध्वज स्तम्भलेख, गोपराज सती स्तम्भ में अंकित भानुगुप्त का अभिलेख, पशु–वराह, प्रतिमा के वक्षस्थल पर उत्कीर्ण हूण शासक तोरमाण का अभिलेख, शको अंकित प्रस्तर लेख, नृवराह प्रतिमा की चरण–चौकी पर अंकित ''महेश्वर दत्तस्य तथा वराहदत्तस्य लेख'', शक शासक श्रीधरवर्मा आदि के लेख उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों में वर्णित विषयों के आधार पर तत्कालीन राजवंशों तथा उनके शासनकाल की प्रमुख राजनीतिक गतिविधियों, शासकों के संरक्षण में निर्मित कराए गए देवालयों, ध्वजकीर्ति स्तम्भों के अतिरिक्त बहुविध अंकनों सहित देवी–देवताओं की पाषाण–प्रतिमाओं के संबध में रोचक जानकारी मिलती है। गुप्तकाल में निर्मित भगवान विष्णु की चतुर्भुजी विशालकाय स्थानक प्रतिमा के अतिरिक्त विष्णु के अवतारों में यज्ञ–वराह तथा नृसिंह की विशाल प्रतिमायें एरण के मंदिर परिसर में आज भी हमें देखने को मिलती हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेख में एरण को ''स्वभोगनगर '' कहा गया है। पकी मिट्टी से निर्मित एक अभिलिखित मुहर में ''ऐरिकिण विषय'' का नाम गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। एरण के मंदिर परिसर में संरक्षित, उभयपक्षीय शालभंजिका, नृसिंह, शेषशायी विष्णु, कृष्णलीला फलक, अलंकृत मंदिर द्वार, सूर्य, नाग पुरुष, हनुमान गज–लक्ष्मी, महिषासुरमर्दिनी तथा पूर्व मध्यकाल की अनेक कलाकृतियाँ, अलंकृत शिल्पावशेष और 16वीं–17वीं शताब्दी की नागरी लिपि में अंकित अभिलेखों सहित स्मृतिफलक (सती–स्तम्भ)देखने को मिले हैं। एरण में शंख लिपि के अभिलेख भी उत्खचित मिले हैं। राहतगढ़ से प्राप्त एक परमार कालीन अभिलेख में उस क्षेत्र को 'उपरिहाड़ा मण्डल' कहा गया है (गौरपुरा, संग्रहालय)।

ललितकलाओं के बहुविध अंकनों सहित एरण की गुप्तकालीन मूर्तिकला में शारीरिक सौष्ठव, सौन्दर्यतत्त्व तथा भावाभिव्यक्ति का अनुपम समन्वय है। सूक्ष्मतम अभिप्रायों को मार्मिक ढंग से रूपायित कर प्रकृति–चित्रणों की सहज अभिव्यक्ति की गई हैं। विशालकाय प्रतिमाओं की संरचना, सूक्ष्मतत्त्वों की विवेचना तथा उन्नत कीर्ति–स्तंम्भों का निर्माण गुप्तकाल के कला मर्मज्ञ शिल्पियों की शिल्प–संधारणा तथा चिरंतर साधना के प्रतीक हैं। गुप्तकाल में एरण एक समृद्धशाली नगर था। इसकी बढ़ती हुई आबादी को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए एक अन्य सुरक्षा दीवार तथा परिखा का निर्माण कराया गया, जिसके अवशेष आज भी यहाँ विद्यमान हैं। गुप्तकाल में एरण राजकीय तथा सैनिक छावनी का केन्द्र था।

सागर विश्वविद्यालय के गौर पुरातत्त्व संग्रहालय में बुंदेलखंड की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में आहत, जनपदीय तथा विविध राजवंशों के प्राचीन सिक्के, अभिलेख, पाषाण कलाकृतियाँ तथा अन्य पुरावशेषों का सुंदर संग्रह है। इस संग्रहालय में धातु, पत्थर, मिट्टी आदि के बने हुये प्राचीन आभूषण, बुंदेली चित्र, शैव–शाक्त, वैष्णव तथा जैन कलाकृतियों की प्रमुखता है। कतिपय मूर्तियाँ कलात्मक सौन्दर्य तथा

मूर्ति–विज्ञान की दष्श्टि से असाधारण कोटि की हैं। गौर संग्रहालय के मुख्य द्वार पर प्रदर्शित नृवराह प्रतिमा न केवल बुंदेलखण्ड की अपितु भारतीय कला की अत्यंत दुर्लभ कृति है। इस पर अंकित ब्राह्मी लेख के अनुसार इसका निर्माण ईस्वी चौथी षती के उत्तरार्द्ध में महेश्वरदत्त तथा वराहदत्त नामक व्यक्तियों द्वारा कराया गया। यह प्रतिमा एरण से प्राप्त हुई है। गुप्तकालीन अन्य मूर्तियों में अर्धनारीश्वर, विश्णु, नश–सिंह, गदा–देवी, परिचारिकायें, महिशमर्दिनी, गज–लक्ष्मी आदि उल्लेखनीय हैं। इस संग्रहालय में मध्यकालीन मूर्तियों की संख्या सबसे अधिक है, उनमें शिव–तथा षिव के विविध स्वरूप, विष्णु दुर्गा, सूर्य, कार्तिकेय, गणेश, जैन तीर्थंकर आदि की मूर्तियॉ हैं। गुप्त तथा मध्य–कालीन स्थापत्य वाले इमारती पत्थरों की संख्या बड़ी है, जिन पर मंगलघट, कीर्तिमुख स्वस्तिक, लतावृक्ष, पुष्पादि के रोचक अलंकरण हैं। कुछ शिलापट्टों पर विविध वाद्य–नृत्यादि के दृश्य हैं।

मध्यप्रदेश शासन, पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से सागर नगर में जिला पुरातत्त्व संगहालय की स्थापना की गई हैं। इस नवीन संग्रहालय में सागर क्षेत्र में यहां–वहां बिखरी हुई असुरक्षित पुरावस्तुओं का संग्रह किया जा रहा है। इस पुरातत्त्व संग्रहालय में ईस्वी 7वीं–8वीं शती से लेकर 13वीं–14वीं शती तक की शैव, शाक्त वैश्णव, जैन–तीर्थंकरों तथा संयुक्त देवी–देवताओं की विविध कलाकृतियाँ, बुन्देली चित्र तथा प्रतिकृतियॉ प्रदर्शित हैं। इस नवोदित संग्रहालय में सागर सम्भाग के अर्न्तगत आने वाले बुंन्देलखण्ड क्षेत्र के पुरावशेषों को विषेश रूप से प्रदर्शित करने की योजना है। इस संग्रहालय में गोवर्धन पर्वत धारी श्रीकृष्ण तथा बुद्ध प्रतिमाएँ कला की अप्रतिम कृतियाँ हैं। पंचदेवों की कलात्मक पाशाण–प्रतिमायें तथा मन्दिर द्वार– स्तम्भ प्रदर्शित हैं। सागर क्षेत्र के मध्यकालीन प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों, यथा–बरोदिया कला, भापेल,बीना, बिनायका, देवरी, धामोनी, दुगाहा, एरण, गढ़कोटा, गढ़पहरा, गौरझामर, हीरापुर, जैसीनगर, कंजिया, खिमलासा, मालथौन, मढ़पिपरिया, मढ़खेड़ा ,नरयावली, पाली, पापेट, पिठोरिया, राहतगढ़, रानगिर, रहली, सागर नगर ,सानोधा, शाहगढ, तथा कतिपय अन्य स्थलों में संग्रहीत कलाकृतियों, मंदिरों अभिलेखों तथा अन्य पुरावस्तुओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सागर क्षेत्र में ईस्वी 6वीं शती के पश्चात् चंदेल तथा कलचुरियों का अधिकार ईस्वी 13वीं–14वीं षती तक बना रहा। चन्देल तथा कलचुरियों के शासन काल में निर्मित कराये गये विविध देवालय तथा कलाकृतियां पाली, पिठोरिया, मढ़–पिपरिया, देवरी, बीना–बारहा, बलेह, पजनारी, भापेल, सापट, रहली तथा अन्य स्थानों में विद्यमान हैं। दूसरी ओर मण्डी–बामोरा, विनायका, राहतगढ़, गढ़ौली तथा हिन्नौद से परमारकालीन मंदिर तथा मूर्तियाँ मिली हैं। रहली का भव्य सूर्य–मंदिर बुन्देलखण्ड का गौरव है।

गढ़ाकोटा के छतपुरिया जैन–मंदिर के भित्ति–चित्रों में रामायण और कृष्ण–लीला से संबंधित चित्र उल्लेखनीय हैं। राजा दशरथ रानियों और पुत्रों के साथ, बालि–सुग्रीव युद्ध, ? राम–जानकी परिणय के अतिरिक्त कृष्ण–लीला से संबंधित चित्रणों में कृष्ण –सुदामा मैत्री, चीर–हरण दृश्य, कृष्ण द्वारा दही लूटने का दृश्य, समुद्र–मंथन, मद्यपान करती युवती, नर्तकियां तथा युद्ध–दृश्य, रामेश्वरम् शिवलिंग पूजा, सेतुबंध, लव–कुश का राम की सेना से युद्ध, कृष्ण द्वारा पूतना–वध कथानक, राजप्रासाद तथा राजा का चित्र आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ बुन्देली और मुगल कलाशैली का सम्मिश्रण दिखायी देता है।

पटनागंज–रहली के जैन–मंदिर की भित्तियों में जैन धार्मिक कथानक दृश्य, राजभवन, नायक–नायिकाऍं, नृत्यदृश्य, गजारोही, इन्द्र, अन्य देवी–देवताओं, कृष्ण–बलराम तथा आचार्यों आदि के रोचक चित्र हैं। चित्रण कलाशैली के आधार पर यहाँ के चित्र 18वीं शती के कालखण्ड के प्रतीत होते हैं।

शाहगढ़ के समाधि–स्मारक के भित्तिचित्रों में विविधता है। पौराणिक कथानकों में कृष्णलीला से संबंधित चित्र, कालिया नाग, वामन, वकासुर–वध का दृश्य, गणेश, हनुमान, राजपुरूष, अश्वारोही, गजारोही, युद्ध दृश्य, शिकार, तोपगाड़ी, तोपची, मल्ल–युद्ध आदि के कलात्मक चित्र हैं। खिमलासा में जैन मंदिर के अधिकाश चित्र जैन धार्मिक आख्यानों, जैन–तीर्थंकर, नृत्य, वाद्य, तथा धार्मिक शोभा–यात्रा, पारंपरिक वस्त्रालंकरण, राजप्रासाद के प्रवेश–द्वार पर राजा–रानी, जैन–मुनियों के स्वागत के लिये खड़े हैं। एक अन्य चित्र में उपवन के बीच राजा–रानी द्वारा मुनि को फल–मिष्ठान भेंट करते दिखाया गया है। पिठोरिया के जैन–मंदिरों में भी जैन–कथानकों पर आधज्ञरित धार्मिक चित्रण हैं।

दमोह जिले में गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य तथा सोने के सिक्कों की उपलब्धि से गुप्त साम्राज्य की पुष्टि हुई है। सकौर, रौंड़ तथा कुण्डलपुर में गुप्तकालीन शैली से निर्मित मंदिर तथा स्मारकों के अवशेष विद्यमान हैं। सकौर से प्राप्त स्वर्ण–निधि में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा स्कंदगुप्त के सिक्के उल्लेखनीय हैं। कलचुरियों के शासनकाल में इस क्षेत्र में सर्वाधिक संख्या में देवालयों के निर्माण कराये गये। कलचुरिकला के विविध स्मारक तथा भग्नावशेष दमोह जिले के दौनी, गुबरा, नोहटा, मोहड़, कोड़ल, मढ़ियादौ, बरी–कनौड़ा, रौंड़, रिजकुड़ी, चितराखेड़ा, बाँदकपुर, बालाकोट आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं। कलचुरिशासक शैव–मतावलम्बी थे।अतः उनके समय में शैव–मंदिरों का निर्माण प्रमुखता से हुआ। कलचुरियों के शासनकाल में धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था, जिसके फलस्वरूप जैन–धर्म के प्रचुर कलावशेष प्रायः इन सभी कलाकेन्द्रों में देखने को मिलते हैं। शैव–धर्म का प्रमुख तीर्थं बांदकपुर तथा जैनतीर्थ कुण्डलपुर सुविख्यात् हैं। दमोह के स्थानीय किला स्थित पुरातत्त्व संग्रहालय में बहुसंख्यक प्रतिमायें तथा स्थापत्य खण्ड संग्रहीत हैं। इस संग्रहालय में 'कामदेव' (राम) की रोचक प्रतिमा है। फुटेरा–तालाब के पास कलचुरिकालीन पशुवराह की प्रतिमा उल्लेखनीय है। दमोह के कतिपय स्थानों से ईस्वी 14वीं–15वीं षती के कई फारसी लिपि में अंकित अभिलेख मिले हैं।

बुन्देलखण्ड से प्राप्त अभिलेखों से पता लगता है कि पाँचवी शती में जब उत्तर भारत में गुप्तों का आधिपत्य था , उस समय पन्ना क्षेत्र में गुप्त सम्राटों के मांडलिक रूप में परिब्राजक राजवंश राज्य कर रहा था। परिब्राजक महाराजाओं का सर्वप्रथम अभिलेख ''खोह'' से प्राप्त महाराज हस्तिन का गुप्त सम्वत् 156 ईस्वी (475–76) का ताम्रपत्र है। पन्ना क्षेत्र के प्रमुख कलाकेन्द्रों में खोह, नचना, पन्ना, भुमरा तथा नांदचांद उल्लेखनीय हैं। खोह में गुप्तकालीन विष्णु–मंदिर के अवशेष, वराह तथा एक मुख शिवलिंग की कलात्मक प्रतिमाएँ मिली हैं। भुमरा के शिव–मंदिर में सूर्य की प्रतिमा मथुरा की उदीच्यवेष वाली सूर्य प्रतिमाओं जैसी है। भुमरा का मंदिर विशेष कलात्मक है। उसमें गणेष,ब्रह्मा, यम, कुबेर, कार्तिकेय, षिव, सूर्य, कामदेव तथा महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमायें, पाषाण–फलकों पर उत्कीर्ण हैं। यहाँ शिव के गणों की विविध आकर्षक स्वरूपों वाली प्रतिमायें हैं। शिवगणों की कलात्मक मूर्तियां नचना के शिव मंदिर में भी उकेरी गई है। रामकथा से संबंधित कई शिलापट्ट नचना से प्राप्त हुए हैं। नचना में पार्वती मंदिर तथा चौमुखनाथ शिव–मंदिर हैं। पन्ना के स्थानीय संग्रहालय में विशिष्ट कलाकृतियों, स्थापत्यखण्डों तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं की बहुलता है। विगत् वर्षों में किए गए आरंभिक सर्वेक्षण से अनुमानित है कि पन्ना की समीपवर्ती पहाड़ी में बौद्ध–बिहारों के अवषेश विद्यमान हैं। नांद–चॉद के षिव–मंदिर में 7वीं–8वीं शताब्दी की कलाकृतियाँ एकत्रित हैं, जिनमें सप्तमातृकाओं की स्वतंत्र प्रतिमायें, चतुर्भुज, विष्णु, नृसिंह, षिव, कार्तिकेय, गणेश, पद्मावती, द्वारपाल आदि की प्रतिमायें कला की अनुपम कृतियां हैं। पन्ना नगर

के अन्य स्मारकों तथा मंदिरों की छटा दर्शनीय है। पन्ना क्षेत्र के अन्य स्थलों में अजयगढ़ का ''जयदुर्ग'' चन्देल शासकों के सांस्कृतिक समन्वय तथा राजनीतिक गतिविधियों का उत्कृष्ट स्वरूप है।

छतरपुर जिले में विश्व प्रसिद्ध खजुराहो स्थित है। भारतीय वास्तु तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में खजुराहो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चन्देल शासकों के समय में यहां बहुसंख्यक मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया गया। ये मंदिर उत्तर भारत की नागर या शिखर–शैली के हैं। यद्यपि ये मंदिर शैव, वैश्णव और जैन–सम्प्रदायों से संबंधित हैं, पर उन सब के शिल्प–विधान में प्रायःसमान संस्कृतिक तत्त्व दिखाई देते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के मंदिरों का यहाँ आसपास निर्माण इस बात का साक्षी है कि खजुराहो में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी। खजुराहो के परवर्ती मंदिरों तथा मूर्तियों में कला का अत्यन्त निखरा स्वरूप देखने को मिलता है। बुंदेलखण्ड में खजुराहो शैली के मंदिर महोबा, रहलिया, गैराहा, बानपुर, मदनपुर, दुधई, चांदपुर, टीकमगढ़, देवगढ़, कालिंजर, अजयगढ़, तथा कतिपय अन्य स्थानों में देखने को मिलते हैं। खजुराहो के स्थानीय संग्रहालय में पाशाण कलाकृतियों का दुर्लभ संग्रह प्रदर्शित है।छतरपुर तथा समीपवर्ती कलाकेन्द्रों से एकत्रित की शैव, वैश्णव, शाक्त, सौर तथा जैन मतों से संबधित पुरावशेष, पाषाण कलाकृतियाँ, सिक्के, अभिलेख, बुंदेली चित्र आदि का संकलन धुबेला के राज्य पुरातत्त्व संग्रहालय में देखने को मिलता हैं। इस संग्रहालय में आंचलिक कला राषि का संकलन है। गुर्गी (रीवा) से प्राप्त अभिलेख तथा कलाकृतियाँ संरक्षित हैं। योगिनी प्रतिमाएँ तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी हैं। टीकमगढ़ जिले का भू–भाग पुरातत्विक दृष्टि से सम्पन्न हैं। यहां पर प्राचीन देवी–देवताओं की बहुसंख्यक कलाकृतियाँ तथा प्राचीन स्मारक दर्शनीय हैं। कुण्डेश्वर, पपौरा, पापट– संग्रहालय–(टीकमगढ़), मढखेरा, विन्ध्यवासिनी देवी का मंदिर, जतारा मोहनगढ़, बंधा, हनुमान धारा, अछरूमाता, बल्देवगढ़, मवई, अहार, ओरछा,सतारा, तथा गढ़कुंडार आदि स्थलों में ऐतिहासिक तथा धार्मिक पुरावषेश देखने को मिलते हैं। पपौरा तथा अहार सुप्रसिद्ध जैन–तीर्थं हैं। उमरी की सूर्य प्रतिमा तथा मढ़खेरा का सूर्य–मंदिर उल्लेखनीय हैं। सोलहवीं शताब्दी के चौथे दशक में ओरछा को बुंदेला षासकों की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। ओरछा का रामराजा मंदिर, लक्ष्मी–मंदिर, चतुर्भुज मंदिर तथा कतिपय अन्य स्मारक वैभव तथा धार्मिक आस्था एवं उत्कर्ष के प्रतीक हैं। बुंदेला शासकों के समय में बुंदेलखंड की साहित्यिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक त्रिवेणी यहाँ सतत् प्रवाहमान थी।

महोबा में स्थापत्य एवं मूर्तिकला के प्रमाण स्वरूप 11वीं–12वीं शताब्दी में निर्मित सिंहनाद अवलोकितेश्वर, बौद्ध–देवी तारा तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें उल्लेखनीय हैं। चन्देल शासकों द्वारा निर्मित कराए गए कीरतसागर, विजयसागर तथा मदनसागर आदि ऐतिहासिक सरोवर प्रसिद्ध हैं। मदनसागर के बीच टापू पर अत्यंत सुन्दर मंदिर आज भी भग्नावस्था में स्थित है। बुंदेलखंड में चौथी शती ईसा पूर्व से लेकर 18वीं शती तक के अभिलेख मिलते हैं। झांसी क्षेत्र का सबसे प्राचीन अभिलेख अशोककालीन है, जो दतिया जिले के गुजर्रा नामक स्थान में एक पहाड़ी की तलहटी पर उत्कीर्ण है। स्थानीय लोग इस स्थल को 'सिद्धों की टोरिया' कहते हैं। अशोक के इस लघु शिलालेख में अशोक राजा का नाम तथा विरुद देवानं प्रियदसिनि'' दोनों मिलते हैं।

झांसी जिले के एरच (तहसील गरोठ) से दो ईटें प्राप्त हुई हैं, जिनमें लगभग ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में ''दाममित्र'' नाम उत्कीर्ण हैं, जो संभवतः शुंगकालीन अथवा स्थानीय शासक प्रतीत

होता है, इस अभिलेख में, रञोंबंध किसदाममितस पोंडरीक' अंकित है तथा कमल फूल का चिन्ह बना है। एरच से मुगमुख 'नामांकित दो तांबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनके ऊपरी भाग पर ईस्वी पूर्व द्वितीय शती की ब्राह्मी लिपि में मुगमुख का नामांकन मिलता है। पृष्ठभाग पर 'मेढ़क' अंकित है। ईस्वी पूर्व दूसरी शती के ईश्टिका अभिलेख में षतानीक, मूल, आशाढ़ के नामोल्लेख हैं। मूल को सेनापति तथा दशार्णाधिपाति दोनों कहा गया है। आशाढ़ को दशार्ण प्रदेश का अधिपति तथा वाशिष्ठीपुत्र भी कहा गया है। एक अन्य ईष्टिका लेख में अदितिमित्र का नाम मिला है। षतानीक और अदितिमित्र को सेनापति कहा गया है तथा मूलमित्र और आषाढ़मित्र को सेनापति और दशार्णाधिपति दोनों कहा गया हैं। संभवतः वे सभी ईस्वी द्वितीय शती में एरच पर शासन कर रहे थे। एक सिक्का महासेनापति सहसमित्र का एरच से प्राप्त हुआ है।

1 ————————————(श)तानीक (स्य)————————————

2 ————————————————सेनापतेः दषार्णाधिपतेः –(मूल)

3 दशार्णिष्वरेण वाशिष्ठी पुत्रेण–अशाद्ह

डॉ. ओ.पी.एल. श्रीवास्तव (इलाहाबाद) ने एरच से प्राप्त ईष्टिका अभिलेखों, ,सिक्कों तथा अभिलिखित मृणमुद्राओं का अभिज्ञान कर इन्हें अपने शोधपत्रों तथा 'आर्केलॉजी ऑफ एरच' पुस्तक में प्रकाशित किया है। डॉ. ओ.पी.एल.श्रीवास्तव ने अपोलोडोटस के मष्णमुद्रांक, एरिकच्छ नामांकित नगर नाम वाले सिक्कों के अतिरिक्त ईश्वर मित्र, शिवमित्र, सात नामांकित सिक्कों का वाचन तथा प्रकाशन भी किया है। इन नवीन खोजों से 'एरच' की ऐतिहासिकता पर नवीन प्रकाश पड़ा है। एरण (जिला–सागर) से ज्ञात धर्मपाल का सिक्का, इन्द्रगुप्त नामांकित (रजों इंदगुतस–मौर्यकालीन ब्राह्मी–लिपि में अंकित); महादण्ड नायक सिंहनंदि तथा महादण्ड नायक बट्टगलि की गुप्तकालीन मृण्मुद्राएँ; विदिशा से ज्ञात रामभद्र, हस्तिदेव, शिवगुप्त, सखदेव, धनभूति के सिक्के (एरण) भी विचारणीय हैं। विदिषा से प्राप्त एक अभिलिखित मुहर में 'महाराज महासेनापति सेन' (किंग एण्ड कमाण्डर इन चीफ ऑफ आर्मी) अंकित है। लिपि के आधार पर प्रोफेसर के.डी. वाजपेयी जी ने इसे द्वितीय शती का उत्तरार्द्ध अथवा तीसरी षती के प्रारम्भ के काल का माना है। गुप्तकाल में एरण सैनिक छावनी का प्रमुख केन्द्र था। महादण्डनायक सिंहनंदि, बट्टगलिस्य, द्राबकस्य गुप्तकालीन मृण्मुद्राएँ विशिष्ट हैं।

गोपराज सती–स्तम्भ (एरण–पहलेजपुर) पर उत्कीर्ण महाक्षत्रप श्रीधरवर्मा के साथ सेनापति 'सत्यनाग' का उल्लेख हुआ है। प्रयाग–पशस्ति के रचयिता हरिषेण को 'महादण्डनायक' कहा गया है। उसके पिता का नाम ध्रुवभूति मिलता है। एरण से धनभूति के सिक्के मिले हैं। क्या ध्रुवभूति और धनभूति में कोई सामंज्स्य स्थापित किया जा सकता है? एरच (गरोठ तहसील, झाँसी, उ.प्र.) ईष्टिका अभिलेख में उल्लेखित 'वाशिष्ठीपुत्र आशाढ़' को सातवाहन शासक 'वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि' का भाई माना जा सकता है?

विदिशा से सातवाहनों के शासक की जानकारी मिलती है। विदिशा से सातवाहन शासक पुलुमावि की सीसा तथा रजत मुद्राएँ (आकृति सहित) उत्खनन से मिली हैं। सातकर्णि के सिक्के भी मिले हैं। एरच के 'सात' के सिक्कों को 'श्री सातस' (सातवाहन शासक 'श्री सातकर्णि') का सिक्का माना जा सकता है। 'श्री सातस' नाम वाले सिक्के त्रिपुरी (जबलपुर) तथा मल्हार (बिलासपुर) से मिले हैं, जो सातवाहन शासक गौतमी पुत्र सातकर्णि के हैं। एरच से प्राप्त 'एरिकच्छ' नामांकित नगर नाम वाले सिक्कों से पता चलता

है कि एरच का प्राचीन नाम 'एरिकच्छ' था, जो एक स्वतंत्र वैभवषाली नगर था। पूर्व में कतिपय विद्वान 'एरिकच्छ' नामांकित सिक्कों का संबंध 'एरण' (सागर जिला) से स्थापित करते थे, जो अब उचित नहीं प्रतीत होता है। इस संबंध में तथ्यात्मक गहन अन्वेषण की आवश्यकता है। विदिशा–एरण–एरच के प्राचीन राजनीतिक संबंधों पर आगे और विचार किया जाना अपेक्षित है।

झांसी क्षेत्र से चंदेल शासकों के अभिलेख मिले हैं। जिनकी लिपि नागरी तथा भाशा संस्कृत है। चन्देलशासक मदनवर्मा का एक शिलालेख 'मऊ' से मिला है। मदनवर्मा के अन्य शिलालेख औगसी, कालिंजर, महोबा, खजुराहो, अजयगढ़, चांदपुर से मिले हैं, जो बांदा हमीरपुर, छतरपुर, पन्ना तथा ललितपुर जिलों में स्थित हैं। संवत् 1233 का दान ताम्रपत्र झांसी जिले के 'पचार' से प्राप्त हुआ है, जो चंदेल शासक परमर्दिदेव द्वारा जारी किया गया था।, इस शासक के दानलेख वाले अन्य ताम्रपत्र इछावर, महोबा,चरखारी टीकमगढ़ आदि स्थानों से मिले हैं। इस शासक के कई अभिलेख अजयगढ़ के किले में सुरक्षित हैं। कालंजर प्रस्तर अभिलेख में चंदेल षासक परमर्दिदेव (ईस्वी 1165–1202) को दशार्णाधिनाथ कहा गया है, उसने गुजरात के चालुक्य शासक को पराजित किया था।

मंदिर–वास्तु तथा मूर्तिकला की दृष्टि से झांसी क्षेत्र के कलावशेष भी महत्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में बरुआ–सागर का सबसे सुन्दर प्रतिहारकालीन मंदिर ''जरायका मठ'' है। वह पंचायतन शैली का देवी–मंदिर है। झांसी से लगभग 15 कि.मी. दूर एक पहाड़ी पर गुप्त–कालीन मंदिर के अवषेश विद्यमान हैं। गैराहा में पूर्ण विकसित चन्देलकालीन मंदिर ऊॅची जगती पर बना है। यह कीर्तिवर्मन के समय का शिव–मंदिर है। झांसी के अन्य ऐतिहासिक महत्व के स्मारकों में गंगाधर राव तथा रामचन्द्र राव की समाधियाँ, मेंहदीबाग, लक्ष्मी–मंदिर तथा किला दर्शनीय हैं। रानी संग्रहालय तथा राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालयों में गुप्त, प्रतिहार, चन्देल तथा परवर्ती कलाशैली की बहुसंख्यक कलाकृतियॉ देखी जा सकती हैं, जो कलारसिकों को सहज़ ही विमुग्ध करती हैं। एरच के प्राचीन टीलों के उत्खनन से इस क्षेत्र की प्राचीन कला और संस्कृति पर नवीन अनुसंधान करने की आवश्यकता है। लौकिक किवदन्तियों के अनुसार ''एरच'' को प्रह्लाद की जन्म–स्थली तथा हिरण्यकश्यपु की राजधानी कहा जाता है। चन्देलशासक त्रैलोक्यवर्मन के समय में एरच क्षेत्रीय प्रशासन का मुख्यालय रहा है। यहां बेतवा नदी के किनारे प्राचीन दुर्ग के अवशेष विद्यमान हैं।

चन्देल शासक धंग के अभिलेख ललितपुर के समीप दुधई से प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में झांसी–ललितपुर को एक मण्डल के रूप में व्यक्त किया गया है। सन् 1674 के पूर्व ललितपुर–जिला झांसी के अन्तर्गत ही था।ललितपुर में देवगढ़, दुधई, चांदपुर, बानपुर, मदनपुर, सीरोनखुर्द, बुधनी, बार, तालबेहट तथा कतिपय अन्य सांस्कृतिक केन्द्र थे। इस मंदिर में गजेन्द्रमोक्ष ,तपस्यारत नर–नारायण तथा शेषशायी विश्णु की आकर्शक प्रतिमायें हैं। गुप्तकालीन इस दशावतार मंदिर में पाषाण द्वारा निर्मित शिखर का एकाकी उदाहरण देखने को मिलता है। देवगढ़ के शासकीय पुरातत्त्व संग्रहालय में संग्रहीत कलावशेषों को देखने से इस मंदिर की भव्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ सुरक्षित पाषाण–फलकों में रामकथा की महत्वपूर्ण घटनाओं को मूर्त रूप प्रदान किया गया है। साथ ही कृष्ण–जन्म, नंद–यशोदा की गोद में कृष्ण और बलदेव , शकटोद्धार तथा वामन अवतार भी पाशाणकला में रूपायित हैं। देवगढ़ की विशेषता है कि यहाँ की गुप्तकालीन कला में कृष्ण तथा राम की लीलाओं का शिल्पांकन एक साथ

देखने को मिलते हैं। गुप्तकालीन कला का विकास गुर्जर–प्रतिहारों के शासन काल में भी अनवरत् जारी रहा । यहाँ पर बेतवा नदी तेज गति से प्रवाहित होती हैं। दक्षिण की ओर किले के ऊपरी भाग से बेतवा नदी तट तक सीढ़ियॉ बनी हैं। पार्ष्व में जैन–मंदिरों के समूह तथा जैन कला की जीवन्त मूर्तियाँ देखते ही बनती हैं।

बुंदेलखंड में ऐतिहासिक दुर्गों और सामरिक महत्व के मध्यकालीन गढ़ों की बहुत बड़ी संख्या है, जो ऊँची पहाड़ियों के ऊपर बनाए जाते थे। इन्हें 'गिरिदुर्ग कहा गया है। बुंदेला राजाओं ने भी अनेक दुर्गों और गढ़ियों के निर्माण अपने शासनकाल में कराए। प्रत्येक राज्य या जागीर का अपना सुरक्षित किला होता था। इन किलों के अंदर संरक्षित राज–प्रासादों तथा धार्मिक स्मारकों की आंतरिक दीवारों में लोक–जीवन से संबंधित मुगल, मराठी, तथा बुंदेली कलम के रोचक चित्रण देखने को मिलते हैं। सागर संभाग के प्रमुख ऐतिहासिक दुर्गो में धामोनी दुर्ग, गढ़ाकोटा, सिंगौरगढ़, गढ़पहरा, अजयगढ़, गढ़–कुण्डार, ओरछा दुर्ग, सागर किला, राहतगढ़, सानौधा, जैसीनगर आदि उल्लेखनीय हैं।

पुरातत्त्व की दृष्टि से प्राचीन काल में बुंदेलखंड का भू–भाग महत्त्वपूर्ण रहा हैं। अपने शौर्य के लिए यह क्षेत्र इतिहास में प्रसिद्ध है। स्वाभिमान की रक्षा के लिए स्वयं को बलिदान कर देने वाले वीरों की गाथाओं से बुंदेलखंड का इतिहास आलोकित है। बुंदेलखंड का सांस्कषतिक जन–जीवन पाशाणकालीन सभ्यता से प्रारम्भ होकर जनपद–काल से राजनीतिक यात्रा करते हुए मौर्य, शुंग–सातवाहन, शक, कुषाण, क्षत्रप, नाग, गुप्त, वाकाटक, गुर्जर–प्रतीहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, कलचुरि, मुस्लिम, मराठा,बुंदेला षासकों तथा अंग्रेजों की प्रभुसत्ता, में समाहित था। बुंदेलखंड के विस्तष्त क्षेत्र की शिल्पसम्पदा जहाँ एक ओर शैव, वैष्णव ,सौर, शाक्त जैन ,बौद्ध, मुस्लिम, मराठी, बुंदेली आदि की समन्वित संस्कृति का उद्घाष्ा करती हैं, वहीं दूसरी ओर बुंदेलखंड की ऐतिहासिक यशोगाथा के निर्माण में भी सहभागी है। बुंदेलखंड के आंतरिक जन–जीवन में आज भी हमें समन्वित सांस्कृतिक चेतना दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक यशोगाथा के निर्माण में सहभागी है। बुन्देखण्ड के आंचलिक जन–जीवन में आज भी हमें समन्वित सांस्कृतिक चेतना दिखाई देती है।

संदर्भ संकेत

1 वाजपेयी के.डी.: सागर थ्रू द एजेज, प्रा.भा.इति. विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर 1664.

2 वाजपेयी के.डी.: (सम्पादक) बुलेटिन ऑफ एन्षिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड आकर्योलाजी जिल्द 1 पृष्ठ 68.से 70 सागर विश्वविद्यालय, सागर 1667.

3 वाजपेयी के.डी.: मध्यप्रदेश का पुरातत्त्व , पृ. 17–19, संचालनालय पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, म.प्र., भोपाल 1970

4 वाजपेयी के.डी.: द चालकोलिथिक काम्प्लेक्स ऑफ मध्यप्रदेश ,प्राच्य–प्रतिभा, जिल्द 4, संख्या 2, जुलाई, 1976, पष्ृ 33–37, प्राच्य निकेतन भोपाल.

5 वाजपेयी के.डी.: एरण उत्खनन से इतिहास पर नया प्रकाश, ग्वालियर–दर्शन (प्रथम चरण) मनीषा, 1980, ग्वालियर शोध संस्थान, जीवाजी विश्वविद्यालय, पृ. 288–91.

6 वाजपेयी के.डी.: इण्डियन न्युमिस्मेटिक स्टडीज, नई दिल्ली.

7 वाजपेयी के.डी. : मार्ग ,अंक 26, सं. 3 –मध्यप्रदेश स्कल्पचर्स, बम्बई, 1973.

8 वाजपेयी के.डी. : बुंदेलखंड की मूर्तिकला सम्पदा, मामुलिया (छतरपुर), पृ18 से 21, अंक 39.

9 वाजपेयी के.डी. : उत्तरप्रदेष का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 1962, (शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं.)

10 वाजपेयी के.डी. : गुप्तकालीन शिल्पकला का अप्रतिम केन्द्रः नचना मध्यप्रदेश सन्दश, भोपाल, 1 सितम्बर 1981, पृ. 3–4.

11 वाजपेयी, सुरेशचन्द्र : सागर जिला का प्राचीन वास्तु तथा मूर्तिकला का अध्ययन (अप्रकाषित षोध–प्रबंध) ,प्रा. भा.इति. सागर वि.वि, 1977
12 शर्मा, आर.के : म.प्र के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रंथ , हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1976,
13 त्रिवेदी,एस.डी. : बुंदेलखंड का पुरातत्त्व ,राज्य पुरातत्त्व संग्रहालय, झाँसी, 1984 (प्र.सं.):, स्कलप्चर्स इन द झाँसी म्यूज़ियम, राज.संग्र. झाँसी, 1983 (प्र.सं.).
14 निगम,एम.एल : कल्चरल हिस्ट्री आफ बुंदेलखंड ,दिल्ली 1983 (संदीप प्रकाशन) :
15 गुप्त, नर्मदा प्रसाद (डॉ.) : म.प्र. के बुंदेलखंड क्षेत्र में नवोपलब्ध चित्रित शैलाश्रय, मामुलिया बुंदेलखंड साहित्य अकादमी, छतरपुर, सम्वत् 2038, अंक–2 ,पृ, 78–82
16 बबेले, बिहारीलाल : ललितपुर जनपद का प्राचीन इतिहास, मामुलिया,छतरपुर, संवत् 2038 , अंक 2, पृ. 83–90 तक
17 गुप्त, नर्मदा प्रसाद (डॉ.) : बुंदेलखंड की लोक–संस्कृति, मामुलिया छतरपुर, पृ. 41–63 (मध्यप्रदेश लोक–संस्कृति विषशांक, वर्ष 4, अंक –15–16
18 द्विवेदी,महेन्द्र (संपा.) : टीकमगढ़ दर्शन (मंगल प्रभात), ग्वालियर, 1978
19 अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देव–प्रतिमाएँ, आगरा, 1967.
20 सक्सेना, चैतन्य स्वरूप : नांदचॉद का पुरातत्त्वीय वैभव,पुरातन, भोपाल, अंक 1, पृ॰ 68–70 ,1984
21 मकबूल अहमद : बुदेलखंड के आद्य पुरातात्विक अवशेष,म.प्र. संदेश, भोपाल, 10 मई, 1981, पृ. 7,8 तथा 24,25
22 दीक्षित, एस. के : ए गाइड टु द स्टेट म्युजियम धुवेला, 1955–57
23 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : एरण की गुप्तकालीन मूर्तिकला, पुरातन, भोपाल, अंक 1, 1984, पृ. 62–64
24 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : देवरी की प्राचीन मूर्तिकला, मामुलिया, छतरपुर, पृ॰ 78–84, अंक 5, सम्वत् 2039
25 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : दमोह के सांस्कृतिक केन्द्र, मामुलिया, छतरपुर, अंक–10, सम्वत् 2040, पृ. 59–64
26 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : बीला नदी घाटी के चित्रित शैलगृह, मामुलिया, छतरपुर, वर्श 4, अंक 13, पृ. 50–54
27 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : गौर आर्केलाजिकल म्यूजियम ए लिविंग मान्यूमेंट, प्रोफेसर के.डी. बाजपेयी, अभिनन्दन–ग्रन्थ (खण्ड–2) आगमकला प्रकाषन, दिल्ली, पृ. 397–401, (1987)
28 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : एरण का सांस्कषतिक वैभव, कला–सरोवर, वाराणसी, अंक 1, सं 2 (1987), पृ. 20–24
29 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : पन्ना क्षेत्र के पुरातात्त्विक अवषेश, कला सरोवर, वाराणसी, अंक 2, सं. 2 वर्ष 1988, पृ. 28–32
30 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : बुन्देलखण्ड तथा दषार्ण क्षेत्र का पुरातत्त्व, स्मारिका झॉसी महोत्सव, 1995
31 वाजपेयी, संतोश कुमार : एरण से प्राप्त नवीन सिक्के तथा मुहरें, महेन्द्र कुमार मानव अभिनंदन गंन्थ (दि ग्लोरी दैट वॉज बुन्देलखण्ड), पृ. 330–337, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
32 श्रीवास्तव, ओ.पी.एल. : बुन्देलखण्ड का महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल 'एरच', पृ. 346–348, महेन्द्र कुमार मानव अभि. ग्रंन्थ दिल्ली, आर्केलॉजी ऑफ एरच (सुलभ प्रकाषन), वाराणसी, 1991,
33 शास्त्री, अजयमित्र (सम्पादक, डॉ. आर.के. षर्मा) : त्रिपुरी म.प्र.हि.ग्रं. अकादमी, भोपाल, संशोधित संस्करण (द्वितीय–वर्ष 2009)
34 पाण्डेय, एस.के. : मल्हार, उत्खनन रिपोर्ट, 1975–76, वि.वि. सागर; फ्रेस लाइट आन द हिस्ट्री ऑफ छत्तीसगढ़, पुरातन, अंक 9 (1994), पृ. 56–64, भोपाल
35 खरे, एम.डी. : विदिशा, म.प्र.हि.ग्रं. अकादमी, भोपाल
36 दुबे, नागेश, चढ़ार, मोहन लालचढारः एरण : एक परिचय, प्रथम संस्करण, वर्ष 2016, माँ नर्मदा साहित्य सदन, अमरकंटक (म.प्र.)
37 श्रोत्रिय, आलोक (डॉ.) : न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्राइब्ड क्ले सीलिंग्स फ्राम एरण, कला–वैभव, अंक 15 (वर्श 2006), पृ॰ 57–58, इं.क.सं.वि.वि. खैरागढ़
38 दुबे, नागेश : एरण की कला, सुप्रिया पब्लिकेशन्स, सागर, 1997

39 चढ़ार, मोहनलाल : एरण : एक सांस्कृतिक धरोहर, आयु पब्लिकेषन्स, नई दिल्ली, 2016
40 चढ़ार, मोहनलाल (संपा.) : आर्केलॉजी ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया, एस.के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2017
41 चढ़ार, मोहनलाल (संपा.) : आर्ट, आम्योलॅजि एण्ड आर्केलॉजी ऑफ इण्डिया, एवन पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2017
42 चढ़ार, मोहनलाल : एरण की कला में गौंड़ देव–मूर्तियाँ एवं मांगलिक अंकन (शोधपत्र), कोसल; अंक 9, वर्श 2016, पृ. 75–86 (रायपुर)
43 राघवन, पी. : सागर विरासत और विकास, शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1992
44 झॉ, विवेकदत्त : बुन्देलखण्ड का आरंभिक इतिहास, ईसुरी–1, पष् 83–84, वर्ष 1989, सागर वि.वि.; रिसेन्ट एक्सकेवेशन एट एरण, बनारस, 1986, पिक्यूलियर टेराकोटा फिगराइन्स फ्रॉम चालकोलिथिक एरण, प्राच्य, प्रतिभा, अंक 9, 1981
45 सिंह, उदयवीर : प्रोटो–हिस्टारिक पॉटरी ऑफ ईस्टर्न मालवा, सागर वि.वि. सागर, 1968 (अप्रकाशित पीएच.डी. शोध–प्रबन्ध)
46 सिंह, उदयवीर : एरण ए चालकोलिथिक सेटलमेन्ट, बुलेटिन ऑफ़ ऐंश्येंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्केलॉजी, प्रा. भा.इति. सागर वि.वि. अंक–1, 1969; एक्सकेवेषन एट एरण, जर्नल ऑफ़ म.प्र. इतिहास परिशद, अंक–4
47 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : मोलाली–खानपुर क्षेत्र के चित्रित शैलाश्रयों का विवेचन, पंचाल, खण्ड–7, पंचाल शोध–संस्थान, कानपुर, पृ. 79–86, 1994
48 त्रिपाठी, कृष्ण कुमार : मध्यप्रदेश की शैलचित्रकला, इण्डियन रॉक आर्ट, गुप्ता पब्लिशर्स, नागपुर, पृ. 54–62, वर्श 2000, (संपादक डॉ. आर.एन. अग्रवाल)।
49 मिश्र, रमानाथ : भारतीय कला, द मैकमिलन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण वर्ष, 1978
50 बबेले, अर्चनाः चंदेल शासकों के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, सागर प्रकाशन, सागर, प्रथम संस्करण, 1999
51 चौरसिया, सुरेन्द्र : झाँसी के संगहालयों में संग्रहीत पुरावशेष, आर.के. ऑफसेट, सागर (प्र.सं. वर्ष 2000)
52 शर्मा, आर.के. (सम्पादक) : स्टडीज इन द शेल–स्क्रिप्ट, आगम प्रकाशन, दिल्ली, 1990, (प्र.सं.)
53 चतुर्वेदी, अरविन्द (सम्पादक) : मध्यप्रदेश संदेश, सागर संभाग विशेषांक, वर्श 85, अंक 7, 10 अप्रैल, 1989 पृ. 5 से 124 तक
54 झॉ, विवेकदत्त : सागर संभाग : ऐतिहासिक दृष्टि, म.प्र. संदेश, पृ. 5 से 9 तक
55 यादव, एस.एस. : अनुपम शिव और सूर्य–मंदिर, पृ. 15 से 18 तक
56 गुरू, स्वप्ना : सागर संभाग के प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्ग, पृ. 19 से 23 तक
57 वाजपेयी, कृष्णदत्त : सागर संभाग के प्राचीन शैलचित्र, पृ. 24 से 25 तक
58 मिश्र, ओ.पी. : चंदेल राजवंश की धरोहर : खजुराहों के मंदिर, पष् 30–33 तक
59 पाठक, नरेश कुमार : ओरछा, पृ. 34–40 तक
60 शर्मा, सुधीर 'धामी' : इतिहास का दर्पण, धुबेला संग्रहालय, पृ. 41
61 गुणाकर, 'सत्यार्थी' : कुण्डेश्वर, पृ. 42–43 तथा अन्य आलेख पृ. 44 से 124 तक
62 गौर, चन्द्रभान सिंह : सागर जिले में प्राप्त वैश्णव–प्रतिमाओं का अध्ययन (प्रारंभ से 12वीं शती तक) सागर प्रकाशन, सागर (प्रथम संस्करण, वर्ष 2000)
63 सालोमन, रत्नेश तथा सोलंकी, धीरेन्द्र सिंह : विस्मृत दमोह, अश्विनी शोध–संस्थान, महिदपुर (उज्जैन) वर्ष–2002

24 अमरकटंक क्षेत्र के सर्वेक्षण व उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों का विश्लेषण

प्रो. आलोक श्रोत्रिय डॉ. मोहन लाल चढ़ार

प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य एवं पुरातात्विक स्त्रोंतों सें अनूपपुर जिले में स्थित अमरकटंक व उसके आसपास के क्षेत्रों से सम्बन्धित बडी मात्रा में जानकारी मिलती है। रामायण, महाभारत, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण, पद्म पुराण, मार्कण्डेय पुराण, हरिवंश पुराण, स्कन्द पुराण, शिवपुराण, ब्राह्माण्ड पुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डेय पुराण, वायु पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, शतपथ बाह्मण, विष्णु संहिता, पंतजली का महाभाष्य, कालीदास के रघुवशम्, मेघदूतम, मालविकाग्निमित्रम् एवं अमरकोश से अमरकटंक की प्राचीनता सिद्ध होती है। पुराणों मे उल्लेख है कि नर्मदा का अवतरण सृष्टि के आरम्भ से ही है। श्रीराम का इस क्षेत्र में निवास[1] महाभारत काल में पाण्डवों से संबंध,[2] अशोक की धम्म विजय,[3] समुद्रगुप्त की दिग्विजय यात्रा,[4] कलचुरियों का आधिपत्य[5] चन्देलों का पराभव तथा गौड़ों, बघेलों के प्रभुत्व सन्देशों की कहानी आज भी इस प्रदेश के कण–कण में व्याप्त है।[6] भारतीय आधुनिक साहित्य लेखन में अमरकंटक व असके समीपवर्ती क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते इन ग्रन्थों में प्रमुख रुप से देवकुमार मिश्र, सोन के पानी के रंग, चौरे, शहडोल जिला गजेटियर, अयोध्या प्रसाद द्विवेदी, स्त्रोतविनी नर्मदा, दिनेश कुमार सरकार, कास्मोग्रॉफी एण्ड ज्याग्राफी इन अर्ली इण्डियन लिटरेचर, प्रणवकुमार भटटाचार्य, हिटॉरिक ज्याग्राफी ऑफ अर्ली रिकार्ड दिल्ली, एम, एस अली, द ज्याग्राफी ऑफ द पुराणाज,नई दिल्ली,, पार्जिटर का पुराण साहित्य, लक्ष्मीशंकर निगम, दक्षिण कोशल का ऐतिहासिक भूगोल, लंका की खोज ,मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, पी. व्ही काणे, धर्मशात्र का इतिहास, शम्भूदयाल गुरु म.प्र. की नदियॉ, मलपानी, जे.एन. कृत अनूपपुर जिले का ग्रामवार पुरातत्व सर्वे रिपोर्ट,, पंकज राग द्वारा सम्पादित कल्चरल हेरिटेज आफ नर्मदा वेली, कुरैशी, अनीसा, कृत बघेलखण्ड का सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास, अग्रवाल, कन्हैया लाल कृत बिन्ध्य क्षेत्र का ऐतिहासिक भूगोल,, शुक्ल, हीरालाल कृत बघेलखण्ड संस्कृति और भाषा, शर्मा,राजकुमार,सुल्लेरे,सुशील कुमार,गुप्त,चन्द्रशेखर द्वारा संम्पादित, कलचुरि राजवंश और उनका युग, शिशिर जैन का बघेलखण्ड की जैनकला पर शोध कार्य उल्लेखनीय है। प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य एवं धर्मेत्तर साहित्य में अनूपपुर क्षेत्र से सम्बन्धित अनेक तथ्य मिलते है। अभी हाल में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग,इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय

जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकटंक, मध्यप्रदेश, के द्वारा अनूपपुर जिले का सर्वेक्षण व गंभरवाटोला, दारसागर का उत्खनन कार्य किया गया। सर्वेक्षण व उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों का विश्लेषात्मक वर्णन इस प्रकार है।

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद श्री बैगलर ने सन् 1873 में शहडोल जिले का पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण किया था। उनके प्रतिवेदन में अमरकंटक क्षेत्र में शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म एवं सोहागपुर के निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन मंदिरों के अवशेष, तीर्थंकर मूर्तियाँ एवं षासन देवी–देवताओं की अनेकों प्रतिमाओं की जानकारी मिलती है। श्री बैगलर के अनुसार सोहागपुर क्षेत्र में 10–11 वीं शती ई. में जैन धर्मावलम्बियों का विशाल केन्द्र रहा होगा।[8] प्रों. एच.डी. सांकलिया महोदय ने भी अमरकटंक क्षेत्र का अनौपचारिक सर्वेक्षण किया था। उन्होने लंका को अमरकटंक के आसपास स्थित बताया था। त्रिपुरी में उन्होने उत्खनन कार्य किया था। त्रिपुरी भेडाघाट में नर्मदा नदी तट से 5 किलोमीटर के अन्तराल पर स्थित है। डी. डेरा और पीटरसन ने नर्मदा नदी का सर्वेक्षण कार्य कर अनेक प्रागैतिहासिक पुरावशेष खोजे थे।

तत्कालीन सर्वेक्षण कार्यः– अमरकंटक क्षेत्र व अनूपपुर जिले का पुरातात्विक सर्वेक्षण इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कषति तथा पुरातत्व विभाग द्वारा 2015 में किया गया था। इस सर्वेक्षण में प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक के अनेंक पुरावशेष, मंदिर व मूर्तियॉ प्राप्त हुई है। राजेद्रग्राम के समीप जोहिला नदी से नर्मदा नदी में पंचधारा के समीप पेडों के जीवाश्म प्राप्त हुए है। मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग ने भी अनूपपुर जिले का पुरातात्विक सर्वे करवाया था। जिसमें पाषाणकालीन पुरावशेष व कलचुरीकालीन मंदिर मूर्तियॉ बडी संख्या में प्राप्त हुई है। आर्क्योलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया के सर्वेक्षण में अमरकटंक में सोनमूडा व पोडकी से नवपाषणकालीन उपकरण प्राप्त हुए है। इन सर्वेक्षणों से स्पष्ट होता है कि अमरकटंक क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक मानव गतिविधियों का केन्द्र रहा है।[9]

पुश्राजगढ़ तहसील का सर्वेक्षण श्री एल. पी. पाण्डेय, उपसंचालक जबलपुर द्वारा वर्ष 2002–03 में 121 ग्रामों का एवं वर्ष 2003–04 में 117 ग्रामों का सर्वेक्षण किया था। सर्वेक्षण के दौरान केवल 8 ग्रामों से पुरातत्वीय अवशेष मिले है। एक सर्वेक्षण इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय भोपाल के तत्वाधान में जबलपुर से अरकटंक तक सर्वेक्षण मार्च 1998 ईस्वी में किया गया था। हभी हाल में अमरकटंक विशविद्यालय दल को नर्मदा के किनारे शम्भूधारा जलप्रपात के प्रागैतिहासिक मानव के आवास के प्रमाण मिले थे। इस स्थान से उच्चपुरापाषाणकालीन व मध्यपाषण कालीन अनेक पाषाण उपकरण मिले थे। नर्मदा नदी घाटी व सोन नदी घाटी प्रागैतिहासिक काल में सघन वनों से आच्छादित थी। नदी में प्रातिनूतन काल के अनेक वनस्पति एवं प्राणियों के जीवाश्म मिलते है। अमरकटंक क्षेत्र में पाषाणकालीन तीनों कालों के उपकरण प्राप्त हुए है। अनुपपुर व राजेद्रग्राम के आसपास के क्षेत्र में उच्चपुरापाषाण तथा मध्यपाषाण काल के उपकरण प्राप्त हुए है।[12] सोन की सहायक नदी मुर्ना में पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों में हस्तकुठार एवं विदारणी इत्यादि प्राप्त हुए है।[13] अभी हाल में डॉ. बसन्त कुमार मोहन्ता, सहायक प्रोफेसर, मानव विज्ञान एवं पुरातत्व विभाग, कीनिया, अफ्रीका एवं डॉ. मोहन लाल चढ़ार, सहायक प्रोफंसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकटंक मध्यप्रदेश को अमरकटक के समीप जोहिला नदी एवं लालपुर, पोडकी के आसपास के क्षेत्र में नवपाषाण कालीन कुल्हाडी, ब्लेड, ब्यूरिन, गदाशीर्ष, सिलबट्टे इत्यादि प्राप्त हुए है। अमरकटंक में सोन

नदी के उद्‌गम के समीप नवपाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुए है। अमरकटंक से लगभग 38 किलोमीटर दूर बिलासपुर जिले में धनपुर सें नवपाषाणकालीन उपकरण प्राप्त हुए है।[14] अमरकटंक के समीप राजेन्द्रग्राम से भी नवपाषाणकालीन उपकरण प्राप्त हुए है।[15] अभी हाल में अमरकटक क्षेत्र में राजेन्द्रग्राम के समीप बहगढ़ नाला से मध्यपाषाण के उपकरण प्राप्त हुए है। नर्मदा नदी घटी में नरसिंहपुर, होशगााबाद, आदमगढ सें प्रागौतिहासिक शैलचित्र एवं अनेक शैलाश्रय प्राप्त हुए है। अमरकटंक में अभी हाल में शम्भुधारा से एक मध्यपाषाण काल का उद्योग मिला है। बडी मात्रा में सूक्ष्मपाषाण उपकरण व पाषाण उपकरण बनाने में प्रयोग होने वाला क्वार्टजाइट पत्थर बडी संख्या में मिला है। अमरकटंक में माई की मण्डप के समीप से नवपाषण कालीन बडी मात्रा में राख के टीले के प्रमाण मिले है।[16]

दारसागर व शिवलहरी, अनूपपुर जिला मुख्यालय से लगभग 19 किलोंमीटर की दूरी पर अनूपपुर तहसील में 23° 9′ 1′′ उत्तरी अक्षांश से 81°58′7′′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। इस पुरास्थल पर प्रतिवर्ष मेला लगता है। भालूमाडा से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर सोन नदी की सहायक नदी कैबई के तट पर कुछ गुफाओं का निर्माण किया गया हैं। इस स्थान को शिवलहरी के नाम से जाना जाता है। इन गुफाओं का निर्माण सम्भवतः मौर्य काल में किया गया था। इसका प्रमाण गुफाओं की दीवारों पर लिखे गये मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि के अभिलेखों के माध्यम से मिलता है। यहां पर कुल 5 गुफाओं का निमार्ण कार्य किया गया है, जिनमे से तीन गुफाओं में मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि के अभिलेख प्राप्त हुए है। एक गुफा में शंख लिपि एवं गुप्तकालीन लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हुए है। यहॉ पर गुफाओं की दीवारों पर गणेश, हनुमान, हाथी पर बैठे योद्धा एवं अन्य प्रतिमाओं को बनाया गया है। इन अभिलेखों की खोज अभी हाल में इंदिरा गाधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के सर्वेक्षण के दौरान की गई। इन गुफाओं में अनेक प्रतिमाओं को भी निर्मित किया गया है। इन गुफाओं में बौद्व बिहारों व जैन साधुओं के निवास जैसे आवास के तीन कमरे बने हुए हैं। एक गुफा में यहां पर चैत्य गवाक्ष जैसी आकृति बनी है। सम्भवतः मौर्यकाल में इन गुफाओं का निर्माण बौद्व भिक्षुओं या जौन साधुओं को तपस्या करने हेतु बनाया गया होगा। इन्ही गुफाओं से दक्षिण दिशा मे लगभग 2 किलोमीटर की दूरी पर कैबई नदी के तट पर ही सर्वेक्षण के दौरान पुरावशषों से परिपूर्ण सात बडे टीले प्राप्त हुए है। यहॉ से कुषाणकालीन आकार वाली ईटे, मण्डलकूप में प्रयुक्त होने वाली मृण्मय नाली के अवशेष बडी संख्या में प्राप्त हुए है। मृद्‌भाण्ड के टुकड़े सम्पूर्ण टीलों पर बिखरे पड़े है। इन टीलों पर, सिलबट्टे, कोडियां, सीप एवं राख इत्यादि प्राप्त हुई है।

दारसागर , गंम्भीरवाटोला उत्खनन :– दारसागर, गंम्भीरवाटोला अनूपपुर जिले की अनूपपुर तहसील में अमरकटंक से लगभग 60 किलोमीटर की दूरी पर सोन नदी की सहायक नदी कैबई नदी के किनारे स्थित है। इसकी खोज व उत्खनन इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक के प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. आलोक श्रोत्रिय के निर्देशन में तथा डॉ मोहन लाल चढार व डॉ. विनय कुमार के सह–निर्देशन से 2015 ईस्वी में किया गया। इस उत्खनन में मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल तक के पुरावशेष बडी मात्रा में प्राप्त हुए है। उत्खनन में मण्डलकूप, मूण्मूर्तियॉ, आहत सिक्के, बच्चों के पकी मिटटी के बने खिलौने, मनके, शंख की चूडियॉ, तॉबे की चूडियॉ, तथा अंजन शलाकाएँ बडी मात्रा में मिली है। उत्खनन में मौर्यकालीन व गुप्तकालीन स्तरों से ताम्रवस्तुएं, हाथी दांत, शंख, पत्थर, पकी मिट्टी और अस्थि पर निर्मित दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुए, मनोरंजन की सामग्री,

षंतरज के मोहरे, चौपड़ के पासा, खिलौना गाड़ियों के पहिये, अंजन–षलाका, पत्थर के उपकरण, पकी मिट्टी की छोटी गोलियां, आभूशण और अस्त्र–शस्त्र प्राप्त हुए है जो तत्कालीन मानव जीवन के विविध ा पक्षों पर व्यापक प्रकाश डालते है। इस काल के निवासियों ने विविध मानव, पशु–पक्षीयों की मृण्मूर्तियों का निर्माण किया जिनसे इस काल की कला व धर्म की सूचनाएं भी प्राप्त होती है। यहाँ से समृद्ध व विकसित मृद्भाण्ड उद्योग प्राप्त हुआ है जिन पर विभिन्न आकृतियों का चित्रण अभिप्राय किया गया है।

उत्खनन में प्राप्त पुरावशेषों व स्तरीकरण के आधार पर तिथि निर्धारण

प्रथम कालः– लगभग 300 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व

द्वितीय कालः– लगभग 100 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक

तृतीय कालः– लगभग 300 ईस्वी से 600 ईस्वी तक

प्रथम कालः– स्तरीकरण के आधार पर यह काल मौर्यकालीन समय से सम्बन्धित था। इस काल से सम्बन्धित पाचवे स्तर में पुरासामग्री प्राप्त हुई है। इसमें कुछ एन बी पी से सम्बन्धित मृद्भाण्ड मिले है। कुछ अन्य मृद्भण्ड मिले है जो लाल रंग के है। एक पंचमार्क सिक्का प्राप्त हुआ है। एक अन्य आहत सिक्का यहॉ पर टीले के निचले भाग से भी प्राप्त हुआ है। कुछ मृण्मूर्तियॉ भी इस काल से सम्बधित मिली है। मौर्य कालीन समय से सम्बन्धित शिवदत्त राजा के ब्राह्मी लिपि के अभिलेख गंभीरवाटोला के समीप आधा किलोमीटर की दूरी पर स्थित शिवलहरा भालूमाडा से प्राप्त हुए है। सम्भवतः मौर्यकाल के समय यहॉ का स्थानीय राजा शिवदत्त रहा होगा। उत्खनन में प्राप्त पुरावशेषों व स्तरीकरण के आधार पर प्रथम काल का तिथि निर्धारण लगभग 300 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व तक माना जा सकता है।

द्वितीय कालः– स्तरीकरण के आधार पर चौथे स्तर में बाढ के प्रमाण मिले है। सम्भवतः यहॉ पर दूसरी शती ईसा पूर्व में कभी कैबई नदी में बाढ आई होगी इस स्तर में काफी मात्रा में रेत मिली है। इस स्मर स्तर के आलवा कुछ भी नही मिला है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ में इस समय काफी जनधन की हानी हुई होगी। इस स्तर से रेत के साथ सूक्ष्मपाषाण उपकरण भी प्राप्त हुए है। यह उपकरण बाढ के दौरान बहकर आये हुए प्रतीत होते है। तीसरे स्तर में कुषाणकालीन माप की ईटें मिली है। इसी स्तर की माप के आसपास टीले में पॉच छः मण्डलकूप मिले है। इसमें से दो मण्डलकूपों का उत्खनन कार्य किया गया इस में 10 सें 12 पक्की मिट्टी के रिंग मिले है। जो एक मण्डलकूप के नीचे ऊपर फसे हुए है। इनमें डाला गया घर का कचड़ा राख इत्यादि मिले है। उल्लेखनीय है कि इनका प्रयोग घर का कचरा फेकने के लिए किया जाता था। इस काल से मृण्मूर्तिया, मृद्भाण्ड तथा अन्य दैनिक जीवन से सम्बधित पुरावशेष भी मिले है। इन पुरावशेषों में पक्की मिटटी की चूडिया, हाथीदॉत व शंख की चूडिया, तावे की चूडिया भी इस काल से प्राप्त हुई है। अंजन शलाकाएँ, अर्धकीमती पत्थरों के मनके, पक्की मिटटी के मनके, पूजा पाठ की सामग्री भी प्राप्त हुई है। अनेक जानवरो जैसे गाय, बैल, भैस, बकरी, खरगोस इत्यादि की हडिडयॉ भी मिली है। इस तरह के मण्डलकूप कुषाणकालीन स्तरों से अन्य पुरास्थलो से भी प्राप्त हुए है। जिनमें एरण, त्रिपुरी, तुमैन इत्यादि उल्लेखीय है। उत्खनन में प्राप्त पुरावषेशों व स्तरीकरण के आधार पर द्वितीय काल का तिथि निर्धारण लगभग 100 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक किया जा सकता है।

गम्भीरवा टोला, दारसागर उत्खनन दृश्य व पुरावशेष

तृतीय कालः– इस पुरास्थल का दूसरा व पहला स्तर गुप्तकाल से सम्बधित है। इन स्तरों से बडी संख्या में गुप्तकालीन मृद्भाण्ड, मूण्मूर्तिया, लौह उपकरण, मंनोरंजन की सामग्री जैसे पककी मिट्टी के बने शतरंज के मोहरे, पक्षियों के शिकार हेतु बनाये गये पत्थरों की गोलिया, बच्चों के मनोरंजन हेतु बनाये गये पक्की मिटटी की खिलौना गाडी के पहिये,, त्वचामर्दक, टोटीदार वर्तन, पक्की मिटटी की चूडिया, हाथीदॉत व शंख की चूडिया, ताबे की चूडिया मृण्मूर्तियॉ, शतरंज के मुहरे, हरिण सींग, गाय, बैल, भैस, बकरी, खरगोस की हडिडयॉ प्राप्त हुई है। अर्धकीमती पत्थरों के मनके प्राप्त हुए है। उत्खनन में कटोरे, मटके, नादे, दिये, लोटे इत्यादि प्राप्त हुए है। गुप्तकालीन ईटों से बनी दीवारे प्राप्त हुई है। गुप्तकालीन समय से सम्बन्धित गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि व शखलिपि के अभिलेख गंभीरवाटोला के समीप आधा किलोमीटर की दूरी पर शिवलहरा भालूमाडा से प्राप्त हुए है। अतः गुप्तकाल के समय यहॉ पर बडा नगर रहा होगा। उत्खनन में प्राप्त पुरावशेषों व स्तरीकरण के आधार पर तृतीय काल का तिथि निर्धारण लगभग 300 ईस्वी से 600 ईस्वी पूर्व तक किया जा सकता है। गुप्तकालीन स्तरों से ताम्रवस्तुएं, हाथी दांत, षंख, पत्थर, पकी मिट्टी और अस्थि पर निर्मित दैनिक जीवन की

गम्भीरवा टोला उत्खनन प्राप्त पुरावशेष

उपयोगी वस्तुए, मनोरंजन की सामग्री, शंतरज के मोहरे, चौपड़ के पासा, खिलौना गाड़ियों के पहिये, अंजन–शलाका, पत्थर के उपकरण, पकी मिट्टी की छोटी गोलियां, आभूशण और अस्त्र–शस्त्र प्राप्त हुए है जो तत्कालीन मानव जीवन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रकाष पडता है। इस काल के निवासियों ने विविध मानव, पशु–पक्षीयों की मृण्मूर्तियों का निर्माण किया जिनसे इस काल की कला व धर्म की विस्तृत सूचनाएं भी प्राप्त होती है। यहाँ से समृद्ध व विकसित मृद्भाण्ड उद्योग प्राप्त हुआ है जिन पर विभिन्न आकृतियों का चित्रण, अभिप्राय बडी मात्रा में किया गया है। इस काल से टूटी हुई मृण्मूर्ति भी प्राप्त हुई है।

अमरकटंक मैकल के नाम से जाना जाता है। पुराणों में मेकल के राजाओं का उल्लेख मिलता है।[17] अभिलेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि पॉचवी शती ईस्वी में इस क्षेत्र में पाण्डव वंशीय शासकों की एक शाखा राज्य करती थी। ब्रह्मनी से प्राप्त एक ताम्रपत्र लेख से पाण्डव वंश के इतिहास पर प्रकाश पडता है।[18] इस अभिलेख के अनुसार इस वंश में सर्वप्रथम जयबल हुआ। जयबल का पुत्र वत्सराज हुआ जिसकी रानी द्रोणभट्टारिका से महाराज नागबल का जन्म हुआ। महाराज नागबल की रानी इन्द्रभट्टारिका से महाराज भरत अर्थात भरतबल का जन्म हुआ। भरतबल का अन्य नाम इन्द्र भी था। इस अभिलेख में नागबल और भरतबल को महाराज, परम महेश्वर, परमब्रह्मण्य तथा परमगुरुदेवता इत्यादि उपाधियों से सम्मानित किया गया हैं। इससे ज्ञात होता है, कि इस वंश के प्रारम्भिक शासक सम्भवतः मगध के परवर्ती गुप्त शासकों के आधीन थे। सम्भवतः मगध के गुप्त वंश के पतन के पश्चात इस वंश के शासक नागबल एवं भरतबल स्वतन्त्र हो गये होगे। ब्रह्मनी ताम्रपत्र के अनुसार में भरत बल ने दक्षिण कोशल की राजकुमारी लोकप्रकाशा से विवाह किया था। ताम्रपत्र में लोक प्रकाशा को **अमरकुलजा** कहा गया है, अर्थात अमरकटंक क्षेत्र के कुल की पुत्री बताया गया है। भरतबल के पश्चात इस वंश का क्या हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी जानकारी प्राप्त नही होती है।[19]

इस प्रकार कहा जा सकता है, कि यह पुरास्थल सम्भवतः मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल तक विभिन्न संस्कृतियों का पोषक रहा है। यहां से मौर्यकालीन लिपि के अभिलेख, गुप्तकालीन लिपि व शंख लिपि के प्रमाण प्राप्त हुए है। दारसागर से कुषाणकालीन माप की ईटे प्राप्त हुई है। यहां पर बौद्ध धर्म प्रचलन के अवशेष भी प्रथम दृष्टया दिखाई देते है। यहां से शिवलिंग व देवी प्रतिमाओं के अवशेष भी प्राप्त हुए है, अर्थात समाज में शाक्त व शैव धर्म भी प्रचलित था। परवर्ती मौर्य काल में सम्भवतः यहां पर शिव नामक शासक शासन कर रहा था।

अनुपपुर जिले के शिवलहरा सर्वेक्षण में प्राप्त मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शुक्ल, हीरालालः लंका की खोज, रचना प्रकाशन इलाहाबाद, 1977,पृ. 215–216
2. चढार, मोहनलालः– *अमरकंटक क्षेत्र की प्राचीनता,* प्राग समीक्षा, पत्रिका, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, अंक, 01 फरवरी 2014, पृ. 41–54
3. शर्मा, उमाशंकरः– अभिलेख निकर, अशोक के अभिलेख, प्रयाग, मेहरौली, मंन्दसौर व ऐहोल अभिलेख, मोतीलाल बनारसीदास ,1992,पृ.2
4. शर्मा, उमाशंकरः– अभिलेख निकर, अशोक के अभिलेख, प्रयाग, मेहरौली, मंन्दसौर व ऐहोल अभिलेख, मोतीलाल बनारसीदास ,1992,पृ. 29
5. चढार, मोहनलालः– *अमरकंटक क्षेत्र की प्राचीनता,* प्राग समीक्षा, पत्रिका, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, अंक, 01 फरवरी 2014, पृ. 41–54
6. ए. कनिंघम :– आर्क्योलीजीकल सर्वे ऑफ इंडिया, पृ 239–246
7. मलपानी, जे.एन.:–अनूपपुर जिले का ग्रामवार पुरातत्व सर्वे रिपोर्ट, मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग, भोपाल, 2009
8. पंकज रागः– कल्चरल हेरिटेज आफ नर्मदा वेली, भोपाल, पृ. 276
9. इ0 आ0 रि0: 2001–2002, पृ.44
10. इ0 आ0 रि0: 1962,63, पृ. 11
11. इ0 आ0 रि0: 1965,66,पृ. 1–43,
12. इ0 आ0 रि0: 1964,65, पृ. 1–23.
13. इ0 आ0 रि0: 1961,62, पृ. 100
14. शर्मा राजकुमारः मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ 1972,पृ. 6–7
15. शर्मा राजकुमारः मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ 1972,पृ. 8
16. शर्मा राजकुमारः मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ 1972,पृ. 8–9
17. स्कन्दपुराण – 1, 2–5
18. शर्मा राजकुमारः मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, 1972,पृ. 10

25 मढ़ैया गौड़ का पुरातत्वः एक पुनरावलोकन

डॉ. मशकूर अहमद

मढ़ैया गौड़ एक छोटा सा ग्राम है जिसमें अधिकांश आबादी गौड़ जनजाति की है। इस ग्राम के पास ही एक विशाल शैलाश्रय है। इस षैलाश्रय में अधिकांश शैल चित्र ताम्र पाषाणिक एवं ऐतिहासिक युग के है। कुछ मध्य पाषाण युगीन है जो गहरे पैटिनेशन में है। इस शैलाश्रय के अधिकांश दृश्य योद्धाओं एवं युद्ध के हैं। कुछ चित्र स्वतन्त्र हैं। इस शैलाश्रय के फर्श पर लघुपाषाण उपकरणों के उपस्थिति रोचक तथ्य उपलब्ध कराती है। पास की पहाड़ियों में निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण भी प्राप्त हुये है। अतः यहाँ निम्न पुरापाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक की संस्कृति के अवशेष विद्धमान हैं।

स्थितिः– ग्राम मढ़ैया गौंड़, सागर धामोनी मार्ग पर सागर से लगभग 15 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। ग्राम से शैलाश्रय की दूरी लगभग 3 कि.मी. पूर्व दिशा में है। मढ़ैया गौड़ ग्राम का यह शैलाश्रय एक विशाल शैलाश्रय है। सेन्डस्टोन तथा लाइमस्टोन मिश्रित जमाव से निर्मित है। इस शैलाश्रय में अधिकांश शैल चित्र ताम्रपाषाण काल एवं ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित है। इस शैलाश्रय में मानव, अश्वारोही, गजारोही इत्यादि रूप से प्रदर्शित है। मनुष्य की आकृति सामान्य एवं ऐतिहासिक काल के जैसी है। कुछ चित्रों में घोड़ों पर झूलें प्रदर्शित है। मढ़ैया गौंड़ के चित्र निम्न स्तरों में विभाजित हैं। प्रथम स्तर के चित्रों में सफेद रंग के चित्र है जिन्हें मोटी कलम से बनाया गया है। इस प्रकार के चित्रण में पशुओं की आकृति अस्पष्ट है। इन्हें लहरदार रेखाओं से सजाया गया है। मानव चित्र इस क्रम में यष्टि रूप में है आयुध में डण्डा है। यह शिकार दृश्य है। इनके शरीर के कटिभाग में लटकन है।

नवपाषाणकालीन शैलचित्र

दूसरे स्तर के चित्रों में – लाल से निर्मित चित्र है जिनमें पषु आकृतियाँ पूरक षैली में, अर्धपूरक शैली में, एवं बिन्दु अलंकरण से युक्त चित्र हैं। इस प्रकार के चित्रांकन में हिरण, बारहसिंघा, नीलगाय एवं हाथी के चित्र हैं। इन में अलंकरण के साथ–मांसलता का बोध कराया गया है। इस प्रकार के चित्रों में मानव के साथ तलवार, ढाल, भाला आदि आयुद्ध दृष्टव्य है। इस प्रकार के चित्र नवपाषाण–ताम्र पाशाण के निर्धारित होते हैं। तीसरे स्तर के चित्रों में – अश्वारोही, एवं गजारोही मानव का अंकन है। ये चित्र लाल रंग के है। इन्हें मोटे ब्रश से बनाया गया है। ये युद्ध परक दृश्य है। दो समूह आमने–सामने चित्रित हैं। योद्धाओं का अंकन विशिष्ट है। इन्हें एक्स सेप में दर्शाया गया है।

शैल चित्रों के अतिरिक्त इस शैलाश्रय के फर्श से लघुपाषाण उपकरणों की पूरी श्रृंखला प्राप्त होती है। इनके ब्लेड, स्क्रेपर, थम्बनेल स्केपर, ल्यूनेट, चीज़ल आदि सूक्ष्मपाषाण उपकरण प्राप्त होते हैं। शैलाश्रय के फर्श का जमाव का पुरातत्वीय उत्खनन होना आवश्यक है। उत्खनन से और अधिक सामग्री सामने आ सकेगी। इन लघु पाषाण उपकरणों से अतिरिक्त समीप की पहाड़ियों से हैण्डेक्स, डिस्क एवं चापर जैसे निम्न पुरापाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुये हैं। यथा निश्चित हो जाता है कि शैलचित्र निर्माताओं से पूर्व यहाँ निम्न पुरापाषाण कालीन मानव निवासरत था। पूर्व के शोधार्थियों में प्रो. विवेक दत्त झा, डॉ. प्रदीप शुक्ल आदि ने सर्वेक्षण में शैलाश्रय के शैलचित्रों एवं लघुपाषाण उपकरणों का उल्लेख किया है। समीप ही हैण्डेक्स आदि प्राप्त हुये थे।

उच्चपुरापाषाणकालीन उपकरण

मैंने इस क्षेत्र का सर्वेक्षण हाल ही में मार्च 2016 में किया और शैलाश्रय के चित्रों के साथ प्राप्त होने वाले उपकरणों पर विशेष ध्यान दिया। शैलाश्रय के फर्श से सूक्ष्मपाषाण उपकरण ही प्राप्त होते हैं लेकिन आस–पास की पहाड़ियों की तलहटी से पुरापाषाणिक उपकरण प्राप्त होते हैं जिनमें हैडएक्स एवं गडासा प्रमुख हैं। अतः मढ़ैया गौड़ पुरापाषाणिक संस्कृति से सम्पन्न है।

कालक्रम निर्धारण– डॉ. व्ही. एस. वाकणकर और श्यामकुमार पाण्डेय के अनुसार यहाँ के शैलचित्र मध्य पाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक काल के निर्धारित होते हैं। प्रथम स्तर के शैल चित्र जो कि सफेद रंग से चित्रित हैं और स्वभाविक शैली में हैं। इन चित्रों को मोटी कलम से चित्रित किया गया है। पशु आकृतियाँ मोटी एकल रेखा से निर्मित तथा मानव आकृतियाँ यष्टि रूप में है मध्यपाषाण काल के निर्धारित होते हैं। द्वितीय स्तर के शैल चित्र जो कि लाल रंग से चित्रित हैं और श्रृंगार पूर्ण कृषि कार्य में चित्रित हैं। मानव एवं पशु आकृतियों में मासलता का बोध कराया गया है। इस प्रकार यह चित्र नवपाषाणिक काल के एवं ताम्रपाषाणिक काल के निर्धारित होते हैं।

तृतीय स्तर के चित्र– लाल रंग से चित्रित हैं इनके सफेद तथा पीले रंग का भी प्रयोग किया गया है। इन चित्रों में चयनित विशयों का चित्रण है यथा समूह एवं युद्ध–रत समूह हैं। योद्धाओं का अंकन विशेष है। जिन्हें डमरू के आकार में दर्शाया गया है। इन चित्रों में लौह उपकरण दृष्टव्य है। अतः ये चित्र ऐतिहासिक काल के निर्धारित होते हैं।

नवीन तथ्य– यहाँ के शैल चित्रों में अनेक चित्र ऐसे हैं जो इस स्पष्ट नहीं हैं वे मोटे पेटिनेशन में दब गये हैं और आधे–अधूरे दिखलाई देते हैं। इनमें अधिकांश चित्र नीलगाय, हिरण समूह के हैं जो एकल रेखा एवं स्वभाविक शैली में चित्रित हैं। मानव का अंकन यष्टि रूप में है। आयुध दण्ड है। अतः ये चित्र स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि यहाँ मध्य पाषाण काल पूर्व की संस्कृति विद्यमान रही थी। पूर्व विद्वानों के सर्वेक्षण में पुरापाषाण कालीन उपकरण नज़र में नहीं आ सके थे परन्तु यहाँ से पुरापाषाण कालीन उपकरण शैलाश्रय के आस–पास की पहाड़ियों से प्राप्त हुये हैं।

अतः नये मूल्यांकन से स्पष्ट हो जाता है कि मढ़ैया गौड़ एं पुरापाषाणिक सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र रहा था यह पुरास्थल पुरापाषाण काल से लेकर उत्तर ऐतिहासिक काल तक की संस्कृति के अवषेशों को अपने आँचल में समेटे हुये हैं।

पुरातत्वीय उत्खनन यदि सम्भव हो सका तो अनेक नये तथ्य प्रमाणिक रूप से व्यक्त करने में हम समर्थ होंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. के.डी. बाजपेयी, सागर थ्रो द एजेज, सागर मध्यप्रदेश, 1967
3. के.डी. बाजपेयी, राकपेटिग्स ऑफ आबचद, मध्यभारती, 1969
4. पाण्डेय, एस. के. पेन्टिट राकसेल्टर सागर डिस्ट्रिक्ट, मध्यभारती, 1971
5. सिंह, विजय, पेन्टिट राकसेल्टर सागर रीजन पीएचडी थीसिस उेकन कालेज पुणे 1987
6. राघवन पी., सागर हेरीडेज एण्ड डपलपमेन्ट सारदा पाब्लीकेशन हाउस, दिल्ली, 1992
7. त्रिपाठी के.के., ^मौलाली–खानपुर के चित्रित शैलाश्रय*, आचरण हिन्दी दैनिक सागर, 1995
8. शुक्ल, प्रदीप शुक्ल, भारतीय चित्रकला, आर.के. आफसेट, सागर (म.प्र.), 2002
9. इरविन न्यूमेर, प्रि हिस्टोरिक रॉक पेंटिंग इन इण्डिया (आक्फोर्ट प्रेस, दिल्ली), 1983
10. पाण्डेय श्यामकुमार, इण्डियन रॉक आर्ट, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1993
11. पाण्डेय श्यामकुमार, प्रि हिस्टोरिक आफ इण्डियन रॉक पेन्टिंग्स प्राच्य प्रतिभा अंक–3, नं. 2, 1975, भोपाल (म. प्र.), 1975
12. शर्मा आर.के., मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रंथ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल (म.प्र.), 1974
13. डी. के. भटटाचार्यः– ए आउटलाइन ऑफ इंडियन प्रीहिस्ट्री, नई दिल्ली

26 रहली क्षेत्र का पुरातत्त्व

गोविन्द सिंह दांगी, शोधार्थी '

देश का मध्यवर्ती भू–भाग सबसे अधिक पुरातन और संपदावान माना गया है, भारतीय संस्कृति में इसकी एक अलग पहचान है। यह क्षेत्र अपनी भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा प्राकृतिक सम्पदा के कारण भारतीय संस्कृति के निर्माण और विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। यहाँ से प्रवाहित होने वाली नदियाँ, सघन वन, पर्वत तथा मानव आश्रय के लिए अनुकूल वातावरण प्राचीन मानव को सदा से अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। इसी मध्यवर्ती भू–भाग में सागर जिले के पुरातात्त्विक ऐतिहासिक स्थलों में रहली क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है, यह सोनार और देहार नदियों के संगम पर सागर से दक्षिण–पूर्व की ओर 42 किलोमीटर की दूरी पर $23^0 35'$ उत्तर तथा $79^0 00'$ पूर्व में स्थित है।[1] यह सड़क मार्ग द्वारा सागर, जबलपुर, देवरी तथा गढ़ाकोटा से जुड़ा हुआ है। रहली के नामकरण के सम्बन्ध में अनेक किवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से एक मत के अनुसार चन्देल नरेश राहिल के नाम पर इस नगर का नाम रहली पड़ा। यह क्षेत्र अपने आंचल में वृहद पुरातात्त्विक सम्पदा समेटे हुये है प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक इस क्षेत्र के इतिहास में अमूल परिवर्तन हुए। सघन वन, पर्वत, कन्दराओं तथा कल–कल करती नदियों के जल से सिंचित यह सम्पूर्ण क्षेत्र पुरापाशाण युगीन मानवों की क्रीड़ास्थली रहा है।

सुनार नदी की तह से प्राप्त पूर्व–पाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुये हैं।[2] इस क्षेत्र में पाषाण युगीन प्रस्तर उपकरण प्राप्त हुए हैं। इस क्षेत्र से प्राप्त हुए षैलाश्रयों से प्रागैतिहासिक कालीन चित्रित शैलाश्रय खोजे गये हैं। रहली क्षेत्र के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। साँची, रूपनाथ तथा गुर्जरा में मिले अशोक के अभिलेख इसके प्रमाण हैं कि यह समस्त मध्यवर्ती क्षेत्र मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत था। मौर्य साम्राज्य के पतन के काल में इस क्षेत्र पर कुछ स्थानीय षासकों ने अधिकार कर लिया जिसके प्रमाण एरण से उपलब्ध राजा इन्द्रगुप्त, शिवगुप्त तथा राजा धर्मपाल की मुद्राओं के द्वारा प्रमाणित होता है। इसके अलावा शुंग, सातवाहन शक नागों आदि के इस क्षेत्र पर राज्य करने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। गुप्त काल में सम्राट समुद्रगुप्त ने एरण को 'स्वभोग नगर' कहा है जिसका उल्लेख एरण से प्राप्त समुद्र गुप्त के अभिलेख में किया गया है।

स्थापत्य एवं मूर्ति शिल्प :–

रहली क्षेत्र से स्थापत्य तथा मूर्तिशिल्प के प्रमाण प्राप्त हुए हैं, यहाँ पर गुर्जर–प्रतिहार, चन्देल, कल्चुरी तथा परमार कालीन मंदिरों के ध्वंषावषेश दृष्टव्य होते हैं, इस क्षेत्र पर चन्देलों का अधिकार लम्बे समय तक रहा प्राचीन काल में यह क्षेत्र जेजाकभुक्ति के अंतर्गत आता था इसी कारण चन्देल कालीन स्थापत्य एवं मूर्ति शिल्प के प्रमाण इस क्षेत्र में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं, चन्देल शासक पूर्वकालिक भारतीय परम्परा के अनुरूप ही कला एवं स्थापत्य के पोशक थे, जिनके काल में मूर्तिशिल्प और स्थापत्य दोनों ही दृष्टियों से प्रभूत निर्माण कार्य किये गये।[3] रहली क्षेत्र से प्राप्त पुरावषेशों में प्रमुख चन्देल कालीन सूर्य मंदिर है। यह मंदिर अपने मूल रूप में विद्यमान नहीं है। मंदिर के धराशायी हो जाने से षेश प्रतिमाओं को संकलित कर परिवर्ती काल में मंदिर की संरचना की गई है।[4] मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार है, मंदिर की दीवारों को पत्थर तथा ईटों से निर्मित किया गया है। मंदिर का छत तथा भीतरी दीवार अलंकृत है। मंदिर के गर्भगष्ह में सूर्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है, वेदों में सूर्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता स्वीकार किया गया है। सूर्य प्रतिमा के दोनों हाथों में पूर्ण विकसित पदम अलंकृत है, प्रतिमा प्रभामण्डल से युक्त है एवं अनेक आभूशणों से अलंकृत है जिनमें किरीट, मुकुट, कुण्डल, कवच, वक्षबंध, यज्ञोपवीत, कटीसूत्र आदि प्रमुख हैं। सूर्य प्रतिमा के पैरों के बीच महास्वेता देवी खड़ी हैं। गर्भगृह की भित्तियों पर अनेक देवी–देवताओं की प्रतिमाऐं प्रतिस्थापित है। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है, द्वार ललाट पर चतुर्भुजी नटराज की प्रतिमा प्रदर्शित है इसके अलावा द्वार पर मध्य में चतुर्भुजी नटराज के दोनों पार्श्वों में विद्याधर युगल हैं नीचे शिवगणों के दोनों पार्श्वों में एक–एक परिचारिका त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। भित्तियों पर शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त सम्प्रदाय की विविध प्रतिमाओं को प्रदर्षित किया गया है, जिनमें सूर्य, चतुर्भुजी विष्णु ब्रह्म, नटराज, स्थानक गणेश, उमा महेश्वर, नाग–नागी, चामुण्डा, हरिहर, लक्ष्मीनारायण, कल्याण सुन्दर शिव, सरस्वती चतुर्भुजी दुर्गा, अग्नि, वरूण, कुबेर, इन्द्र, यम, नवग्रह, सुर–सुन्दरी आदि प्रमुख हैं।

रहली क्षेत्र से प्राप्त पाशाण प्रतिमाऍं :–

रहली क्षेत्र से प्राप्त पाषाण प्रतिमाएं अधिकतर ब्राह्मण धर्म से संबंधित है। गुप्त काल में वैष्णव धर्म को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण इस काल में अनेक वैष्णव मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण किया गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मंदिरों एवं प्रतिमाओं के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। उसके समय में नृसिंह तथा वराह के मंदिरों के अतिरिक्त विष्णु के मंदिर तथा मूर्तियों का निर्माण कराया।[5] रहली के निकटवर्ती एरण में गुप्त कालीन वैष्णव मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। रहली क्षेत्र में उपलब्ध वैष्णव प्रतिमाओं में चतुर्भुजी स्थानक विष्णु प्रतिमा, गरूणासीन विष्णु, स्थानक लक्ष्मी–नारायण प्रतिमाऐं आदि प्रमुख हैं। रहली क्षेत्र से वैष्णव धर्म के साथ ही शैव धर्म से संबंधित प्रतिमाऐं भी प्राप्त हुई हैं जिनमें शैव प्रतिमाओं के अंतर्गत शिव के विविध रूपों और उनसे संबंधित देवताओं तथा षिवगणों आदि को सम्मिलित किया जाता है। इन प्रतिमाओं में नटराज, उमा–महेश्वर, गणेश, नृत्य गणेश स्थानक गणपति आदि प्रतिमाऐं प्राप्त हुई हैं, इनके साथ–साथ त्रिमुखी ब्रह्म, एक मुखी स्थानक ब्रह्म, स्थानक सूर्य प्रतिमा, अनेक देवी–देवता तथा नवग्रह प्रतिमाऐं प्राप्त हुई हैं।

रानगिर :–

रानगिर नामक स्थल रहली तहसील में सागर जिला मुख्यालय से 50 किलोमीटर देहार नदी के तट पर स्थित है।[6] यहाँ से बहने वाली देहार नदी के तट पर पाषाणकालीन उपकरण प्राप्त हुए हैं। यह क्षेत्र सघन वन, पर्वतों के बीचों–बीच पुरापाशाण युगीन मानवों की क्रिड़ास्थली रहा है। यहाँ से प्राप्त शैलाश्रयों से इस तथ्य की पुष्टी होती है। यह स्थल पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक केन्द्र है, यहाँ प्रसिद्ध हरसिद्धि मंदिर के अलावा प्राचीन गौरीदांत मंदिर तथा बूढ़ी रानगिर मंदिर स्थित है। हरसिद्धि मंदिर से थोड़ी दूरी पर देहार नदी के उत्तरी दिशा में गौरी दाँत नामक अति प्राचीन गौरी कुमारीया क्षेत्र है यहाँ पर विशाल शिलाओं से निर्मित एक गुफा क्षेत्र है। स्थानीय लोगों के अनुसार यहां पर निर्मित गुफा मंदिर का निर्माण सन् 1965 में एक साधु के द्वारा कराया गया था। यहाँ से प्राप्त शैलाश्रयों में लाल, गेरुए लाल तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। यहाँ से प्राप्त चित्रणों में वृषभ, हिरण, बारहसिंगा, जंगली सुअर आदि प्रमुख है।

रानगिर चित्रित शैलाश्रय

कड़ता ग्राम से प्राप्त शैलाश्रय :–

रहली क्षेत्र में स्थित कड़ता ग्राम से एक नाले के दोनों और शैलाश्रय स्थित है, जिनमें से कुछ शैलाश्रयों में ही चित्र सुरक्षित हैं यहाँ के चित्रांकनों में लाल, गेरुए रंग का प्रयोग किया गया है। यहां के चित्रणों में जंगली पशु, शिकार करता मानव, युद्ध का दृश्य आदि प्रमुख है।

पटनागंज जैन तीर्थस्थल :–

देश के मध्यवर्ती क्षेत्र में जैन धर्म एवं संस्कृति का पर्याप्त रूप में प्रचार प्रसार हुआ, प्रमुख सम्राटों एवं स्थानीय शासकों द्वारा जैन धर्म को संरक्षण प्राप्त हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों, मंदिरों, शिलालेखों आदि के विकास में महत्वपूर्ण कार्य हुए, रहली क्षेत्र में बड़ी संख्या

भगवान पार्श्वनाथ पटनागंज, रहली

में जैन मूर्तियाँ, मंदिर शिलालेख एवं पुरातत्त्व के महत्त्व की अन्य सामग्री बिखरी पड़ी हैं। पटनागंज नामक स्थल रहली तहसील में सागर से लगभग 42 किलोमीटर दूरी पर सुनार नदी के पूर्वी तट पर स्थित है। अतिशय क्षेत्र पटनागंज 24 तीर्थकरों की प्रतिमाओं से प्रतिष्ठित 30 मंदिरों का एक रमणीय, मनोहारी एवं ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थल है।[7] सभी मंदिरों का समूह एक विशाल परकोटे से घिरा है जिसमें चौबीसों तीर्थकरों के क्रमशः मंदिर स्थापित है। यहाँ निर्मित जैन मंदिरों में सबसे बड़ा मंदिर क्र. 22 है जिसमें भगवान महावीर स्वामी की विशाल प्रतिमा स्थापित है। मंदिर क्र. 23 में भगवान पार्श्वनाथ जी की दो उद्‌भुत प्रतिमाऐं हैं। यह स्थल पुरातत्त्व की दृष्टि से उल्लेखनीय है, जो स्थापत्य तथा मूर्तिकला का अद्वितीय प्रतीक है।

पंडलपुर :–

रहली तहसील में पटनागंज अतिशय क्षेत्र से दो किलोमीटर दूर सुनार नदी के तट पर अनुकूल प्राकृतिक परिस्थितियों को देखते हुए मंदिर का निर्माण किया गया। मराठों द्वारा इस मंदिर का निर्माण कराया गया। यह मंदिर महाराष्ट्र के पंढरीनाथ मंदिर की अनुकृति माना जाता है। यह मंदिर मराठाओं के आराध्य देव पंढरीनाथ भगवान (विठ्‌ठल देव) का है। इस मंदिर का आकार रथ के समान है। चारों ओर चक्र बने हुये है तथा सामने दो अश्व प्रदर्शित हैं। मंदिर के दोनों स्तम्भों पर विष्णु के बारह अवतारों को प्रदर्शित किया गया है। इसके अलावा शिव–पार्वती, बराहवतार, अष्वमेद्ययज्ञ, वामन अवतार, कृष्ण अवतार आदि का चित्रण है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया गया है, जिससे यह जन आस्था का केन्द्र बन गया है। यही पर 17–18वी शताब्दी ईस्वी में निर्मित जैन मंदिर है जिसमें पार्श्वनाथ की पद्‌मासनस्थ तीन बड़ी प्रतिमाएँ हैं, तथा एक शिलापट्‌ट प्राप्त हुआ है जिस पर 24 तीर्थंकर अंकित हैं।

इसके साथ ही देहार और सुनार नदी के पूर्वी तट पर रहली से 5 किलोमीटर की दूरी पर लगभग 150 मीटर की ऊँचे षिखर पर टिकीटोरिया मंदिर निर्मित है जिसमें दुर्गा प्रतिमा प्रतिष्ठित है, यह मंदिर मराठा कालीन है।रहली नगर के आस–पास स्थित रामेश्वर मंदिर, जगदीष मंदिर (लक्ष्मी नारायण मंदिर), गणेष मंदिर, झाडी–हनुमान मंदिर आदि प्रमुख मंदिर पुरातत्त्व की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं।

ऐतिहासिक दुर्ग :–

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मध्यकालीन किले प्रभूत संख्या में हैं जिनमें रहली का किला महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है गौड़ शासक संग्राहशाह ने 52 दुर्गों पर अपना अधिकार स्थापित किया था जिनमें रहली का दुर्ग भी शामिल था, मध्यकालीन दुर्ग में रहली का दुर्ग अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। माना जाता है कि इस किले का निर्माण अहीरों के द्वारा किया गया। सुनार नदी के तट पर लगभग एक किलोमीटर वर्ग क्षेत्र में फैला यह किला तथा इससे सम्बन्धित भवन वर्तमान समय में खण्डर अवस्था में प्रतीत होते हैं। किले के पश्चिमी भाग में निर्मित एक बावड़ी है जिसमें वर्श भर जल भरा रहता है। खण्डर किले के अवशेषों को देखकर किले की भव्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। पुरातत्त्व की दृष्टि से किले के संरक्षण की आवश्यकता है, तथा पुरातन गौरव को सहेजकर के रखने के प्रयास किये जाने चाहिए।

हरीसिंह गौर संग्राहलय में संग्रहीत रहली क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियाँ :–

पुरातात्त्विक महत्व की दृष्टि से रहली क्षेत्र से प्राप्त नवग्रह तथा इनसे सम्बन्धित महत्वपूर्ण मूर्तियों को हरीसिंह गौर संग्राहलय में संग्रहीत किया गया जिनका विवरण निम्नलिखित है–

सूर्य सहित नवग्रह :–

मनुष्य अपनी सुख, समृद्धि तथा शांति की प्राप्ति के लिए नवग्रहों की पूजा सदा से करता आया है, ज्योतिशषास्त्र के अनुसार नवग्रहों में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु इन नवग्रहों की गणना होती है।[8] रहली क्षेत्र से प्राप्त नवग्रह प्रतिमाओं का विशिष्ट स्थान है जो एक ही शिलापट्ट पर उत्कीर्ण है, जिन्हे हरीसिंह गौर विष्वविद्यालय संग्राहलय में संग्रहीत किया गया हैं। जो ग्यारहवीं सदी ईस्वी की है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिला पट्ट में सूर्य, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि तथा राहु–केतु दृष्टव्य हैं, प्रारम्भ में प्रभामण्डल से युक्त सूर्य स्थानक मुद्रा में अंकित हैं। दोनों हाथो में सनाल कमल हैं, वे किरीट, मुकुट, कुंडल, हार, कटिसूत्र, वनमाला पहने हुए हैं। उनके पैरों के बीच महाश्वेता देवी सम्पाद मुद्रा में खड़ी है। अन्य ग्रह सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि द्विभंग में दक्षिणावर्त स्थित हैं षनि की पादु मुद्रा इनमें विशिष्ट है।[9] उपरोक्त ग्रहों का रूप, आकार तथा अलंकरण समान है। वे जटामुकुट, कुंडल, ग्रेवेयक, हार, केयूर, कंकण, यज्ञोपवीत कटिसूत्र तथा वनमाला से अलंकृत हैं। वत्स पर श्रीवत्स का चिन्ह है, वे बाँये हाथ में कमंडल लिये हुए है तथा दायां हाथ अभय मुद्रा में प्रदर्शित है, बाँये छोर पर राहु–केतु अंकित हैं।

सूर्य मंदिर का सिरदल :–

रहली से सूर्य मंदिर के दो सिरदल प्राप्त हुए है, जिसमें प्रथम सिरदल जो 11वीं शती. ईस्वी का है, बैलबूटों से अलंकृत एक फलक संग्राहलय में संग्रहीत है जिसके मध्य में पद्मासन मुद्रा में सनाल कमल लिए हुए सूर्य विराजमान है, जो विविध आभूषणों से अलंकृत है जिनमें किरीट, मुकुट, कानों में कुण्डल,

वनमाला, वक्षबंध आदि अलंकरण है। पीठिका पर नीचे सारथी वरूण है जिसका एक हाथ हवा में है तथा दूसरे हाथ से घोडों की लगाम पकड़े हुए है। सूर्य की दायी ओर ऊपर की पंक्ति में सूर्य सहित नवग्रह है तथा नीचे की पंक्ति में सूर्य के दोनों ओर आकाश धारी गंधर्व हैं। सूर्य के दोनों ओर चारम धारणी त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं, जिनका एक हाथ कमर पर है तथा दूसरे हाथ में चामर लिए हुए हैं।

दूसरी फलक पर सनाल कमल लिये सूर्य उत्कृष्ठ मुद्रा में आसीन हैं सूर्य को पैरों में बूट पहने दिखाया गया है, सूर्य के दोनो तरफ युगल दम्पत्ति खड़े हैं। इसके अतिरिक्त बाकि अलंकरण प्रथम फलक के समान सूर्य किरीट, मुकुट, कुण्डल, वनमाला, वक्षबंध से अलंकृत है। पीठिका पर नीचे सारथी वरूण रथ के घोड़ो की लगाम पकड़े खड़ा है। सूर्य के दोनों ओर आकाश धारी गंदर्भ है सूर्य के दांयी तरफ सूर्य सहित नवग्रह है। यह सिरदल भी 11वीं सदी. ईस्वी का है। इस प्रकार हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में संग्रहीत यह प्रतिमाऐं कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

संदर्भः

1. सागर जिला गजेटियर, 1970, पृ. 525
2. इ. आर. रि. 1958–59, पृ, 72
3. तिवारी, मारूतिनन्दन, कमलगिरि, मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1991, पृ. 101
4. पचौरी, श्याम मनोहर, रहली तहसील का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिदृष्य, सरोज प्रकाषन, सागर, 2008, पृ. 45
5. बाजपेयी, कृष्णदत्त, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2002, पृ. 111
6. सागर जिला गजेटियर, 1970, पृ. 525
7. पचौरी, श्याम मनोहर, वहीं, पृ. 51
8. मिश्र, इन्दुमती, प्रतिमा विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2009, पृ. 287
9. रायकवार, गिरधारी लाल, रहली का सूर्य मंदिर, संचालनालय, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, भोपाल, 1984, पृ. 26

27 बुन्देलखण्ड के पुरातात्विक स्थल

के.पी.गुरु

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में देश के मध्य में स्थित बुंदेलखण्ड क्षेत्र का अत्याधिक महत्व है। भौगोलिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड के सीमांकन में मध्यप्रदेश के सागर, दमोह, पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़ तथा दतिया जिले एवं उत्तर प्रदेश में झांसी, ललितपुर, जालौन, कालपी, हमीरपुर व बांदा जिले सम्मलित हैं। चौदहवीं हसे सत्रहवीं शती ईस्वी के मध्य बुन्देल राजपूतों के द्वारा शासित यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड के नाम से जाने जाना लगा। वास्तव में बुन्देलेकाशी के गहर कहलाये। बुन्देलों की सत्ता के प्रारंभिक प्रमाण, महौनी, गढ़–कुढ़ार, जैतपुर, ओरछा, चरखारी, पन्ना, महोबा, कालपी आदि अनेक केन्द्रों में मिले हैं। बुन्देलखण्ड में दुर्ग निर्माण एवं पुरातात्विक मूर्ति एवं मंदिर षिल्प निर्माण की प्राचीन परंपरा रही है जिस कारण यहां अनेक स्थानों पर, दुर्गों, मंदिरों, शिवालयों का निर्माण किया गया था जो आज हमारे लिये पुरातात्विक स्थल के महत्वपूर्ण स्थान बन गये हैं ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध स्थल इस प्रकार है :–

किला राहतगढ़ – राहतगढ़ का किला सागर जिले की पश्चिमी सीमा पर सागर भोपाल एवं सागर विदिशा सड़क मार्ग पर बीना नदी के सुरम्य तट पर स्थित है। राहतगढ़ दुर्ग में मिले षिलालेख के अनुसार दुर्ग का निर्माण 1255 ईस्वी में परमार वंशीय राजाओं ने करवाया था जो धार के शासक थे। किंतु भोपाल स्टेट गजेटियर 1908 ई. के अनुसार राहतगढ़ का यह दुर्ग वर्ष 1059–80 ई. के समय में राजाभोज के पौत्र उदयादित्य की रानी के अधिकार में होने का उल्लेख है[1]। पं. गोरेलाल तिवारी ने अपने ग्रंथ **बुंदेलखण्ड का इतिहास** में इसे परमार राजाओं से गौंड राजाओं ने ले लिया था बतलाया है जो गौंड शासक संग्राम सिंह (1491–1541) के 52 गढ़ों में शामिल था[2]। वास्तव में यह एक प्राचीन एवं दर्शनीय दुर्ग है जो अपने भीतर लगभग 66 एकड़ भूमि समेटे हुए हैं तथा किले में 26 ऊंची–ऊंची बुर्जे बनी हुई हैं जिनमें सैनिकों का निवास रहता था[3]। दुर्ग में बादल महल, मोती महल इत्यादि भव्य इमारतें हैं, जो दर्शनीय हैं। जोगन बुर्ज भी एक प्रसिद्ध जगह है जहां से मृत्यु दंड पाने वाले अपराधियों को नीचे बीना नदी की चट्टानों पर ढकेल दिया जाता था। दुर्ग से लगभग 4 किलोमीटर ऊपर की तरफ बीना नदी का एक अत्यंत सुंदर जल प्रपात है जिसमें 50 फुट की ऊंचई से विशाल जलधारा एक बहुत बड़े कुंड में गिरती है। वर्षा ऋतु में यहां का नजारा देखते ही बनत है तथा यह अत्याधिक सुंदर है नेत्रों एवं हृदय

को आनंदित कर देने वाला होता है। यहीं से नदी के उस पार वन्य प्रदेश में परमार कालीन शिव मंदिर है जो अपनी स्थापन्य मूर्ति शिल्प का एक बेजोड़ नमूना है। ये सभी स्थान दर्शनीय एवं मनोहारी हैं। राहतगढ़ का दुर्ग बुंदेलखण्ड का ऐसा पहला किला है जहां क्रांतिकारियों और अंग्रेजी फौजों के बीच पहली बार भीशण संघर्श हुआ था। भोपाल रियासत के अंतर्गत गढ़ी अम्बा पानी के नबाव फजल मुहम्मद और आदिल मुहम्मद खां ने 1857ईस्वी के प्रारंभ में ही अवसर का लाभ उठाकर राहतगढ़ के किले और भूभाग पर कब्जा कर लिया था तथा इस किले में कई हजार क्रांतिकारी जमा हो गये थे जिनकी मदद आसपास के बहुत से राजे महाराज और जमींदार कर रहे थे जिससे अंग्रेजी सेना को झांसी की ओर बढ़ने से रोजा जा सके। अंग्रेजी फौज का कप्तान जनरल हयूरोज 6 जनवरी 1858 ई. को इंदौर महू से यहां के लिए एक विषाल सेना लेकर रवाना हुआ तथा 24 जनवरी 1858 ई. को अपने तोपखाने सहित राहतगढ़ किले के पास आ पहुंचा[4]। क्रांतिकारियों और अंग्रेजी सेना में भयंकर युद्ध हुआ। क्रांतिकारी किले के अंदर थे। जनरल ने अपने तोपचियों को हुक्म देकर किले के परिसर में बने हुए बावड़ियों इत्यादि में तोप के अंधा धुंध गोले बरसाये जिससे सारा जल जहरीला हो गया अतः क्रांतिकारियों को मजबूरी में किले के पीछे की दीवार में छेद करके भागना पड़ा और 29 जनवरी 1858 ई. को किले पर जनरल का अधिकार हो गया[5]। उसी दिन शाम को किले के मुख्य द्वार पर जनरल हयूरोज की आज्ञा से नवाब फजल मुहम्मद और 28 अन्य क्रांतिकारियों को फांसी पर लटका दिया गया ये सभी क्रांतिकारी अंग्रेजी सेना द्वारा पकड़ लिये गये थे। इस प्रकार राहतगढ़ के दुर्ग को यह गौरव प्राप्त है, जहां बुंदेलखण्ड में क्रांतिकारियों और अंग्रेजी सेना का प्रथम भीशण संघर्ष हुआ था।

बालाजी उनाव – दतिया से 17 किलोमीटर तथा झांसी से 11 किलोमीटर की दूरी पर झांसी उन्नाद मार्ग पर आमगांव में पार्वती नदी पर बालाजी का एक प्रसिद्ध पवित्र एवं प्रचीन तीर्थ है। यहां भगवान सूर्य का प्राचीन मंदिर तथा सूर्य प्रतिमा के 1/7 मीटर व्यास का गोल पत्थर का यंत्र स्थापित है। त्रिभुजों में सूर्य

के 21 स्वरूपों का प्रतिनिधित्व है। इसी के अनुरूप पेरू (दक्षिण अमेरिका) में सूर्य यंत्र है। इसका निर्माण काल छठवीं षती ईस्वी है। इसके निर्माणकर्ता का नाम अप्राप्त है। मराठा षासकों ने यहां का जीर्णोद्धार करवाया था। पार्वती नदी के कुंड में स्नान करने के पश्चात भगवान सूर्य की मूर्ति पर जल चढ़ाने से यहां कुष्ठ रोगियों एवं चर्मरोगियों को चमत्कारिक रूप से लाभ होता है[6]। यह एक पवित्र स्थान है जहां रविवार को मेला लगता है जिसमें दूर दूर से कुश्ठ रोगी और चर्मरोगी आकर स्वास्थ लाभ उठाते हैं।

चांदपुर – पुरातात्वक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध तथा चंदेलकालीन मंदिर समूह के लिए विख्यात चांदपुर का यह कस्बा झांसी बीना रेल खंड के धौर्रा स्टेशन से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित है यहां सहस्त्र लिंगेष्वर का प्राचीन मंदिर है जिन्हें हजारिया महादेव भी कहा जाता है। सामने मंडप में नंदी की प्रतिमा विराजमान है। विशाल शिवलिंग, विष्णु, सूर्य, गणेश, गौरी का सुंदर चित्रांकन है। पास में टराह की प्रतिमा है जिसमें वि.सं. 1205 अंकित हैं जो कि चंदेलषासक मदन वर्मा का षासन काल था। दक्षिण की ओर विष्णु मंदिर है। नरसिंह वामन तथा श्री रामचंद्र जी की दुर्लभ मूर्तियां उपलब्ध हैं। संपूर्ण मंदिर समूह पुरातत्व की अमूल्य धरोहर है। यहां रेलवे लाइन के पास जैन मुनि षांतिनाथ का मंदिर है। दूसरा मंदिर भी जैन मुनि आदिनाथ जी का है जिसमें कायोत्सर्ग का दृश्य है। पुरातात्विक दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है जिसे पर्यटन के लिए विकसित करना आवश्यक है जिससे लोग इन दुर्लभ मूर्तियों एवं मंदिरों को देख सके।

दुर्ग सेवढ़ा – दतिया जिला मुख्यालय से 64 किलोमीटर उत्तरपूर्व दिशा में सिंध नदी के तट पर यह दर्शनीय किला स्थित है[7]। नदी के तट पर परिसर में प्रसिद्ध और दर्शनीय शिव और कृष्ण मंदिर है। सिंध नदी यहां पर 30 फुट की ऊंचाई से प्रपात बनाकर गिरती है इसे सनकूप अथवा सन्कुवां प्रपात भी कहते हैं[8]। इस स्थान को प्राचीन काल में किन्नरगढ़ भी कहते थे। यह स्थान बुंदेलखण्ड का एक पवित्र स्थान माना जाता है। यहां ब्रह्मपुत्र सनकादिक ऋषियों ने तपस्या की थी इस कारण यह स्थान ऐतिहासिक महत्व के साथ–साथ एक प्रसिद्ध तीर्थ का रूप धारण कर चुका है। यहां वर्ष भर श्रद्धालुओं का आवागमन लगा रहता है। वर्षा ऋतु में इस स्थान का सौंदर्य देखते ही बनता है। सेवढ़ा दुर्ग भी दर्शनीय है इसे महाराज वीरसिंह देव बुन्देला ओरछा नरेश के वंशजों ने बनवाया था।

गढ़कुड़ार – जुझौति प्रदेश की प्रथम राजधानी थी। यहां का तिल्समी दुर्ग चंदेल शासकों ने बनवाया था। यह दर्षनीय दुर्ग है तथा 6 मंजिला राजमहल सदृश्य दुर्ग है जिसकी तीन मंजिलें भूमिगत है। ओरछा नरेश राजा वीरसिंह देव बुंदेला ने इस दुर्ग का नवीनीकरण करवाया था तथा ऊपर की मंजिल का निर्माण करवाया था। चंदेलों के पश्चात वर्ष 1182 ई. के पृथ्वीराज (राय पिथौरा) और चंदेलों के युद्ध में चंदेलों की पराजय के पश्चात गढ़कुड़ार सूबे पर चंदेलों के नायब सूबेदार खेतसिंह खंगार ने अधिकार करके खंगार राजवंश की नींव रखी थी[9]। खंगारों के शासन को वर्ष 1257 ई. में सोहनपाल, मुकुटमणि और पुष्पपाल बुंदेला ने अन्य विद्रोहियों को अपने साथ मिलाकर एक विश्वासघात पूर्ण छल के द्वारा खंगार राजवंश को समूल नष्ट करके सूबे और दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया था[10]। डॉ. वृंदावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास गढ़कुड़ार में इस राजवंश के प्रति किए गये षडयंत्र का पूरा विवरण दिया है।

कालिंजर दुर्ग

दुर्ग कालिंजर – विश्व प्रसिद्ध दुर्ग कालिंजर बांदा जिला मुख्यालय से 57 किलोमीटर की दूरी पर कालिंजर नामक एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। यह दुर्ग तलहटी से 213 मीटर ऊंचाई पर स्थित है। इस किले की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ दुर्ग अलेक्जेंडरिया से श्रेष्ठ स्वीकारी गई है। कर्नल टांड के अनुसार शकुन्तला दुश्यन्त के पुत्र सम्राट भरत ने चार दुर्गों का निर्माण कराया उसमें से एक कालिंजर था[11]। इस दुर्ग में सात द्वार हैं, जिनके नाम गणेश, चंडी, बुद्ध, हनुमान, आलमगीर, लाल और बड़ा द्वार है। महाभारत युद्ध के उपरांत पांडव नरेश युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित यहां के देव सरोवर एवं नीलकण्ठ मंदिर में स्नान एवं पूजा करने आये थे[12]। अति पवित्र तीर्थ स्थल भी है जहां अनगिनत विशाल एवं भव्य मूर्तियां स्थान–स्थान पर स्थापित है जो शिल्पकला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। कालभैरव की विशाल मूर्ति 32 फुट

कालिंजर दुर्ग

ऊंची एवं 17 फुट चौड़ी स्वर्गरोहण कुंड के दाहिनी ओर उत्कीर्ण है। कुल मिलाकर यह विश्व प्रसिद्ध प्राचीन दुर्ग अपनी सुंदरता में अद्वितीय है। शेरशाह सूरी इसी दुर्ग के घेरे के समय मई 1645 ई. जलकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था[13]। दुर्ग के प्रमुख दर्षनीय स्थल सीतासेज, सीताकुंड, ऋषि बावड़ी, भैरवकुंड, पातालगंगा, पांडवकुंड, बुड्ढा– बुढ़िया ताल, कोटितीर्थ, मृगधारा, देवहद, राजा अमानसिंह का महल इत्यादि हैं। पर्यटन की दृष्टि से भी यह एक अति सुंदर स्थान है।

बुन्देलखण्ड के ये पुरातात्विक स्थल पर्यटन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और यदि इन क्षेत्रों को पर्यटन के लिये और अधिक विकसित किया जावे, उन पुरातात्विक स्थलों तक अच्छे पहुंच मार्गों का निर्माण हो, वहां रात्रि विश्राम हेतु सुगम सरकारी विश्राम गृह एवं स्वच्छ पेय जल की व्यवस्था हो तथा सस्ते सुगम, आरामदायक पब्लिक ट्रांसपोर्ट इत्यादि का प्रबंध हो जाने पर अधिकाधिक संख्या में पर्यटक एवं टूरिस्ट वहां सैन करने के लिये अवश्य ही प्रेरित होंगे और हमारा बुन्देलखण्ड विश्व मानचित्र पर एक महत्वपूर्ण पर्यटन स्थल के रूप में विख्यात होगा। जबकि अभी केवल यह खजुराहो के विश्व प्रसिद्ध मंदिरों के लिये ही अधिक विख्यान है, प्रसिद्ध है।

संदर्भ

1 डॉ. काशी प्रसाद त्रिपाठी, बुन्देलखण्ड के दुर्ग, समय प्रकाशन नई दिल्ली 2005 ई. पृष्ठ 122
2 वही पृष्ठ – 122
3 वही पृष्ठ – 121
4 वही पृष्ठ – 124
5 वही पृष्ठ – 124
6 केशव प्रसाद गुरू, बुन्देलखण्ड के प्राचीन दुर्ग और गढ़ी, बुन्देली लोक साहित्य संस्थान, सागर (म.प्र.) 2013 ई. पृष्ठ– 87
7 वही पृष्ठ – 84
8 वही पृष्ठ – 84
9 डॉ. काशी प्रसाद त्रिपाठी, वही, पृष्ठ – 34
10 वही पृष्ठ – 34
11 केशव प्रसाद गुरू, वही पृष्ठ – 54
12 वही पृष्ठ – 54–55
13 डॉ. काशी प्रसाद त्रिपाठी, वही पृष्ठ – 148

28 "सुन्दरसी" एक पुरातात्विक पुरास्थल

डॉ. श्रीमती उषा तिवारी

शाजापुर जिले के कालीसिंधु रेल्वे स्टेशन से लगभग 5 किलोमीटर दूर सुन्दरसी ग्राम स्थित है। परमार काल में यहां समृद्ध नगरी आबाद थी। 1032 ई. में इसे परमार नरेश ने इस नगर को बसाया था। परमार युग में इस नगरी को सुन्दरगढ़ के नाम से जाना जाता था। जनश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य उज्जैन के राजा जो प्रजापालक, न्यायप्रिय परमार शासक थे, उनकी छोटी बहन सुन्दर बाई का विवाह शाजापुर स्थित सुन्दरगढ़ के राजा भगतसिंह के साथ हुआ था सुन्दरबाई धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी। राजा विक्रमादित्य ने इस स्थान को उज्जैन के समान, तीर्थ के रूप में बदल दिया था।[1]

सुन्दरसी में उज्जैन के महाकाल मंदिर की तरह, ही महाकाल का शिव मंदिर है। यह शिव मंदिर कालीसिंधु नदी तट पर स्थित है। इसके गर्भगष्ह के अंतराल में सभामण्डप बने हैं। गर्भगष्ह की पश्चिमी दीवार पर बने नाले में पार्वती एवं गणेश विराजमान हैं। गर्भगृह की सात शाखायें हैं। अंतराल की छत दो गोलाकार एवं दो चौकोर स्तंभों पर आधारित है। अंतराल सपाट है, शिखरविहीन है। सभामंडप चार अलंकृत स्तंभों पर आधारित है जो केंद्रीय छत को संभाले है। सभामंडप में शिवलिंग है गर्भगृह में अंधेरा है। इसके तीन द्वारों से हवा का समावेश होता है। अंतराल के दक्षिणी ओर एक स्तंभ में संस्कृत ब्राह्मी लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं। अभिलेख संवत् 1144 का है। मंदिर 11वीं शती ईस्वी के अंतिम समय का है।

मंदिर की दक्षिणी दीवार पर ब्रह्माणी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, इंद्राणी, चामुण्डा आदि सप्तमातृकाओं का अंकन है। ये सप्तमातृकायें संभवतः परवर्ती शासनकाल की हैं। गर्भगृह के द्वार तोरण के सिरदल के बीच गजासुर संहार की प्रतिमा अंकित है। नीचे अर्धवृत्ताकार चंद्रशिला है। द्वार के दोनों ओर दो–दो द्वारपाल अंकित हैं। मंदिर की भृत्ति दीवारों में नक्काशी के साथ मूर्तियां तराशी गई हैं। प्रांगण में गणेश, नंदी शिवमस्तक उमा माहेश्वर, नायिकायें, योग प्रतिमायें, दर्शनीय हैं। सुन्दरसी में शिव का ओंकारेश्वर मंदिर भी है जो महाकालेश्वर के पश्चिम में स्थित है। यह मंदिर 2.52 वर्गमीट में स्थित है। ओंकारेश्वर मंदिर में शिवलिंग स्थापित है। मंदिर की दीवारें सपाट हैं। पश्चिमी दीवार के आले में चारभुजी गणेश प्रतिमा विराजमान है। जो सिन्दूरी है। इसकी दीवार के आले में लकुलीश शिव प्रतिमा विराजमान है। पश्चिमी द्वार में प्रकाश एवं वायु प्रवेश हेतु गवाक्ष हैं। मंदिर का फर्श सीमेंट कंकरीट का है। मंदिर

के पश्चिमी भाग में सूरजकुण्ड है यह कुण्ड उज्जैन महाकालेश्वर मंदिर के अनुकरण पर बना है। इस मंदिर में जागेश्वर शिव महादेव मंदिर विद्यमान है इसमें गर्भगष्ह एवं एक मण्डप है। गर्भगृह में शिवलिंग है। गर्भगृह की दीवारें सपाट हैं। गर्भगृह की दक्षिणी दीवार पर माला का कटाव दर्शनयी है। छत में पूर्ण विकसित कमल का अंकन है। गर्भगष्ह 260 मीटर (वर्गाकार) है। मंडप की दीवारें भी अलंकृत विहीन हैं। मंडप के दक्षिणी भाग में नाग एवं नागिन की मूर्तियां हैं। नाग नागिन का ऊपरी भाग मानव जैसा एवं निचला भाग नाग नागिन जैसा है। इस मंदिर में एक सती की प्रतिमा है। मंदिर के सामने गरुड़ तथा उड़ते हुये गरुड़ अंकित हैं। सुन्दरसी पुरावैभव को प्रदर्शित करता है। यहां मनकामेश्वर शिव मंदिर भी दर्शनीय है। यह मंदिर ध्वस्त हो गया था जिसका पुनर्निमाण किया गया इस मंदिर में देवनागरी लिपि में एक स्तंभ लेख प्राप्त होता है। स्तंभ की सफेद कलर से पुताई कर दी गई है। अतः लिखावट अस्पष्ट है किन्तु अभिलेख 11वीं शती ईस्वी का है। यह मंदिर 40 वर्ष पूर्व बनवाया गया था।[2]

सुन्दरसी ग्राम के दक्षिण में परमारकालीन बावड़ी है। बावड़ी की दीवारों पर कई मूर्तियां उकेरी गई हैं। चतुर्भुजी विष्णु की खड़ी त्रिभंगी मूर्ति जिनकी चारों भुजाओं में शंख चक्र गदा पद्म है। बावड़ी भूमिज शैली में निर्मित है।सिंदुरसी के पश्चिम में तीन किलोमीटर की दूरी पर भैरव मंदिर विद्यमान है। भैरव मंदिर में केवल एक गर्भगृह एवं एक मंडप है। गर्भगृह में भैरव, प्रतिमा विराजमान है। लोगों ने इस प्रतिमा में भी सिंदूर का लेप चढ़ा दिया है। मंडप की छत 6 स्तंभों पर आधारित है। स्तंभ भी 11वीं शती ई. के लगभग के हैं। स्तंभ प्राचीन शिल्पपास्त्र के अनुरूप तराशे गये हैं। मंदिर के सामने अलंकृत स्तंभों से युक्त बरामदा है। दीवारों पर दुर्गा, शिव–रामेश्वर, गणेश की मूर्तियां अंकित हैं मंदिर में स्थित भैरव प्रतिमा उज्जैन महाकाल की भांति है। एवं चमत्कारिक है। भैरव प्रतिमा के हाथ में मदिरा पात्र है। बरामदे के सामने जैन चौमुखा है। जो जैन तीर्थंकरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में पद्यासन हैं। जैन मंदिर सुन्दरसी में 11वीं शती ई. में निर्मित किये गये जो खंडहर हो चुके हैं।

जैन मंदिर का द्वारपद, पद्यासन मुद्रा में अंकित है। यहां से प्राप्त पार्श्वनाथ की मूर्तियां जयसिंहपुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सुन्दरसी के पुरातात्विक मंदिर एवं भगनावशेष अतीत के वैभव को संजोये हैं। म.प्र. ने इनकी सुरक्षा के लिये राज्य संरक्षित स्मारक घोषित किया है।

सुन्दरसी में सती स्तंभ एरण के सती स्तंभ की तरह है। हूण हमले के दौरान एरण के राजा भानुगुप्त का सेनापति गुप्त संवत् 191 यानि 510 ईस्वी में हूणों से युद्ध करते हुये वीरगति को प्राप्त हो गया। उसकी प्रिय कांतायुक्त पत्नी पति की चिता के साथ सती हो गई। इस तरह सती प्रथा का जन्म पूर्व मध्यकाल में हो गया था। यहां दिसंबर के अंतिम सप्ताह एवं जनवरी के प्रथम सप्ताह में मेला लगता है। शाजापुर, आगरा, मुंबई, राष्ट्रीय राजमार्ग पर बसा है। सुनेरा ग्राम में शिव का सोमेश्वर मंदिर जिसमें मंदिर के ऊपरी तल में गणेश गौरी की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। ये भी परमार काल की है शाजापुर में पहुंचने के लिये बस मार्ग एवं रेल मार्ग दोनों हैं। शाजापुर के सुखेड़ी गांव में परमार कालीन शिव मंदिर प्राप्त होता है। जिसमें मातृशक्ति की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। इस क्षेत्र में सूर्य मंदिर भी उपलब्ध होता जो परमारकालीन है।[3]

संदर्भ ग्रन्थ –

1 शाजापुर युग – युगे, पृ. 5
2 मिश्र एवं भावसार – मालवांचल, शाजापुर, पृ. 25
3 जैन, के.सी. – मध्यप्रदेश थ्रू दि एजेज, पृ. 311

29 उज्जैन के ताम्रपाषाणिक पुरास्थलों का विश्लेषण

डॉ. प्रीति पाण्डे

प्रत्येक स्थान का अपना एक सांस्कृतिक वैभव होता है जिसके आधार पर उसकी पहचान होती है। यह सांस्कृतिक पहचान समय–समय पर हुये सामाजिक एवं सभ्यतागत परिवर्तनों का परिणाम होती है जोकि कई वर्षों के उतार–चढ़ाव एवं मूल्यों के आधार पर निर्मित होती है। इसी क्रम में उज्जैन का सांस्कृतिक वैभव भी अभूतपूर्व है। उज्जैन मध्यभारत में स्थित एक अति प्राचीन नगर है। ऐसा माना जाता है कि उज्जयिनी विश्व के उन प्राचीन केन्द्रों में आता है जहाँ मानव बस्तियाँ सर्वप्रथम बताई गई।[1] उज्जैन की सर्वाधिक विशिष्ट पुरातात्त्विक पहचान है। यहाँ कई ताम्राश्मकालीन केन्द्रों का पाया जाना। ताम्राश्मकालीन संस्कृति जिसका लगभग आधी सदी पूर्व भारतीय पुरातत्त्वविदों को संज्ञान ही न था उसके तीन प्रमुख ताम्राश्म सांस्कृतिक अनुक्रम यहाँ पाये गये और यह क्षेत्र भारत के ताम्रश्य केन्द्रों का प्रमुख स्थल हो गया।[2] उज्जैन के ताम्राष्म संस्कृति केन्द्रों में कायथा, नागदा, रूनिजा, महिदपुर एवं दंगवाड़ा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भी कई ऐसे स्थल हैं जहाँ सर्वेक्षण के दौरान ताम्राष्म अवशेष प्राप्त हुये हैं। इन सभी स्थलों के सांस्कृतिक चिन्हों का यदि तुलनात्मक एवं विश्लेशणात्मक अध्ययन किया जाये तो कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आ सकते हैं। उन केन्द्रों की अलग–अलग रिर्पोट छपी है किन्तु उज्जैन के पुरातात्तिक इतिहास में इन सभी केन्द्रों को जोड़कर नहीं देखा गया है। ताम्राश्म संस्कृति की उत्पत्ति एवं समाप्ति तथा आपस के अर्न्तसम्बन्धो जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर इन केन्द्रों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इस महत्वपूर्ण विषय का चयन किया है जिसे उज्जैन के गरिमामय सांस्कृतिक पुरातत्व को भी अनुशीलित किया जा सके। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि ताम्रपाशाण संस्कृति उस काल से सम्बंधित है जब मनुष्य प्रथम बार पाशाण एवं अस्थियों के अतिरिक्त उपकरण निर्माण हेतु किसी अन्य माध्यम की ओर आकर्षित हुये। इस माध्यम को पिघलाकर, ठोक–पीट कर मनचाही आकृति में परिवर्तित किया जा सकता था। यह माध्यम ताम्र अथवा तांबा धातु थी। ताम्र के प्रयोग से मनुष्य का उपकरण निर्माण करना आसान हो गया एंव उसकी प्रयोग विधि रूचिकर भी थी, किन्तु फिर भी सदियों से चली आ रही पाषाण से उपकरण निर्माण तकनीकी समाप्त नहीं हुयी एवं दोनों का प्रयोग कम अधिक साथ–साथ चलता रहा। उस काल को जब दोनों ताम्र एवं पाषाण का साथ में उपयोग हो रहा था उसे ताम्रपाषाण काल एवं उस संस्कृति को ताम्रपाषाण संस्कृति कहा गया।

भारतीय पुरातात्त्विक इतिहास में ताम्रपाषाण काल का विषेश महत्व है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि जैसे–जैसे हडप्पा सभ्यता अपने क्षेत्र में समाप्त हो रही थी वैसे–वैसे ताम्रपाषाण संस्कृति का अविर्भाव हो रहा था।[3] यद्यपि इन दोनों सभ्यता एवं संस्कृति के बीच का अर्न्तसम्बन्ध अभी पता करना शेष है। बहुत से उत्खननों ने प्रकाश डाला है कि ताम्रपाषाण संस्कृति में हड़प्पा सभ्यता के कुछ तत्व उपस्थित थे किन्तु फिर भी सम्पूर्ण ज्ञान के लिये अभी अनुसंधान एवं उत्खनन किये जाना शेष है।यह संस्कृति राजस्थान, मध्यप्रदेष, महाराष्ट्र आदि स्थानों में सघन रूप से पाई गई है। यद्यपि इसका विस्तार छुट–पुट रूप में अन्य स्थानों पर भी है किन्तु संस्कृति के केन्द्र बिन्दु यही स्थल हैं।

उज्जैन का क्षेत्रफल लगभग 6,031 वर्ग किमी है जोकि यहाँ की 6 तहसीलों खाचरौद, महिदपुर, घट्टिया, तराना, बड़नगर एवं उज्जैन में विस्तारित है। गेहूँ, बाजरा, चना, ज्वार एवं सोयाबीन यहाँ कि प्रमुख फसलें हैं यहाँ की मुख्य नदी क्षिप्रा है जोकि चम्बल नदी की सहायक नदी है। शिप्रा उत्तरवाहिनी है एवं इसनें तीन ओर से उज्जायिनी को घेर रखा है। इसी कारण इसका नामकरण भी हुआ है क्योंकि क्षिप्रा का अर्थ ही होता है कटि आभूषण उज्जैन के ताम्रपाषाणिक केन्द्रों की प्राप्ति प्रायः चम्बल अथवा नर्मदा नदियों अथवा उनकी सहायक नदियों के तट पर हुई है। उज्जैन जिले से प्राप्त प्रमुख केन्द्र नागदा एवं दंगवाड़ा, चम्बल नदी के तट पर कायथा, छोटी कालीसिंध नदी के तट पर एवं महिदपुर क्षिप्रा पदी के तट पर स्थित है।

कायथाः.–कायथा अथवा कापित्थक नगरी जोकि वराहमिहिर की जन्मस्थली के रूप में भी पहचानी जाती है मालवा पठार में 22.78^0 उत्तरी अक्षांश एवं 78^0 पश्चिम देशांतर में स्थित है यह चम्बल नदी की सहायक छोटी कालीसिन्ध नदी के तट पर स्थित है। उज्जैन से उज्जैन–मक्सी मार्ग पर लगभग 25 किलोमीटर पर स्थित है। एक समय पर यहाँ सागौन, पलाश आदि के जंगल थे जिसे काटकर ताम्रश्म संस्कृति के लोगों ने अपने रहने योग्य स्थान बनाया है इन वनों को काटकर कायथा के ताम्राष्म लोगों ने चावल एवं गेहूँ क्रमशः लगभग 1900 ई.पू. एवं 1600 ई.पू. के लगभग उगाए थे।[4] यहाँ पर उत्खनन तीन चरणों में 1964–68 के मध्य संपन्न हुआ। प्रथम दो चरणों में यह विक्रम विश्वविद्यालय के तत्वाधान में डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर जी के नेतष्त्व में हुआ एवं तीसरे तथा अंतिम चरण (1967–68) में दक्कन कॉलेज, पूना भी विक्रम विश्वविद्यालय के साथ जुड़ गया। पूना के डॉ. सांकलिया ने आर्थिक सहयोग के साथ अपनी एक टीम भेजी। जिसमें डॉ. ए.एन. अंसारी, डॉ. धवालीकर सम्मिलित थे। यहाँ पर उत्खनन गढ़ एवं टोडा टीले पर कराये गये। यहाँ पर कुल मिलाकर 6 खात लगाई गई। गढ़ टीले पर पश्चिमी दिषा में 40 फीट गहरी खात लगाई गयी। इसके दूसरे स्तर में सर्वप्रथम संस्कृति के चिन्ह मिलते हैं। इस स्तर के पात्र चित्रित लाल एवं काले प्रकार के थे। तष्तीय स्तर मालवा संस्कृति से सम्बंधित था। इस टीले की तीनों खातों में ताम्राश्म संस्कृति अचानक गायब होती दिखती है। ताम्राश्म पात्र परंपरा के बाद चित्रित धूसर पात्र (PGW) एवं पुनः उसके बाद (NBP) एवं उसकी सहयोगी पात्र परंपराओं के स्तर मिलते हैं। किन्तु ताम्राष्म पात्र परंपरा एवं PGW के बीच में 900 वर्षों का अंतर है। पुनः NBP के बाद ऐतिहासिक कालों का सांस्कृतिक क्रम भी यहाँ मिलता है। दूसरा टीला टोडा कहलाता है यहाँ का उत्खनन बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि यहाँ का पहला स्तर 2100 ई.पू. का कायथा संस्कृति कहलाया। यह खात (KTH-A-5) थी। यहाँ से ताम्र की चूड़ी एवं छड़ मिली और एक विशिष्ट प्रकार की पात्र परंपरा भी प्राप्त हुई। जिसे कायथा पात्र कहा गया।[5] यहाँ से प्राप्त दूसरा स्तर भी कायथा संस्कृति से

सम्बंधित है जोकि नये प्रकार के पात्र को अपना रहे थे ये पात्र चित्रित धब्बेदार काले एवं लाल पात्र, धूसर पात्र, धब्बेदार लाल पात्र एवं अत्याधिक पके हुये उत्कीर्णित लाल पात्र थे। ये काल लगभग 200 वर्श तक चला। तृतीय स्तर ताम्राश्म मालवा संस्कृति से सम्बंधित था। कायथा से प्राप्त पात्र न केवल अपने विभिन्नता एवं विशिष्टता के लिये जाने जाते हैं अपितु यहाँ से प्राप्त पात्र पर चित्रित चित्रों से भी कई सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन पात्रों पर ज्यामितीय चित्रण, प्राकषतिक चित्रण एवं पशु चित्र प्राप्त होते हैं। ज्यामितीय चित्रण में पंक्ति, पंक्ति एवं बिन्दु, बिन्दु चित्रण, लहरदार चित्र आदि हैं। पशु–पक्षी में हिरण, साभर, बैल, कुत्ता, चीता, मोर, बाज, आदि प्रमुख हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कायथा में मालवा की सर्वप्रथम धातु उद्योग स्थापित हुआ था।[6] कायथा संस्कृति से कुछ ताम्र की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। धातु को गलाकर स्थानीय रूप से ही वस्तुएँ बनाई जा रही थीं। कायथा के तृतीय स्तर से 5 इंच की ताम्र–छड़ प्राप्त हुई है। तृतीय सांस्कृतिक स्तर से ही कांसे की चूड़ी, एक छड़ जोकि मुड़ी थी, चांदी की अंगूठी,तांबे का तार एवं तार का गुच्छा, कर्णफूल आदि प्राप्त हुये हैं। टोडा टीले के एक घर से ताम्र के कई पुरावशेष प्राप्त हुये हैं जिसमें ताम्र के दो लोटे जिसके अन्दर ताम्र की चूड़ियाँ भी हैं महत्वपूर्ण है। संभवतः कायथा में हड़प्पा से विस्थापित लोग 2110 ± 110 ई.पू. के लगभग आये तथा कुछ समय बाद ही यहाँ पर दूसरी जनजाति के लोगों ई.पू. के लगभग आये तथा कुछ–कुछ समय बाद ही यहाँ पर दूसरी जनजाति के लोगों ने इन्हें आक्रमण करके पराजित किया। ये लोग अपने साथ विशिष्ट पात्र संस्कृति भी लेकर आये लगभग 290 वर्शों तक ये रहे इन्हें कायथा संस्कृति के रूप में पहचाना गया।[7] कायथा के पश्चात् यहाँ मालवा–जोर्वे ताम्रपाशाणिक संस्कृति के रूप में पहचाना गया। इस स्थल पर ये लोग लगभग 400 वर्ष रहे। इस काल में आग के कई जगह प्रमाण देखे गये। इसके बाद एक लम्बा अन्तराल देखा गया जोकि लगभग 900 वर्शों का था। पुनः 576 ई.पू. का एक (P.G.W.) एवं (N.B.P.) प्राप्त हुआ। यहाँ से ऐतिहासिक काल का प्रारंभ हुआ जोकि आधुनिक काल तक निरंतरता से पाया गया।

नागदाः.– नागदा चम्बल नदी के तट पर स्थित ताम्रपाषाण संस्कृति का एक केन्द्र है उज्जैन जिले का यह पुरास्थल उज्जैन से 47 कि.मी. दूर है। बम्बई दिल्ली रेलमार्ग पर यह स्थित है। नागदा रेल्वे स्टेशन से लगभग 1.6 कि.मी. उत्तर–पश्चिम में उत्खनित भाग स्थित है।है। यहाँ पर स्थित टीले की ओर सर्वप्रथम ए.वी. पंड्या ने 1945 में ध्यान आकर्शित कराया। पुनः वाकणकर जी के प्रयत्नों के बाद आर्कियोलॉजी सर्वे ऑफ इंडिया के तत्वाधान में एन.आर. बनर्जी के नेतृत्व में क्रमषः 1955–56 एवं 1956–57 के दो सत्रों में उत्खनन कार्य पूर्ण हुआ। नागदा के उत्खनन में लगभग 32 फीट (975.36 से.मी.) का उत्खनन किया गया जिसे तीन विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों में बांटा गया। काल प्रथम, काल द्वितीय एवं काल तृतीय। काल प्रथम काल लगभग 1500 ई.पू. से 800 ई.पू. का था। लगभग 50 वर्ष का एक अन्तराल मिलता है। यह लगभग 1 फीट 6 इंच (45.72 से.मी.) का है। इसके पश्चात् पुनः काल द्वितीय का सांस्कृतिक स्तर है जोकि लगभग 7 फीट 6 इंच (229 से.मी.) का है। इसका काल लगभग 750–500 ई.पू. माना गया है। काल तृतीय इसके तुरंत बाद है जोकि लगभग 8 फीट 6 इंच (259 से.मी) मोटा स्तर है। एक स्तर काल 500 से 200 ई.पू. निर्धारित किया गया है। इसमें से प्रथम काल ही ताम्रपाशाण संस्कृति से सम्बंधित है।

ताम्र अवशेषः– ये लोग ताम्र को जानते थे किन्तु कम मात्रा में, केवल 6 छोटे–मोटे पुरावशेष इस उत्खनन से प्राप्त हुये हैं जिसमें एक चूड़ी एवं कुछ ताम्र के मुड़े तार थे।

मृद्भाडः–इस काल के पात्रों पर काले अथवा बैंगनी रंग से चित्रित होते थे। ये चित्र प्रकृति,

ज्यामितीय आकृति, अथवा पशु आदि से होते थे। पात्रों के प्रायः कटोरे, प्लेट, जार, बेसिन गमला अथवा भण्डारण पात्रों के प्रारूप होते थे। नागदा की ताम्रपाषाणिक सभ्यता उत्तरकालीन है इस संस्कृति का प्रथम काल ही ताम्रपाषाणिक संस्कृति का केन्द्र था। इस संकृति की सर्वप्रमुख विशेषता यहाँ का विशाल रसोईघर है। इसकी माप (20 फीट × 20 फीट) के अनुसार ऐसा अनुमान है कि ये संयुक्त परिवार में विश्वास रखते थे। इस रसोईघर में चार चूल्हे थे। अनुमान है कि ये पूरे परिवार का खाना एक साथ बनाते थे। एक अन्य विशेषता के रूप में यहाँ मनके कई प्रकार के मिलते हैं जिनके अनुमान है कि यहाँ पर कोई छोटा–मोटा कारखाना रहा होगा। ताम्र का कम प्रयोग एवं लघुपाषाण उपकरणों की अधिकता यह स्पष्ट करती है कि इस स्थान की ताम्रपाशाण संस्कृति का यह केन्द्र कम विकसित एवं दूरस्थ रहा होगा।

दंगवाड़ाः– यह पुरास्थल 23^0 उत्तरी अक्षांश एवं $76^06'$ पूर्वी देशान्तर में स्थित है। उज्जैन जिले में स्थित यह पुरास्थल चंबल नदी के तट पर स्थित है। इस स्थल का उत्खनन विक्रम वि.वि. उज्जैन एवं पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग म.प्र. के संयुक्त तत्त्वाधान में किया गया यह उत्खनन तीन सत्रों में किया गया। 1978, 1979–80 एवं 1980–83 एल–आकार के टीले में 277 मीटर × 64 मीटर × 10.25 मीटर के क्षेत्र में उत्खनन किया गया। इस स्थल की ताम्रपाषाणिक संस्कृति तीन भागों में विभाजित है– **प्रथम कालः–** इसमें दो उपकाल हैं I(A) एवं I(B)I(A) अहाड़ संस्कृति हैं एवं I(B) मालवा संस्कृति है कायथा के भी दो स्तर यहाँ दिखते हैं (a) कायथा संस्कृति बिना अहाड़ संस्कृति के (b) कायथा संस्कृति, अहाड़ संस्कृति के साथ।

द्वितीय कालः–अहाड़ ताम्राश्म संस्कृति इस काल में पाई गई हैमालवा पात्र के कुछ पात्र जोकि लाल पात्र पर काले रंग से चित्रण कर हुये हैं इस काल में आते हैं।

तृतीय कालः– यह पाँच चरणों में विभाजित हैं–प्रथम काल में मालवा चित्रित पात्र एवं लाल पात्र पाये गये है तथा कुछ मात्रा में अहाड़ पात्र भी मिले हैं। द्वितीय काल में इस काल में मालवा पात्र, चित्रित काले एवं लाल पात्र पाये गये हैं। इन पात्रों में पशु–चित्रण भी किया गया है। तृतीय काल में लाल पात्रों पर, काले चित्रण वाले पात्र यहाँ पाये गये हैं जिन पर वृषभ, हिरण, एवं मानवीय आकृतियाँ चित्रित हैं। एक ढ़ाँचा जोकि स्तम्भ गर्तों पर निर्मित हैं एवं अण्डाकार आकृति का है। चतुर्थ काल में इसमें महत्वपूर्ण रूप से काले चित्रण वाले लाल पात्र आते हैं चित्रण में सूर्य की आकृति प्रभावी हैं। पंचमकाल में मालवा पात्र अचानक समाप्त होते हैं अनन्तर कालीन पात्र पूर्व मौर्य एवं मौर्य युगीन अवषेशों के साथ मिलते हैं।चंबल नदी के तट पर स्थित यह पुरास्थल इस दर्षिट से महत्वपूर्ण है कि यहाँ पर अहाड़ एवं मालवा संस्कृति का अनुक्रम भली भाँति स्थापित किया जा सकता है साथ ही इनके साथ–साथ मिलने वाले कायथा पात्र स्पश्ट करते हैं कि ये आपस में व्यापारिक सम्बंधों का भी निर्वाह कर रहे थे।

महिदपुरः–वर्तमान महिदपुर उज्जैन जिले में स्थित है जोकि मालवा के पठार में स्थित है। यह $23^029'$ उत्तर एवं $75^046'$ पूर्व में स्थित है। जिस टीले पर ताम्रपाषाण संस्कृति पाई गई है। उसे वहाँ की स्थानीय भाषा में भस्मटेकरी कहते हैं जोकि चम्बल नदी की सहायक क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित है। सर्वप्रथम पुरास्थल की ओर वाकणकर जी ने ध्यान आकर्शित किया था। पुनः ष्यामसुन्दर निगम जी ने भी संभावना व्यक्त की। जिसके आधार प्रो. रहमान अली ने अपने सहयोगियों के साथ विक्रम वि.वि. उज्जैन के तत्वाधान में यहाँ पर उत्खनन संपन्न किया। महिदपुर में तीन सत्रों में उत्खनन हुआ 1986–87, 1989–90 एवं 1998–99। इस उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों से यहाँ की ताम्रपाषाण संस्कृति 2000 ई.पू.

पायी गई हैं। कार्बन तिथियों के अनुसार इसे विशिष्ट सांस्कृतिक कालों में बाँटा गया है।

प्रथम काल (2100 ई.पू.–1800 ई.पू.):–ये लोग कहीं से विकसित सभ्यता के साथ यहाँ आये थे। ये लाल पात्र, चित्रित काले एवं लाल पात्र, अहाड़ के लाल पात्र तथा विशिष्ट लाल प्रलेप युक्त पात्र जिस पर सफेद रंग से चित्रण था बिल्कुल अलग पाये गये। इन पात्रों के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वे हड़प्पोत्तर कालीन किसी पुरास्थल से संपर्कित थे।

द्वितीय काल (1800 ई.पू.–1200 ई.पू.):–ये स्तर मालवा संस्कृति से सम्बंधित है यह संपन्नता का काल था यहाँ चार प्रकार के पात्र विकसित हो रहे थेमालवा पात्रों में लाल पात्रों पर बैंगनी अथवा काले रंग से चित्रण किया जाता था। चित्रण प्रायः उगते सूर्य, वक्ष, हिरन, नदी आदि का किया जाता था। ताम्र की छड़े मिली है जोकि संभवतः चूड़ियाँ बनाने के लिये उपयोग में लाई जाती थी। महिदपुर के उत्खनन में सर्वाधिक विशिष्ट तथ्य जोकि ताम्रपाषाणिक संस्कृति से जुड़ा है वह यह है कि स्वर्ण का एक पुरावशेषजोकि अण्डाकाराकर्षति में है, पाया गया है जिसमेछिद्र भी है छिद्र में धागा पिरोया जा सकता है। यह ताम्रपाषाणिक स्तर क्रमांक प्रथम से प्राप्त हैं। 4.550 ग्राम का यह शुद्ध स्वर्ण है।[8] इस प्रकार हम महिदपुर से एक ऐसी ताम्रपाशाणिक संस्कृति पाते हैं जोकि प्रायः आहाड़ एवं मालवा संस्कृति से सम्बन्धित है। यहाँ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता भिन्न प्रकृति के वृषद, दीपकों को बहुतायत प्रयोग एवं अद्‌भुत स्वर्ण निष्क का मिलना है। इन सभी आधारों पर महिदपुर एक महत्वपूर्ण ताम्रपाषाण सभ्यता का केन्द्र है।

रूनिजा :–रूनिजा रतलाम–इन्दौर रेल्वे लाइन में स्थित है। उज्जैन रतलाम मार्ग में लगभग 42 कि. मी. उज्जैन से दूर स्थित है। यहाँ पर उत्खनन 1981 में श्री वी.एस. वाकणकर जी के नेतृत्व में हुआ था जिसमें उनका साथ श्री एम.डी. खरे, डायरेक्टर संग्रहालय एवं पुरातत्त्व विभाग मध्यप्रदेश ने दिया था। यह उत्खनन विक्रम वि.वि. के तत्वाधान में हुआ था। ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों में सर्वाधिक निचले स्तर से कायथा पात्र मिलते हैं जिसे लगभग 2000 ई.पू. का माना गया हैं ये प्रथमकाल के हैं द्वितीय काल में अहाड़ संस्कृति प्राप्त होती है जिसकी तिथि लगभग 1800 ई.पू. माना गया है। पुनः तीसरे ताम्राश्म काल में मालवा संस्कृति मिलती है जिसके दो सांस्कृतिक स्तर मिलते हैं जोकि लगभग 1500 से 1100 ई.पू. के लगभग रखे जाते है। इसके बाद ऐतिहासिक काल प्रारंभ होता है। यहाँ से कायथा पात्र एवं वृषभ प्राप्त हुये हैं जबकि अहाड़ संस्कृति के चित्रित काले एवं लाल पात्र, धब्बेदार सलेटी पात्र भी मिलते हैं। मालवा ताम्राश्म सांस्कृतिक स्तर अत्यन्त मोटा एवं विशिष्ट है मालवा पात्र यहाँ, बड़ी मात्रा में यहाँ पाये गये हैं। इसीकाल में एक विशिष्ट पात्र परंपरा मिली है। वाकणकर जी ने इसे 'रूनिजा पात्र' कहा है।[9] यहाँ पर पात्रों के प्रारूप एवं चित्रण के आधार पर इन्हें गुजरात के उत्तरकालीन हड़प्पा सभ्यता के एवं जोर्वे पात्रों से साम्यता देखी जाती है।

इन बस्तियों में उन्हौंने संपन्न एवं अतिविशिष्ट संस्कृति की नीवं डाली जिसने उज्जयिनी को विश्वपटल पर एक नई पहचान दिलाई। निश्चित रूप से उज्जयिनी सांस्कृतिक समागम का एक विशिष्ट उदाहरण है। उज्जयिनी की संस्कृति का विश्लेषण प्रायः प्राचीनकाल में प्रद्योत युग (6ठी शताब्दीई.पू.) से किया जाता है। ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति के पता लगने के बाद उज्जैन की संस्कृति की उत्पत्ति में एक नवीन अध्याय जुड़ गया है। उज्जयिनी नगरी आज से लगभग 4 हजार वर्ष पूर्व ही ताम्रपाषाण संस्कृति के मनुष्यों को उपयोगी लगी एवं उन्होंने अपनी बस्तियाँ यहाँ पर बसा ली। उज्जैन जिले में इन

सभी केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य कई और भी ऐसे स्थल है जहाँ पर ताम्रपाषाण संस्कृति पाई गई है। ये सभी सर्वेक्षित हैं अथवा उत्खनित हैं किन्तु उनकी रिर्पोट अभी प्रकाशित नही है। यदि इन सभी केन्द्रों को समग्र रूप से देखें तो हम पाते हैं कि मालवा परिक्षेत्र में स्थित उज्जैन जिले में सर्वत्र एक से बढ़कर एक उत्कृष्ट ताम्रपाषाणिक केन्द्र स्थित हैं। अभी तक उत्खनित एवं सर्वेक्षित स्थलों के आधार पर हम पाते हैं कि उज्जैन में नदियों के तट पर इस संस्कृति के लोगों ने अपनी पृथक–पृथक बस्तियाँ बसाई थी। ये बस्तियाँ स्वरूप एवं गतिविधियों में प्रायः समकालिक एवं समान प्रवृत्ति की थी। ये सभी ग्रामीण जनजीवन से सम्बंधित थीं जहाँ पर कृषि कार्य प्रमुख व्यवसाय था नियंत्रित रूप में वस्तु–विनिमय एवं आदान–प्रदान के भी संकेत प्राप्त होते हैं। प्रायः ये अपने स्थलों में स्वतंत्र रूप से कार्यकलाप कर रहे थे एवं आत्मनिर्भर थे। के.सी. जैन के अनुसार भी ये सभी समान गतिविधियों में संलग्न थे किन्तु जो तथ्य उनमें विशिष्ट एवं पष्थक था वह था इनका पात्र निर्माण। पात्र निर्माण की दृष्टि से इन्होंने अत्याधिक विकास किया था इसमें उन्होंने उपयोगिता के साथ–साथ कला पर भी ध्यान दिया था यही कारण है कि इसे बनाने, पकाने, अंलकरण एवं चित्रण करने में सौन्दर्य का ध्यान रखा गया था। उन्होंने अपनी तकनीकी को पृथक एवं विशिष्ट रखा।

प्रश्न है कि मूलतः ये कहाँ से विस्थापित हो कर आये थे अथवा इनकी उत्पत्ति किससे है? यह अभी तक के अनुसंधानों के अनुसार एक अनसुलझा प्रश्न है। विस्थापन का प्रश्न इस कारण से उठता है कि ये यहाँ के मूल निवासी नहीं प्रतीत होते हैं। यदि ऐसा होता तो उनकी पात्र एवं धातु निर्माण में प्रयास एवं त्रुटि करे हुये पुरावशेष भी प्राप्त होते जोकि आधे बने एवं सीखने के स्तर से सम्बंधित होते किन्तु ऐसे नहीं था। वे एक विकसित एवं विशिष्ट पात्र परंपरा को साथ मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ये मूल निवासी नहीं विस्थापित थे। इनके पूर्वज कौन थे यहाँ पर कई मत हैं जिनके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दिये जा चुके हैं। व्हीलर के अनुसार ताम्रपाषाण संस्कृति के लोगों की उत्पत्ति हड़प्पा सभ्यता से हुई है।[10] इनके अनुसार जब प्राकृतिक एवं अन्य कारणों से हड़प्पा सभ्यता के लोग विस्थापित हुये तो उन्होंने मालवा एवं पूर्वी राजस्थान में बसने लगे। उन्होंने यहाँ की नदियों के किनारे अपनी बस्तियाँ बसानी प्रारंभ की। यही कारण है कि लगभग 2000 ई.पू. के आसपास जब हड़प्पा सभ्यता का पतन हो रहा था उसी काल में ताम्रपाशाण सभ्यता की बस्तियाँ यहाँ पर मिलना प्रारंभ होने लगती हैं। हड़प्पा सभ्यता का प्रभाव ताम्रपाशाण सभ्यता के सभी अवषेशों पर दिखाई देता है। जैसे कि पात्र निर्माण की समानता लगभग दोनों स्थानों पर दिखाई देते हैं। पात्र जो कि साधार पात्र एवं कुछ अन्य पात्र प्रकार नागदा एवं नावदाटोली से प्राप्त हुये है। ये हड़प्पा से साम्यता रखते हैं, जिसमें मालवा पात्र, क्रीम पात्र पर काले चित्रण वाले पात्र, लाल एवं काले चित्रित पात्र आदि ताम्र पाषाणिक केन्द्रों में लगभग सभी स्थानों पर मिले हैं। इसी प्रकार मिट्टी के वृषभ, ग्रेफिटी चिन्ह, मिट्टी की गेदें आदि ऐसी कई समानताऐं दोनों के मध्य मिलती हैं। लेकिन इन दोनों के मध्यम अटूट सम्बन्ध के ठोस प्रमाण नहीं मिलते हैं। सांस्कृतिक स्तरों में भी इनमें समानता न के बराबर मिलती है। इसी कारण जब तक इन दोनों के मध्य स्प्ष्ट सम्बन्ध न दिखे तब तक कुछ भी ठोस प्रकार से नहीं कहा जा सकता है।

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ताम्रपाषाण संस्कृति एक विशिष्ट ग्राम्य संस्कृति थी जिसका विस्तार यूं तो पश्चिमी, दक्षिणी एवं मध्यभारत आदि दिशाओं में था। किन्तु मध्यभारत के पश्चिमी भाग आदि में इस संस्कृति के कई संपन्न केन्द्र थे। इसमें भी उज्जैन एवं उसके आसपास तो यह संस्कृति अत्यंत

समुन्नत स्थिति में थी। उज्जैन के केन्द्रों में तो उसकी प्राचीनता विविधता एवं उत्कृष्टता अत्यंत उल्लेखनीय है। ये सभी केन्द्र समुन्नत एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। इस संस्कृति ने इस भूमि पर मोटा–मोटा लगभग 2000 ई.पू. से 700 ई.पू. तक अपना अस्तित्व बनाये रखा अर्थात् लगभग 1200–1300 वर्श तक यह सभ्यता विविध रूपों में अर्थात् कायथा संस्कृति, अहार संस्कृति, मालवा संस्कृति अथवा जोर्वे संस्कृति के रूप में विद्यमान रही और इसी कारण से इनके भौतिक अवशेष अथवा स्थापत्यिक ध्वंसावशेष हमें इतने विस्तृत रूप में मिले हैं। अपने इस काल विस्तार में उसने कई सांस्कृतिक अवदान दिये। उसके बनाये पात्र आगे आने वाली संस्कृतियों के लिये उदाहरण बने उन्हें उसी अथवा परिवर्तित रूप में आगे के काल में अपनाया गया। यद्यपि आज भी इस संस्कृति की उत्पत्ति एवं विस्थापन मार्ग के विषय में संदेह है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि अभी और अधिक उत्खनन, सर्वेक्षण एवं उनके विश्लेषण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह एक विस्तृत विषय है जिस पर निरंतर अनुसंधान के द्वारा नित नवीन निश्कर्श निकालते जा रहे हैं। संभावना है कि आगामी कुछ वर्षों में और अधिक परिणाम सामने आयें किन्तु यह एक निश्चित तथ्य है कि उज्जयिनी के सांस्कृतिक आयाम में यह भी एक पक्ष है जोकि आज से चार हजार वर्ष पूर्व उज्जयिनी के सांस्कृतिक गौरव की गाथा गा रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्मारिका; विश्ववेदसम्मेलन; लेखक– श्रीनिवास रथ ; पृ.स.–1
2. श्यामसुन्दर निगम; अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व ; 2004; पृ.स.– 15; प्रकाशक– कवेरी शोध संस्थान, उज्जैन
3. विक्रम स्मृति ग्रन्थ ; लेख–उज्जैन में उत्खनन; लेखक–गंगाधर मंगेश नाडकर्णी ; पृ.स.– 476
4. कायथा उत्खनन; पूर्ववत्; पृ.स. –1
5. पूर्ववत् ; पृ.स.– 1
6. पूर्ववत् ; पृ.स.– 48
7. पूर्ववत्–52
8. उज्जैन रीजनः महिदपुर; रहमान अली, त्रिवेदी, सोंलकी पृष्ठ सं.– 112
9. वी.एस. वाकणकर; लेख–रूनिजा उत्खनन–1981; प्राच्यप्रतिभा बिड्ला संस्थान; पृ.स.–29
10. व्हीलर : अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान; पृ.स, 125–126

30 अनूपपुर जिले के पुरावशेष

हीरा सिंह गोंड

मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड अंचल का शहडोल से नवगठित जिला अनूपपुर विन्ध्य श्रोणियों के मध्य 80°28, से 82°12, उतरी अंक्षाश से 22°28, से 24°20, के मध्य स्थित है। बिलासपुर कटनी मार्ग पर 3701 कि मी^{2} पर विस्तृत है। अनुपपूर जिलों से चार तहसीले है, किसी भी देश या प्रांत संस्कृति जीवन निर्वाह मे भौतिक संरचना एंव जलवायु की दशाओ की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राचीन काल से ही इस भूभाग पर प्रागैतिहासिक कालीन सरिताएँ सभ्यता के विकास का साक्षी रही है जिसमे नर्मदा प्राचीन रेवा, सोन, जोहिला केवई तिपान आदि। आदिम जाति के संस्कृतियों एंव पुरावशेषो की उद्‌भावना मे प्रमुख योगदान दिया है। अनूपपुर जिला प्रकृति पर्यावरण वनस्पतियां जल संशाधन कंद मूल,फल फूल एवं प्रस्तर खण्ड,वन्य पशुओ की बहुलता ने आदिम जनां को शिकारी जीवन के लिए आकृष्ट किया। प्रागैतिहासिक काल मे आदि मानव का जीवन सर्वथा असुरक्षित था जिससे वह सुरक्षा की दृष्टि से सर्वप्रथम पत्थरों का उपयोग उपकरण के रुप मे किया नदी तटवर्ती क्षेत्रो से अमरकण्टक,सोनमुडा,लालपुर, बिजौरी, धरहरकला, बसनिहा, राजेन्द्रग्राम, अनूपपूर दारसागर,गम्भीरवाटोला,छिडमिडी, कुकुरगोडा आदि कई क्षेत्रों से प्राप्त हुई है। स्पष्ट रुप से कह सकते है,कि विध्यं पर्वत के आस पास अमरकण्टक के जंगलो मे प्रागैतिहासिक मानव का निवास स्थल रहा होगा तथा इस क्षेत्र से शंख ताड प्रजाति के जीवाश्म राजेन्द्रग्राम करपा एवं मझौली क्षेत्र से प्राप्त हूए हैं। अनूपपुर जिला से प्रागैतिहासिक काल से लेकर एतिहासिक काल के पुरावशेष प्राप्त हुऐ है।

पुष्पराजगढ् तहसील : पुष्पराजगढ् तहसील 22°38,से 23°20, उतरी अक्षांश से 81°08, से 81°48, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है।इस तहसील मे कुल 119 ग्राम पंचायत है,अमरकण्टक, धरहाकला कोयलारी, गिरारी, करपा, अचलपुर, बेनीनारी, बघाडी, लालपुर, बिजौरी आदि।

अमरकण्टक : अनूपपुर जिला मुख्यालय से दक्षिण मे 60 किमी की दूरी पर 22°40, उतरी अक्षांश एवं 81°46, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। अमरकण्टक, सोनमूडा से पाषाण उपकरण कल्चुरी कालीन मन्दिर, मच्छेन्द्रनाथ मन्दिर, कर्ण मन्दिर, पातालेश्वर मन्दिर, केशवनारायण मन्दिर, इनके आलावा परवर्ती बघेल, मराठा काल के मन्दिर समूह है। ये मन्दिर समूह आयताकार अन्तराल, वर्गाकार गर्भगृह, त्रिरथ, पंचरथ, सप्तरथ योजना मे निर्मित है। तथा उडीसा मन्दिरों से साम्य रखते है। प्रतिमाओं मे शिव, विष्णु,

उमा महेश्वर, रुद्र महादेव, गणेश,कार्तिकेय,दुर्गा, राधा कृष्ण, बालाजी, सेवक सेविकाए, शिवलिंग, जलहरी, हाथी सवार, अश्व सवार, अराधना के मुद्रा मे मनुष्य जिसमे कल्चुरी सम्वत् 922 का लेख उत्कीर्ण है।

धरहरकलाः राजेन्द्रग्राम से 9 किमी की दूरी पर 23°50,उत्तरी अक्षांश से 81°35, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉसे पाषाण निर्मित कल्चुरी कालीन शिव मन्दिर एवं गंगा यमुना द्वारपाल ब्रम्हा, विष्णु, गणेश, भैरव, नरेश, अग्नि, वायु , नष्त्य गणेश, देवी पार्वती, चतुर्भुजी शिव, रूद्रशिव, सरस्वती, चामुण्डा, शिवलिंग सहित स्थापित है।

कोयलारीः राजेन्द्रग्राम से पश्चिम 30 किमी की दूरी पर 23°45,उत्तरी अक्षांश से 81°30, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से मन्दिर ध्वंशावशेष एवं प्रतिमाऍ विष्णु, गणेश, हरिहर, नायिका, गज शारदुल, नृसिह व्याल, सूर्य,नायक नायिका प्राप्त हुए है।

करपाः राजेन्द्रग्राम से पश्चिमोत्तर 35 किमी की दूरी पर 23°01,उत्तरी अक्षांश से 81°25, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से नारियल शंख एवं ताड प्रजाति के जीवाश्म प्राप्त हुए है,

अचलपुरः पुष्पराजगढ् तहसील से 12 किमी की दूरी पर 22°55, उत्तरी अक्षांश से 81°40, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है यहॉ से मन्दिर स्थापत्य खण्ड, आमलक, प्रतिमा वाहन के साथ एवं उमा महेश्वर की प्रतिमाऍ प्राप्त हुए है।

बेनीबारीः डिण्डौरी मार्ग मे पुष्पराजगढ् तहसील से 3 किमी दूरी पर 23° 55, उतरी अक्षांश से 81° 20, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है! ईट की मन्दिर अवशेष मुरलीधर कष्ण राधा, लट्टूगोपाल, सालिगंराम, जलहरी व नन्दी की प्रतिमाऍ प्राप्त हुए है।

बद्याडीः पुष्पराजगढ् तहसील से 15 किमी दूरी पर 23°55, उतरी अक्षांश से 81° 20, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर भाग्नावशेष, स्थापत्य खण्ड, प्रतिमा की धड, सिरदल, ब्रम्हा, विष्णु, शिव एवं नवगष्ह का अंकन गजसिह वयाल, हनुमान की प्रतिमाऍ प्राप्त हुए है।

लालपुरः राजेन्द्रग्राम से 30 किमी दक्षिण पूर्व मे 23° 15, उतरी अक्षांश से 81° 29, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से पाषाण कालीन उपकरण एवं उपकरण उद्योग प्राप्त हुए है।

2 अनूपपुर तहसीलः अनूपपुर तहसील व जिला मुख्यालय है यह 23° 06, उतरी अक्षांश एवं 81° 41, पूर्वी दमशांतर के मध्य स्थित है प्राप्त पुरावशेषो मे पाषाण कालीन औजार, सिक्के एवं बूढी माई, हनुमान व जैन मन्दिर प्राप्त हुए है। कुल ग्राम पंचायत 52 है, जिसमे बरबसपुर, पिपरिया, ब्रम्हनी, सेन्दूरी, कोडा, धुम्मा, लतार, बिजौडी, परसवार, धुरवासिन, सामतपुर, दुलहरा, कोटमी, सीतापुर, केल्हारी, सकरा, कदमटोला, पयारी, चचाई, हर्री, छलकारी, पडौर आदि से पुरावशेष प्राप्त हुए है।

बरबसपुरः अनूपपुर से 15 किमी उतर 23° 10, उतरी अक्षांश एवं 81°44, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है,दुर्गा एवं शिव मन्दिर, जैन प्रतिमाऍ लाल बलुआ पत्थर के बने अवशेष प्राप्त हुए है।

पिपरियाः अनूपपुर से 14 किमी पश्चिम 23°06, उतरी अक्षांश एवं 81° 44,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से मन्दिर भग्नावशेष प्राप्त हुए है।

ब्रम्हनीः अनूपपुर से 54 किमी पश्चिमोतर 23°13, उतरी अक्षांश एवं 81°47, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। पाण्डव वंशी ताम्र पत्र, शेषशायी विष्णु प्रतिमा, खण्डित मन्दिर अवशेष प्राप्त हुए है।

सेन्दूरीः अनूपपुर से 9 किमी पूर्व 23° 07, उतरी अक्षांश एवं 81° 45, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है।

विष्णु प्रतिमा, वराह अवतार व खण्डित प्रतिमाएँ प्राप्त हुए है।

कोडा: अनूपपुर से 5 किमी पश्चिम सोन नदी तट पर 23° 05, उतरी अक्षांश एवं 81° 45, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ मन्दिर भग्नावशेष, शिव, उमा महेश्वर, लक्ष्मीनारायण, गणेश, कार्तिकेय, ब्रम्हा, विष्णु, सिहं, नन्दी, सूर्य, शिवलिंग, भंषी ऋषी, दुर्गा प्रतिमाएँ प्राप्त हुए है।

धुम्मा: धुमा 23°13,उतरी अक्षांश एवं 81° 55,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर स्थापत्यखण्ड, स्तम्भ, घटपल, बलुआ पत्थर पर निर्मित प्राप्त हुआ है।

लतार: लतार फुनगा मार्ग मे 34 किमी पर 34° 06, उतरी अखांश एवं 81° 55,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है, मन्दिर स्थापत्यखण्ड, मानवाकृति प्रतिमा, पार्वती, शिवलिंग, नायिका प्रतिमाएँ प्राप्त हुआ है।

बिजौडी: बिजौडी 23°09, उतरी अक्षंश एवं 81°46,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर स्थापत्यखण्ड प्राप्त हुआ है।

परसवार: अनूपपुर से 15 किमी की दूरी पर 23° 07, उतरी अक्षांश एवं 81° 40,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर स्थापत्यखण्ड, स्तम्भ, शीर्ष, छह भुजी दुर्गा प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

धुरवासिन: अनूपपुर से उतर मे 26 किमी की दूरी पर 23° 07, उतरी अक्षांश एवं 81° 51, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है।यहॉ मन्दिर के भग्नावशेष, जगति, जघा, शिखर, आमलक, कलश एवं पॉच शिवलिंग व जलहरी स्थापित है।

समतपुर: अनूपपुर से 16 किमी उतर मे 23° 08, उतरी अक्षांश एवं 81° 42, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ मन्दिर भग्नावशेष, शिव, उमामहेश्वर, गरूणासीन, लक्ष्मीनारायण, गणेश, रथ सवार योध्दा प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है।

दुलहरा: अनूपपुर से 4 किमी की दूरी पर 23° 05, उतरी अक्षांश एवं 81° 42,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ शिव मन्दिर, जानकी मन्दिर एवं खण्डित प्रतिमाएँ प्राप्त है।

कोटमी: अनूपपुर से उतर पूर्व 17 किमी सोन नदी तट पर 23° 07, उतरी अक्षांश एवं 81° 52, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ विशाल मन्दिर के अवशेष लालबलुआ पत्थर से निर्मित प्रतिमाएँ ब्रम्हा, मालाधारी विष्णु , नृवराह व स्थापत्य खण्ड बिखरे है।

सीतापुर: अनूपपुर से 15 किमी मुख्य सडक पर 23° 09, उतरी अक्षांश एवं 81° 43, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ लाल बलुआ पत्थर से निर्मित विष्णु प्रतिमा एवं शिव व विष्णु मन्दिर प्राप्त हुआ है।

केल्हारी: अनूपपुर से 28 किमी की दूरी पर 23° 11, उतरी अक्षांश एवं 81° 39, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ लाल बलुआ पत्थर से निर्मित प्रतिमाएँ ब्रम्हा, विष्णु ,उमामहेश्वर, लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय, शिवगण, चक्रपुरुष, गरुण, सेवक सेविकाएँ प्राप्त हुए है।

सकरा: अनूपपुर से 15 किमी की दूरी पर 23° 05 उतरी अक्षांश एवं 81° 38 पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित यहॉ शिव मन्दिर प्राप्त हुआ है।

कदमटोला: अनूपपुर से 26 किमी दूरी पर 23° 12, उतरी अक्षांश एवं 81° 52, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ अधिक मात्रा मे मन्दिर शिलाफलक प्राप्त होते है।

पयारी: अनूपपुर से 26 किमी पूर्व मे 23° 11, उतरी अक्षांश एवं 81° 53,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है, यहॉ हनुमान मन्दिर एवं कलचुरीक लोग प्रतिमा प्राप्त हुई है।

चचाई: अनूपपुर से 24 किमी पश्चिम 23°09,उतरी अक्षांश एवं 81° 40, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित

है, यहॉ राम दरबार मन्दिर, हनुमान मन्दिर, शिव मन्दिर, काली मन्दिर, गणेश मन्दिर एवं प्रतिमाऍ प्राप्त हुऍ है।

हर्री: अनूपपुर से 5 किमी पूर्व 23° 09,उतरी अक्षांश एवं 81° 44, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है, यहा गायत्री मन्दिर, राधा कृष्ण मन्दिर एवं लाल बलुआ पत्थर से निर्मित प्रतिमाॉऍ उमा महेश्वर, नृसिह, विष्णु, सूर्य, नायक नायिका दो जैन तीर्थंकर की प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

छलकारी: अनूपपुर से 26 किमी दूरी पर 23° 08, उतरी अक्षांश एव 81° 47,पूर्वी देषांतर के मध्य स्थित है। शिव मन्दिर पर शिवलिंग एवं नन्दी स्थापित है।

3 जैतहरी तहसील: अनूपपुर से पूर्व 16 कि मी की दूरी पर 22° 52, उतरी अक्षांश एवं 81° 40, पूर्वी देशान्तर के मध्य अवस्थित है।यहां से प्राप्त पुरावशेषो मे ब्रम्हा, विष्णु , उमामहेश्वर, लकुलीश, गणेश, कार्तिकेय, चतुर्भुजी गणेश प्रतिमा, भषी ऋषी एवं ईट निर्मित मन्दिर पुरावशेष प्राप्त है। जैतहरी तहसील मेकुल 80 ग्राम पंचायत है, जिसमे अमगवॉ, सुलखारी, पोंडी, कदमसरा, खालबहरा, सिवनी, उमरिया, मनौरा, चोरभठी, पंगना, कल्यानपुर, लहरपुर, धनगवां, चोलना, सोनमोहडा, कुकुरगोडा, पचौहां, मौहरी,ढोडीपानी, आदि से पुरावशेष प्राप्त हुए है।

अमगवॉ:जैतहरी से 8 किमी उतर दिशा मे 23° 06, उतरी अक्षांश एवं 81° 47, पूर्वी देशांतर मे अवस्थित है। यहॉ मन्दिर के भग्नावशेष, शिवलिंग, शिव, पार्वती प्रतिमा रखी है।

सुलखारी: जैतहरी के दक्षिणी पूर्व मे 22° 58, उतरी अक्षांश एवं 81° 58, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। प्रस्तर प्रतिमा कीर्तिमुख, मुखाकृति देव मस्तक लाल बलुआ पत्थर के बने है, विष्णुधड, भैरव आदि मन्दिर स्थापत्यखण्ड, आमलक, कलश, स्तम्भ प्राप्त हुआ है।

पोडी:चोलना से 7 किमी उतर 22° 55, उतरी अक्षांश एवं 81° 49, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर स्थापत्यखण्ड, स्तम्भ व देवाकृति प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

कदमसरा: जैतहरी से 30 किमी वेनकटनगर मार्ग पर 22° 56, उतरी अक्षांश एवं 81° 55, पूर्वी देशांतर पर स्थित है। यहॉ से हनुमान प्रतिमा,नन्दी व शिवलिंग प्राप्त हुआ है।

खालबहरा: जैतहरी से 13 किमी दक्षिण मे 22° 58, उतरी अक्षांश एवं 81° 56, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ प्राचीन मन्दिर के स्थापत्यखण्ड, कलश प्राप्त हुआ है।

सिवनी: जैतहरी से 3 किमी दक्षिण मे 23° 03, उतरी अक्षांश एवं 81° 49, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ मन्दिर भाग्नावशेष, अश्वारोही प्रतिमा, देवी प्रतिमा, नृसिंह विद्याधर व खण्डित प्रतिमाऍ प्राप्त हुए है।

उमरिया: जैतहरी से 22 किमी पूर्व 23° 01, उतरी अक्षांश एवं 81° 56,पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। मन्दिर स्थापत्यखण्ड, हनुमान व देवी प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

मनौरा: जैतहरी से 9 किमी दक्षिण मे 22° 59, उतरी अक्षांश एवं 81° 50, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ तीन प्रतिमा दुर्गा, विद्याधर एवं सिंह प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

चोरभठी: जैतहरी से दक्षिण पश्चिम 11 किमी दूरी पर 22° 59, उतरी अक्षांश एवं 81° 51, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ विष्णु प्रतिमा का अधोभाग, आयुध चक्र खण्डित, युगल प्रतिमा, मालाधारी विद्याधर एवं खण्डित प्रतिमाऍ प्राप्त हुए है।

पंगना जैतहरी से 8 किमी पश्चिम की ओर 23° 03, उतरी अक्षांश एवं 81° 45,पूर्वी देशांतर के मध

य स्थित है। यहॉ से विष्णु प्रतिमा, चतुर्भुजी विष्णु, लक्ष्मी नारायण की खण्डित प्रतिमा, विद्याधर, युगल, ब्रम्हा, शिव एवं खण्डित प्रतिमाऍ प्राप्त हुआ है।

कल्याणपुर:जैतहरी से 10 किमी पूर्व मे 23° 01, उतरी अक्षांश एवं 81° 51, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष स्थापत्य खण्ड, अलकष्त, स्तम्भ सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा चतुर्भुजी देवी, मानवाकृति प्रतिमा एवं स्थानक विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

लहरपुर:जैतहरी से 5 किमीउतर पूर्व 23° 04, उतरी अक्षांश एवं 81° 48, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। मन्दिर स्थापत्य खण्ड शिव पार्वती प्रतिमा, उमामहेश्वर, शिवगण, विद्याधर, नन्दी, शिवलिंग, खण्डित जटामुकुट शिव एवं उमामहेश्वर प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

धनगवां:जैतहरी से 5 किमी पूर्व 23° 02, उतरी अक्षांश एवं 81° 51, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ हनुमान मन्दिर स्थापत्य खण्ड, उमााहेश्वर प्रतिमा वाहन नन्दी, सिहं एवं शिवगण, गणेश, व्याल आकषति, विद्याधर, खण्डित विष्णु धड, चक्र, वराह एवं नषसिह अवतार प्राप्त हुआ है।

चोलना:जैतहरी से 20 कि मी पूर्व मे 23° 05, उतरी अक्षांश एवं 81° 55, पूवर्ह देशांतर के मध्य स्थित है। पाषाण उपकरण, मन्दिर स्थापत्य खण्ड, अलंकष्त एवं सादे, खण्डित अवशेष एवं विष्:ु प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

सोन मोहडा:चोलना से 3 किमी दूर सोन केवई के संगम पर 23° 09, उतरी अक्षांश एवं 81° 47, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ मन्दिर भग्नावश, लक्ष्मी, नारायण प्रतिमा, पार्श्व मे सिहं, गज ब्याल नीचे वाहन गरुण मानव रुप मे, रावणानुग्रह खण्डित प्रतिमा, शिव पार्वती वाहन सिह, नन्दी, गणेश, कार्तिकेय, उमामहेश्वर, चतुर्भुजी गणेश, मानव आकषति,खण्डित सिर स्त्री प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

कुकुरगोडा:चोलना से 5किमी पश्चिम दिशा मे अवस्थित है। यहॉ सोन नदी की सहायक नाला के तटवर्ती क्षेत्र से पाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुआ है।

पचौंहा:जैतहरी से पूर्व मे 6 किमी दूरी पर 23° 04, उतरी अक्षांश एवं 81° 50, पूर्वी देशांतर के मध य अवस्थित है, प्रतिमा का खण्डित अवशेष, गणेश, मुखाकषति प्राप्त हुआ है।

मौहरी:जैतहरी से 5 किमी उतर 23° 08, उतरी अक्षांश एवं 81° 46, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ मन्दिर स्थापत्य खण्ड, अश्वारोही प्रतिमा, अलंकष्त स्तम्भ व शिवलिंग प्राप्त हुआ है।

ठोढीपानी:जैतहरी से 12 किमी दक्षिण 22° 57, उतरी अक्षांश एवं 81° 45, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ एतिहासिक कुऑ के अवशेष प्राप्त हुआ है।

4 कोतमा तहसील :कोतमा तहसील जिला अनूपपुर से उतर पूर्व 43 किमी की दूरी पर 23° 05, से 23° 25, उतरी अक्षांश एवं 81° 48, से 82° 14, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। कुल 31 ग्रम पंचायत है, खोडरी1, खोडरी2, दारसागर, गम्भीरवाटोला, सोहीबेलहा, छिडमिडी, हर्री, उरा, चुकान, सेमरा, माटीसरई, बिजहरटोला, समनाटोला, जर्राटोला, उमरदा, नवाटोला, निगवानी, जमुनिहा, देवगवां, भाद, बन्दीछोर आदि से पुरावशेष प्राप्त हुए है।

खोडरी1:कोतमा बिजुरी मार्ग पर 23°12, उतरी अक्षांश एवं 82° 04 पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहां पाषाण कालीन उपकरण एवं शैलकृत गुहावास्तु पर स्थापित शिवलिंग, गणेश चतुर्भुजी, गणेश, कृष्ण, मातृदेवी की प्रतिमाए एवं दीवार पर शिव, सूर्य, शिवगण, गज की आकृतिया उत्कीर्ण है।

खोडरी 2: खोडरी कोतमा से 8 किमीदक्षिण मे स्थित है। यहा से हनुमान मन्दिर मे हनुमान प्रतिमा

व शिवलिंग स्थिापित है।

दारसागरः अनुपपुर से पूर्व 42 किमी की दूरी पर 23° 13, उतरी अक्षांश एवं 81° 60, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। पाषाण उपकरण, मन्दिर के भग्नावशेष एवं खण्डित प्रतिमाए प्राप्त हुए है।

शिवलहराः दारसागर से 5 किमी पश्चिमोतर शिवलहरा नामक स्थान से पाषाण उपकरण, पाच शैलकृत गुहावास्तु मे मौर्य ब्रम्ही अभिलेख, गुप्ता ब्रम्ही अभिलेख एवं शंख लिपि, विष्णु , शिव, पार्वती, शिवलिंग व खण्डित प्रतिमा स्थिापित है, और दीवारो पर चन्द्रमा सप्तमात्रिकाऍं, मातृदेवी, हनुमान, मानवाकृति, मयूर या शुतुरमुर्ग, योगी पुरुष, पक्षी, हाथी सवार उत्कीर्ण है।

गम्भीरवाटोलाः दारसागर से 2 किमी पश्चिम केवई नदी के बाये तट पर स्थित है, पाषाण उपकरण एवं उत्खनन से प्राप्त मष्दभाण्ड, मृण्डमूर्ति, स्लिगं बाल, मण्डलकूप, सिक्के, मनके,सिल बट्टे, ईटें, हाथी दॉत की चूॅडियॉ, अंजनशलाका, लौह आदि पुरावशेष प्राप्त हुए है।

छिडमिडीः दारसागर से पूर्व 4 किमी बाकी नदी किनारे 23° 06, उतरी अक्षांश एवं 82° 00, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से पाषाण उपकरण, शिव प्रतिमा, मृदभाण्ड, स्टॉपर, मण्डलकूप प्राप्त होते है।

हर्रीः सेमरा से 3 किमी पश्चिम में 23°13,उतरी अक्षांश एवं 82° 04, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ सूर्य प्रतिमा व अन्य खण्डित प्रतिमा अवस्थित है।

उराः डढई बहरा से 8 किमी पश्चिम में 23° 11, उतरी अक्षांश एवं 82^0 02, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ से मन्दिर के बिखरे अवशेष प्राप्त हुए है।

चुकानः बरतराई से 4 किमी पश्चिम मे 23° 06, उतरी अक्षांश एवं 82° 03, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ मन्दिर के शिलाखण्ड विद्मान हैं, व शिव प्रतिमा, सेविका, देवीगोद मे लिए बच्चे की प्रतिमा प्राप्त हुए है।

सेमराः फुलकोना से 6 किमी उतर मे 23° 12, उतरी अक्षांश एवं 82° 05, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है।यहॉ प्राचीन मन्दिर के स्थापत्यखण्ड बिखरे पडे है।

माटीसरईः मलगा से 3 किमी उतर मे 23° 08, उतरी अक्षांश एवं 82° 07, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ से शिव पार्वती की खण्डित मस्तक प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

बिजहर टोलाः कोतमा से 30 किमी की दुरी पर 23° 15, उतरी अक्षांशएवं 81° 52, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ से मन्दिर की भग्नावशेष, उमा महेश्वर की प्रतिमा व खण्डित प्रतिमा अवशेष प्राप्त हुए है।

समनाटोलाः लहसुना से 3 किमी पश्चिमम मे 23° 16, उतरी अक्षांश एवं 82° 12, पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ से मन्दिर शिला फलक व नदी प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

जर्रा टोलाः कोतमा बिजुरी मार्ग पर 25 किमी दूरी पर 23° 22, उतरी अक्षांश एवं 82° 01, पूर्वी देशांन्तर पर अवस्थित है। मन्दिर अवशेष, अलंकृत स्थापत्य खण्ड एवं दसभुजी दुर्गा प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

उमरदाः कोठी मार्ग पर 23° 21, उतरी अक्षांश एवं 82° 05, पूर्वी देशांतर पर अवस्थित है। यहॉ से सती स्तम्भ व उपर सूर्य चक्र का अंकन है।

नवाटोलाः कोटमी बिजुरी मार्ग पर 23° 16’ उतरी अक्षांश एवं 82° 06’ पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित

है। मन्दिर समूह, स्थापत्य खण्ड प्रतिमाए, नन्दी प्रतिमा, शिवगण एवं सती स्तम्भ प्राप्त हुआ है।

निगवानी: कोतमा रोड पर 23° 18, उतरी अक्षांश एवं 82° 01, पूर्वी देशांतर पर स्थित है। यहॉ बिखरी हुई मन्दिर अवशेष प्राप्त हुए है।

जमुनिहा: कोतमा केशवाही मार्ग से 2 किमी पर 23° 15, उतरी अक्षांश एवं 81° 54' पूर्वी देशांतर मे अवस्थित है। यहॉ से मन्दिर स्थापत्य खण्ड, महेश्वरी एवं उपासिका की खण्डित प्रतिमा प्राप्त है।

देवगवां: कोतमा केशवाही मार्ग से 30 किमी दूरी पर 23° 14' उतरी अक्षांश एवं 81° 55' पूर्वी देशांतर के मध्य अवस्थित है। यहॉ प्रस्तर खण्ड पर देव प्रतिमा प्राप्त है।

भाद:कोतमा तहसील से 15 किमी पश्चिमोतर दिशा की ओर भेडवा नदी के पास 23° 07, उतरी अंक्षांश एवं 82°01, पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। यहॉ मन्दिर शिला फलक, स्तम्भ, आमलक एवं खण्डित प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

बन्दीछोर: भाद से 2 किमी पश्चिम मे तलाब के किनारे मन्दिर अलंकृत शिलाफलक व फलक पर उत्कीर्ण मूर्तियॉ मानवाकृति, गणेश प्रतिमा प्राप्त हुआ है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 गजेटियर ऑफ इंडिया, मध्यप्रदेश शहडोल, भोपाल 1994
2 शर्मा, राजकुमार, मध्यप्रदेश का पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ, भोपाल 1974
3 इण्डियन आर्कियोलाजी ए रिव्यू
4 कंनिघम, आर्क्यिालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिर्पोटस्
5 कूसेन्स एच, लिस्टस ऑफ एन्टिक्वेरियम रिमेन्स इन द सी पी एण्ड बरार, कलकता 1987
6 बैनर्जी, आर डी, द हैहयाज ध्न ऑफ त्रिपुरी एण्ड देयर मोन्युमेण्टस् , कलकता 1931
7 मालपानी, जे एन, अनूपपुर जिले का पुरातत्व,भोपाल 2009

31 अन्वेषण में सोडलपुर से प्राप्त प्रतिमाएँ

डॉ. जिनेन्द्र जैन

सोडलपुर नामक ग्राम मध्यप्रदेश के हरदा जिले की रहटगॉव तहसील में स्थित है। उक्त ग्राम के लिए भोपाल–मुम्बई रेल मार्ग पर भोपाल से 168 किमी. पर हरदा, हरदा से 23 किमी. सड़क मार्ग से पहॅचा जा सकता है। हरदा जिले में नर्मदा नदी के साथ ही अजलान, काजल, गंजाल,माचक, सयानी सहित कई अन्य छोटी–छोटी नदियॉ भी सहायक नदी के रूप में प्रवाहित होती हैं। इस क्षेत्र में अजलान नदी प्रवाहित है। इस क्षेत्र के धमासा, छिदगांव तथा रायबोर में प्रागैतिहासिक औजार प्राप्त हुए हैं।[1] पौराणिक प्रमाणों के अनुसार ई. पू. चौथी शताब्दी में मौर्यों के पूर्व नन्द राजाओं का इस क्षेत्र पर अधिकार था।[2] नंद वंश के बाद मोर्य वंश ने इस क्षेत्र पर शासन पर शासन किया। इस क्षेत्र में अशोक का पानगुडरिया का अभिलेख इसका प्रमाण है। मौर्य वंश के बाद यह क्षेत्र शुग, सातवाहन, अभीरों व वाक टकों के अधीन रहा। दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने अपने उत्कर्शकाल में कुछ समय तक संपूर्ण होशंगाबाद व हरदा पर अपना सीधा कब्जा बनाए रखा।[3] भोपाल, विदिशा, होशंगाबाद व हरदा सहित विशाल क्षेत्र परमार राज्य का दक्षिणी–पूर्वी भाग था। इस वंश के राजाओं का ईसा की 9वीं शताब्दी तक उत्कर्ष काल था। प्रतिहार साम्राज्य के अंतिम रूप से विघटन के पूर्व मालवा तथा कुछ आस–पास के इलाके परमारों के शासनाधीन आ गए थे, जो संभवतः राष्ट्रकूटों के सामन्तों के बतौर थे। राजा भोज के पष्चात परमार वंश की प्रतिष्ठा तथा शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि उनके शासक नाम मात्र के महाकुमार कहलाने लगे। भोज के उत्तराधिकारियों में सर्वाधिक प्रतिभाशाली शासक राजा उदयदित्य (1080–86) था, जिसके द्वारा निर्मित उदयपुर (विदिशा जिले में) का मंदिर कला तथा वास्तुकला दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठकृति हैं।

एक ऐसा राजकुमार उदयवर्मन था, जिसकी भोपाल के वि.सं.1256–(1199ई.) की सनद में होशंगाबाद जिले (हरदा) के उस स्थान का उल्लेख है जो इस बात का निर्णायक प्रमाण है कि वह परमारों के अधिपत्य में था। हरिशचंद्र के पुत्र महाकुमार उदयवर्मन द्वारा जारी किए गए उक्त शिलालेख में विंध्यमंडल में नर्मदापुर प्रतिजागरणक में गनौरा नामक ग्राम के दान में दिए जाने का उल्लेख हैं, जिसे महाकुमार ने नर्मदा में गौड़घाट में स्नान करने के पष्चात दान में दिया था। फ्लीट तथा अन्य इतिहासकारों ने गुनौरा, गौड़घाट तथा नर्मदापुर की शिनाख्त क्रमशः होशंगाबाद के गौरिया, सीहोर जिले के गनौरा तथा होशंगाबाद के रूप में की है।[4]

सोडलपुर ग्राम से प्राप्त परमारकालीन मूर्तियॉ

शिव:– शिव सुखासन मुद्रा में बैठे हुए हैं। शिव–रत्न के अनुसार शिव की सुखासन प्रतिमा में उनका वॉया पैर मुड़ा हुआ हो एवं दाहिना पैर नीचे लटका हो, प्रतिमा चतुर्भुजी हो, व नेत्र तीन हो।[5] इस आधार पर यह प्रतिमा सुखासन में शिव की हैं। इस प्रतिमा में शिव की भुजाऍ क्षतिग्रस्त हो गईं हैं। प्रतिमा के सिर पर जटा मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार, कटि मेखला, भुजबन्ध व पादवलय धारण किए हुए हैं। प्रतिमा कला शैली के आधार पर 10 वीं शती ईसवी की प्रतीत होती है। ऊचाई–112 सेमी,चौडाई–67 सेमी.,मोटाई–26 सेमी है।

शिव, परमारकालीन

नृसिंह प्रतिमाः–यह प्रतिमा विष्णु के दशावतार अवधारणा के चौथे अवतार नृसिंह की है। प्रतिमा का मुँह सिंह व षेश शरीर मानव रूप में है। नृसिंह बारह भुजाधारी हैं जो भग्न हो चुकीं हैं। नृसिंह अपने वॉये पर हिरण्यकृयप को रखकर उसका उदर विदारण कर वध कर रहे हैं। हिरण्यकृयप भी भग्न हो गए हैं। प्रतिमा प्रभामण्डल युक्त है। नृसिंह गले में हार, व माला, कटिमेखला, भुजबन्ध, व पादवलय धारण किए हुए हैं। परिकर में ऊपर वायें शिव व दायें ब्रह्मा का अंकन हैं। पैरों के नीचे प्रहलाद भक्ति कर रहे हैं। एक अन्य भक्त भी सेवा में है। यह प्रतिमा वैखानस आगम अनुसार निर्मित की गई है। अन्य शास्त्रों में नृसिंह की दो, चार, आठ भुजाएँ बताई गई हैं, एवं विष्णु के सभी आयुध धारण किए रहतें।[6] ऊचाई 112 सेमी. चौडाई–77 सेमी.,मोटाई–26 सेमी. है।

नृसिंह प्रतिमा

उमा–महेश्वर

उमा–महेश्वरः– शिव के उमा–महेश्र स्वरूप का विवरण विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं रूप मण्डन में प्राप्त होता है।[7] इस प्रतिमा में शिव पार्वती ललितासन मुद्रा में आलिंगनरत प्रदर्शित हैं। शिव चर्तुभुजी व पार्वती द्विभुजी हैं। पार्वती शिव की बॉयी जॅघा पर बैठी हैं। शिव के ऊपरी दायें हाथ में त्रिशूल पकड़े हैं निचला हाथ कलाई से खण्डित है। उमा का दाहिना ऊपरी जो शिव के कन्धे पर है टूट गया है बॉये हॉथ से बालक स्कन्द को पकड़े है जो उनकी गोद बॉली जॅघा पर बैठे हैं। शिव का दाहिना व पार्वती का बॉया पैर नीचे लटक रहा है। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। प्रतिमा के चेहरे क्षतिग्रस्त हैं। ऊचाई 68 सेमी. चौडाई–67 सेमी.,मोटाई–24 सेमी.

उमा–महेश्वरः– शिव पार्वती ललितासन मुद्रा में आलिंगनरत प्रदर्शित हैं। शिव अपने वाहन नंदी व पार्वती सिंह पर आसीन है। शिव चर्तुभुजी व पार्वती द्विभुजी हैं। पार्वती का सिर पूर्ण व शिव का अर्द्ध भाग भग्न है। पार्वती शिव की बॉयी जॅघा पर बैठी हैं। शिव का ऊपरी दायॉ हाथ पार्वती के कन्धे पर है एवं उसमें सर्प पकड़े हैं। उमा का दाहिना ऊपरी जो शिव के कन्धे पर है टूट गया है बॉया हॉथ टूट गया है। शिव का दाहिना व पार्वती का बॉया पैर नीचे लटक रहा है। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों

अर्द्धनारीश्वर

उमा–महेश्वर

से सुसज्जित हैं। नीचे गणेश एवं वाहन वृषभ व सिंह का अंकन है। परिकर टूट गया ऊपर विष्णु व ब्रह्मा का अंकन होगा जिसमें ब्रह्मा का शेश है। ऊचाई 92 सेमी. चौडाई–71सेमी.,मोटाई–27सेमी.

अर्द्धनारीश्र:– यह प्रतिमा शैवों के सोम सिद्धॉत और कापालिक सम्प्रदाय से संबंधित है। सोम सिद्धॉत के अनुसार यह समस्त जगत शिव और पार्वती की लीला की प्रतिच्छाया है। कापालिक सम्प्रदाय प्रत्येक स्त्री–पुरूष में शिव–पार्वती का रूप देखता है।[8] इसमें पुरूश व प्रकृति के मिलन को शिव पार्वती के संयुक्त स्वरूप प्रदर्शित किया गया हैं। मत्स्य पुराण में बताया गया है कि अर्द्धनारीश्र रूप में देवता का आधा शरीर जो शिव भाग है जटा–जूट, सर्प यज्ञोपवीत, त्रिशूल आदि से एवं आधा भाग सुन्दर वस्त्र, केयूर, मेखला, कंकण आदि से सुशोभित होना चाहिए।[9] यह प्रतिमा भग्न स्थिति में है। प्रतिमा में पुरूश व नारी के शरीर को संयुक्त अंकन किया गया। पार्वती सिंह पर आसीन हैं जबकि शिव का बाहन भग्न है। प्रतिमा द्विभुजी हैं। पार्श में अनुचर देव है। प्रतिमा के षेश अंग–प्रत्यंग क्षतिग्रस्त हैं। प्रतिमा द्विभंग मुद्रा में है जो सामान्य नहीं है। ऊचाई 88 सेमी. चौडाई–63 सेमी.,मोटाई–31 सेमी.

उमा–महेश्वर:– शिव पार्वती ललितासन मुद्रा में आलिंगनरत प्रदर्शित हैं। शिव चर्तुभुजी व पार्वती द्विभुजी हैं। पार्वती शिव की बॉयी जॅघा पर बैठी हैं। शिव के ऊपरी दायें हाथ में त्रिशूल पकड़े हैं निचला हाथ वरद मुद्रा में है। उमा का दाहिना ऊपरी जो शिव के कन्धे पर है टूट गया है बॉया हॉथ टूट गया है। शिव का दाहिना व पार्वती का बॉया पैर नीचे लटक रहा है। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। शिव–पार्वती के सिर के पीछे प्रभामण्डल है। ऊचाई 72 सेमी. चौडाई–57सेमी.,मोटाई–29सेमी.

उमा–महेश्वर:–ह प्रतिमा भी उमा–महेश्वर की है। शिव पार्वती ललितासन मुद्रा में आलिंगनरत प्रदर्शित हैं। शिव चर्तुभुजी व पार्वती द्विभुजी हैं। पार्वती शिव की बॉयी जॅघा पर बैठी हैं। शिव के ऊपरी दायें हाथ में त्रिशूल पकड़े हैं निचला हाथ वरद मुद्रा में है। उमा का दाहिना ऊपरी जो शिव के कन्धे पर है टूट गया है बॉया हॉथ टूट गया है। शिव का दाहिना पैर नीचे लटक रहा है। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। शिव–पार्वती के सिर के पीछे प्रभामण्डल है। ऊचाई 68 सेमी. चौडाई–59सेमी. ,मोटाई–27सेमी.

उमा–महेश्वर

उमा–महेश्वर

कुबेर

कुबेरः– भारतीय साहित्य में कुबेर को धन का देवता माना जाता है। वैभव व सौभाग्य से संबंधित होने के कारण ब्राह्मण, जैन व बौद्धकला में समादर तथा सम्मान दिया गया। मत्स्य पुराण के अनुसार प्रतिमा में लम्बोदर, दो बड़े दॉत, शरीर आभूषणों से सुसज्जित एवं हॉथ मे धन की थैली होती है। वॉयी जॉघ में वृद्धि होती है।[10] विवेच्य प्रतिमा में कुबेर ललितासन मुद्रा में बैठे हुए हैं उनकी दोनों भुजाएँ टूटी हुई हैं। बाएँ हॉथ में धन की थैली पकड़े हुए है। प्रतिमा के समस्त अंग–प्रत्यंग क्षत–विक्षत हैं। प्रतिमा में कुबेर को थुलथुले शरीर वाला, बड़ा पेट सहित प्रदर्शित किया गया है। कुबेर करन्ड मुकुट धारण किए हुए है। ऊचाई 112 सेमी. चौडाई–67सेमी.,मोटाई–26सेमी.

गौरीः– यह प्रतिमा गौरी की है जो स्थानक मुद्रा में हैं। प्रतिमा का सिर किरीट मुकुट, कानों में कुन्डल, गले में हार, तथा वक्ष तक लटकी माला, कटि मेखला, हस्त वलय, व पादवलय एवं वनमाला प्रदर्शित है। प्रतिमा के सिर के पीछे प्रभामण्डल है। गौरी की सभी भुजाएँ टूटी हुई हैं। परिकर में अश व्याल एवं परिचरों व भक्तों का अंकन है। ऊचाई 119 सेमी. चौडाई–77 सेमी.,मोटाई–31 सेमी.

गौरीः–यह प्रतिमा भी गौरी की है जो स्थानक मुद्रा में हैं। प्रतिमा का सिर किरीट मुकुट, कानों में कुन्डल, गले में हार, तथा वक्ष तक लटकी माला, कटि मेखला, हस्त वलय, व पादवलय एवं वनमाला प्रदर्शित है। प्रतिमा के सिर के पीछे प्रभामण्डल है। पार्वती दॉये हाथ में शिवलिंग एवं वॉये हॉथ में गणेश धारण किए हैं। परिकर में ऊपर गन्धर्व एवं नीचे परिचरों व भक्तों का अंकन है। ऊचाई 119 सेमी. चौडाई–77सेमी.,मोटाई–31सेमी.

गौरी परमार काल

गौरी परमार काल

शिव:– यह प्रतिमा शिव की है। शिव ललितासन मुद्रा में बैठे हैं। शिव चतुर्भुजी है लेकिन उनकी दो भुजाएँ पूर्ण रूप से टूट गईं हैं। बॉये हॉथ में कमण्डल है। शिव जटामुकुट, कानों में कुण्डल, गले में सर्प व माला, भुजबन्ध, कटिमेखला व पादवलय धारण किए हैं। ऊचाई 69 सेमी. चौडाई–62 सेमी.,मोटाई–26सेमी.

शिव, परमार काल

देवी, परमार काल

देवीः– देवी ललितासन मुद्रा में बैठी हैं जो चतुर्भुजी हैं। वह मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में माला, भुजबन्ध, कटिमेखला व पादवलय धारण किए हैं। बॉये एक हॉथ में कमण्डल है अन्य हॉथ व आयुध भग्न हो चुके हैं। परिकर में पद्म लताओं का उत्कीर्णन है। ऊचाई 68 सेमी. चौडाई–48सेमी.,मोटाई–21सेमी.

उमा–महेश्वर, परमारकाल

माहेश्वरी, परमारकाल

उमा–महेश्वरः–यह प्रतिमा उमा–महेश्वर की है। शिव पार्वती ललितासन मुद्रा में आलिंगनरत प्रदर्शित हैं। शिव अपने वाहन नंदी व पार्वती सिंह पर आसीन है। शिव चर्तुभुजी व पार्वती द्विभुजी हैं। पार्वती व शिव के सिर टूट चुके हैं, भुजाऍ व पैर भग्न है। पार्वती शिव की बॉयी जॅघा पर बैठी हैं। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। परिकर टूट गया है फिर भी नीचे दॉयी ओर गणेश का अंकन शेश है। ऊचाई 80 सेमी. चौडाई–71सेमी.,मोटाई–27सेमी.

माहेश्वरीः–यह प्रतिमा शिव की शक्ति माहेश्वरी की है। देवी ललितासन मुद्रा में आसीन है। देवी चतुर्भजी है दायी ऊपरी भुजा में त्रिशूल नीचे की भुजा में माला है। बॉयी ऊपरी भुजा में नाग व निचली भुजा क्षतिग्रस्त है। स्थापत्य खण्ड पद्म वल्लरी से अलंकृत है। प्रतिमा क्षतिग्रस्त अवस्था में है। कला शैली के आधार पर यह प्रतिमा परमारकालीन प्रतीत होती है। ऊचाई 90 सेमी. चौडाई–67सेमी.,मोटाई–22सेमी.

सन्दर्भ :–

1. इण्डियन आर्केयोलॉजी, ए रिव्यू 1959–60, पृ 22, व 1954–55, पृ. 59
2. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, द एज ऑफ नन्दाज एण्ड दी मोर्याज पृ. 16–17
3. होशंगावाद जिला–गजेटियर, पृ. 30–33
4. वही, पृ. 38
5. शिव रत्न 42–43
6. विष्णु धर्मोत्तर पुराण 78, 2,1.5, मत्स्य पुराण 369, 31–34
7. विष्णु धर्मोत्तर पुराण; 105, 8–10. रूपमण्डन; 35,16,20

8 ब्रजभूषण श्रीवास्तव; प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान व मूर्तिकला, बनारस, 1998, पृ. 73
9. मत्स्य पुराण 260, 8–17
10 वसुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, बनारस, 1982, पृ. 133

32 भरहुत बौद्ध स्तूप : एक मूल्यांकन

डॉ. मोहन लाल चढ़ार

भरहुत स्तूप पहली बार विक्रम संवत 1930 सन् 1873 ईस्वी में जनरल अलेक्जेंण्डर कनिघंम द्वारा खोजा गया। भरहुत स्तूप तीसरी सदी ईसा पूर्व में मौर्यवंश के प्रतापी शासक अशोक ने बनवाया था। यह मध्यप्रदेश के सतना जिले में जिला मुख्यालय से दक्षिण दिशा में लगभग 15 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह पुरास्थल मैहर नदी घाटी के उत्तरी सिरे पर बसा हुआ था। भरहुत स्तूप के निकट वर्तमान में भरहुत नामक ग्राम विद्यमान है। इसी के समीप जो पर्वत है उसे भरहुत पर्वत या लाल पहाड़ के नाम से भी जाना जाता है। इस पहाडी के ऊपर एक कलचुरी संवत का अभिलेख भी मिला है। भरहुत में अब केवल मुख्य स्तूप की नीव की ईटें ही सिर्फ दिखाई देती है। बालमीकी रामायण के अनुसार सतना का यह क्षेत्र सुतीक्षण मुनी के प्रभाव में था। महाभारत काल में इस क्षेत्र में कारुब जाति का अधिकार था। पालि साहित्य के अनुसार भारत के छः बड़े भौगोलिक क्षेत्रों में से यह भू–भाग मज्झिम प्रदेश के अन्तर्गत आता था। तिब्बती गााथाओं में इस क्षेत्र का उत्तेख मिलता है। इस भूभाग पर प्राचीन काल में मौर्यो, शुगों, नागों, भारशिवों वाकाटकों, गुप्तों, कलचुरियों और चन्देलों का राज्य रहा था। भरहुत का प्राचीन नाम वरदावती था। प्रसिद्ध इतिहास के लेखक टालमी ने इसका नाम वरदाओतिस लिखा है, जो वरदावती का यूनानी अनुवाद है। इसका एक नाम भारभुक्ति भी मिलता है। यह प्रयाग से 125 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह नगर प्राचीन काल में एक समृद्धशाली, वैभवशली नगर था।

यह नगर प्राचीन कालीन मध्यभारत के प्रमुख राज्यमार्ग पर बसा हुआ था। यह राजमार्ग मथुरा से कौशाम्बी और कोशाम्बी से भरहुत होता हुआ जबलपुर और एरण, विदिशा से उज्जैन व उज्जैन से भडौच प्राचीन भृगुकच्छ तक जाता था। एक और यह क्षेत्र उत्तर भारत से मध्यभारत को तथा पश्चिम भारत होते हुए जलमार्ग को जोडने वाले मार्ग पर स्थित था। यह स्थान वत्स महाजनपद की राजधानी कौशाम्बी से दशार्ण राज्य की राजधानी भेलसा वर्तमान विदिशा को जोडता था। इसी कारण इस नगर का प्राचीन काल में व्यापारिक व राजनीतिक महत्व अधिक था। इस स्थल की भागौलिक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए यहॉ अशोक ने विशाल स्तूप का निर्माण करवाया था।

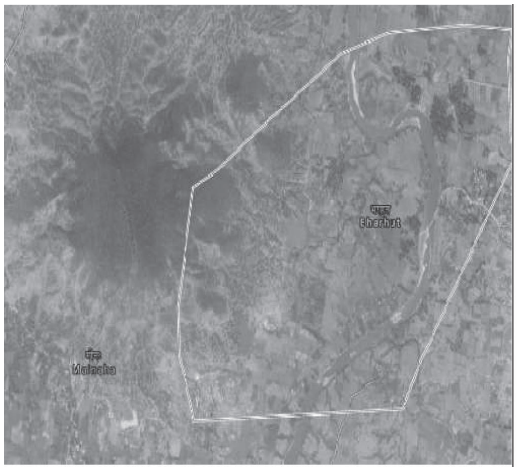

भरहुत का भौगोलिक मानचित्र

भरहुत पुरास्थल का सामान्य दृश्य

भरहुत स्तूप पर उत्कीर्ण स्वदेशी कला तत्व

भरहुत स्तूप पर उत्कीर्ण क्षेत्रीय कला

आज वर्तमान में भरहुत में यत्र तत्र बिखरे पुरावशेषों के अलावा कुछ भी नही है। स्तूप पूर्णरुप से समाप्त हो गया है। पुरावशेषों में सिर्फ स्तूप की नीव के पत्थर कुछ स्तूप में लगाये गये कलात्मक पत्थरों तथा बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए बनाये गये बौद्ध विहारों के नीव के अवशेष इस पुरास्थल पर मिलते है। इस स्तूप के महत्वपूर्ण पुरावशेष कलकत्ता संग्रहालय में भरहुत गौलरी में सुरक्षित रखे गये है। इसके अलावा इलाहाबाद संग्रहालय, लंदन संग्रहालय, राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, पटना संग्रहालय, भारत कला भवन वाराणसी में रखे गये है। भरहुत स्तूप के अवशेषों का अध्ययन करने के पश्चात यह ज्ञात होता है कि इस स्तूप का निर्माण मौर्यकाल से लेकर शुंगकाल तक किया गया था। यहॉ से शुगकालीन लिपि में भी अनेक अभिलेख मिले है। सतूप की वेदिकाओं, तोरण द्वारों पर दान दाताओं व शिल्पियों के नाम ब्राह्मी लिपि में लिखे गये है। इस स्तूप को ईटों व लाल रंग के प्रस्तरों से निर्मित किया गया था। जनरल अलेक्जेण्डर कनिंघम को 1873 ईस्वी में मात्र 16 स्तम्भ, 80 सूचियॉ प्राप्त हुई थी। भरहुत स्तूप का व्यास

आधार पर 67 फुट 8 इंच था। यह स्तूप शिलाखण्डों की सुदृण्ढ़ नीव पर बना था। ईटों से निर्मित स्तूप के चतुर्दिक एक वृत्ताकार वेदिका बनी थी। जिसमें चार दिशाओं में चार तोरण द्वार बने थे। तोरण द्वार की कुल ऊंचाई 12 फुट 8 इंच के लगभग थी। वेदिका का निर्माण लाल रंग के प्रस्तर खण्डों से किया गया था। स्तूप और वेदिका के मध्य प्रदक्षिणा पथ था। स्तम्भें की ऊंचाई 7 फिट2 इंच थी। उष्णीय सहित वेदिका की ऊंचाई 9 फिट थी। वेदिका में अनेक जगह पर स्तूप की आकृति उत्कीर्ण की गई है। स्तूप के तोरण एवं वेदिका की स्थापत्य रचना काष्ठ शिल्प की अनुकृति है। यह स्तूप सांची के स्तूप क्रमाक 1 से छोटा था किन्तु शिल्पकला की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। भरहुत से दूसरी शती ईस्वी की एक यक्ष प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा स्थानक मृद्रा में है। जो कला की दृष्टि से अदृभुत है। उक्त पुरावशेष जनरल अलेक्जेण्डर कनिघंम को सतह से तथा उत्खनन के दौरान प्राप्त हुए थे। स्तूप की वेदिकाओं, तोरणों पर दान दाताओं व शिल्पियों व राजाओं के नामों के अतिरिक्त स्थानों नगरों के नाम भी दूसरी शदी ईसा पूर्व की ब्राह्मी में लिखे गये है। कमल के फूल बनाये गये गये है, बौद्ध धर्म में कमल को स्वसृजन का प्रतीक बताया गया है। भरहुत की कला में कमल के विविध रुपों में शिल्पी की सृजनशीलता और कल्पना का अभास होता है। भरहुत के शिल्प में वृक्ष, लता, और पुष्प को बडे ही रमणीक और मनोरम रुप में शिल्पांकन किया गया है। इस काल में बुद्ध की प्रतिमा निर्माण नही किया जाता था क्योकि बौद्ध धर्म में हीनयान सम्प्रदाय का बोलबाला था। महायान सम्प्रदाय का उदय नही हुआ था। भगवान बुद्ध की उपस्थिति का बोध उनके छत्र, धर्म चक्र प्रवर्तन, पद चिह्न, पादुका, भिक्षापात्र, बोधिवृक्ष आदि के रुपकिया गया है। सतूप के ऊपर त्रिचक्र धम्म सघं गच्छामि, बुद्धम् शरम् गच्छामी व संघम् शरम् गच्छामि के प्रतीक माने जाते है। ये प्रतीक वेदिका तोरणों पर आकर्षक रुप में उत्कीर्ण किये गये हैं। यहॉ की कला में मिग, नाग, यव, मढकीय, हंस, किन्नर, दशरथ, विधुर इत्यादि का चित्रण भव्यता के साथ किसया गसा है। यहॉ की कला में प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त लोक जीवन की अनेक परम्पराओं और मान्यताओं का रोचक ढंग से उत्कीर्ण किया गया है। भरहुत की कला में मिश्रकेशी, अलम्बुषा, सुभद्रा तथा पद्मावती आदि अप्सराऍ नृत्य करती हुई प्रदर्शित हैं। इनकी मुखमुद्रा तथा भाव भंगिमा बड़ी सुन्दर है। तेरणों व वेदिकाओं पर त्त्कालीन जनजीवन सं सम्बधित दृश्य, राजाओं की मूर्तियॉ व अस्त्र–शस्त्र उत्कीर्ण किये गये है। भरहुत स्तूप में एक स्थान पर वस्त्राधारण किये हुए पुरुष आकृति बनी है। जिसके नीचे कुपिरों यखों अर्थात कुबेर यक्ष लिखा हुआ है। भरहुत की कला में वृक्षों, वनस्पतियों, लताओं, वृक्षों, पुष्पों एवं फलों के सुन्दर मोहक चित्र अंकित है। वृक्षों को उत्कीर्ण कर उनके नीचे निम्नलिखित लेख लिखे गये है। पाटिली वृक्ष भगवतों विपसिनों बोधि, पुडरिकका श्वेत कमल भगवतों सिकिन बोधि, शाल वृक्ष भगवतों वेशभूवों बोधि सालों, षिरिश्स वृक्ष भगवतों कुकुसघस बोधि, उदुंबर वृक्ष भगवतों केनिगमनेस बोधि, न्याग्रोधवृक्ष या वटवृक्ष भगवतों कसपस बोधि, पीपल वृक्ष भगवतों शक मुनिनों बोधि इत्यादि लेखों के आधार पर स्पष्ट है कि जिन वृक्षों के नीचे भगवान वुद्ध ने योग साधना की थी। इन लेखों व वृक्षों के आधार पर विद्वानों ने मानुषी बुद्ध क्रमशः विपस्वी बुद्ध, सिकिन बुद्ध, विश्वभू बुद्ध, क्रकुछन्द बुद्ध, कनकमुनी बुद्ध, कश्यप बुद्ध, एवं शाक्य मुनी बुद्ध माने जाते है। भरहुत स्तूप में अनाथपिण्डक द्वारा जेतवन बिहार खरीदने की सुन्दर कथा का अंकन किया गया है। भरहुत की एक वेदिका पर बुद्ध के जीवन की एक चमत्कारिक घटना को उत्कीर्ण किया गया है, इस घटना में भगवान बुद्ध अपनी माता मायादेवी को स्वर्ग में शिक्षा देने जाने का अंकन है।

भरहुत मूर्तिकला शुंग काल (ई.पू. मध्य दूसरी शताब्दी) की प्राचीन भारतीय मूर्तिकला है, जिसने मध्य प्रदेष राज्य में भरहुत के विषाल स्तूप को अलंकृत किया। स्तूप अब मुख्यतः नष्ट हो चुका है और अधिकांश मौजूदा अवशेष, जैसे रेलिंग और प्रवेशद्वार, अब कोलकाता के भारतीय संग्रहालय में हैं। कभी–कभी प्राचीन प्रतीत होने वाली भरहुत शैली बौद्ध वर्णनात्मक उभरे शिल्प और धार्मिक भवनों की सजावत की परंपरा के प्रारंभ को चिह्नित करती है, जो कई शताब्दियों तक सतत रही। भरहुत अवशेषों से लगभग मिलते–जुलते शिल्प सारे उत्तर भारत में मिलते हैं, जो संकेत देते हैं कि भरहुत किसी समय की व्यापक शैली का एकमात्र उत्तरजीवी स्थल है। अलंकरण का विस्तृत वर्णन और तनी हुई मुद्रा वाली प्रतिमाएँ संकेत करती हैं कि यह शैली लकड़ी से आरंभ हुई और बाद में पत्थर पर जारी रही। स्तंभों में से कुछ पर यक्ष और यक्षिणी (प्रकृति के नर

बुद्ध के माता के गर्भ में आने का चित्रण

भरहुत वेदिका कलकत्ता संग्रहालय

और नारी देवता) की उभरी हुई खड़ी आकृतियाँ हैय वृक्ष का आलिंगन किए हुई महिला का बिंब बहुतायत से मिलता है। पत्थर की बाड़ गोलाकार फलकों और पद्मभूषणों से अलंकृत है, जिनमें से कुछ के केंद्र में एक नर या नारी का मस्तक है। स्तूप और बाड़ों पर जातक कथाएँ (बुद्ध के पूर्व जन्मों की किंवदंतियाँ) और बुद्ध के जीवन की घटनाएँ भी चित्रित हैं। चूंकि ये नामांकित हैं, बौद्ध प्रतिमा विज्ञान को समझने के लिए भरहुत मूर्तिकला अनिवार्य है। पहली शताब्दी ई.पू. के पहले के सभी आरंभिक भारतीय षिल्पों की तरह बुद्ध को एक चक्र, रिक्त सिंहासन या छतरी जैसे चिह्नों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, मानव रूप में कभी नहीं। भिन्न स्थितियों में भेद करने के प्रयत्न में उपयोग की गई परस्पर व्याप्त आकृतियों के साथ संयोजन सरल, सहज भी है। शिल्पों में दृष्टिगोचर होने वाले प्राणियों को भारतीय कला के सभी युगों के मर्मस्पर्शी, अर्थपूर्ण विशिष्ट गुणों के साथ दर्षाया गया है। भरहुत की कला में भारतीय देशी कला के साथ साथ भारतीय आदिवासी कला संस्कृति की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। आदिवासी संस्कृति में वनस्पति व पेड पौधों को महत्व दिया जाता है। वही तत्कालीन कलाकारों ने भरहुत में उकेरा है। भरहुत के स्तूप में जो स्त्री पुरुषों की आकृतियॉ बनी है। उनकी शारीरिक बनावट हमारे तत्कालीन आदिवासियो से मिलती जुलती है, इससे स्पष्ट है कि भरहुत की कला में देशी कला के तत्वों का समावेश किया गया है।

भरहुत की कला में शालभंजिका व महाकपि जातक कथा

भरहुत गैलरी कलकत्ता संग्रहालय

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात लगभग 185 ईसा पूर्व में षुंगों का शासनकाल आरंभ हुआ । उन्होंने उत्तरी भारत के मध्य व पूर्वी हिस्सों पर शासन किया । सादगी से भरपूर उनकी सहज शैली जो लोगों को आकर्शित करती थी, का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व ग्वालियर व मथुरा से प्राप्त यक्ष और यक्षियों की एकाश्मिक मूर्तियां तथा कोलकता के इंडियन म्यूजियम में रखे गए भरहुत के बौद्ध स्तूप के खूबसूरती से उत्कीर्ण प्रवेशद्वार व बाडों के अवशेष करते हैं । भरहुत में मूर्तियों के माध्यम से बुद्ध के पूर्व जन्म के जातकों का वर्णन, सांची की आलंकारिक कला तथा मथुरा का जैन स्तूप, सभी समान परंपरा का हिस्सा हैं । सभी में काष्ठ निर्माण की छाप है और मूर्तियों की शैली में लकड़ी या हाथी दांत पर नक्काशी से समानता है जिसमें मुख्य रूप से समतल सतह पर काम या उसका विस्तार किया जाता था जो कि अग्रभाग के सिद्धांत पर निर्भर था । यह 'संदर्श' प्रस्तुति से काफी भिन्न था । चाहे वह चरण कमल द्वारा बुद्ध का चित्रण हो, खाली सिंहासन हो अथवा चामर जोड़ा या त्रिरत्न चिह्न या माया देवी द्वारा जन्म देने के बाद दो हाथियों द्वारा कलश से जल उड़ेलते हुए नवजात शिशु का अभिषेक, कलाकार ने सभी का चित्रण चिह्नों द्वारा किया है ।

जब कलाकार प्रकृति देवी यक्षी या जनन का प्रतीक दिव्य सुंदरी, सुरा–सुंदरी की परिकल्पना करता है तो उसकी भौंहें धनुष की चाप, आंखें वक्र मछली, होंठ कमल की पंखुड़ी, बांहें रमणीय लता और पैर हाथी की सूँड़ या केले के वृक्ष की भांति शुण्डाकार बनाता है । कलाकार की निष्ठा जिसे वह स्वप्न में वास्तविकता अथवा काव्यमय रूपक मानता है, के प्रति हैं । इस निरूपण, आदर्श प्रतिबिंब को वह पूरी सच्चाई के साथ जनन के विभिन्न देवी–देवताओं व भरहुत के रेलिंग स्तंभों पर दर्शाए गए अन्य दृश्यों के बीच प्रस्तुत करने का प्रयास करता है । चुलकोक देवता की आकृति शुंग कला का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जो इसकी देशज विशेषता और लोक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है । हाथी पर मनोहर तरीके से खड़ी उसकी बांहें और एक पैर पुष्पण वृक्ष का इस प्रकार आलिंगन कर रहे हैं मानो वह कोई वृक्ष देवी हो । भारी अलंकरण, अंतरीय व शिरोवस्त्र पहनने का तरीका, सभी उस काल की स्त्रियों के भूषाचार की ओर संकेत करते हैं । आकृति में एक लावण्य है जो भावी कुषाण आकृतियों में प्राचुर्य में दिखता है । इसकी दाहिनी ओर नामपत्र पर यक्षी के नाम उत्कीर्ण हैं और यह भी लिखा है कि यह स्तंभ आर्य पंथक की भेंट थी ।

अनेक रोचक जातक कथाएं हैं और भरहुत इन पौराणिक कथाओं का खजाना है जिन्हें यहां दर्षाया गया है । इस गोलाकार फलक में अनाथ पिंडिक द्वारा जेतवन उद्यान की जमीन को इस व्यापारी राजकुमार द्वारा भेंट दिए जाने से पहले स्वर्ण मुद्राओं से ढकने की कथा दर्शाई गई है । दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की शुंग कला का एक अन्य बेहतरीन उदाहरण है मध्य भारत मे पीतलखोरा गुफाओं से प्राप्त बौने के आकार की यक्ष की हँसमुख प्रतिमा जिसके सिर पर समृद्धि एक एक कटोरा है । उसके चेहरे की उन्मुक्त मुस्कान और गोलाकार पेट उसके सभी प्रकार से संतुष्ट होने की ओर संकेत करते हैं । उसके हार में गुंथे दो ताबीज उसके भक्तों को बुरी आत्माओं को बचाते हैं । उसके दाहिने हाथ के पीछे कृष्णदास नामक मूर्तिकार का नाम उत्कीर्ण है जो पेषे से सुनार था । आमतौर पर भारतीय कला अनाम है क्योंकि इसमें मूर्तिकार या कलाकार स्वयं का महिमामंडन नहीं करना चाहता था । वह सदा अपना सर्वोत्कृष्ट कार्य भगवान या अपने संरक्षक, राजा, जो कि उसके लिए भगवान के समान था, को विनम्र भेंट के रूप

भरहुत गैलरी कलकत्ता संग्रहालय

में अर्पित करता।

हालांकि यह विचित्र लग सकता है, लेकिन ईसवी सन् के पूर्व बौद्ध कला में बुद्ध को कभी भी मानवाकार में नहीं दर्शाया गया क्योंकि उनकी आध्यात्मिकता इसके लिए अत्यंत निराकार समझी जाती थी । बौद्ध धर्म को मानने वाले मुक्ति पाने के लिए हीनयान मार्ग का अनुसरण करते थे । प्रारंभिक भारतीय कला में बुद्ध का अस्तित्व बोधि वृक्ष जिसके नीचे उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ, न्याय चक्र, उनके पदचिन्ह, शाही छत्र, स्तूप तथा खाली सिंहासन, इत्यादि, प्रतीकों द्वारा दर्शाया जाता है । दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के भरहुत के स्तूप के वेदिका स्तंभ के अवषेश से मिले एक गोलाकार फलक में चार आकृतियों को बोधि वृक्ष को पूजते दिखाया गया है । बोध गया में बोधि वष्क्ष के नीचे बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी । यहां पर वृक्ष, बुद्ध की मौजूदगी का प्रतीक है । भरहुत के स्तूप के प्रवेशद्वार के प्रस्तरपाद के अवषेश में हम भारतीय कलाकार के पशुओं तथा पेड़–पौधों के प्रति अथाह प्रेम, समझ और स्नेह की झलक पा सकते हैं जिसका उसने विस्तार से अध्ययन किया । इस प्रस्तरपाद के दोनों ओर मनुष्य और हाथियों को मध्य में बुद्ध के प्रतीक, बोधि वृक्ष, को श्रद्धांजलि देते दर्शाया गया है । लगभग पहली शताब्दी ईसवी में कर्ले से प्राप्त नक्काषी ज्यादा परिश्कृत है । इनमें दंपत्ति और मिथुन की आकृतियां तथा स्तंभों के षीर्श पर भव्य हाथी की सवारी करते जोड़ों की आकृतियां जो प्रभावशाली स्तंभावली बनाते हैं, उल्लेखनीय हैं। ये आकृतियां आदमकद से भी विशाल हैं और इनकी बनावट शक्तिशाली और ह्रष्ट–पुष्ट आकार वाली है। दूसरी शताब्दी ईसवी में अमरावती से प्राप्त एक प्रसिद्ध उत्कीर्णन में चार स्त्रियों को बुद्ध के चरणों को पूजते हुए दिखाया गया है । आकृतियों के झुकाव की सुंदरता, गहन भक्ति का वातावरण तथा स्त्रियोचित लज्जा व नम्रता इसे एक उत्कृष्ट कलाकृति बनाते हैं ।

भरहुत द्वितीय– प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में निर्मित बौद्ध स्तूर तथा तोरणो के लिए साँची के समान ही प्रसिद्ध है। यह स्तूप शुंगकालीन है और अब इसके केवल अवशेष ही विद्यमान हैं। यह 68 फुट व्यास का बना था। इसके चारों ओर सात फुट ऊँची परिवेश्टनी (चहार दीवारी) का निर्माण किया गया था, जिसमें चार तोरण–द्वार थे। परिवेष्टनी तथा तोरण–द्वारों पर यक्ष–यक्षिणी तथा अन्यान्य अर्द्ध देवी–देवताओं की मूर्तियाँ तथा जातक कथाएँ तक्षित हैं। जातक कथाएँ इतने विस्तार से अंकित हैं कि उनके वर्ण्य– विषय को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। भरहुत और साँची के तोरणों की मूर्तिकारी तथा कला में बहुत साम्यता है। इसका कारण इनका निर्माण काल और विषयों का एक होना है।

भरहुत स्तूप पर 28 जातकों की जातक कथाऍं उत्कीर्ण की गई है। इनमें महाउम्मग्ग जातक, यवमज्झकिय जातक, मृग जातक,महाजनक जातक, अलम्बुसा जातक, भिक्ष जातक, मक्कर जातक ,दम्म साटक जातक,महाबेधि जातक, बेस्सन्तर जातक, सूचि जातक, मिगयोतक जातक, गजकुम्भ जातक, छदन्त जातक, रुरु जातक, इसिमिगों जातक, दम्मपुफ्फ जातक, लटुकिक जातक, महाकपि जातक, आराम दूसक जातक, कुक्कुट जातक, नच्च जातक, सम्मोदभान जातक, गूथपण्ण जातक इत्यादि उल्लेचानीय है। परम्परानुसार जातको की जातकों की कुल संख्या 550 है। जाातक कथाओं के रुप में लोकजीवन, तत्कालीन समाज, प्शु जगत आदि के चारित्रिक गुण दोश सहित धार्मिक कला का स्वरुप प्रदर्शित किया गया है। भरहुत की कला में स्त्री पुरुषों के मुखों पर प्रफुल्लता से छलकता हुआ दिव्य आन्नद, तत्कालीन कला में रसतत्व और आन्नद की पुष्टि करता है। बौद्ध परम्परा में स्वीकष्त देव समुदाय के अन्तर्गत इन्द्र, नाग, यक्षों में गंगितों यक्ष, सुप्रवास यक्ष, कुबेर, सुदसना व चप्द्रा यक्षी के साथ पंचशिखन गन्धर्व, सुपर्ण

स्त्री व पुरुष, नृत्यरत अप्सराओं के नाम सहित अंकन किया गया है। विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक एवं काल्पनिक चित्रों, अंलकरणों, व अंलकरिक अभ्प्रियों का अंकन स्वाभाविकता, लयात्मकता तथा गत्यात्मकता के साथ किया गया है। अनेक कलाकृतियॉ अन्तः भवों के प्रदर्शन की दृष्टि से भावहीन व निर्विकार है। स्थापत्य के आकारों तथा अलंकारिक अभिप्रायों के बीच कोई विभाजक रेखा नही है। बुद्ध के सांकेतिक चिन्ह् अथवा राजाओं के अंकन अन्य आकृतियों की अपेक्षा बड़े है। भरहुत में दो स्तम्भों को प्रसेनजित तथा अजातशत्रु नाम दिये गये है। अजातशत्रु की यात्रा उसका हाथी से नीचे उतरने का चित्र, बुद्ध के चरणों की पूजा का दृश्य तथा नीचे लेख में अजातशत्रु भगवतों वंदन्तें खुदा है। एक दृष्य में भगवान बुद्ध की पूजा के लिए रथ पर सवार होकर प्रसेनचित को अपने महल से निकलते हुए दिखया गया है। भरहुत स्तूप में अनेक लेख मिले है जैसे भगवतों विपसिनों बोधि, भगवतों सिकिन बोधि, भगवतों वेशभूवों बोधि, भगवतों कुकुसघस बोधि, भगवतों केनिगमनेस बोधि, भगवतों कसपस बोधि, भगवतों शक मुनिनों बोधि, अजातशत्रु भगवतों वन्दतें, एरापतों नागराज भगवतों वन्दते एवं भगवतों धम चक्रम अर्थात बुद्ध का धर्म चक्र उल्लेखनीय लेख स्तूप के तोरण व वेदकाओं पर अंकित है।

भरहुत के महास्तूप में बौद्ध संस्कृति को वहॉ के शिल्प में अभिव्यक्त किया गया है। भरहुत की बौद्ध कला में आंचलिकता, का आरोपण हुआ है जो क्षेत्रीय जनजातीय कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वास्तविकता में बौद्ध धर्म विन्ध्य पर्वत क्षेत्र में कला के रुप में यहॉ के समाज के अनुरुप परिणित हो गया था। इस बौद्ध कला को स्थानीय शिल्पकारों द्वारा प्रस्तरखण्डों पर उकेरा गया इसीलिए इस स्तूप की कला में तत्कालीन भारतीय कला का स्थानीय स्वरुप दिखाई देता है। अतः कहा जा सकता है कि भरहुत की कला सर्वथा स्वाभाविक लोकप्रिय रुप में रखने वाली तथा तत्कालीन जनता के धार्मिक एवं लौकिक विश्वासों और क्रियाकलापों को यथार्थ रुप में प्रस्तुत करती है। ललित कला की दृष्टि से भरहुत की कलाम क्ष्ता मध्य भारतीय स्वदेशी तत्वों की द्योतक है। भरहुत स्तूप की कला विभिन्न सजीव दृश्यों एवं आकर्षक अलंकरणों के कारण मानव ह्रदय की आध्यात्मिक सौन्दर्य पिपासा को शान्त करती हुई तत्कालीन भारत की उत्कृष्ट कला परम्परा का उत्कृष्ट व सुन्दरतम रुप प्रसतुत करती है। यह कला भारतीय अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है, जो बाह्य प्रभाव से पूर्णता मुक्त है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. परमेश्वरी लाल गुप्तः भारतीय वास्तुकला, वराणसी, 1989, पृ. 32
2. वासुदेव उपाध्यायः प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मंदिर, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1989, पृ. 56
3. के. डी. बाजपेयी एस. के बाजपेयी : भारतीय कला, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1997, पृ.46
4. महेश चन्द्र जोशीः युग युगीन भारतीय कला, जोधपुर, 1995,
5. वाचस्पति, गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1985, पृ. 26
6. भगवत शरण उपाध्यायः भारतीय कला का इतिहास, नई दिल्ली, 1981 पृ. 61
7. रतन लाल मिश्रः स्मारको का इतिहास, एवं स्थापत्य कला, जयपुर,1999, पृ. 71
8. ब्रजभूषण श्रीवास्तवः प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला वाराणसी, 1998 पृ. 290
9. राजकिशोर सिंहः भारत के प्राचीन स्मारक, नई दिल्ली, 1991, पृ. 14
10. महावंश, 5,73
11. दीपवंश 6,93
12. व्यिादान 381,82
13. रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला, नई दिल्ली, पृ. 54
14. रामनारायण राणाः भरहुत स्तूप गाथा, नई दिल्ली, 2007, पृ. 65

33 भारतीय इतिहास की अनुपम कृति : साँची का स्तूप

डॉ. हरित कुमार मीणा

साँची भारत के मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में स्थित एक गांव है। यह भोपाल से 46 कि.मी. पूर्वोत्तर में तथा बेसनगर और विदिशा से 10 कि.मी. की दूरी पर मध्यप्रदेश के मध्य भाग में स्थित है। यह बौद्ध की प्रसिद्ध ऐश्वर्यशाली नगरी विदिशा (भीलसा) के निकट स्थित है। साँची से मिलने वाले कई अभिलेखों में इस स्थान को काकनादबोट नाम से अभिहित किया गया है। इनमें से प्रमुख अभिलेख गुप्त संवत (450–51) ई. का है जो, कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल से संबंधित है। इसमें बौद्ध उपासक सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा काकनादबोट में स्थित आर्यसंघ के नाम दान दिए जाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख स्तंभ पर उत्कीर्ण है, जिसका संबंध गोसुरसिंहबल के पुत्र विहारस्वामिन से है। यह भी गुप्तकालीन है। बौद्धकाल में साँची, महानगरी विदिशा की उपनगरी तथा विहार स्थली थी। सर जॉन मार्शल के मत में, कालिदास ने नीचगिरि नाम से जिस स्थान का वर्णन मेघदूत में विदिशा के निकट किया है, वह साँची की पहाड़ी ही है।

साँची में जगत प्रसिद्ध बौद्ध स्मारक हैं, जो कि तीसरी षताब्दी ई.पू. से बारहवी शताब्दी के बीच के हैं। साँची का स्तूप, सम्राट अशोक ने तीसरी षती, ई.पू. में बनवाया था। इसका केन्द्र, एक सामान्य अर्द्धगोलाकार, ईंट निर्मित ढांचा है, जो कि बुद्ध के अवशेषों पर बना है। इसके शिखर पर एक छत्र है, जो कि स्मारक को दिये गये सम्मान का प्रतीक है। यह प्रेम, शांति, विश्वास और साहस का प्रतीक है। साँची स्तूप पर की गई जगत प्रसिद्ध मूर्तिकारी भारत की प्राचीन वास्तुकला तथा मूर्तिकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में हैं। साँची के स्तूप अर्द्धगोलाकार संरचनाएं हैं, जिनकी भव्यता एवं विशिष्टता बेहद आकर्षक है। ईसा पूर्व 483 में जब गौतम बुद्ध ने देह त्याग किया तो उनके शरीर के अवशेषों पर अधिकार हेतु उनके अनुयायी आपस में झगडने लगे। अंत में उनके शरीर के अवशेषों के हिस्सों को सभी में वितरित कर समाधान किया गया। इन्हें लेकर आरंभ में आठ स्तूपों का निर्माण हुआ और इस प्रकार गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार इन स्तूपों को प्रतीक मानकर होने लगा।

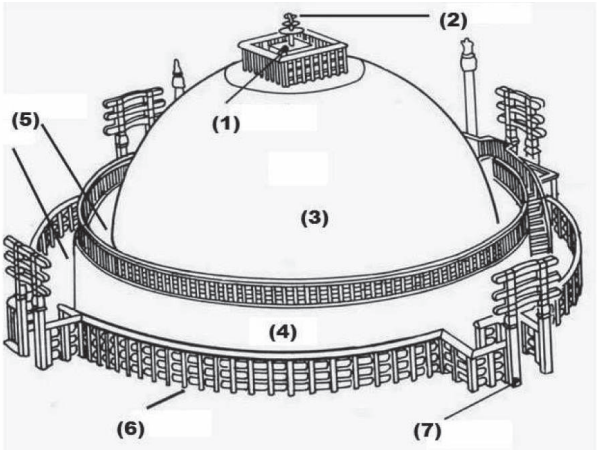

(1) हर्मिका
(2) छत्री
(3) अंड
(4) मेदी
(5) प्रदिक्षणा पथ
(6) वेदिका
(7) तोरण द्वार

चित्र–1: साँची स्तूप के स्थापत्य से संबंधित तकनीकि शब्द

बौद्धधर्म में ईश्वरवादी सिद्धांत के स्थान पर गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का महत्व अधिक है। स्तूप शब्द संस्कृत व पाली से उद्भूत है जिसका अर्थ होता है ढेर। स्तूपों में मंदिर की भांति कोई गर्भ गृह नहीं होता। बौद्ध कला की सर्वोत्तम कृतियां साँची में बौद्ध वास्तु शिल्प की बेहतरीन कृतियां हैं जिनमें स्तूप, तोरण, स्तंभ शामिल हैं। अशोक द्वारा साँची में बनाया गया स्तूप इससे पहले के स्तूपों से विशिष्ट था। आरंभ में केंद्रीय भाग में तथागत के अवषेश रख उसके ऊपर मिट्टी पत्थर डालकर गोलाकार आकार दिया गया। इनमें बाहर से ईटों व पत्थरों की चिनाई की गई ताकि खुले में इन स्तूपों पर मौसम का कोई प्रभाव न हो सके। साँची में स्तूप संख्या एक सम्राट अशोक द्वारा बनवाया गया था जिसमें महात्मा बुद्ध के अवशेष रखे गए है। यहां पर दो अन्य छोटे स्तूप भी हैं जिनमें संभवत गौतम बुद्ध के दो प्रिय शिष्यों के अवशेष रखे गए हैं। पहले स्तूप की वेदिका में जाने के लिए चारों दिशाओं में तोरण द्वार बने हैं। अंदर वेदिका है व कुछ ऊंचाई तक जाने के लिए प्रदक्षिणा पथ है। स्तूप के गुंबद पर पत्थरों की वर्गाकार रेलिंग बनी है व शिखर पर त्रिस्तरीय छत्र है। स्तूप की वेदिका में प्रवेश के लिए चार दिशाओं में चार तोरण हैं। पत्थर से बने तोरणों में महात्मा बुद्ध के जीवन की झांकी व जातक प्रसंगों को उकेरा गया हैं। इस स्तूप के दक्षिणी तोरण के सामने अशोक स्तंभ स्थापित है। यहां पर एक मंदिर के अवशेष है, जिसे गुप्तकालीन माना गया है।

मौर्य सम्राट अशोक का योगदान

ऐतिहासिक संदर्भानुसार मौर्य सम्राट अशोक ने अपनी प्रिय पत्नी देवी के कहने पर साँची में सुंदर स्तूप बनवाया था। देवी, विदिशा के एक श्रेष्ठी की पुत्री थी और अशोक ने उस समय उससे विवाह किया था जब वह अपने पिता के राज्यकाल में विदिशा का कुमारामात्य था। साँची की स्थापना बौद्ध धर्म व उसकी षिक्षा के प्रचार–प्रसार में अषोक का सबसे बडा योगदान रहा। सम्राट अशोक ने भारत में जिन स्थानों पर बौद्ध स्मारकों का निर्माण कराया उनमें साँची भी एक था, जिसे कंकेनवा, ककान्या आदि नाम से जाना जाता है। यह बौद्ध षिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था। ह्वेन सांग के यात्रा वृत्तांत

में बुद्ध के बोध गया से साँची जाने का उल्लेख नहीं मिलता है। संभव है साँची की उज्जयिनी से निकटता और पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण जाने वाले यात्रा मार्ग पर होना भी इसकी स्थापना की वजहों में से रहा हो। बुद्ध का संदेश दुनिया तक पहुंचाने के लिए एक सुनियोजित योजना के तहत कार्य आरंभ किया। सर्वप्रथम, बौद्ध धर्म को राजकीय प्रश्रय दिया गया। अशोक ने पुराने स्तूपों को खुदवा कर उनसे मिले अवशेषों के 84 हजार भाग कर अपने राज्य सहित निकटवर्ती देषों में भेजकर बडी संख्या में स्तूपों का निर्माण करवाया। इन स्तूपों को स्थायी संरचनाओं में बदला गया ताकि ये लंबे समय तक बने रह सकें।

साँची का स्तूप एक ऊंची पहाड़ी पर निर्मित है। इसके चारों ओर सुंदर परिक्रमापथ है। बालु प्रस्तर से निर्मित चार तोरण स्तूप के चतुर्दिक् स्थित हैं जिन के लंबे–लंबे पट्टकों पर बुद्ध के जीवन से संबंधित, विशेषतः जातकों में वर्णित कथाओं का मूर्तिकारी के रूप में अद्भुत अंकन किया गया है। इस मूर्तिकारी में भारतीय जीवन के सभी रूपों का दर्षाया गया है। मनुष्यों के अतिरिक्त पशु–पक्षी तथा पेड़–पौधों के जीवंत चित्र इस कला की मुख्य विषेशता हैं। सरलता, सामान्य, और सौंदर्य की उद्भावना ही साँची की मूर्तिकला की प्रेरणात्मक षक्ति है। ज्ञातव्य है की साँची परिसर की मूर्तिकारी में गौतम बुद्ध की मूर्ति नहीं पाई जाती क्योंकि उस समय तक बुद्ध को देवता के रूप में मूर्ति बनाकर नहीं पूजा जाता था। कुषाण शासक कनिष्क के काल में महायान धर्म के उदय होने के साथ ही बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध की मूर्ति का प्रवेश हुआ। साँची में बुद्ध की उपस्थिति का आभास उनके कुछ विशिष्ट प्रतीकों द्वारा किया गया है, जैसे उनके गृहपरित्याग का चित्रण अश्वारोही से रहित, केवल दौड़ते हुए घोड़े के द्वारा, जिस पर एक छत्र स्थापित है, से किया गया है। इसी प्रकार बुद्ध की सम्बोधि (ज्ञान प्राप्ति) का आभास पीपल के वृक्ष के नीचे खाली वज्रासन द्वारा दिया गया है। पशु–पक्षियों के चित्रण में साँची का एक मूर्तिचित्र अतीव मनोहर है। इसमें जानवरों के एक चिकित्सालय का चित्रण है, जहां एक तोते की विकृत आँख का एक वानर परीक्षण कर रहा है। इसी प्रकार तपस्वी बुद्ध को एक वानर द्वारा दिए गए पायस का चित्रण भी अद्भुत रूप से किया गया है। एक अन्य चित्र की विषयवस्तु में एक कटोरे में खीर लिए हुए एक वानर का अष्वत्थ वृक्ष के नीचे वज्रासन के निकट धीरे धीरे आने तथा खाली कटोरा लेकर लौट जाने का अंकन है जिसमें वास्तविकता का भाव दिखाने के लिए उसी वानर की लगातार कई प्रतिमाएं चित्रित हैं। साँची की मूर्तिकला दक्षिण भारत की अमरावती की मूर्तिकला की भांति ही पूर्व बौद्ध कालीन भारत की सरल–सामान्य जीवन को सजीव करती है। साँची के इस स्तूप में से उत्खनन द्वारा सारिपुत्र तथा मोद्गलायन नामक भिक्षुओं के अस्थि अवशेष प्राप्त हुए थे जो अब स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। साँची में अषोक के समय का एक दूसरा छोटा स्तूप भी है। इसमें तोरण–द्वार नहीं है। अशोक का एक भग्नावस्था में प्रस्तर स्तंभ जिस पर मौर्य सम्राट् का शिलालेख उत्कीर्ण है यहाँ के महत्त्वपूर्ण स्मारकों में से है। साँची के स्तूपों के समीप एक विशाल बौद्ध मठ के अवशेष हैं जहां बौद्ध भिक्षुओं के आवास थे। यही पर पत्थर का एक बड़ा कटोरा है जिससे संभवत भिक्षुओं में अन्न बांटा जाता था।

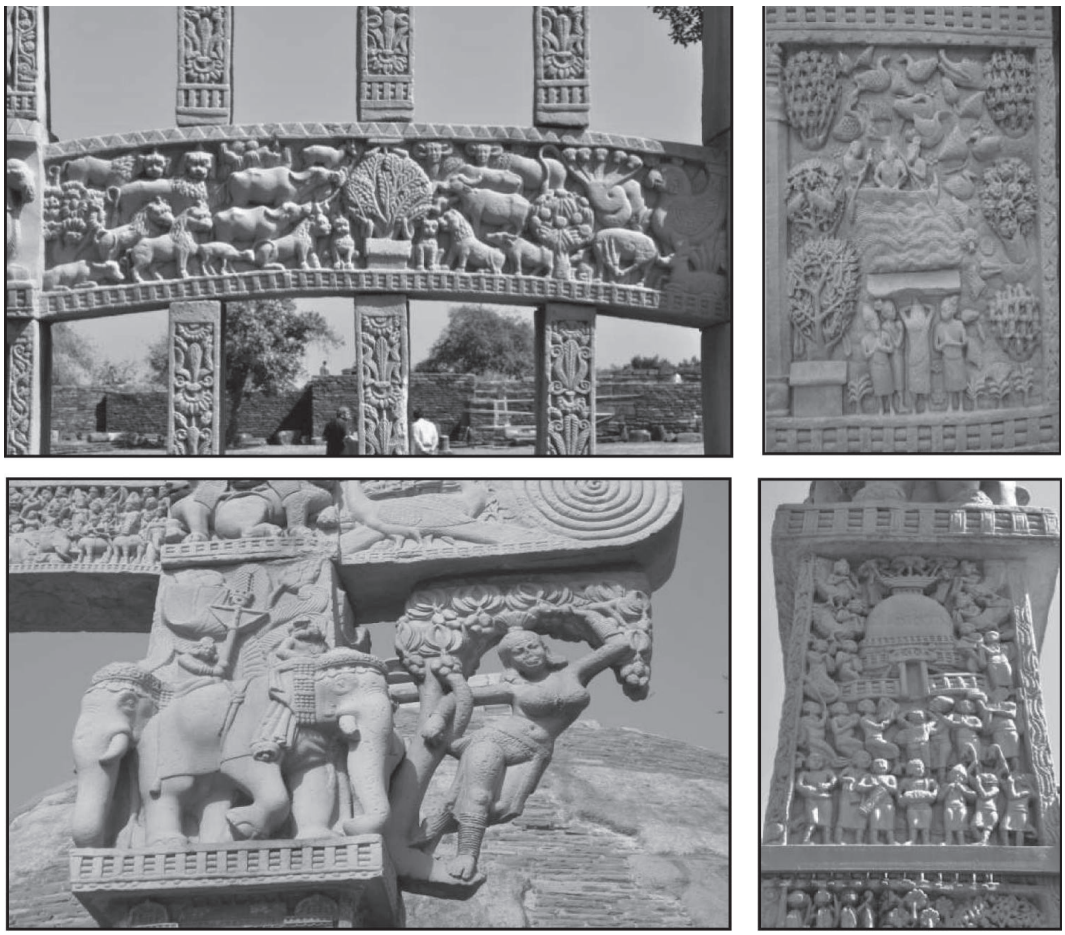

चित्र–2: साँची स्तूप के तोरण द्वारों पर मूर्तिकला

मौर्योत्तर, मध्यकाल एवं ब्रिटिश काल

साँची परिसर में मौर्य, शुंग, कुषाण, सातवाहन व गुप्तकालीन अवषेशों सहित छोटी–बडी कुल चार दर्जन ऐतिहासिक संरचनाएं हैं। षुंग काल में साँची में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप को विस्तार दिया गया जिससे इसका व्यास 70 फीट बढकर 120 फीट व ऊंचाई 54 फीट हो गई। इसके अतिरिक्त यहां पर अन्य छोटे–बड़े स्तूपों का निर्माण भी कराया। इसके बाद शुंग व कुषाण नरेषों ने अपने काल में यहां पर अन्य स्तूप निर्मित करवाए। उल्लेखनीय है की मौर्य, शुंग, कुषाण सातवाहन व गुप्तकाल तक बौद्ध धर्म फलता फूलता रहा किन्तु इनके पतन के उपरांत राजकीय कृपादृष्टि समाप्त होने से बौद्ध धर्म का अवसान होने लगा, जिसके परिणामस्वरूप स्तूपों एवं अन्य बौद्ध स्मारकों का निर्माण कम होने लगा। साँची की कीर्ति राजपूत काल तक बनी रही किंतु औरंगजेब (1657–1707) के काल में बौद्ध धर्म का केंद्र साँची गुमनामी में खो गया। 19वीं सदी में कर्नल टेलर यहां आए तो उन्हें साँची के स्तूप बुरी हालत में मिले। उन्होंने उनको खुदवाया और व्यवस्थित किया। कुछ इतिहासकार मानते हैं उन्होंने इसके अंदर धन संपदा के लालच में

खुदाई की जिससे इसकी संरचना को काफी नुकसान हुआ। बाद में पुराविद मार्शल ने इनका जीर्णोद्धार करवाया। चारों ओर घनी झाड़ियों के मध्य साँची के सारे निर्माण का पता लगाना और उनका जीर्णोद्धार करवा कर मूल आकार देना बेहद कठिन था, किंतु उन्होंने बखूबी से इसकी पुरानी कीर्ति को कुछ हद तक लौटाने में मदद की। साँची में स्तूपों का जीर्णोद्धार लंबे समय तक चला जिसमें इसे अद्वितीय बनाने के लिए कल्पना षक्ति का इस्तेमाल किया गया।

साँची का वर्तमान स्वरुप

साँची का 1989 में यूनेस्को की विश्व विरासत स्थल सूची में शामिल होने के बाद से इसका महत्व बहुत बढा। साँची के स्मारकों की भव्यता तो आगन्तुकों को चमत्कृत करती ही है, साथ में यहां का शांत वातावरण महात्मा बुद्ध के शांति के संदेश को समझाने में मदद देता है। बौद्ध धर्म का प्रमुख केंद्र होने के कारण यहां पर हर समय देषी व विदेषी मतावलंबियों का जमघट लगा रहता है। साँची की भव्यता को देखने को प्रतिदिन हजारों पर्यटक पहुंचते हैं, जिनमें विदेशी सैलानियों की बडी संख्या होती है। साँची परिसर के प्रबंधन व संरक्षण का कार्य भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के अधीन है। यहां का पुरातत्व संग्रहालय भी दर्शनीय है, जिसे 1919 में स्तूपों के निकट बनाया गया था। 1986 में इसे साँची की पहाड़ी के आधार पर नए संग्रहालय भवन में स्थानांतरित कर दिया गया। इस संग्रहालय में मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त कालीन प्रस्तर कला के अवशेष, मूर्तियां, शिलालेख आदि देखने को मिलते हैं।

निष्कर्श

साँची भारत के मध्य प्रदेश राज्य के रायसेन जिले, में बेतवा नदी के तट स्थित एक छोटा सा गांव है। यह भोपाल से 50 कि.मी. पूर्वोत्तर तथा बेसनगर और विदिशा से 10 कि.मी. की दूरी पर मध्यप्रदेश के मध्य भाग में स्थित है। सम्राट अषोक के षासन काल में बने साँची के स्तूप का बौद्ध धर्म से गहरा संबंध हैं। कई लोग मानते हैं कि खुद यहां कभी भी महात्मा बुद्ध नहीं आएं। लेकिन यहां मौजूद महात्मा बुद्ध के अवशेष इसे महत्वपूर्ण बनाते हैं। प्राचीन काल में साँची को विदिशागिरी के नाम से जाना जाता है। यह एक व्यापार केन्द्र था। साँची के प्रवेष द्वार एवं स्तूपों की वास्तुकला अद्भुत और सुंदर है।

साँची के स्तूप शांति, पवित्रता, धर्म और साहस का प्रतीत माने जाते हैं। सम्राट अशोक ने इस स्थान का निर्माण बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु कराया था। आज भी इस स्थान का मुख्य आकर्शण बौद्ध भिक्षु और बौद्ध धर्म से जुड़ी चीजें हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए यह स्थान सदियों से एक अहम भूमिका अदा कर रहा है। यहां कई बौद्ध स्मारक हैं, जो तीसरी शताब्दी ई.पू से बारहवीं शताब्दी के काल के हैं। यहाँ छोटे–बड़े अनेकों स्तूप है, जिनमें स्तूप संख्या दो सबसे बड़ा है। इस स्तूप को घेरे हुए कई तोरण भी बने हैं। स्तूप संख्या एक के पास कई लघु स्तुप भी हैं, जिनके समीप एक गुप्त कालीन पाषाण स्तंभ भी है। साँची का मुख्य स्तूप, मूलतः सम्राट अशोक महान ने तीसरी शती, ई.पू. में बनवाया था। इसके केन्द्र में एक अर्धगोलाकार ईंट निर्मित ढांचा था, जिसमें भगवान बुद्ध के कुछ अवशेष रखे थे। इसके शिखर पर स्मारक को दिये गये ऊंचे सम्मान का प्रतीक रूपी एक छत्र था। ब्रिटिश अधिकारी जनरल टेलर पहले ज्ञात इतिहासकार थे, जिन्होंने साँची के स्तूप का अस्तित्व दर्ज किया। 1818 तक पुरातत्ववेत्ताओं और खजाने के शिकारियों ने इस स्थल को ध्वंस किया, जिसे जॉन मार्शल द्वारा वर्तमान स्थिति में लाया गया। यह स्मारक 1989 में यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर स्थल घोषित हुआ है।

साँची में असंख्य बौद्ध संरचनाए, खंभे और मठ है। इन स्मारकों की संरचना तीसरी से 12 वीं सदी के बीच की है। ये स्तूप भगवान बुद्ध के लिए एक श्रद्धांजलि के रूप में अर्पित है। सभी स्तूपों में साँची स्तूप एक अर्द्ध परिपत्र चट्टान से बना हुआ सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली स्तूप है। इस महान स्मारक को भगवान बुद्ध के अवशेषो को प्रतिष्ठापित करने के लिए बनाया गया था। सबसे उल्लेखनीय संरचनाओं में महान स्तूप का पता 1818 में चला था। साँची स्तूप बड़े पैमाने पर एक बड़े पत्थर द्वारा बना है जिसमे चार रेलिंग द्वार है। ये रेलिंग विस्तृत नक्काशियों के साथ सजे हैं और उनमें बुद्ध के जीवन, पिछले जन्म और अन्य बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण महापुरूषों के जीवन से जुड़े हुए तथ्य दिखाए गए है। साँची स्तूप एक विशाल अर्द्ध परिपत्र गुंबद के आकार का कक्ष है जिसमें भगवान बुद्ध के अवशेषो को शांतिपूर्ण वातावरण में रखा गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 कुमारस्वामी, आनंद, अर्ली इंडियन आर्किटेक्चरः सिटीस एंड सिटी गेट्स, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1991
2 कुमारस्वामी, आनंद, अर्ली इंडियन आर्किटेक्चरः प्लेसेस, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1975
3 कुमारस्वामी, आनंद, सिंबलिजम ऑफ इंडियन आर्किटेक्चरः द स्तंभ एंड स्तूप, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1983
4 कनिंघम, अलेक्सजेंडर, द स्तूप ऑफ भरहूत, लंदन, 1879
5 दहेजिया, विद्या, डिस्कोर्स इन अर्ली बुद्धिस्ट आर्टः विसुअल नॅरेटिव्स ऑफ इंडिया, मुंशीराम मनोहरलाल नई दिल्ली, 1997
6 दहेजिया, विद्या, अर्ली बुद्धिस्ट रॉक टेंपल्सः ए क्रॉनलॉजिकल स्टडी, एडम्स एंड हड्सन, लंदन, 1972
7 धवलीकर, एम. के., साँची, ऑक्स्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2003
8 डोब्बींस, वॉलटन, द स्तूप एंड विहार ऑफ कनिष्क, द एशियाटिक सोसायटी मोनोग्राफ सीरीस 18, द एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1971
9 दोरजी, पेमा, स्तूप एंड इट्स टेक्नोलॉजीः ए तिबेटो–बुद्धिस्ट पर्स्पेक्टिव, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1996
10 ग्रुनवेडेल, अल्बर्ट, बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, लंदन, 1901
11 हर्ले, जे. सी., द आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ द इंडियन सबकॉटिनेंट, द पेलिकन हिस्ट्री ऑफ आर्ट, पेंग्विन बुक्स, 1986
12 हनटिंगटन, सुसन, द आर्ट ऑफ एन्सिएंट इंडिया, वेअतेरहिल, 1985
13 लॉगहर्स्ट, ए. एच., द स्टोरी ऑफ द स्तूप, एषियन एजुकेशनल सर्वीसेज, नई दिल्ली, 1936
14 मार्शल, जॉन, ए गाइड टू साँची, कलकत्ता, 1918
15 मार्षल, जॉन, द बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ गंधारः द स्टोरी ऑफ द अर्ली स्कूल, इट्स बर्थ, ग्रोथ एंड डिक्लाइन, केंब्रिज, 1960
16 माथुर, सुमन, आर्ट एंड कल्चर अंडर द कुशाणस, भारतीय कला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
17 मिश्रा, सुधाकर, गुप्ता आर्ट एंड आर्किटेक्चर, विथ स्पेशल रेफरेन्स टू मध्य प्रदेश, अंग कला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
18 मित्रा, डेबला, मॉन्युमेंट्स बुद्धिस्ट, साहित्य संसद, कलकत्ता, 1971
19 मूर्ति, कृष्णा, अर्ली इंडियन सेक्युलर आर्किटेक्चर, संदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
20 नागराजू, एस., बुद्धिस्ट आर्किटेक्ट ऑफ वेस्टर्न इंडिया (सी. 250 बीसी–सी. 300), आगम कला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981
21 पंत, सुशील, द ऑरिजिन एंड डेवेलपमेंट ऑफ स्तूप आर्किटेक्चर इन इंडिया, भारत मनीषा रिसर्च सीरीज 8, भारत मनीषा, वाराणसी, 1976

22 राय, निहर्रंजन, मौर्य एंड शुंग आर्ट, इंडियन स्टडीज, कलकत्ता, 1965
23 रोनाल्ड, बेंजामिन, द आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडियाः बुद्धिस्ट–हिंदू–जैन, द पेलिकन हिस्ट्री ऑफ आर्ट, पेंग्विन बुक्स, 1974
24 सरकार, एच., स्टडीज इन अर्ली बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1966
25 स्नॉड्ग्रॅस, एड्रियन, सिंबलिजम ऑफ द स्तूप, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1985
26 तकुजु, सुगिंटो, स्टडीस ऑफ द इंडियन पेगोडा (द क्रियेशन एंड फाउंडेशन ऑफ द पेगोडा वर्शिप), हीरकुजी बुकशॉप, 1984
27 विल्यम्स, जोवना गॉटफ्रीड, द आर्ट ऑफ गुप्ता इंडिया, एंपायर एंड प्रॉविन्स, प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्स्टन, 1982

34 दमोह जिले के पुरातात्त्विक स्थल

उमेशचन्द्र पाण्डेय,

दमोह जिले जबलपुर संभाग की उत्तरी भाग में $23^0 9'$ तथा $24^0 27'$ उत्तरी अक्षांश और $79^0 3'$तथा $79^0 37'$ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है।[1] कर्क रेखा जिले के दक्षिणी भाग में से होकर गुजरती है। यह जिला उत्तर तथा उत्तर–पश्चिम में छतरपुर जिले से, पश्चिम में सागर से , दक्षिण में नरसिंहपुर तथा जबलपुर से और पूर्व में जबलपुर तथा पन्ना जिले से घिरा हुआ है। दमोह, सागर से 78 किलोमीटर की दूरी पर सागर–जबलपुर मुख्य मार्ग पर स्थित है। दमोह का नामकरण एक किंवदती के अनुसार नरवर के राजा नल की रानी दमयन्ती के नाम पर रखा गया। स्थानीय रूप में यह भी विश्वास किया जाता है कि इस नगर की स्थापना रानी दमयन्ती द्वारा की गयी थी।[2] दमोह के दक्षिण पूर्व में लगभग 32 किलोमीटर दूर स्थित चांदी चौपड़ा (प्राचीन चौपड़ा पाटी) से, प्राप्त शिलालेख में दमनकपुर का उल्लेख मिलता है।[3]

इस विस्तृत भू–भाग में कलावशेषों की उपलब्धि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दमोह जिला के अनेक कला केन्द्रों तथा विस्तृत परिक्षेत्र के सर्वेक्षण से जो पुरावशेष प्रकाश में आये हैं, उनके आधार पर आरंभिक काल से लेकर परवर्ती राजवंशों की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक स्थिति का दष्श्यावलोकन किया जा सकता है। मौर्य, शुंग, सातवाहन, गुप्त, गुर्जर–प्रतिहार, चन्देल तथा कलचुरि आदि प्रमुख राजवंशों द्वारा इस क्षेत्र को भोगा गया।[4] इस क्षेत्र में विभिन्न संस्कृति के अवशेष प्राप्त होते हैं। जिन पराम्पराओं का पूर्ववर्ती काल में क्षेत्र में उद्‌भव हुआ, वे परवर्ती काल विकसित होती रहीं। हम इस क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक, एवं धार्मिक स्थिति का रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। इस अंचल में उपलब्ध सिक्कों, स्मारकों तथा कलावशेषों के अध्ययन से यह निश्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही अपने शिखर पर रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में पुरावशेषों का अतुलनीय योगदान है। प्राचीन काल के इतिहास लेखन में इनकी उपलब्धि को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। यहाँ गुप्तकाल से लेकर 13 वीं शती ई. की अनेक दुर्लभ पुरावशेष विविध क्षेत्रों में दृश्यमान होते हैं। इस क्षेत्र के धार्मिक पुरावशेष विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह क्षेत्र की विभिन्न धर्म–सम्प्रदायों का पालना बना। इस क्षेत्र के चुने हुए पुरातात्त्विक स्थल निम्नलिखित हैः–

सकौर–

सकौर (21°89′7′′ उत्तरी अक्षांश एवं 30°79′1′′ पूर्वी देशान्तर), दमोह जिले के हटा तहसील में अवस्थित है। यह हटा–पन्ना मार्ग पर हटा से लगभग 14 किलोमीटर दूरी पर है। यहाँ पर उत्तर गुप्त कालीन शिव मन्दिर के अवशेश विद्यमान है। मन्दिर के साथ ही एक टीले पर विशाल शिवलिंग प्राप्त हुआ है, जो 5वीं–6वीं शताब्दी का है। ग्राम में विद्यमान शिव मन्दिर अधिकांशतः ध्वस्त हो चुका है। अवशेशों से अनुमान लगाया जा सकता है कि मन्दिर सपाट छत युक्त रहा होगा।[5] भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा इस मन्दिर का तकनीकी विधि से जीर्णोद्वार किया गया है तथा मन्दिर के मूलरूप में यथावत रखा गया है। मन्दिर उंचे अधिष्ठान पर निर्मित है। अधिष्ठान पर चढ़ने के लिए सोपान का निर्माण किया गया हैं। सिरदल मन्दिर का प्रमुख बाह्य भाग होता है जिस पर मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता का रूप अंकित किया जाता है। सकौर के मन्दिर का सिरदल दो पक्तियों में विभक्त है। प्रथम ऊपरी पंक्ति पर सुन्दरियाँ एवं उपासिकायें अंकित है, द्वितीय पंक्ति में पुष्प एवं अलंकरण निर्मित किया गया। सिरदल के मध्य भाग में ताण्डव नृत्य करते हुए शिव का अलंकरण किया गया है। जीर्ण–शीर्ण होने से आभूशणों का अलंकरण एवं मुख भंगिमा अस्पष्ट है। साथ में शिव परिवार एवं गणों का अंकन किया गया। द्वारशाखा पुष्पों के अलंकरण से परिपूर्ण है दोनों बगल नीचे की ओर त्रिभंग मुद्रा में स्त्री अंकन है। सकौर[6] से गुप्तकालीन 24 स्वर्ण मुद्रायें प्राप्त हुए हैं, जिन पर तीन गुप्त राजाओं के नाम अंकित है। इनमें से 8 समुद्रगुप्त के, 15 चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा 1 स्कन्दगुप्त के हैं[7]। इन मुद्राओं से सकौर की प्राचीनता और भी अधिक पुष्टि हो जाती हैं[8] ।

कोड़ल–

कलचुरि कालीन स्मारकों में से कोडल का मन्दिर अपनी परिपूर्णता तथा शैली की दृष्टि से उल्लेखनीय है। कोड़ल (23°83′ उत्तरी अक्षांश एवं 79°44′ पूर्वी देशान्तर), दमोह जिले के तेन्दूखेड़ा में अवस्थित है। दमोह–जबलपुर मार्ग से तेन्दूखेड़ा तत्पश्चात् तेन्दूखेड़ा से तारादेही मार्ग पर अवस्थित समनापुर ग्राम से कोड़ल पहुॅचा जा सकता है। यहॉ पर विद्यमान शिव मन्दिर एवं मठ यह सुनिश्चित करता है कि यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण रहा है। भग्नावशेषों से स्पष्ट है कि यह शिव मन्दिर उंचे आयताकार अधि ाश्ठान पर निर्मित है। इस मन्दिर का प्रवेश द्वार प्रचलन से हटकर पूर्व दिशा की ओर न होते हुए पश्चिम दिशा की ओर हैं। पश्चिमाभिमुख यह मन्दिर लगभग 1 मीटर उंची जगती पर निर्मित है, वर्तमान में मन्दिर का भव्यद्वार अलंकृत द्वारा शाखाओं से युक्त विशेश उल्लेखनीय है। मन्दिर के अन्य भागों को समुचित रूप से नहीं बतलाया जा सकता है। परन्तु विन्यास से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इसमें मुखमण्डप, महामण्डप भव्य योजना रही होगी।[9] मन्दिर का शिखर भाग नष्ट हो चुका है। शिखर का आमलक मन्दिर के प्रांगण में पुरावशेष के रूप विद्यमान हैं। मन्दिर का गर्भगृह सादा है तथा भीतरी दीवार के उत्तरी भाग में ज्यामितीय अलंकरण हैं। मध्य भाग में वर्गाकार पीठ पर शिवलिंग प्रस्थापित है। भोग पीठ (उत्तरी भाग) वर्तुलाकार, भद्रपीठ (मध्यभाग) अष्टकोणीय तथा ब्रह्मपीठ (निचला भाग) चतुष्कोणीय है। मन्दिर के बाहरी दीवारों पर शिव के विभिन्न स्वरूप–नटराज शिव, गजासुर संहारक, आसनस्थ शिव, पार्वती, विनायक–विनायकी, इन्द्र, नैऋति, यम, अग्नि, शार्दूल के साथ विभिन्न भाव–भंगिमा सहित गायन वादन में विभिन्न सुर–सन्दरियों का अंकन है। मन्दिर वास्तुगत विशेषताओं के अनुरूप यह मन्दिर नागर शैली के अन्तर्गत रखा गया है, अपनी विशेषताओं से यह कलचुरि कालीन स्थापत्य प्रतीत होता है।

कुण्डलपुर– कुण्डलपुर (23°59′ उत्तरी अक्षांश तथा 79°43′ पूर्वी देशान्तर), दमोह जिले के पटेरा तहसील में अवस्थित है। यह दमोह–पटेरा मार्ग पर दमोह से 36 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह स्थल जैन धर्म की प्रसिद्ध तीर्थस्थली है। यहाँ तालाब के उत्तर में एक सपाट छतयुक्त मन्दिर है। निर्माण योजना में पूर्वाभिमुख इस देवालय में प्राग्गृवा और गर्भगृह वर्गाकार है।[10] विद्वानों ने उसे मन्दिर वास्तु के आधार पर गुप्तकाल का माना है। इस स्थापत्य को आम्बिका देवी के मन्दिर से जाना जाता है। मन्दिर वर्गाकार उंचे अधिष्ठान पर बना हुआ है, जिसमें वर्गाकार छोटा खुला मण्डप है। मण्डप स्तम्भों एवं सपाट छत वाला है। रूकमणी मठ के निर्माण सादे प्रस्तर खण्ड से हुए हैं। यह मठ वर्गाकार क्षेत्र में सपाट स्तम्भों पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ की आधार पीठिका चौकोर है। सम्मुख भाग के दोनों पार्श्वों में वर्गाकार बरामदे निर्मित हैं। मठ का प्रवेश द्वार ध्वंस्तावस्था में है। मध्य की पश्चिमी दीवाल के अन्तःभाग में स्थित स्तम्भों के मध्य दक्षिण से उत्तर की ओर तीन आधार पीठिकाऐं हैं। इन पीठिकाओं पर देवी–देवताओं की प्रतिमाओं का अभाव पाया जाता है। एक प्रस्तर के निकट कलचुरि कालीन जैन यक्ष–यक्षी की प्रतिमाऐं संरक्षित थी, जो चोरी हो जाने से वर्तमान में विदिशा संग्रहालय में संरक्षित है।

मोहड़ :– दमोह जिले के तेजगढ़ पुरामार्ग पर विद्यमान ग्राम हिनौती से लगभग 8 कि.मी. दूर जंगल मोहड़ नामक एक छोटा सा ग्राम है, जहाँ पर प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष इधर–उधर उपेक्षित ढ़ग से बिखरे हुए हैं [11]। यहाँ पड़े अवशेष कई स्थानों पर देखे जा सकते हैं। भग्नावशेषों से अनुमान किया जा सकता है कि इन मन्दिरों का निर्माण अन्तिम कलचुरि शासकों के द्वारा करवाया गया होगा। मोहड़ सम्भवतः महेश्वर का अपभ्रंश रूप है। सम्भवतः यहाँ महेश्वर शिव का प्राचीन मन्दिर था।जिसके फलस्वरूप इस स्थान का नाम अपभ्रंश रूप से अब मोहड़ शेश होने का संकेत करता है । यहाँ से अधिकतर सिरदल में शैव धर्म से सम्बधित कलावशेष प्राप्त हुए हैं। इसके साथ–साथ यहाँ विश्णु एवं उनके विविध अवतार तथा सूर्य आदि की प्रतिमाओं की अधिकता है। यहाँ पर शैव एवं वैश्णव धर्म एक साथ प्रचलन में रहे, जो हमें पुरावशेषों के रूप में प्राप्त हुए हैं। ध्वंशावशेषों की बहुल्यता से यह अनुमान किया जा सकता है। कि यहाँ पर 5 मन्दिर समूह थे, परन्तु वर्तमान में मात्र एक मन्दिर खंडहर के रूप में विद्यमान है। मन्दिर भूमितल से लगभग 2 मीटर के उंचे आयताकार अधिश्ठान के ऊपर निर्मित है। मन्दिर के मण्डप वर्गाकार है तथा चारों कोनों पर चार स्तम्भ घटपल्लव तथा ज्यामितिय अलंकरणों अलंकृत है। शैव धर्म से सम्बधित विभिन्न कथानकों जैसे शिव–पार्वती परिणय शिवलिंग पूजा एवं देव–वृन्दों का अंकन प्राप्त होता है। मन्दिर नागर शैली में निर्मित किया गया, जिसका शिखर पूर्णतः विनष्ठ हो चुका है। इस मन्दिर का निर्माण काल सम्भवतः अन्तिम कलचुरि शासकों द्वारा 12वीं–13वीं शती ई. में कराया गया मालूम पड़ता है। मन्दिर के अतिरिक्त इस पुरास्थल से खेतों, बागों एवं घरों के बाड़ों में कई कलाकृतियॉ देखने को मिल जाते हैं। जिनमें प्रमुखतया सप्त अश्वारूढ़ सूर्य, गरूणासीन विष्णु, नटराज शिव, नंदी देवी, कार्तिकेय, दीपधारिणी प्रतिमा, प्रसारिका, एवं अन्य देव प्रतिमाऐं महत्वपूर्ण हैं।

नोहटा :–

नोहटा (23°40′ उत्तरी अक्षांश 79°34′पूर्वी देशान्तर), दमोह जबलपुर राजमार्ग पर दमोह से 22 किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। नोहटा से लगभग 1 किलोमीटर दूर मुख्य सड़क के बायें पार्श्व में नोहलेश्वर शिव मन्दिर स्थित है। भौगोलिक दृष्टि से यह कस्बा व्यारमा नदी की सहायक गौरैया तथा

व्यारमा नदियों के संगम के समीप स्थित है। नोहटा का नोहलेश्वर शिव–मन्दिर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, मध्यप्रदेश भोपाल द्वारा संरक्षित स्मारक है। नोहलेश्वर शिव मन्दिर का प्रवेश द्वार पश्चिमाभिमुख है। वास्तु–विन्यास की दृष्टि से नोहलेश्वर शिव मन्दिर की संरचना कलचुरि कालीन कला शैली के सुविकसित स्वरूप का बोध कराती है। इसक निर्माण काल 960ई. का माना गया है। महारानी नोहलादेवी ने अपने आराध्य भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए इस शिव मन्दिर का निर्माण कराया था।यह मन्दिर शिखर शैली युक्त पंचरथ प्रकार का है। मन्दिर के आन्तरिक शिल्प–विधान तथा बाह्य संरचना में देव–परिकर के साथ–साथ मांगलिक प्रतीकों का शिल्प शास्त्रीय विवेचन दर्शनीय है। देव–देवी प्रतिमाओं के अतिरिक्त मानवीय, पशु आकृतियाँ तथा आलंकारिक विधाओं सहित प्रकृति परक प्रतीकों की परम्परा विद्यमान है।

भू–तल विन्यास एक आयताकार चबूतरे के ऊपर स्थित है। भूमितल से चबूतरे की ऊँचाई 1.25 मीटर है। चबूतरे का आकार 25 मीटर लम्बा तथा 15.25 मीटर चौड़ा है।[12] इसी चबूतरे के ऊपर नोहलेश्वर शिव–मन्दिर की संरचना की गयी है। इसमें जगती के अतिरिक्त मण्डप, महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगष्ह विद्यमान हैं[13]। अन्तराल तथा गर्भगृह तक पहुँचने के लिये अलंकृत द्वार हैं। मुख्य प्रवेश द्वार के सामने सोपान हैं। आयताकार मण्डप की छत छह स्तम्भों पर आधारित है। मण्डप के बाहरी भाग सभी ओर खुले है। महामण्डप के दो स्तम्भ प्रवेश द्वार पर स्थित है। मण्डप की छत का आंतरिक मध्यभाग पुष्पित कमल और मणिक्य माल के अलंकरणों से सुशोभित है। पार्श्व भाग में अर्धविकसित कमल–पुष्प उत्कीर्ण है। मण्डप की ऊपरी बाह्य भाग नक्काशीद्वार शिलाखण्डों से निर्मित है। शीर्ष भाग में स्थापित लघु आमलक और कलश सुशोभित है।

नोहलेश्वर शिव–मन्दिर के कलावशेषों में तत्कालीन लोक–जीवन प्रतिबिम्बित है। साहित्य, धर्म, कला के चरमोत्कर्श के साथ–साथ क्षेत्रीय लाक्षणिक विशेशताओं के रोचक प्रयोग कलचुरिकालीन कला में दिखायी देते है। पुरूष–नारी, पशु–पक्षी, प्रकृति चित्रण के जो स्वरूप यहाँ विद्यमान है, इनके अध्ययन से तत्कालीन लोक–जीवन, मानव रूचि, धार्मिक निष्ठा एवं कलाप्रियता पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दमोह जिला पुरातात्विक स्थलों से परिपूर्ण है। जहाँ हम प्रागैतिहासिक काल से निरन्तर संस्कृतियों का सृजन देख सकते है। यहाँ विभिन्न संस्कृतियों का उद्‌भव एवं विकास हुआ। दमोह क्षेत्र को विभिन्न संस्कर्षतियों की संगमस्थली के रूप में देखा जा सकता है। मन्दिर एवं कलावशेष दमोह क्षेत्र की पुरातात्त्विक संपदा का अमूल्य धरोहर है। यहाँ सांस्कृतिक इतिहास के निरुपण का अप्रतिम स्मारक एवं कलावशेष है जो धर्म,कला और शास्त्र–चिंतन निरंतर मुखरित होता रहा। अतीत के वैभव का यह ज्योति पुंज अभी भी पुराविद्‌ों एवं दर्शकों के ह्रदय में एक साथ उष्णता तथा शीतलता का भाव संचारित करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. दमोह जिला, जिला गजेटियर विभाग, मध्य प्रदेश, 1980, पृ. 1
2. दमोह जिला, जिला गजेटियर विभाग, मध्य प्रदेश, 1980, पृ. 1
3. दमोह जिला, जिला गजेटियर विभाग, मध्य प्रदेश, 1980, पृ. 2
4. पी.के. भट्‌टाचार्य, हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्य प्रदेश फ्रॉम अर्ली रिकार्ड्स, मोतीला बनारसीदास, दिल्ली, 1977, पृ. 123
5. विनोद कटेला, ''दमोह जिले के महत्वपूर्ण पुरातत्त्वीय स्थल'', दमयंती दर्पण, जिला पुरातत्त्व संघ, दमोह, 1989, पृ. 6

6. इण्डियन आर्कियोलॉजी, ए–रिव्यू, 1968–69, पृ. 90, 1970–71, पृ. 85
7. दमोह जिला, जिला गजेटियर विभाग, मध्य प्रदेश, 1980, पृ. 34
8. रायबहादुर हीरालाल, दमोह दीपक, इन्टैक, जबलपुर, 1919, पृ.207–208
9. रत्नेश सालोमन तथा धीरेन्द्र सिंह सोलंकी, विस्मृत दमोह, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन), 2002, पृ. 59
10. रत्नेश सालोमन तथा धीरेन्द्र सिंह सोलंकी, विस्मृत दमोह, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन), 2002, पृ. 49
11. रत्नेश सालोमन तथा धीरेन्द्र सिंह सोलंकी, विस्मृत दमोह, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन), 2002, पृ. 61–62
12. कष्णकुमार त्रिपाठी, ''नोहलेश्वर शिव–मन्दिर (नोहटा)'', दमयंती दर्पण जिला पुरातत्त्व संघ, दमोह, 1989, पृ. 16
13. रत्नेश सालोमन तथा धीरेन्द्र सिंह सोलंकी, विस्मृत दमोह, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन), 2002, पृ. 55

सकौर का शिव–मन्दिर (सकौर)

सकौर का शिव–लिंग (सकौर) एवं नोहलेश्वर शिव–मन्दिर (नोहटा)

तृतीय खण्ड
स्मृतियों में स्व.प्रो. विवेकदत्त झा

29 सितम्बर 1943 से 6 जून 2016

टैगोर प्रोफेसर विवेकदत्त झा का जन्म सन 29 सितम्बर 1943 को मध्यप्रदेश के मंडला जनपद के एक प्रबुद्ध एवं प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। डॉ. झा की प्रारम्भिक शिक्षा मण्डला से तीस किलोमीटर दूर बमनी बंजर कस्बे में हुई। हाईस्कूल व बी.ए. तक की शिक्षा उन्होंने वर्तमान छत्तीसगढ़ के जगदलपुर में प्राप्त की। तत्पष्चात् सागर विश्वविद्यालय, सागर मध्यप्रदेश से एम.ए. (प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व) सन् 1965 में प्रथम श्रेणी में उर्त्तीण की। उन्हें पी–एच.डी. उपाधि 'आर्क्योलॉजी ऑफ बस्तर रीजन' विषय पर सागर विश्वविद्यालय,सागर द्वारा सन 1980 ईस्वी में प्रदान की गयी। उन्होने सर्वोच्च शोध उपाधि (डी.लिट.) 'बस्तर का मूर्तिशिल्प' विषय पर मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार से वर्श 1989 ईस्वी में प्राप्त की थी। उन्होंने सन् 1965 में जबलपुर के समीपस्थ विख्यात त्रिपुरी एवं रायसेन के विश्व प्रसिद्ध भीमबैठका उत्खननों में सहभागिता की थी।

वर्ष 1968 मे वह सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग में उनकी नियुक्ति सहायक प्राध्यापक के पद पर हुई। तदुपरान्त इसी विभाग में रीडर (प्रवाचक), टैगोर प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष रहें। वह विष्वविद्यालय के अनेक प्रशासनिक पदों यथा कार्यवाहक कुलपति, कार्य परिशद सदस्य, विद्यापरिषद सदस्य, संकायाध्यक्ष, एवं विश्वविद्यालय छात्रावास मुख्य अधीक्षक के दायित्वों का निर्वाह उन्होंने कुशलतापूर्वक किया। प्रो. झा की अध्यक्षता में सागर विष्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग का चहुमुखी विकास हुआ। लगभग 40 वर्षो तक अपनी सेवाएँ सागर विश्वविद्यालय (वर्तमान डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विष्वविद्यालय, सागर) को प्रदान की। वे दिसम्बर, 2006 में इसी विश्वविद्यालय से सेवा–निवष्त हुए। सेवानिवृति के उपरान्त वह विषय के लिए सतत् सक्रिय रहे और निरन्तर अनुसंधान कार्य करते रहे। 6 जून, 2016 को उन्होंने अंतिम सांस ली। प्रो. झा को लगभग संपूर्ण मध्यप्रदेश में पुरातत्वीय सर्वेक्षण कराने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने पुरातात्विक सर्वेक्षण एवं उत्खनन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। एरण, त्रिपुरी, तुमैन, मल्हार,घोडामाड़ा में उत्खनन तथा सरगुजा, बस्तर सहित सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ ओर मध्यप्रदेश का पुरातात्विक सर्वेक्षण उनकी विशेष उपलब्धि रही। प्रो. झा द्वारा लिखित ग्रन्थ 'बस्तर का मूर्तिशिल्प' प्रतिमा विज्ञान की अप्रतिम कृति मानी जाती है। उन्हें हमारा सत् सत् नमन।

प्रो. नागेश दुब

डॉ मोहन लाल चढ़ार

प्रोफेसर विवेकदत्त झा – स्मृति शेष

प्रो. उदयवीर सिंह

सागर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.) के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पूर्व अध्यक्ष एवं टैगोर प्रोफेसर विवेकदत्त झा, एम.ए., पी–एच.डी. (सागर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.), डी.लिट. (मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार) का जन्म मध्यप्रदेश के मंडला जनपद के एक प्रबुद्ध एवं प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। बी.ए. तक की शिक्षा उन्होंने वर्तमान छत्तीसगढ़ के जगदलपुर में प्राप्त की। तत्पश्चात् सागर विश्वविद्यालय में एम.ए. (प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग) में सन् 1963–64 में प्रवेश लेने के दौरान डॉ. झा मेरे सम्पर्क में आये और यह सम्पर्क लगभग चार दशकों तक किसी न किसी रूप में बना रहा। इन लम्बे सम्पर्क के कारण ही डॉ. झा के व्यक्तित्व को मैं भली–भांति समझ सका। विद्यार्थी के रूप में डॉ. झा को मैंने विविध गुणों से परिपूर्ण और सम्पन्न पाया। वे आज्ञाकारी, सुशील, परिश्रमी, कुशाग्र बुद्धि, मेधावी एवं विनोदप्रिय थे। इतने गुण सम्पन्न विद्यार्थी का एम.ए. में प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण करना स्वभाविक है। एम.ए. उत्तरार्द्ध में डॉ. झा ने ''एरण उत्खनन से ज्ञात द्वितीय काल का अध्ययन'' शीर्षक पर लघु शोध–प्रबंध भी परीक्षार्थ लिखा था। जिसे विद्वान परीक्षक ने सराहनीय तथा इसमें प्रयुक्त हिन्दी भाशा को विषयोपयोगी पाया।

एम.ए. परीक्षा के परिणाम से उत्साहित होकर डॉ. झा ने पी–एच.डी. हेतु पंजीयन कराया "Archaeology of Bastar Region" शीर्षक विषय पर। इस पिछड़े एवं दुर्गम क्षेत्र के पुरातत्व पर शोध करने के लिए आवश्यक साहस डॉ. झा में विद्यमान था। शोध के क्षेत्र में सर्वोच्च उपाधि (डी.लिट.) प्राप्त करने के लिए उनका लिखा ग्रन्थ 'बस्तर का मूर्तिशिल्प' डॉ. झा की एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। जिसे मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार) ने स्वीकार किया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ. झा ने अपना शोध कार्य एक काल तक सीमित न रखकर प्रागैतिहासिक काल, अद्यैतिहासिक काल, प्राचीन इतिहास काल, इतिहास काल, प्राचीन कला, मूर्तिशिल्प आदि विषयों पर डॉ. झा ने साधिकार लिखा है। एम.ए. द्वितीय वर्ष में निर्धारित पुरातात्विक उत्खनन तथा अनुसंधान का ज्ञान उन्होंने एरण में प्राप्त किया। सन् 1965 जबलपुर के समीपस्थ प्राचीन अवशेषों के लिए विख्यात त्रिपुरी उत्खनन में सहभागिता की थी। इस पुरास्थल पर उन्हें तत्कालीन ख्याति प्राप्त पुरातत्व–वेत्ता डॉ. एच.डी. सांकलिया का मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

डॉ. झा को लगभग संपूर्ण मध्यप्रदेश में पुरातत्वीय सर्वेक्षण कराने का श्रेय प्राप्त है। उनके द्वारा विभिन्न स्थलों पर उत्खनन कराये गये जिनमें प्रमुख स्थल त्रिपुरी, मल्हार तुमैन और एरण इत्यादि हैं। डिण्डोरी जनपद के 'घोड़ामाड़ा' शैलाश्रय के उत्खनन में तो शारीरिक कष्ट होने के बाद भी स्वस्थ व्यक्ति की भाँति उत्खनन कराते हुये मैंने स्वतः देखा था। डॉ. झा एक आदर्श शिक्षक एवं अनुशासन प्रिय व्यक्ति थे। वे विद्यार्थियों में हितैषी के रूप में प्रसिद्ध थे। विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें दी गयी प्रत्येक जिम्मेदारी का निर्वाहन निष्ठापूर्वक करते थे। विश्वविद्यालय के अनेक अन्य पदों यथा कार्यकारी कुलपति, कार्य परिषद सदस्य, विद्यापरिषद सदस्य, संकायाध्यक्ष, विभागाध्यक्ष एवं विश्वविद्यालय छात्रावास मुख्य अधीक्षक के दायित्वों का निर्वाह उन्होंने कुशलता पूर्वक किया। डॉ. झा की अध्यक्षता में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग की प्रशंसनीय उन्नति हेतु उन्हें अवश्येव स्मरण किया जायेगा। उनकी इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए डॉ. झा द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण शिक्षक एवं विभाग से सम्बन्धित सभी सदस्य करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

एक अनन्य विद्यार्थी, एक अद्वितीय अध्यापकः प्रो. विवेकदत्त झा

प्रो. के.के. जैन

डॉ विवेक दत्त झा। तब वे डॉक्टर नहीं थे। एम.ए. भी नहीं थे, बी.ए. भी नहीं थे। तब वे बी.ए. प्रथम वर्ष में थे। शासकीय महाविद्यालय, जगदलपुर में। बस्तर के सारे विद्यार्थी महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए जादलपुर आते थे। विवेक तो खैर जगदलपुर के ही थे। मेट्रिक पास हुए तो जगदलपुर के शासकीय महाविद्यालय में स्नातक की उपाधि लेने के लिए विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया। जब दुर्ग से स्थानांतरित होकर जगदलपुर पहुंचा तो वे द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी थे। मेरे छोटे भाई डॉ. केशवकुमार जगदलपुर के महाविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता के रूप में पहले से वहां थे। विवेक इतिहास के विद्यार्थी थे। वे केशव से मिलने के लिए उनके पास आते थे। अतः सहज ही वे मेरे आत्मीय भी बन गये। विवेक कक्षेतर गतिविधियों में सदैव प्रथम पंक्ति के विद्यार्थी थे। नाटक हो, छात्र संघ की गतिविधियां हो, विवेक सबसे आगे।

रायपुर में एक सज्जन हैं! विश्व में किसी अनोखे कार्य के लिए प्रतिष्ठित होने की उनमें दुर्विवार लालसा है। अभी पिछले कुछ वर्षों से मेरे जन्मदिन पर उनका बार्धा पत्र आया है। यदि किसी वर्ष में बधाई पत्र का उत्तर न दे सकूं तो वे शिकायत दर्ज कराते हैं। अगले वर्ष के बधाई पत्र के साथ कि पिछले वर्ष आपने मेरे बधाई पत्र का उत्तर नहीं दिया। मुझे ..... उत्तर देना पड़ता है। छिपी लालसा किसके मन में नहीं होती कि उसका जब निवधि काल है और विपथा पृथ्वी के सदा सदा के लिए अंकित हो जाय। मैंने गिनीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड के माध्यम से इस अमरता कापी को विवेक और अंजलि जैसे दम्पत्तियों के विवरण एकल करने का सुझाव दिया। विवेक मेरे जगदलपुर के दिनों के विद्यार्थी थे और अंजलि, के दिनों की छायांजलि मेरे विद्यार्थी काल के गंगाधर इला की भतीजी थी एवं इसीलिए महाविद्यालय में हिन्दी एम.ए. कर मेरी छात्रा थीं, मेरी कक्षा की हमीदियां महाविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. कर रही थीं। महाविद्यालय के पास ही थी। अतः साधना मेरी पत्नी अंजलि के प्रायः अपने साथ घर ले जाया करती थीं। उस समय मुझे दत्त की तनिक भी आभास नहीं था कि वो मेरे पुराने छात्र विवेक दत्त झा की परिणति बनेंगी। विवेक और अंजलि का जोड़ा मेरे लिए विशेष था दोनों ही मेरे छात्र थे और मेरी पत्नी के पूर्व परिचित थे। अतः 1978 ईसी में जब मैं सागर विश्वविद्यालय में माखनलाल चतुर्वेदी पीठ हिन्दी का प्रोफेसर होकर आया तो स्वयं पहिले ही दिन विवेकांजलि से मिलने गया। मुझे पता नहीं था कि मेरा अपने पुराने विद्यार्थियों से मिलने जाना कोई न्यूज होगा। पर वह न्यूज बना। सागर विश्वविद्यालय का परिसर नौकरशाही के खांचों में बंधा हुआ था। शासकीय पदाधिकारी अपने से न्यूनतम पदाधिकारी

के यहां नहीं जाते, उनकी अपेक्षा होती हैं कि उनसे कम पद का अधिकारी ही उनके यहां आये और मिलने पर कुर्सी से खड़ा जो जाये और उन्हें प्रणाम करे। कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर, तहसील, नायब तहसीलदार, पटवारी, तबयह सीढ़ी बढ़ता नौकरशाही को बड़ी दृढ़ता से बांधे रखता है। सागर विश्वविद्यालय का कोई प्रोफेसर सागर ही किसी रीडर के यहां गया है। मैं गया, एक व्याख्याता के यहां। इसे न्यूज बनना ही था, इस न्यूज से विश्वविद्यालय के ऋण अध्यापकों का पूरा वर्ग मुझसे एक आत्मीयता का अनुभव करने लगा, विवेक ने भी दृढ़ श्रेणी विवेक से भावना को संकुचित करने के लिए साथ दिया। विश्वविद्यालय में मुझे ..... स्वयं प्राध्यापक को सहस ही सब जानने लगे। मुझे हसबावड़ा लाय। मुझे कोई भी प्रशासनिक दायित्व सौंपे गये जैसे छात्रावासों का मुख्य प्रतिक्षक, मुख्य प्रतिरक्षक, विश्वविद्यालयीन परीक्षाओं का मुख्य समन्वयक इस नयी अषैक्षिणी के कारण मुझे बड़ी सफलता दिखी। इनमें से कुछ दायित्व तो ऐसे थे जिन्हें चतुर सष्जन प्राध्यापक स्वीकार करने में हिचकिचाते थे– जिसके पुण्यों काक्षय हो गया हो वहीं इन्हें समझे। मेरे पुण्यों का उदय हुआ, उसका बड़ा श्रेय में विवेक को देता हूँ।

'ईसुरी' पत्रिका निकालने का विचार मेरे न में अचानक ही आया। 1978 में मैं माखनलाल चतुर्वेदी पीठ के निदेषक के रूप में सागर विश्वविद्यालय आया था और एक वर्ष बाद बुन्देलीपीठ का उपाध्यक्ष भी हो गया था। मैंने देखा कि बुन्देलीपीठ के कार्यालय में रीयों कागज गंधा पड़ा है उसमें दीमक लग रही थी और प्रतिवर्ष वह कम ही होता जाता था। इतिहास के विद्यार्थी के रूप में मुझे पता था कि विश्व के प्रायः सभी महायुद्धों का प्रारंभ बड़ी छोटी घटनाओं से हुआ है। अमरकंटक में नर्मदा के उद्भव को देखकर कोई कपना ही नहीं कर सकता कि ऐसी विशाल नदी का उद्भव इतना सामान्य होगा कि उसे छलांग मारकर पार कर लो। बुन्देलीपीठ के कागजों की मुख्य और दीमक से अपव्यय को रोकने के लिए मैंने सोचा कि क्यों न बुंदेली और बुन्देलखण्ड पर एकाग्र पर पत्रिका का वार्शिक प्रकाशन किया जाये। संसाधनों की कोई कमी नहीं थी। पर विश्वविद्यालय और क्षेत्रीय लोक संस्कृति और लोकभाषा की पत्रिका छीः छीः थूः थूः। विश्वविद्यालय क्या नगरपालिका उच्चतर माध्यमिक शाला है जो विश्व संस्कृति और विश्व साहितय को, काफका, काबू, हलिया, टेगौर, प्रसाद को छोड़कर ईसुरी जैसे बुन्देली फगकरे के नाम से पत्रिका निकाली जाये? बुन्देलीपीठ के अध्यक्ष न बुन्देली पीठ के सचिव मेंरे खुद्र विचारों से सहमत हुए। किन्त ईसुरी को तो निकलना ही था। अगले वर्ष नियति मैं जब हिन्दी विभाग फलतः बुन्देली पीठ का भी अध्यक्ष पूछा तो सारे कटक अपने आप दूर हो गये। ईसुरी 1982 में निकली मैंने सहायता के लिए, सहयोग के लिए चारों ओर दृष्टि घुमायी। मुझे सहज ही त्रिमूर्ति मिल गयी, अंग्रेजी के रायसुंदर पाठक, प्राचीन भारतीय इतिहास पुरातत्व और संस्कृति के विवेक दत्त झा और हिन्दी के सुरेष आचार्य। तीनों युवा, तीनों साहित्य और संस्कृति के रसिक, तीनों लोक समझने में मर्मज्ञ, पाठक जी बघेली के, झा साहब छत्तीसगढ़ी के और आचार्य जी बुन्देली के। मेरी जानकारी में केशव शान्ति निकेतन से लोककला, साहित्य और संस्कृति पर एकाग्र उस लक्ष्य तक 'विश्व भारती' पत्रिका ही प्रकाशित होती थी। 'ईसुरी का त्रिमूर्ति ने 'ईसुरी' को सार्थक सफल और अनन्य बनाने के सैपर्स का काम किया। सागर विश्वविद्यालय के प्रत्येक विभाग से सामग्री के लिए मनुहार की जा रही है, देश के अन्य विश्वविद्यालयों से सामग्री के लिए पत्र व्यवहार किया जा रहा है विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तिगत संग्रहालयों से सामग्री के लिए विनय की जारी है। पाठक, झा और आचार्य की चर्चा मेरे परिसर स्थित आवास में सामग्री का संयोजन करने में, संपादन करने में नहीं हुई है। तीनों के विशिष्ट बोल अपने आप ही निश्चित हो गये। विवेक दत्त झा को बुन्देलखण्ड

के पुरातत्व की राईस्त्री का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था। वे एरन का उत्खनन करा रहे थे, उन्होंने विभागीय सहयोग मित्रों से, प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्व के मनीषी प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी के साथ मिलकर सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में एक अनन्य मूर्ति संग्रहालय को साकार किया था। उस सबका लाभ 'ईसुरी' को मिला। पाठक जी अंग्रेजी के विद्वान! बुन्देली की 'ईसुरी' से उनका क्या लेना–देना पर ई.एस. फार्स्टन ने अंग्रेजी का प्रसिद्ध उपन्यास ए पैसेज द इण्डिया वहां लिखा था। छतरपुर के विश्रामगृह में ही बैठकर न तो अंग्रेजी के कवि के थे। बुन्देलखण्ड के ही न ही पाठक जी अंग्रेजी साहित्य के और बुन्देलखण्ड के चप्पे–चप्पे की खाक छान रहे है और ईसुरी को समूद्ध कर रहे है। सुरेश आचार्य को बुन्देली लोक और संस्कृति के कोने ओत को समने में बड़ा रस मिलता है, वे ईसुरी के लिए बुन्देली की लोककलाओं का, किंवदंतियों का, आधुनिक संदर्भानुकूल कर रहे हैं। उनमें जो काव्य प्रतिभा है वह उन्हें ईसुरी की फागों का खड़ी बोली रूपातंरण के लिए प्रेरित करती है। बाहर रिमझिम रिमझिम पानी बरस रहा है और इर चारों ईसुरी को लिए प्राप्त सामग्री का संपादन करने में जुटे हैं। ईसुरी को जो अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठता मिली उसका श्रेय इस त्रिमूर्ति को ही है।

प्रो. विवेक दत्त बहुत अच्छे अध्यापक थे। प्रसिद्ध इतिहासविद् और सागर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति कहा करते थे कि एक अच्छे अध्यापक को सिटी कोतवाल जैसा अनुशासन प्रिय, मुधमक्खी जैसा ज्ञान मधु प्रेमी, गोताखोर जैसा तल स्पर्धी और एक अभिनेता जैसा भाव श्रवण होना चाहिए। शासकीय महाविद्यालय, जगदलपुर के छात्र संघ के अध्यक्ष के रूप में नेतृत्व का गुण तो उनमें था ही, एक कुशल फुटबाल खिलाड़ी के रूप में अनुशासन का गुण भी उन्होने स्वायत्त कर लिया था। बसार जैसे ऊबूक्स अंचल के पुरातत्व स्थलों का उन्हें सूक्ष्म ज्ञान था, कौन सी प्रतियां किस राजा ने स्थापित थी, उसका कुल गोल क्या है, उन्हें सब पता होता था। जिस मंच पर वे अभिनय करते थे, वह मंच उनका अपना हो जाता था। स्वरों के अवरोह द्वारा अपने भावों से सम्प्रेषण करने के लिए वे सिद्ध थे, गोताखोरी का कौशल उन्होंने बस्तर की जीवन रेखा इन्द्रावती में तैर–तैर कर सिद्ध किया था। वे एक अनुशासित विद्यार्थी थे और एक अनुशासित अध्यापक थे। उनकी कक्षाओं में सब स्वयं पर पहुंचते और एकाग्र भाव से बैठै रहते। मुझे याद है जब डॉ. धनंजय वर्मा यहां कुलपति थे और शिक्षामंत्री श्री मुकेश नायक के आने के सदाचंद से अफरा तरफी मची हुई थी, तो विवेक ने ही संभाला था और भीड़ को नियंत्रित किया था।

विवेक को गुस्सा जल्दी आता था। अन्याय का प्रतिकार करने वे वन मैंन आर्मी थे। वे न अन्याय करते थे और अन्याय होने देते थे। उनके विद्यार्थी उन पर अन्यय भरोसा करते थे। अंग्रेजी में एक शब्द है इंटेग्रिटी। विवेक ने जो कह दिया, वे उसे पूरा करेंगे ही। मैंने 36 वर्षों के अपने सुदीर्घ अध्यापन काल में जिस विद्यार्थियों को पढ़ाया है, उनमें विवेक पर परिणित किये जा सकते हैं। मैं जब भी विवेक को याद करता हू तो बड़े स्नेह, और सम्मान के साथ। उन जैसे विद्यार्थी और उन जैसे अध्यापक अब नहीं होते। लगता है काल देवता को स्वयं के प्रवाह में सींचा ही तोड़ दिया है जिसमें विवेक जैसे गुणी वाले जाते थे।

पिछली भेंट में डॉ. श्रीमती अंजलि झा ने मुझे बताया कि अपने अंतिम दिनों विवेक जी अपने बचपन के संस्करण लिख रहे थे। उनकी यह पुस्तक पूरी हो जाती कि वे हमें छोड़कर चले गये। विवेकजी का बचपन मंडला और पुरातत्व समृद्ध अंचलों में बीते। ये जिले नर्मदा और इन्द्रावती के जिले है। इनका जल अनन्य और समृद्ध माना जाता है। नर्मदा अपनी संगमरमरी चट्टानों के लिए विश्व विपुल है और इन्द्रावती

जिन पहाड़ों के बीच में बहती है वे अपनी स्वर्ग संपदा के लिए विख्यात है। विवेक ने बचपन से ही उन सोन झरियों को भी जाता है जो इन्द्रावती स्तर पर फैली विशाल स्वर्णकरण बटोरते हैं और नर्मदा तीर वसी उन शिलियों के भी जो नर्मदा के संग भांति भांति की कलाकृतियों का निर्माण करते है। विवेक ने अपने पुरातात्विक विवेचन से ज्ञान के स्वर्ण कणों का ऐलान किया और संगमरमर की चट्टानों में बसने वाली कलाकृतियों का उद्घाअन भी किया। मंडला और बस्तर की पुरातात्विक संपदा पर जैसा ज्ञान प्रो. विवेकदत्त झा को था, किसी अन्य विद्वान को नहीं। उनके बचपन के संस्मरणों की उनकी पुस्तक चूंकि पूरी हो जाती तो निश्चय ही वह एक अनन्य कृति होती। विवेक ने जो कुछ किया वह भी कम ही है। पुरातत्व और उत्खनन के क्षेत्र में विवेक चिरकाल तक याद किये जायेंगें।

कीर्तिशेष बंधुवर, प्रो. विवेकदत्त झा : कुछ संस्मरण

डॉ. बैजनाथ शमा

मैं डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय में 12 वर्ष रहा। सामान्य गणना के अनुसार 12 वर्ष का समय एक युग कहलाता है। इस अवधि में मुझे सागर वि.वि. के आचार्यों, विद्यार्थियों और सामान्य वर्ग का अत्याधिक स्नेह मिला। डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के आचार्यगणों का भरपूर सहयोग मिला, इस श्रेणी में प्रो. विवेकदत्त झा का नाम मूर्धन्य है। वे मेरे साथी ही नहीं, बल्कि अनुज भ्राता की तरह थे। वि. वि. की कोई भी बात और परिवार की समस्याओं को लेकर मुझसे परामर्श लेते थे। मैं भी अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनसे चर्चा कर परामर्श लेता था।

डॉ. झा प्रदेश के प्रतिष्ठत परिवार के सदस्य थे, मुझे उनके पिताजी, ज्येष्ठ भ्राता और अनुज, एडवोकेट विभूति दत्त झा से मिलने का मौका मिला है। सभी में पारिवारिक गरिमा और शालीनता कूट–कूट कर भरी है। डॉ. झा व्यक्तिगत रूप से कर्मयोगी थे, उनमें परिवार के प्रति गहरी ममता थी, एक बार अपने मित्र को बचाने में उस समय के उनके एक मात्र पुत्र की नदी में डूबकर असमयिक मृत्यु हो गयी, पुत्र वियोग हृदय विदारक घटना थी। जब यह समाचार मुझे मिला तो मैं सपरिवार उनके निवास स्थान पर गया, मैंने उन्हें साहस बंधाया, वे बोले कि आपके भतीजे ने अपने मित्र को बचाने में अपना जीवन न्यौछावर किया है, एक पिता के लिए यह गर्व का विषय है।

मेरे सागर के कार्यकाल में जब–जब कोई समस्या आई तब–तब मैंने उनसे सलाह और सहायता ली। मैं उनके सहयोग, सद्भाव और बंधुत्व को बड़े सम्मान के साथ स्मृति में संजोये हुए हूँ। अपने विषय में उनकी गणना देश के विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता और आचार्यों में होती थी। उन्होंने सम्पूर्ण देश में अनेक पुरातात्त्विक महत्व के उत्खनन कराये हैं।

विगत वर्ष एक दिन प्रातः काल मेरे शिश्य डॉ. श्याम मनोहर पचौरी (प्राचार्य शासकीय महाविद्यालय गढ़ाकोटा) ने मेरे ज्येष्ठ पुत्र डॉ. सुभाश चंद्र शर्मा को दूरभाश पर डॉ. झा के अकस्मिक निधन की सूचना दी। मैं और सुभाश जी तत्काल सागर पहुँचे और डॉ. झा की पार्थिव देह को प्रणाम किया। ऐसे सज्जन सहृदय सहयोगी का निधन अपूर्णीय क्षति है। रामचरित मानस में लिखा है–

''बिछुरत एक प्राण हर लेहीं''

ऐसे स्नेही बंधु की स्मृति को मेरा शत्–शत् प्रणाम।

विवेकदत्त झाः अनकहे अनसुने पल

डॉ. अंजली झा

जबलपुर से सौ किलोमीटर दूर नर्मदा तट पर बसे मंडला शहर मे प्रतिष्ठत ब्राह्मण परिवार में विवेकदत्त झा का जन्म हुआ था। पिता पं. विजयदत्त झा और माता श्रीमति श्यामादेवी झा की पॉचवी संन्तान थे। चार भाई और चार बहन का भरापूरा परिवार था। विवेकदत्त की प्रारम्भिक शिक्षा मण्डला से तीस किलोमीटर दूर बमच्ची बंजर कस्बे में हुई। हाईस्कूल और स्नातक की शिक्षा उन्होंने जगदलपुर में अपनी बडी बहन वीणा जिज्जी के पास रहकर की थी। स्नातकोत्तर की शिक्षा के लिए वह सागर क्या आये, कि बस यही के होकर रह गये। विश्वविद्यालय में अध्यापन के अलावा विभिन्न पदों पर रहते हुए उन्होंने कुशलतापूर्वक अपने दायत्व का निर्वहन किया। उन्होने पुरातात्विक सर्वेक्षण एवं उत्खनन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एरण, त्रिपुरी, तुमैन, मल्हार, डिडौरी घोडामाडा में उत्खनन तथा सरगुजा, बस्तर सहित सम्पूर्ण छत्तीसगढ और मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक सर्वेक्षण, उनकी विशेष उपलब्धि रही। इस विषय में मैं ज्यादा विस्तार से जाना नही चाहती, क्योकि इस लेख को लिखते हुए मेरा उदेश्य उनकी अकादमिक उपलब्धि को गिनाना नही, वरन उनके जीवन से जुडे अनकहे अनसुने पलों को उजागर करना है।

22 मई 1974 ईस्वी को मेरा विवाह विवेकदत्त झा के साथ हुआ और मैं उनकी जीवन संगिनी बनी। मेरे पिता स्व. रमाधर झा और मेरे ससुर पं. विजयदत्त झा बचपन के मित्र थे। हम दोनों कों विवाह सुत्र में बाधकर, उन्होंने अपनी मित्रता कों नया आयाम दिया। विवेकदत्त झा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अध्ययन अध्यापन के अलावा विभिन्न कलाओं में उनकी गहरी रुची थी। नाटक के क्षेत्र में वे अग्रणी थे। उनके निर्देशन में अनेक नाटकों का कुशल मंचन किया गया। नाअकों में अपनी गहरी छाप छोडी। निर्देशन और अभिनय के अलावा वे मंचसज्जा, लाइटिंग व्यवस्था, मेकप इत्यादि में भी पारंगत थें। नाटक के रिहर्सल के दौरान वो खाने पीने तक को भूल जाते थे। उनकी खासियत थी कि वे जो भी कार्य करते आकंठ डूबकर, पूरे समर्पण और तल्लीनता के साथ करते थे। बारीकी से उस पर गौर करते और तब उसे अंतिम स्वरुप प्रदान करते कलाकारों के साथ उनका दोस्ताना व्यवहार रहता था।

फक्कड़ मिजाज, फकीरी अंदाज, दिखावे और आडबर से दूर जमीनी स्तर के इंसान थे। वह हरफनमौला, मस्तमौला, अपनी धुन के पक्के, कर्मठ और मेहनतकश प्रों. मिलनसार व्यक्ति थे। मददगाार इतने कि जब जिसकों जरुरत हो, वहॉ वह हाजिर हो जाते थे। विद्यार्थियों के लिए उनके दरवाजे हमेशा के लिए खुले रहते थे। छात्रावास में कोई भी समस्या हों वे रात विरात वहॉ पहुच जाते और उनकी समस्या

का निराकरण करते थे। वह विद्यार्थियों, छात्रावासियों और कर्मचारी वर्ग के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनका सामाजिक दायरा भी विस्तष्त था। डॉ. झा जितने सहज सरल थें उतने दबंग और रौबदार थे। एक बार जो फैसला ले लेते उस पर अडिग रहते फिर चाहे उन्हे विरोध भी क्यो न सहना पड़े। जिन्दादिली उनके रग रग में बसी हुई थी। जिस महफिल में वह पहुच जाते, महफिल गुलजार हो जाती। हसने हंसाने, किस्से कहानी, चुटकुले सुनाने में माहिर थे। बात बात में कहा करते थे कि '' जिंदगी जिदांदिली का नाम है। मुर्दादिल क्या खाक जिया करते है। उनके तनम न में आन्नद रचा बसा था। विषम परिस्थितियों में भी वह विचलित नही होते, धुल की तरह झाड़कर आगे बढ़ जाते थे। हमेशा कहते '' द शो मस्ट गो आन'' बडी से बडी चुनोती को स्वीकारों उनमें सघर्ष करने की गजब क्षमता थी। बच्चों से हमेशा कहते '' डू युवर बैस्ट एण्ड प्रिपेयर फॉर द वर्स्ट'' यद्यपि इतिहास एवं पुरातत्व उनका विषय था तथापि साहित्य में भी उनकी अच्छी पकड़ थी। विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों में शिरकत करते और अपना मत रखते। कोई भी घर में नई किताब या पत्रिका आती तो उसे वह आद्योंपरांत खत्म करके ही छोडते। विषय और विषयेतर किताबों का सुन्दर संकलन उनकी लाइब्रेरी में है। अपनी किताबे वे बहुत सहेजकर रखते थे। अंधायुग, एक कंठविषपायी, कनुप्रिया, आषाढ का एक दिन, हरिवंशराय बच्चन की मधुशाला, मैन ईटर्स ऑफ कुमायू, द मैन ईटिंग लैपर्ड ऑफ रुद्रप्रयाग, वेटिगा फॉर गोडों, और सलीम अली की द इंडियन बर्डस आदि उनकी पंसदीदा किताबे है।

ग्रामीण अंचल और प्रकृति के सानिध्य में पले बढ़े डॉ झा को जंगल, पहाड़, नदी नाले सहज ही अपनी ओर आकर्षित करते। प्रकृति की सुरम्य वादियों में जंगल पहाडों के बीच बसे पैतृक गॉव भवरताल से उन्हें विशेष लगाव था। अपनी अधिकांश छुटिटयॉ वहॉ गुजारते थे। आदिवासी इलाका होने के कारण आदिवासी संस्कृति और उनकी रोजमर्रा की समस्याओं से वे बखूबी परिचित थे। विभिन्न जडी बूटियो और वनस्पतियों का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। शहरी चमक दमक से वह दूर गॉव का सादगीपूर्ण जीवन बहुत पंसद था। ग्रामीण क्षेत्र के चुनौतिपूर्ण जीवन ने ही उन्हें निर्भीक, निडर, साहसी, और कर्मठ इंसान बनाया। विवेकदत्त जी को रोमांचक यात्राऍ करना नई जगहो पर जाना उस जगह की जानकारी प्राप्त करने का बेहद शौक था। ज्यादातर वह रोड यात्रा पंसन्द करते थे। न जाने कितनी बार रवह सागर से मंण्डला स्कूटर से चले जाते थे। हद तब हो गई जब उन्होने सपरिवार सागर से भोपाल जाने का कार्यक्रम बनाया और हम लोगो को ले जाकर ही माने। ऐसे ही एक बार भोपाल से सारणी तक की यात्रा भी हम चारों ने स्कूटर द्वारा तय की। पारिवारिक जीवन में उनकी बहुत सहयोगात्मक भूमिका रहती। हर छाटे बढे काम में वह मदद करने के लिए वह तैयार रहते थें। मैं खाना बनाती तो वह सब्जी काट देते। मेरी बेटी गरिमा और मैं बजार जाती और लौट कर आते तो चाय बनाकर पिलाते। कभी कहते चलो आज तुम लोगो को बढिया पुलाव बनाकर खिलाते है। और हम लोग अनके स्वादिष्ट पुलाव का आन्नद उठाते। पर हॉ कभी गुस्से में आपा खे बैठते फिर आत्मग्लानि और पश्चाताप की आग मे जलते और माफी मांगत और कहते मैं बहुत ही रफ और जंगली किस्म का इंसान हूॅ। आसान नही है किसी के लिए यह सब कहना–करना। बहुत बडा दिल चाहिऍ। तो ऐसे थे डॉ झा। अपने रहन सहन के प्रति बेपरवाह रहते, पर जब बच्चों के स्कूल में पैरेन्टस टीचर मीटिंग होती उस दिन बच्चों की भवनाओं का सम्मान करते हुए चूते पालिस कर, अच्छे कपड़े पहनते, बच्चे खुश हो जाते थे।

तमाम असमानताओं के बीच हम दोनो की रुचियों में काफी एकरुपता थी। साहित्य, संगीत, नाटक आदि विभिन्न कलाओं और बागबानी का शौक हम दोनो कों था। जाने माने साहित्यकार डॉ. कांतिकुमार जौन हम दोनों के ही गुरु है। जगदलपुर मे। स्नातक में डॉ झा को पढाया एवं भोपाल में एम.ए. में हमीदिया कालेज में मुझे उनसे पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डॉ झा को हिन्दी अग्रेजी फिल्म देखने के साथ ही पुराने फिल्मी गाने, गीत, गजल आदि सुनने का बेहद शौक था। सहगल, तलत महमूद, मुकेश, म्नना डे, जगमोहन, बेगम अखतर, सुधा मल्होत्रा, किशोर कुमार की गायकी उन्हे काफी पंसन्द थी। पश्चिम बंगाल का बाउल संगीत काफी पंसन्द था। वे अक्सर गुनगुनाते थे एकला चलो एकला चलो, एकला चलों रे''। विवेकदत्त जी जीवन पर्यन्त सर्वेक्षण, उत्खनन, लेखन, साहित्यिक सभाओं गोष्ठियों इत्यादि में पूरे उत्साह, पूरी ऊर्जा से संलग्न रहे। काम के प्रति वही ज्ज्बा, वही जुनून वही सक्रियता बरकरार रही। फिर एक दिन एकाएक ही सबकुछ थम गया। ठहर गया। जीवन सतत चलायमान है। निरन्तरता का थमना, बधित होना गति शून्यता की स्थिति है। गति शीलता का मतलब है जीवन का रुक जाना, सीधे सीधे शब्दों में कहे तो जीवन का अन्त हो जाना। 6 जून को दोपहर को ऐसा ही कुछ हुआ, जो हस बोल रहा था। पढ़ लिख रहा था, सतत् सक्रिय था, एका एक खमोश हो गया। मया मोह छोड़ सांसों बन्धन से मुक्त हो गया। अकस्मात घटित इस घटना से हम सब स्तंभित, अवाक रह गए। दिल रो रहा था पर ऑसू नही बह रहे थे। शायद ऑसू भी इसे स्वीकार कर बहने को तैयार नही थे। जिस अंदांज से दुनिया से विदा हुए है, अंतिम सांस ली, उसमें भी उनके विरोधाभासी व्यक्तित्व की छाप थी। जितनी दबंगई से जीवन जिए, उतने ही निर्विकार, शांत भाव से इस दुनिया को अलविदा कह गए। वक्त का क्या ह ै, अच्छा हो बुरा हो, जैसा भी हो कट ही जाता है। हाँ कुछ निशा छोड़ जाता है। कुछ यादे, कुछ स्मृतियां, कुछ तस्वीरे, उनकी कही बाते हमारे हमारे इर्द–गिर्द घूमती है, हमें संबल प्रदान करती है, प्रेरित करती है गतिशील रहने के लिए, निरन्तर चलायमान रहने के लिए। दूर से आती हुई चिर परिचित अवाज कानों में गूंजती है '' कही नही गया हूँ मैं, हर पल हर घड़ी तुम लोगो के साथ हूँ, तुम लोगों को न रुकना है न थमना है बस चलते जाना है'' और हमे निरन्तर आगे बढ़ते चले जा रहे है।

आचार्य विवेक दत्त झाः एक संस्मरण

डॉ. रहमान अली

आचार्य श्री विवेक दत्त झा के देहावसान की अचानक सूचना से हमें गहरा हार्दिक आघात पहुँचा। वे हमारे अभिन्न मित्र थे। अभीष्ट क्षेत्र से जुड़े होने के कारण हम दोनों 1970 से ही जुड़े रहे। इस शोक सन्देश के बाद मेरे मानसपटल पर अनेक क्षणों/घटनाओं का स्मरण होने लगा, जिसका उल्लेख मैं चन्द वाक्यों में करना उचित समझता हूँ। मेरे संज्ञान में आचार्य विवेक दत्त झा का जन्म एक उच्च वर्गीय ब्राह्मण परिवार में ग्राम बमनी–बंजर जिला मण्डला (म.प्र.) में सन् 1943 में हुआ था। उन्होंने डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में सन् 1965 में एम.ए. (स्नातकोत्तर), प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विषय से उत्तीर्ण किया तथा 1980 ई. में डॉक्टर ऑफ फिलासफ़ी की उपाधि प्राप्त की, पुनश्च 1989ई. में डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर की उपाधि मगध विश्वविद्यालय बोध गया (बिहार) से प्रसिद्ध विद्वान आचार्य उपेन्द्र ठाकुर के संरक्षण में प्राप्त की। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने दोनों उपाधियाँ ऐसे क्षेत्र संस्कृति को प्रकाशमान करने में भी जहाँ सामान्यतः शोधार्थी पहुँचने में संकोच करते हैं। ये शोध विषय क्रमशः बस्तर का पुरातत्व तथा बस्तर की मूर्तिकला पर थे। दोनों ही शोध प्रबन्ध ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य विवेक दत्त झॉ की प्रथम नियुक्ति डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर में, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में प्रवक्ता के पद पर सन् 1968 में हुयी तत्पश्चात् उनकी शैक्षिक यात्रा में पदोन्नति, प्रवाचक 1998 ई. तक तथा 1998 से आचार्य एवं विभागाध्यक्ष एवं टैगोर प्रोफेसर के पद पर आसीन रहे।

आचार्य विवेक दत्त झा की मुझसे घनिष्टता में तब वृद्धि हुयी जब हम दोनों सन् 1971ई. में तुमैन के पुरातत्वीय उत्खनन में शोध छात्रों के साथ उत्खनन शिविर में लगभग एक माह साथ रहे। आचार्य झा वहाँ उपसंचालक के पद पर थे एवं आदरणीय आचार्य कृष्णदत्त बाजपेयी संचालक थे। मैंने आचार्य झा का कार्यशैली, तत्परता एवं तत्काल निर्णय लेने की क्षमता को वहीं परखा तथा मैं उनसे और अधिक प्रभावित हुआ। पठन–पाठन, प्रशिक्षण की शैली के साथ सरल स्वभाव व विनोद के क्षण हमें अविस्मरणीय रहेंगे। आचार्य झा ने विभागीय सेवाकाल में बहुमूल्य योगदान दिया जिससे शैक्षणिक गतिविधियों में प्रगति हुयी एवं अनेक शोध परियोजनाओं का संचालन हुआ।

इसी वातावरण में आचार्य विवेक दत्त झा के योगदानों का संक्षिप्त स्मरण करना उचित होगा। इसमें आचार्य झा ने परोक्ष या अपरोक्ष योगदान दिया या सक्रिय सहभागिता की। ये निम्नानुसार हैं–

पुरातत्व के क्षेत्र में वे एरण उत्खनन 1965–66, त्रिपुरी 1966–71, तुमैन 1971–73 मल्हार 1974 में आचार्य कृष्णदत्त वाजपेयी एवं आचार्य उदयवीर सिंह 1965 तथा विश्व प्रसिद्ध आचार्य हंसमुख धीरज लाल

सांकलिया, आचार्य एस.बी.देव, आचार्य वीरेन्द्र नाथ मिश्र एवं आचार्य आर.एन. मेहता के सानिध्य में उत्खनन किया। कालान्तर में 1998 ई. में एरण का उत्खनन अपने स्वयं के संचालन में सम्पन्न किया। स्वतन्त्र संचालक के रूप में उन्होंने घोड़ामाड़ा 1999 ई. में किया। इन सभी पुरातत्वीय उत्खननों का भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की पुर्नरचना में विशेष महत्व है। आचार्य विवेक दत्त झा ने अपने शोध कार्यों एवं उत्खननों से छत्तीसगढ़ एवं मध्य प्रदेश के दुर्गम क्षेत्रों की सांस्कषतिक धरोहरों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया। इसी क्रम में उन्होंने अनेक सर्वेक्षण परियोजनाओं का संचालन किया। यथा–बस्तर क्षेत्र, मण्डला, डिण्डोरी, सिवनी, दुर्ग, रायपुर, सरगुजा, बिलासपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, विदिशा, सागर, दमोह, जबलपुर, छतरपुर तथा बारगी क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण किया। ये सर्वेक्षण वर्तमान तथा भविष्य दोनों पीढ़ियों के शोधार्थियों तथा छात्रों के लिये प्रेरणा स्रोत रहेंगे।

आचार्य विवेक दत्त झा ने पांच ग्रन्थों का प्रकाशन किया एवं तीन मोनोग्राफ प्रकाशक के पास प्रकाशनार्थ प्रस्तुत हैं; ये हैं एरण, आक्थोलॉजि ऑफ ट्राइवल कल्चर तथा हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ छत्तीसगढ़। आशा है ये ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होंगे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आचार्य झा के अनेक शोध लेख विभिन्न शोध पत्रिकाओं एवं स्मारिकाओं में प्रकाशित हैं पर वर्तमान में 61 शोध लेखों की सूची उपलब्ध है। इसके साथ ही उनके संरक्षण में शोधार्थियों की लम्बी सूचि है। ये छात्र हमारे पास भी समय–समय पर विवेचनार्थ एवं परामर्श हेतु आया करते थे।

आचार्य झा शिक्षण प्रशिक्षण व शोध के साथ ही सांस्कृतिक गतिविधियों/क्रिया कलापों में भी रूचि लेते थे। इसका प्रमाण हमें तब मिला जब अखिल भारतीय स्तर के एक कार्यक्रम में अनेक महान कलाकार हम लोगों की पंक्ति में आकर आचार्य झा से आशीर्वाद प्राप्त कर रहे थे, जिनका परिचय मुझसे कराया गया। यही कारण था कि डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर की अनेक प्रशासनिक गतिविधियों के साथ सांस्कृतिक गतिविधियों में आचार्य झा की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। इस प्रकार आचार्य का शैक्षणिक, सामाजिक एक सांस्कृतिक योगदान के कारण हमारे स्मृतिपटल पर चिर स्थायी रहेंगे। अंततः बहुमुखी प्रतिभा के धनी इस महान आचार्य का निधन हम सभी के लिये एक अपूर्ण क्षति है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि दिवंगत आत्मा को स्वर्ग में शान्ति प्रदान करे।

विवेकदत्त झाः अफ़सोस तुमको मीर से सोहबत नहीं रही

प्रो.सुरेश आचार्य

प्रो. विवेकदत्त झा एरण उत्खनन की उपलब्धियों के आलोक से देष और दुनिया में बहुत लोकप्रिय हुए थे। उनकी सरलता और सहज वार्ताएं शोधछात्रों, सहकर्मियों और विश्वविद्यालयीन छात्रों के बीच सदैव चर्चाओं और प्रिय विषयों में थी। अपने विशयक के अधीन तो वे थे ही; लेकिन समसामयिक सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विचार–विमर्ष उनकी उपस्थिति और सम्यक टिप्पणियों से महत्वपूर्ण हो जाते थे। अपने व्यक्तिगत दुखों को उन्होंने साथ खड़े समाज के साथ बांटने में सदा संकोच किया। बड़े बेटे को जल–दुर्घटना में खोने के बाद वे हिम्मत के साथ चितौरा बांध के पास तलाषी अभियान में लगे लोगों की हिम्मत बढ़ाते रहे थे। वह एक लोभहर्षक हादसा था। चितौरा बांध के पास पिकनिक के लिए गए थे। वहाँ आदित्य रायज़ादा और अभ्युदय का दोनों बच्चे बांध के पास बने जलभराव में डूग गए। उनके डूबने के समाचार से विश्वविद्यालय परिसर और शहर से सैकड़ों की संख्या में डॉ. रायज़ादा और डॉ. झा के मित्र–सहयोगियों–परिचितों की भीड़ चितौरा–डैम पर इकट्ठी हो गई। तीस–चालीस घंटों तक जब–तक गोताखोरों ने दोनों मासूमों के शव निकाले तब–तक यह पूरा जन समुदाय वहीं बैठा रहा। रात–भर तब डॉ. झा अनेक लोगों को घर जाने, बच्चों के रास्ता देखने की बात करते हुए बार–बार लोगों का ध्यान उनके पारिवारिक दायित्वों की ओर खींचते रहे। सामान्य, उदास चेहरा लिए उनकी वह दृढ इच्छा–शक्ति उनकी उत्कट जिजीविषा और अपने दुख को अपने तक सीमित रखने की आदत उनकी पारिवारिक प्रवृत्ति से आई हुई अवधारणा थी। वे मंडला के पास एक बड़े भू–स्वामी परिवार से थे। विवेकदत्त झा का बड़प्पन देखकर मुझे तुलसीदास याद आते हैं। मित्रता के बारे में तुलसीदास की उक्ति है– 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं विलोकत पातक भारी।

निज दुख गिरी सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरू समाना।।'

अर्थात जो लोग मित्र के दुख से दुखी नहीं होते, उन्हें तो देखने से भी भारी पाप लगता है। अपने पर्वत के समान दुख को धूल के समान और मित्र के धूल समान दुख को बहुत बड़े 'सुमेरू' पर्वत के समान जानना चाहिए। मैं कहता हूँ, डॉ. विवेकदत्त झा इस उक्ति के साक्षात और मूर्तिमंत प्रमाण थे।

बड़े भू–स्वामियों के परिवारजनों की जो पहचान होती है। वह स्वाभाविक अकड़ और अपने सिखाय दूसरे की न सुनने की आदत ने उन्हें कई बार कष्ट दिए। अनेक नुकसान हुए। पर उन्होंने उन सारी घटनाओं को सहज भाव से ही लिया। भू–स्वामियों की एक और आदत उन्हें समकालीनों से अलग खड़ा करती थी। वह था, धन के प्रति एक वैराग्य भाव। उन्होंने कभी अपने वेतन खाते की घटा–बढ़ी, टैक्स

डिडक्षन आदि की कोई पड़ताल नहीं की। ऐसे अवसरों पर होने वाली चर्चा के दौरान वे अक्सर कहा करते थे– यार अपने खर्च लायक मिल जाता है। यूनिवर्सिटी अपनी और देश अपना। ज्यादा टैक्स कट जाए तो भारत–निर्माण में ही लगेगा। यानि अपने लिए ही उसका उपयोग होगा। सो चिन्ता छोड़ों और मस्त रहो। उन जैसे विरक्त मन वाले लोगों पर मीर तक़ी मीर का एक शेर स्मरण आता है–

पैदा कहाँ हैं ऐसे परागन्दः तब अ लोग।
अफ़सोस तुमको मीर से सोहबत नहीं रही।।

अर्थात ऐसे विरागी स्वभाव के लोग अब पैदा कहाँ होते हैं। अफसोस है कि आप लोगों ने 'मीर' की संगति नहीं की। अपने फक्कड़ स्वभाव और यारबाशी के चलते उन्होंने अक्सर खुद और अपने पारिवारिक सुख और दायित्व समाज और मित्र समुदाय के लिए त्यागे। वे अच्छे मित्र, अच्छे अध्यापक, अच्छे रंगकर्मी और अच्छे शोधकर्ता थे। मगर इन सबसे ऊपर वे एक अच्छे मनुष्य थे।

सागर विश्वविद्यालय का रंगमंच अपने विशिष्ट प्रतिभाशाली रंगकर्मियों के लिए विख्यात रहा है। सागर से दिल्ली और बालीवुड तक उन्होंने अपने कला–कौषल से आदर, सम्मान, मान्यता और लोकप्रियता हासिल की है। उन्होंने अपने रंगमंचीय ज्ञान से सागर और सागर विश्वविद्यालय की कीर्ति पताका दिग–दिगंत तक फहराई है। इन प्रतिभाओं का आदर से स्मरण करता हूँ। गोविन्द नामदेव, आशुतोष राणा, मुकेश तिवारी, पद्मसिंह, जगदीश शर्मा, माया श्रृंगी, विजय चौहान, राकेश सोनी और स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल उनमें से कुछ नाम हैं जो मेरे स्मृति पटल पर अमिट हैं। अपने नाजों–अंदाज़ के कारण अपनी चरित्र–अदायगी के लिए। मगर विजय चौहान जो सागर विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में अध्यापक थे। अपने नाट्य निर्देशन के कारण बहुत लोकप्रिय थे। वे 'झांसी की रानी' कविता की रचयिता स्व. सुभद्रा कुमारी चौहान के पुत्र थे। कालान्तर में वे त्याग पत्र देखकर अमेरिका चले गए और वहीं बस गए। श्री विजय चौहान के जाने रंगमंच–निर्देशन की जो रिक्ति हुई। उससे रंगकर्मियों एक बेचैनी दिखाई दी। इस रिक्ति को पूरा किया विवेकदत्त झा ने।

सागर विश्वविद्यालय का पुराना आडिटोरियम अनेक भव्य कार्यक्रमों का इतिहस समेटे है। यह आडीटोरियम ओल्ड–साइड मकरोनिया बैरेक्स से फौटी–स्टाइल में यथावत न्यू साइड लाया गया। यानी संस्थापक कुलपति डॉ. हरीसिंह गौर से भारत के राष्ट्रपति महामहिम वराह गिरि व्यंकट गिरि तक के सफल कार्यक्रमों का गवाह है यह ओल्ड आडीटोरियम। इस आडीटोरियम में ही भारतीय रंगमंच का वह अपूर्व, अद्भुत और मोहक इतिहास लिखा गया जो डॉ. विवेकदत्त झा के निर्देशन का जादू था। इस मंच पर 'फ़रार फौज' नाटक की प्रस्तुति का दृश्य था। जिन्होंने ओल्ड आडीटोरियम न देखा हो उन्हें पहले इसके मंच का विधिवत निरीक्षण करना चाहिए। इस मंच के पीछे दो दरवाज़े हैं जो इसे पीछे पड़े खुले मैदान से जोड़ते हैं। उस जमीन पर विस्फोट की ध्वनि और मंच पर धुंए के प्रयोग सहित 'फ़रार फौज' में मंच पर एक जीप को विस्फोट से उड़ाने का दृश्य आज भी अनेक दर्शकों को बखूवी याद होगा। मंच धुएं और गुबार के चलते अगली पंक्तियों में बैठे लोगों में भय और भगदड़ की स्थिति बन गई थी मगर मज़ाल है कि जीप का कोई भी टुकड़ा मंच से बाहर आता। यह अभूतपर्वू दृश्य जिस कौशल से मंचित हुआ, वह विवेकदत्त झा और श्री भवदत्त झा उनके महत्वपूर्ण दायित्वों और आदर्शों के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। झा साहब दैहिक रूप से भले न हों, मगर एक अध्यापक की, एक नाट्य निर्देशक की, एम उत्खननकर्ता शोधोत्सु की उनकी कीर्ति–काया हमें सदैव उनकी याद दिलाती रहेगी।

पुरातन के अधुनातन व्याख्याताः 'विवेक दा'

सुरेन्द्र सिंह नेगी

यथा नाम तथा गुण युक्त 'विवेक दत्त' माँ सरस्वती के वरद पुत्र थे। एक शिक्षक के रूप में अपने छात्रों में वे उतने ही लोकप्रिय थे जितना कोई जन–नायक अपनी जनता के बीच होता है। विश्वविद्यालय में वे मुझसे काफी वरिष्ठ थे। अन्य शिक्षकों की भांति मैं भी सम्मान सूचक शब्दों में उन्हें 'दादा' ही कहता था। उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती अंजली झा, मेरी बड़ी बहिन इन्दु नेगी की मित्र थीं इस कारण मैं उन्हें अंजु दीदी ही कहता था। यह संयोग ही था कि हिन्दी के गंभीर विद्वान डॉ. गंगाधर झा की वे भतीजी थीं और भोपाल में प्रो. कांतिकुमार जैन जैसे मूर्धन्य शिक्षक ने उन्हें हिन्दी में निष्णात किया था। डॉ. विवेक दत्त झा से शादी के पश्चात् उनका सरनेम नहीं बदला ठीक वैसे ही जैसे मेरी बहिन इन्दु का।गुरू शिष्य परम्परा के आस्थावान शिष्य विवेकदत्त ने अपने गुरू प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी को अपना मार्गदृष्टा माना और उनके निर्देशन में उत्खनन संबंधी अनेक उत्कृष्ट कार्य करते हुए अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई। गुरू के गोलोक गमन के पश्चात् उनके फैले हुए कार्य को आगे बढ़ाया यह जानते हुए भी 'Life is short work hard' अर्थात अल्पकालिक जीवन कठोर श्रम के लिए होता है। एरण, तुमैन त्रिपुरी के अलावा सागर से जुड़े दमोह, छतरपुर, टीकमगढ़, विदिशा, रायसेन आदि जिलों की ऐतिहासिकता को उन्होंने संजोया। बस्तर, डिंडोरी व मंडला के आदिवासी जन–जाति के जीवन पद्धति को निकट से जाना। उनकी संस्कृति, कला और आदिम धरोहर को इतिहास में स्थान दिया। विवेक दा एक निष्णात् शिक्षक के रूप में जितने बहुचर्चित थे, प्रशासनिक स्तर पर भी अपना लोहा मनवाने में उतने ही सक्षम थे। परीक्षाओं के समय असिस्टेण्ड सुपरिटेडेन्ट होना अधिकांश शिक्षक अपनी प्रतिष्ठा के विपरीत समझते थे पर विवेक दा उसे विश्वविद्यालय का ऋण मानकर सहर्श करते थे। परीक्षा काल में एक सहायक अधीक्षक की दिनचर्या प्रातः चार बजे से शुरू होती थी और उसका अंत परीक्षा भवन बंद होने के समय सायं छह बजे तो कभी–कभी सात बजे होता था।विश्वविद्यालय के छात्रावास अधीक्षक के रूप में उनके अहिर्निश सेवाकाल को कैसे भुलाया जा सकता है? छात्रों के विभिन्न गुटों के बीच पलते–पनपते मनमुटाव और संघर्ष के बीच वे निहत्थे ही होते थे। उनका दबंग रूप देखा कई बार हथियार लैस छात्र भी कन्नी काट लेते थे। गुणों के गुरूत्त्व कारण वे विश्वविद्यालय प्रशासन और प्रतिपक्षियों पर सदैव भारी पड़ते थे। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विवेक दा ने अवकाश प्राप्ति के बाद स्वयं को सभी दायित्वों से मुक्त पाया जो उनके सेवाकाल में प्रशासनिक बोझ तले दब गये थे। वे निष्क्रिय होकर बैठने वालों में से नहीं थे, अतएव उन्होंने जंगलों की ओर ठसकिया

जहाँ आदिम मानव द्वारा छोड़ी गई चित्रकला इतिहास में अपना स्थान बनाने के लिए अधीरता से उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। सागर का आबचन्द, रायसेन का खरबई अपनी चित्रकला के लिए विख्यात हुआ तो उसके मूल में डॉ. श्यामकुमार पाण्डे और विवेक दा थे। ये दोनों प्राणी जानते थे कि इस क्षेत्र में काम करने के लिए व्यक्ति अपना पूरा जीवन भी लगा दे तो भी काम अधूरा ही रहेगा। इसलिए नयी पीढ़ी के प्रतिभावान युवाओं को प्रोत्साहित करते रहते थे। विवेक दा सदैव इस बात पर बल देते थे कि उनका विशय प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व है और युवाओं के लिए प्रेरणास्पद बात होगी कि वे इसकी सांस्कृतिक अद्वितीयता को समझें। कैसे विदेषी आक्रांता जातियाँ यहाँ आयीं और अन्ततः इस संस्कृति का अंग बन गईं! समाजशास्त्रियों की दृष्टि में सांस्कृतिक परम्परा को प्रायः नवाचारों की प्रतिद्वंद्विता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, फलतः विरोध सापेक्ष ही है। किन्तु भारतीय संस्कृति को उसकी गति क्रमिकता में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, हूण, यूनानी, युइचि आदि अपने मान्य नवाचारों समेत भारतीय परम्परा में समाहित हो गये। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर में आयें और दक्षिण में द्रविड़ जैसी संस्कृतियाँ यहाँ पहले से ही विद्यमान थीं। व्यवहार में सामाजिक उपयोगिता के परीक्षण से गुजरे बगैर कई संस्कृतियाँ ग्रीक रोमन मिश्र विस्मृति के गर्भ में समा गईं।

एक सेमीनार में अपना षोध पत्र प्रस्तुत करने के पश्चात् जब प्रश्नों की बारी आई तो मैंने विवेक दा से प्रश्न किया, ''भारतीय संस्कृति के परिवर्तन की गति ने परम्पराओं की अनुकूलन क्षमता को द्रुतगामी कैसे बना दिया?'' उनका उत्तर कुछ इस प्रकार का था, ''मिथक प्रत्येक ज्ञात सांस्कृतिक परम्परा का अभिन्न हिस्सा होते हैं। हिन्दू ही नहीं ईसाई और इस्लाम जैसे समृद्ध धर्मों ने अपने मिथकों को संजोए रखा है। सृष्टि की व्याख्या के लिए मिथक विज्ञान के पूर्ववर्ती रहे हैं, अतः उन्हें पहली प्रागवैज्ञानिक व्याख्या कहा जा सकता है। इन मिथकों की सम्पदा पर ही प्रत्येक संस्कृति की नींव रखी गई है। आदिम मानव से लेकर वर्तमान आदिम समाज तक मिथकों को ही कलात्मक साधन के रूप में ग्रहण किया गया है। उनमें नैतिकता के संक्षिप्त और संघनिष्ठ पाठ आज भी यथावत् दिखाई देते हैं। कला, औजार, आयुध, मृत्याण्ड, जादू टोना पूजा–पाठ के अनुश्ठान बस्तर के अबुझमाड़ के जनजातीय लोगों में हो या सर्वाधिक शिक्षा सम्पन्न केरल के गुफा–मानव में मिथकों का स्थानीय रंग कभी मिटता नहीं है। ये मिथक ही संस्कृति की गतिमयता के प्रारंभिक स्रोत हैं।' दर्शन का छात्र होने के नाते में उनसे अक्सर इतिहास के सांस्कृतिक पक्ष पर चर्चा करता था, हर बार मुझे नई बात सुनने को मिलती थी। ऐसी ही संक्षिप्त चर्चा के दौरान उन्होंने अनेक मुद्दे उठाये। सांस्कृतिक जीवन की लयबद्धता सक्रिय नवाचारों का सृजन करती है, ऐसा कुछ पुराने समाजशास्त्री मानते हैं। कुछ नृतत्वशास्त्री मानवीकृत प्रकृति को स्पश्ट करने की चेष्टा करते हैं। हम तो इतिहास के विद्यार्थी हैं जिन्हें निरर्थक मानकर छोड़ दिया जाता है, उनमें भी सार्थकता के सूत्र खोजने की चेष्टा करते हैं। तुम दर्शन के आदमी हो जहाँ प्रश्नों की विराटता का पीछा अक्सर बौने, कुबड़े और असंतुष्ट उत्तर करते रहते हैं। यह कहकर उन्होंने जो ठहाका लगाया तो एक खिसयानी सी हंसी में, मैंने उनकी बात का मूक समर्थन किया। अपने विशय प्राचीन भारतीय इतिहास में विशेषतः स्थापत्य और मूर्तिकला में उनकी अभिरूचि स्पष्ट थी। खासकर मूर्तियों की ऐतिहासिकता को विश्लेशित करने की उनकी क्षमता अद्भुत थी। ऐसा लगता था कि स्वयं मूर्तिकार अपने सृजन की जीवन्त संभावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने का यत्न कर रहा हो। कला के संबंध में उनके अपने मौलिक विचार थे। कला को वे मनुष्य के व्यक्तित्व का नैसर्गिक प्रतिफल कहते थे। वे यह मानते थे कि कला की संज्ञानात्मक अंतर्वस्तु

व्यक्ति की सैद्धांतिक समझ के लिए जमीन तैयार करती है, जो उसके सृजन–सारतत्व को उद्घाटित करती है। भीम बैठका के शैलचित्रों का आदिम स्वरूप पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर है। तो कला का विशुद्ध शास्त्रीय पक्ष उन्नत रूप से अजंता की गुफाओं में उभरा है। माडर्न आर्ट्स के भी विविध आयाम हैं। हाँ कला का सम्प्रेषणीय पक्ष सबसे पहले नाटकों के माध्यम से सामने आया। आज चल–चित्र वाला सिने संसार जरूर है पर पात्रों को अभिनय की संजीदगियों को दिखाना ही पड़ता है। हमारे समय में दो ही रंगकर्मी थे, संस्कृत के आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी और प्राचीन इतिहास के आचार्य विवेक दत्त झा। विवेक दा द्वारा निर्देशित नाटकों के बारे में क्या कहूँ? रंगमंच पर बतौर निर्देशक कला के सार और पात्रों के अभिनय की प्रकृति के बारे में उनकी धारणाएँ पहले ही बन जाती थीं। नाटक की विषयवस्तु पर विचार करते समय जहाँ एक ओर वे गंभीर प्रेक्षण करने में नहीं चूकते थे तो दूसरी ओर उतने ही सहज भाव से नयी प्रस्थापना को साधारणीकृत व्यवहार की कसौटी पर रखकर दर्षकों से मानो किसी संवाद की स्थिति बना लेते थे। विश्वविद्यालय के पुराने आडीटोरियम में खेले गये अनेक नाटक उनकी स्मृति को जीवन्त बनाये रखते हैं। चुटकुलों और हास्यप्रद घटनाओं को प्रस्तुत करने का उनके पास अगाध भंडार था। यह बात अनेक रेल यात्राओं और विश्वविद्यालय शासन द्वारा मुहैया कराई जीप यात्राओं से पुष्ट होती है। बहुधा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालयों के निरीक्षकों की टीम में हम लोग साथ रहते थे। यात्रा भले समाप्त हो जाय पर उनके लतीफे कभी खत्म नहीं होते थे। कभी–कभी अजीबो गरीब घटनाक्रमों को इतनी खूबसूरती से पेश करते थे कि ऐसा लगता था जैसे अभी–अभी हमारे बीच कुछ अनायास ही घट गया हो। फिर हंसी के फुव्वारों के अलावा कुछ भी नहीं सूझता था। एक समय ऐसा भी आया जब शिक्षक संघ गहरे मतभेद के कारण दो फाड़ होने लगा। वे तब भी सक्रियता के साथ एक ही षिक्षक संघ की बात करते रहे और अंत तक एकता की पहल के लिए कार्य करते रहे। इतनी खूबियों और तमाम व्यस्तताओं के बीच भी वे एक सहृदय पिता और अभिभावक थे। घर पर बच्चों के साथ कैरम और ताष जैसे घरेलू खेलों के लिए समय निकाल लेते थे। बच्चों की छोटी–मोटी इच्छाओं, मांगों को पूरे मनोयोग से पूरा करने में वे एक माहिर खिलाड़ी की भांति थे। एक दुखद घटना में पुत्र वियोग से विचलित हुए, पर सामने सदैव बेपीर बने रहे। यह बात विश्वास के दायरे से बाहर है कि विवेक दा अब हमारे बीच सशरीर न होकर, अंतहीन यादों का दौर होकर रह गये हैं। उनके निधन के बाद कुछ दिन तक तो उनके सपने ही आते रहे। एक सपने में ऐसा भी लगा कि जीप आकर घर के दरवाजे पर खड़ी हो गई है और जीप में बैठे–बैठे ही दादा जोर से कह रहे हों – अरे अभी तक उठे नहीं? याद नहीं कि आज छिंदवाड़ा जाना है। सहसा नींद ऐसी उखड़ी कि फिर आई नहीं। उनके जन्म दिन पर 'लाँग लिव दादा' कहकर मुबारकवाद देने वाले उनकी पीढ़ी के बचे हुए कुछ हम लोग उन्हें अब अश्रुपूरित श्रृद्धांजलि ही दे सकते हैं।

मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ के पुरातत्व के पुरोधा : आचार्य विवेक दत्त झा

आचार्य रमेन्द्रनाथ मिश्र

हिन्दुस्तान के हृदय में अवस्थित मध्यप्रदेश, भौगोलिक, ऐतिहासिक , सांस्कृतिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण भू – भाग है, यह उत्तर दक्षिण एवं पूर्व पश्चिम भारत को जोड़ने वाली एक महत्वपूर्ण संस्कृति की कड़ी है, यहां पर सर्वधर्म समभाव एवं सामाजिक समरसता सदैव विद्यमान रही। अतीत से अद्यतन यह परंपरा विद्यमान है। मध्यप्रदेश का पुरातत्व इतिहास समृद्ध है पाली, संस्कृत, के अभिलेख हिन्दी मोड़ी के दस्तावेज, पाण्डुलिपियां, ताम्रपत्र, सिक्के व अन्य अन्वेषित पुरावशेष, इसके प्रमाण है। यहां के इतिहास को उजागर करने वाले विद्वानों की परंपरा में सर्वश्री पं.लोचन प्रसाद पाण्डेय, रायबहादुर हीरालाल, डॉ. वी.व्ही.मिराशी मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित , डॉ.सेतलाल कटोर, प्रो.कृष्णदत्त बाजपेयी, डॉ.राजकुमार शर्मा, डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय, डॉ. पुभुलाल मिश्र, डॉ. कृष्ण कुमार झाा, प्रमुख रहे। पुरातत्व की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए, नवान्वेशण के माध्यम से परिश्रम पूर्वक उत्खनन कार्यो के माध्यम से नई पीढ़ी को ऐतिहासिक धरोहर सौंपने वाले आचार्य विवेकदत्त झा का नाम सदैव अविस्मरणीय रहेगा। अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति विभाग तथा टैगोर पीठ, डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय में इन्होंने जो कार्य किया। वह युवापीढ़ी हेतु प्रेरणास्पद है।

मध्यप्रदेश में मिथिलांचल के मैथिल ब्राम्हणों का यहां के रजवाड़ों में प्रभाव रहा है। ग्वालियर, छतरपुर, पन्ना, रतनपुर, रायपुर, खैरागढ़, जगदलपुर (बस्तर) में थे। राजगुरू, रापुरोहित, राजतांत्रिक, धर्मशास्त्री के रूप में रहे। इनका यहां के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कषतिक विकास में विशेष योगदान रहा है। जमींदारियों में भी इनका प्रभाव रहा। गढ़ा मंडला की रानी दुर्गावती के दरबार में पं. महेश ठाकुर थे जिनके परिवार के दरभंगा में महाराज हुए बस्तर, खैरागढ़ में राजगुरू रहे। मंडला में ओझा वार्ड विद्वानों का निवास स्थल रहा है। पं. रूपनाथ झा ने गढ़ेषनृपवर्णनम् लिखा, पं. आंखी ओझा ने गढ़ामंडला के राजाओं की वंशावली व इतिहास प्रस्तुत किया । वे धर्मशास्त्री रहे। इन्हीं के वंशज पं. नारायण दत्त झा, मंडला अंचल में प्रसिद्ध रहे । उनके पुत्र पं. विजयदत्त झा, विधायक रहे। जुझारू एवं दबंग प्रभाव के थे।

पं. विजयदत्त झा के पुत्र प्रो. विवेक दत्त झा का बाल्य काल, तरूण एवं युवावस्था – मंडला, जगदलपुर (बस्तर) सागर में व्यतीत हुआ। उनके रिश्तेदारों में विद्यानाथ ठाकुर , पं. विधेश मिश्र, जगदलपुर से तथा पं. विद्याभूषण ठाकुर डोंगरगढ़ राजनांदगांव से विधायक रहे। इनके पिता श्री विजयदत्त झा, मंडला के विधायक रहे, आपात काल में वे जेल में रहे। अन्याय, अत्याचार, शोषण के विरूद्ध सदैव लड़ते

रहे, श्रम साध्यता, कर्तव्यनिष्ठता, निडरता, व्यवहार कुशलता, नेतृत्व क्षमता झा जी का विशेष गुण था। एरण का उत्खनन कार्य, सरगुजा, बस्तर अंचल में नई खोज इनकी देन है। वे मध्यप्रदेश इहिास परिषद की शोधपत्रिाका के संपादक रहे। संस्था द्वारा उनका प्रदेश के प्रथम डी.लिट् (प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व) पर मंडला के अधिवेशन में उनका सम्मान किया था।"बस्तर का पुरातत्व" उनकी महत्वपूर्ण अन्वेषणात्मक इस अंचल की प्रथम कृति है। सूक्ष्म पुरातत्व नवान्वेषण के झा जी पुरोधा थे। सागर विश्वविद्यालय में उनके विषय विभाग के संग्रहालय के विकास में उनका योगदान रहा। प्रो.कृष्ण दत्त बाजपेयी एवं डॉ. सुधाकर पाण्डेय के सहयोगी अध्येता अध्यापक रहे। पुरातत्व विषय में उनके मार्गदर्शन में अनेक अध्येताओं ने पी.एच.डी. की उपाधी प्राप्त की है। उनके शोध लेख देश विदेश में प्रकाशित होते रहे हैं।

प्रो. विवेकदत्त झा एक कर्मठ व्यक्तित्व के धनी थे। देश के अनेक विश्वविद्यालय में विषय विशेषज्ञ, पाण्य क्रम समिति सदस्य, परीक्षक सदस्य, चयन समिति अध्यक्ष शोध उपाधि समिति के रूप में अपनी सेवाएं दी। पुरातत्व उत्खनन कार्यों में सहभागिता एवं मार्गदर्शक के कर्त्तव्य का निर्वहण किया। सागर विश्वविद्यालय के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे छात्रसंघ छात्रावास एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में एक श्रेष्ठ मार्गदर्शक के रूप में सम्बद्ध रहे। वे अनुशासन प्रिय रहे। आज वे अपने कार्यों एवं व्यवहार के कारण जाने जाते हैं। कार्य परिषद, सामाजिक विज्ञान संकाय अध्यक्ष विद्यापरिषद, वि.वि. विद्यालय सभा, पाठ्यक्रम समिति, शोध उपाधि समिति, शोध परख प्रकाशन कार्यों में सदैव संलग्न रहे।सागर अंचल में एक लोकप्रिय श्रेष्ठ आचार्य के रूप में तथा शिक्षकों के कुशल संगठन मार्गदर्शन के रूप में जाने जाते हैं। देश में ऐसी कोई भी पुरातत्व विषय का विद्वान नहीं होगा जो उन्हें नहीं जानता हो। वे अनुशासन प्रिय, अध्ययनरत रहने वाले , अध्येता, अन्वेषक अध्यापक थे। उनका आज हमारे मध्य न रहना उनके परिवार के साथ ही पुरातत्व विषय, सागर एवं मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ की अपूरणीय क्षति है। उनके अधूरे कार्य को पूरा करना उनके शिष्य परम्परा से जुड़े अध्येताओं का एवं महत्वपूर्ण दायित्व है। आचार्य विवेकदत्त झा एक व्यक्ति नहीं संस्था थे। वे बहुमुखी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के धनी थे। वे कुशल खिलाड़ी थे। अचछे तैराक थे। उनकी निशानेबाजी अचूक थी। जंगल पहाड़ों में घूमना झरनों में नहाना एवं नदी के किनारे किनारे मीलों दूर निकल जाना दनकी खोजी प्रवृत्ति का एवं प्रकृति प्रेम का दंयतक है। स्वभाव में विनम्रता बड़ों के प्रति सम्मान अपने अनुजतुल अध्येताओं के साथ पूर्ण व्यवहार उनके स्वभाव में था। बचपन से पचपन और उसके बाद भी उनसे मैं मंडला में उनके पैतृक स्थान एवं बोरिद खोरपा, पाटन (दुर्ग जिला) में उनके ननिहाल होने के कारण पारिवारिक संबंधों से भी जुड़ा हुटा था। उनकी दादी मेरी दीदी लगती थी। रा,खी एवं भाइदूज में कभी–कभी उनसे आर्शीवाद लेने का भी मौका मिला। उनके पिता जी पं. विजयदत्त झा (पूर्व विधायक मंडला) एवं शिवकुमार शास्त्री एडवोकेट मंडला में भी उनकी मित्रता थी, अर्थात् मेरे परिवार के दोनों पक्षों से झा जी के परिवार आत्मियता से संबंध था। गढ़ा मंडला के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक कार्यों के उन्नयन में उनके परिवार का विशेष योगदान था। नर्मदा किनारे बाबा घाट मंडला में उन्होंने मंदिर बनवाया था। इनके परिवार वाले अनेक गांव के मालगुजार थे। जागीरदार के रूप में उनका सम्मान था। एक गांव इनका बेड़ाघाट के पास था; और कुछ गांव नर्मद के किनारे एवं कान्हा किसली परिसीमा के पास थे। ये सभी उनके पूर्वजों को उनके पाण्डित्य के कारण मिला था। गांव के लोग इनके परिवार के प्रति इतना सम्मान करते थे कि इनके निर्देशों एवं

सलाह का सम्मान करते थे। उनके पूर्वज पं. आखी ओझा संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। संग्रहालय में नागपुर भोंसला कालीन दस्तावेज थे जिनका अवलोकन अध्ययन इतिहासकार डॉ.सुरेश मिश्र ने किया था।

श्री खाण्डेकर गुरू जी जो मंण्डला के रहने वाले थे। माधव राव सप्रे विद्यालय में पढ़ाते समय अकसर हम लोगों को झा जी के परिवार के बारे में , उनके समाज सेवा के कार्यों के बारे में बताया करते थे। एक बार उन्होंने बताया कि झा जी के दादा "पं. नारायण दत्त झा समाज सेवी के अतिरिक्त पशु पक्षियों से भी स्नेह रखते थे। उनके पास चमेली नामक एक घोड़ी थी जिनको रोज सुबह एक सेर जलेबी (इमरती) नित्य खिलाते थे। दौड़ में वो इनी तेज थी कि घुड़सवार भी पिछड़ जाते थे। झा जी के परिवार के सभी लोग प्रभावशाली व्यक्तित्व के थे। उस जमाने में हाथ में लाठी लिए हुए अंगरक्षक साथ चलते थे। प्रो. विवेकदत्त झा की दृष्टि इतनी दिव्य थी कि पूराअवशेष को देखते ही पहचान जाते थे। किलों को टिलों को पथरीलों रास्ते को, नदी के तट को , खण्डहरों को देख कर उसका काल निर्धारण कर देते थे। छत्तीसगढ़ के बस्तर के पुरातत्व पर उनका कार्य अन्वेषण महल के नींव का पहला पत्थर है। सरगुजा के रामगिरी, महेशपुर, दीपाडीह तथा कलचुरियों की पुरानी राजधानी त्रिपुरी श्तुम्माण रतनपुर एवं ऐतिहासिक स्थल चतुर्गण पाली के पुरावशेषों पर भी उन्होंने अपने विचार रखे थे। विद्वानों के कार्यों का वह सम्मान करते थे और निष्पक्ष रूप से किसी भी पद पर योग्य व्यक्तित्व का चयन करते थे। अक्सर कुलपति अपने किसी प्रिय पात्र को नियुक्त करना चाहते हैं तो चयन सदस्यों की समिति से कहते हैं कि माननीय राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री की इच्छा है कि इनका हो । झा जी की इच्छा का सम्मान करते हुए कुलपति से निवेदन करते कि मुझे उनसे बात करवा दीजिए। इस प्रकार कुलपति निरूत्तर हो जाते थे। देश के विभिन्न विश्वविद्यालय में झा जी अतिथि आचार्य एवं मुख्य वक्ता मुख्य अतिथि एवं अध्यक्ष के रूप में जाया करते थे। उनका परिवार रायपुर, सागर एवं दिल्ली से जुड़ा हुआ था। दिल्ली में उनके आकस्मिक हृदयाघात से उनके निधन के समाचार से इतिहास जगत, शिक्षा जगत स्तब्ध रह गया। उन्हें शत् शत् नमन।

बहुआयामी व्यक्तित्व : मेरा मित्र विवेकदत्त

डॉ. सर्वजीत सिंह

स्व. पं. विजयदत्त झा पूर्व विधायक मंडला एवं दादा जो शताधिक गांवों के जमींदार थे ऐसे परिवार में जन्में डॉ. विवेकदत्त झा जगदलपुर महाविद्यालय से स्नातक डिग्री प्राप्त कर सन् 1963 ई. में प्राचीन भारतीय इतिहास विषय में स्नातकोत्तर अध्ययन हेतु सागर विश्वविद्यालय आए उन्होंने एम.ए. में प्रवेश लिया मैंने भी उक्त विषय में अध्ययन के लिए प्रवेश लिया था। सहपाठी होने के कारण मेरा परिचय विवेक से हुआ और उनके आकस्मिक निधन तक यह मित्रता प्रगाढ़ ही होती चली गयी। मित्रता ने ऐसा पारिवारिक रूप धारण कर लिया कि मेरे परिवार में सभी विवेक को घर का सदस्य मानते थे। ग्रीष्मकाल में मैं प्रायः उनके पैतृक निवास मंडला जाया करता था। उनके परिवार से मुझे जो स्नेह और आत्मीयता मिलती थी उसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ।

एम.ए. पूर्वार्द्ध में विवेक के प्रयास से विभाग की ओर से सांस्कृतिक कार्यक्रय का आयोजन हुआ जिसमें उनकी अभिनय क्षमता इतनी प्रभावी थी कि परंपरा से हटकर तत्कालीन कुलपति सम्माननीय भट्ट साहब ने उन्हें गले से लगा लिया और ढेर सारा आशीर्वाद दिया। डॉ. डी.एन. मिश्र, विभागाध्यक्ष, गणित विभाग (फिल्म निर्माता, दिग्दर्शक श्री सुधीर मिश्र के पिता) ने खुशी प्रकट की और इस तरह विवेक को एक महान व्यक्तित्व का सानिध्य मिला। कालांतर में सांस्कृतिक कार्यक्रमों में विवेक एक अनिवार्य व्यक्तित्व बन गए। 1965 में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने के बाद 1968 में विष्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग में व्याख्याता नियुक्त हुए। एरण, त्रिपुरी आदि अनेक स्थानों के उत्खनन में मेरा और विवेक का साथ रहा। त्रिपुरी उत्खनन में दक्कन कॉलेज पूना के विश्वविख्यात पुरातत्वशास्त्री डॉ. एच.डी. सांकलिया के सानिध्य में त्रिपुरी उत्खनन में सहभागी बने। डॉ. सांकलिया विवेक से बहुत प्रभावित थे।

आकाशवाणी छतरपुर से बुंदेलखण्ड के पुरातात्विक वैभव के अंतर्गत वार्ताएं प्रसारित की जाती थीं। विवेक, डॉ. कृष्णकुमार त्रिपाठी और मुझे कई बार बोलने का अवसर मिला। विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ उनके बोलने का लहजा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रहता था। जिसकी प्रशंसा आयोजन अधिकारी डॉ. साकेत अग्निहोत्री हमेशा करते थे उन्होंने अनेक बार कहा कि इतनी अच्छी आवाज मैंने आकाशवाणी में बहुत कम सुनी है। आज हमारे बीच विवेकदत्त नहीं हैं एक षून्य सा झलकने लगा है किन्तु अपने कार्यों से उन्होंने जो स्थान प्राप्त किया है उससे उनकी स्मृति हमेशा ताजी बनी रहेगी। मित्रता से बढ़कर मेरा उनसे पारिवारिक नाता आज भी है। श्रीमती डॉ. अंजलि झा, बेटी गरिमा, अनिमेश, आर्यन एवं बेटे भवदत्त से मेरा संपर्क निरंतर रहता है।

स्मृति शेष प्रो. विवेकदत्त झा

प्रो. सन्तोष कुमार बाजपेयी

प्रोफेसर झा से मेरा परिचय लगभग पचास वर्ष पुराना है । वर्ष 1964–65 के दौरान जब वह सागर विष्वविद्यालय के छात्र थे, तब से मेरा उनके साथ सानिध्य रहा है । मेरा यदाकदा आना जाना उनके छात्रावास के कक्ष में भी होता था । प्रत्यक्ष रूप से उनके निकट संपर्क में आने का अवसर 1970–72 में मिला जब मैं प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विशय का छात्र था तथा डॉ. झा इसी विभाग में नव नियुक्त शिक्षक थे। डॉ श्यामकुमार पाण्डेय तथा डॉ झा के मार्गदर्शन में मुझे तुमैन के उत्खनन में बहुत सीखने का मौका मिला। उन दिनों उत्खनन कैम्प में हम सभी बड़े उत्साह से शाम को वालीबाल खेलते थे। डॉ. झा के पिताजी और प्रसिद्ध इतिहासकार पं.सुंदरलाल त्रिपाठी दोनों का हमारे घर पर प्रायरू आना जाना होता था । तब डॉ. झा विवाहित होने के बाद क्रिश्चियन कालोनी में रहने लगे थे । वर्ष 1976 से 1982 तक मेरे भोपाल में नौकरी करने के दौरान जब भी डॉ झा मेरे पड़ौसी पं. सुंदरलाल त्रिपाठी के यहाँ आते थे तब मुझसे अवश्य मिलते थे । वह हमारे पारिवारिक कार्यक्रमों तथा वैवाहिक समारोहों में सदा सम्मिलित होते थे । वर्ष 1982 में मेरी नियुक्ति डॉ हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में हुई । तब मुझे पुन प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में डॉ. झा के साथ कार्य करने का अवसर मिला। 1987 में कुछ समय हम लोग एरण के उत्खनन में भी साथ रहे थे । उनके अवकाश प्राप्ति वर्ष 2006 तक मुझे निरंतर उनका मार्गदर्शन मिला ।

मेरे विभागाध्यक्ष पद के कार्यकाल 2007 से 2014 में भी डॉ झा प्रायरू विभाग में आते रहते थे और उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ । मैं वर्श 2014 में अपने अवकाश प्राप्ति के बाद भोपाल में रहने लगा। पिछले वर्ष 2016 के जून माह में जब मैं काश्मीर के प्रवास पर था तब मुझे डॉ झा के आकस्मिक देहावसान का समाचार मिला । मैं हतप्रभ हो गया । उनके साथ बिताये गये तमाम पल मेरे स्मृति पटल पर चलने लगे । डॉ. झा एक जीवट, अत्यंत परिश्रमी ,समय के पाबंद , मिलनसार तथा सौम्य व्यक्तित्व के धनी थ। उनके सानिध्य में रहने वाले व्यक्ति उन्हें जीवन पर्यंत भूल नहीं सकते । वह अपने शिष्यों में एक अत्यंत लोकप्रिय शिक्षक थे डॉ. नागेश दुबे ने जब मुझे गुरूवर डॉ. झा के स्मृति ग्रंथ को प्रकाशित करने की योजना बतलाई तब मुझे अत्यंत हर्ष हुआ। निस्संदेह यह ग्रंथ डॉ झा के प्रति उनके सभी शुभचिंतकों की एक भावभीनी श्रद्धांजली होगी।

प्रोफेसर विवेकदत्त झा के जीवन की कतिपय स्मृतियाँ

प्रो. कृष्ण कुमार त्रिपाठी

व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व – प्रोफेसर डॉ. विवेकदत्त झा जी से वर्ष 1963–64 के अकादमिक सत्र में प्राचीन भारतीय इतिहास , संस्कृति एवं पुरातत्त्व विषय में तत्कालीन सागर विश्वविद्यालय (वर्तमान डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर) में एम.ए. पूर्वार्द्ध में उनके प्रवेश लेने के पश्चात् उनसे मेरा आरम्भिक परिचय हुआ था। मैं उसी विभाग की उत्खनन तथा सर्वेक्षण शाखा में कार्यरत था। एम.ए. उत्तरार्द्ध में श्री झा ने एरण उत्खनन में वर्श 1964–65 में क्षेत्रीय पुरातत्त्व (फील्ड आर्केलॉजी) का प्रशिक्षण लब्ध प्रतिष्ठ पुराविद् प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी तथा डॉ. उदयवीर सिंह के निर्देशन में प्राप्त किया था। उन्होंने एम.ए. उत्तरार्द्ध में एक प्रश्न पत्र के विकल्प में लघु षोध–प्रबंध (डिजर्टेशन) 'एरण उत्खनन से ज्ञात द्वितीयकाल', डॉ. उदयवीर सिंह जी के निर्देशन में पूरा किया था, तभी से क्षेत्रीय पुरातत्त्व के प्रति उनकी विशिष्ट अभिरूचि जागृत हो गयी। उन्होंने एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में वर्ष 1965 में उत्तीर्ण किया था।

मध्यप्रदेश शासन की वित्तीय सहायता से त्रिपुरी (तेवर, जबलपुर,) में प्रोफेसर एच.डी. सांकलिया, डेक्कन कालेज, पूना (पुणे); प्रोफेसर आर.एन. मेहता, एम.एस. युनिवर्सिटी, बड़ौदा, (वाडोड़रा) तथा प्रोफेसर के.डी.वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय, सागर के निर्देशन में वर्ष 1965–66 में उत्खनन–कार्य संयुक्त तत्त्वावधान में हुआ था। श्री विवेकदत्त झा भी प्रशिक्षित पर्यवेक्षक–उत्खनन (सुपरवाईजर) के रूप में सम्मिलित हुए थे। प्रोफेसर डॉ. उदयवीर सिंह का मार्गदर्शन तथा प्रोफेसर एच.डी. सांकलिया(पुणे) से प्रेरणा प्राप्त कर श्री विवेक दत्त झा ने एक कर्मठ एवं अनुभवी उत्खनन–कर्ता के रूप में अपनी पहिचान बनाई। प्रोफेसर सांकलिया ने डॉ. उदयवीर सिंह जी से कहा था'' कि श्री विवेकदत्त झा आगे चलकर एक अच्छे उत्खननकर्ता तथा पुराविद् के रूप में प्रतिष्ठित होगे''।

प्रोफेसर एच.डी. सांकलिया जी, श्री विवेकदत्त झा के पुरातत्त्वीय कार्यों से बहुत प्रभावित थे। प्रोफेसर एच.डी. सांकलिया जी ने अपने जीवनवृत्त पर केन्द्रित एक पुस्तक (आत्मकथा) बार्न फार आर्म्योलॉजी' लिखी है। वही बात श्री विवेकदत्त झा के व्यक्त्वि तथा कृतित्व में दृष्टिगत होने लगी। भारतीय प्रागैतिहास, क्षेत्रीय पुरातत्त्व, शोध, तथा अन्वेषण के कार्यों में प्रोफेसर विवेकदत्त झा ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया।

वर्ष 1968 में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग में उनकी नियुक्ति सहायक प्राध्यापक के पद पर हुई। तदुपरान्त इसी विभाग में रीडर (प्रवाचक), टैगोर प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष के पदों पर रहकर लगभग 40 वर्षो तक अपनी सेवाएँ सागर विश्वविद्यालय (वर्तमान डॉ.

हरिसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय) को प्रदान की। वे दिसम्बर, 2006 में इसी विश्वविद्यालय से सेवा–निवृत हुए। एक शिक्षक (आचार्य) के रूप में प्रदेश तथा देश में ख्याति अर्जित की वे सुस्थापित–लब्ध प्रतिष्ठ अनुसंधान कर्ता, अन्वेषक, इतिहासविद् तथा पुरातत्त्ववेत्ता थे।

प्रोफेसर झा ने वर्ष 1980 में पीएच.डी. उपाधि सागर विश्वविद्यालय से तथा पटना (बिहार) से वर्ष 1989 में डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त की थी। प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व तथा आदिवासी कला–संस्कृति विधाओं पर अनेकषः शोधपत्र स्तरीय जर्नल्स में उन्होंने प्रकाशित कराए। बस्तर का मूर्तिशिल्प–प्रतिमा विज्ञान की अप्रतिम कृति है। सर्वेक्षण तथा उत्खनन–प्रतिवेदन ,नाट्य रंगमंच विधा पर समीक्षाओं का प्रकाषन तथा उनके कई अन्य मौलिक प्रकाशन शोधर्थियों तथा अध्येताओं के लिए विषेश उपयोगी संदर्भ ग्रंथ हैं।

डॉ. विवेकदत्त झा एक वरिष्ठ रंगकर्मी, समीक्षक तथा पात्राभिनय कला में पारंगत थे। उन्होंने 'आशाढ़ का एक दिन' तथा 'फरार फौज' जैसे नाटकों का कुशल–निर्देशन , मंचन एवं अभिनय भी किया। सांस्कृतिक कार्य–कलापों में उनकी विशिष्ट अभिरुचि रही है। सागर में वे एक वरिश्ठ रंगकर्मी के रूप में सुस्थापित थे। 'श्यामलम्' साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था' की रचनात्मक गतिविधियों से वे जीवन–पर्यन्त जुड़े रहे। उन्हें कई संस्थानों द्वारा सम्मानित भी किया गया। आदिवासी संस्कृति तथा अरण्य–जीवन (वन्य–जीवों) के वे विशिष्ट अध्येता रहे हैं।

डॉ. अंजलि झा का एक लेख 'सागर संभाग में रंगकर्म' (सम्राट् अषोक से आज तक), मध्यप्रदेश संदेश, वर्ष 85, अंक–7 दिनांक 10 अप्रैल, 1989, पृष्ठ 79–82 तक, मुझे पढ़ने को मिला। उसमें लिखा है कि ''वास्तव में 1963 से 1976 तक की अवधि को सागर में रंगकर्म का स्वर्णयुग कहा जा सकता है ....। डॉ. विवेकदत्त झा ने निर्देशन, अभिनव और समीक्षा के क्षेत्र में सागर की पहिचार बनाई। सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग द्वारा कराये गये पुरातात्विक उत्खननों एवं सर्वेक्षणों में प्रोफेसर विवेकदत्त झा का विशिष्ट योगदान रहा है। त्रिपुरी (1965–66 से 1970–71), तुमैन (गुना जिला) वर्तमान अषोकनगर जिला (वर्श 1971–72से 1974–75) मल्हार (जिला–बिलासपुर) 1975–78, एरण–पुर्न–उत्खनन 1984–86,88,1997–98; घोड़ामाड़ा प्रागैतिहासिक काल की गुफा–उत्खनन तथा मध्यप्रदेष के अनेक जिलों के पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों में प्रोफेसर झा की सहभागिता तथा निर्देशन उनकी पुरातत्त्व विषयक अभिरुचि तथा विद्वत्ता का ही परिणाम है।

इन पुरातात्त्विक उत्खननों तथा सर्वेक्षणों में उनकी नेतृत्व क्षमता, अदम्य उत्साह एवं साहस–अनुशासन देखते ही बनता था। जगदलपुर, मण्डला, भीमबैठका के शैलचित्र (रायसेन); गुफा –उत्खनन घोड़ामाड़ा (डिन्डौरी जिला) के पुरातात्विक सर्वेक्षण उत्खनन आज भी रोमांचित करते हैं। घनघोर–बीहड़ –निरापद जंगलों में जाकर पुरातात्त्विक अवषेशों की खोज करना आसान काम नहीं था। एक ओर बीहड़ जंगलों में हिंसक पशुओं (भालू, तेंदुआ आदि) का भय, ''खानपान की अनुपलब्धता, जंगली क्षेत्रों में रात्रि–विश्राम की समस्या, दिन–रात सर्वेक्षण की व्यस्ततम जीवन–शैली , अत्यन्त जोखिम भरा और साहसिक कार्य था। उत्खनन स्थलों में भी लगभग ऐसी ही विपरीत परिस्थितियों का सामना करना होता है। विपरीत मौसम तथा पर्यावरण की प्रतिकूलता को दृढ़ संकल्प से ही सहन किया जा सकता है। दुर्गम रास्तों को तय कर पुरावशेषो का अध्ययन करना डॉ. विवेकदत्त झा तथा उत्खनन–सर्वेक्षण दल के सदस्यों की जीवन–शैली बन गई थी। डॉ. झा एक समर्पित उत्खननकर्ता, साहसिक व्यक्तित्व के धनी एवं अध्येता थे। सर्वेक्षण तथा उत्खनन–कार्यों में पूर्णतः वे अपने को ढाल लेते थे।

घने जंगलों की गुफाओं में प्रवेश कर उत्खनन–कार्य करना एक अत्यन्त साहसिक कार्य था। मुझे घोड़ामाड़ा की वह गुफा आज भी रोमांचित करती है– एक घनघोर विशालतम अंधेरी गुफा, जहॉ हमें जंगली जानवरों के प्रवेश–द्वार से ही अन्दर प्रवेश करना होता था, अंधकार भरी; हिंसक पशुओं की उपस्थिति, वनांचल क्षेत्र में गुफा के अंदर दो माह तक उत्खनन–सर्वेक्षण कार्य कितना कठिन हो सकता है। ऐसे ही मण्डला जिले के चौड़ादादर–शिवनार गुफा, बावड़ी का सर्वेक्षण; रीछों के बीच जंगलों के बीहड़ों में परिभ्रमण, बरसात तथा ठंड का तीव्रतम अहसास, स्कूल, पंचायत–भवनों, यदाकदा विश्राम–गृहों में रात्रि विश्राम, भोजन की अनुपलब्धता, इन सभी कठिनाइयों को आत्मसात करते हुए ही एक पुराविद्–उत्खननकर्ता/सर्वेक्षण–कर्ता ही उन परिस्थितियों को समझ सकता है।'' डॉ. झा इन विपरीत परिस्थितियों में अपनी टीम के साथ कार्य करते थे। परन्तु वे अपने स्वाभाविक मनो–विनोद तथा हास–परिहास से टीम का सदैव मनोरंजन करते रहते थे।

प्रोफेसर (डॉ.) विवेकदत्त झा प्रारम्भ से ही बड़े विनोदी प्रवृत्ति के थे। वर्ष 1964–65 में एरण–उत्खनन में मल्थू पटेल (ग्राम पहलेजपुर) श्रमिक के रूप में कार्यरत था। वह ढोला–मारू की प्रणय–गाथा बड़े ही लालित्य–भाव से सुनाता था। श्री झा तथा उनके सहपाठी बड़े ही चाव से मल्थू से किस्से–चुटकुले आदि सुनते थे। बदले में अपनी चाय खुद न पीकर मल्थू को पिला देते। यह क्रम प्रतिदिन उत्खनन कार्य की समाप्ति पर संध्या समय रोज होता। मल्थू, चाय के लालच में खूब किस्से सुनाता – 'हे ढाड़ी कक्का तनक ठाढ़े रहियौ..... बुन्देली संस्कृति का प्रतीक था मल्थू। सभी श्रमिक तथा उत्खननकर्ता हँसी से लोटपोट हो जाते, उनकी दिनभर की सारी थकान दूर हो जाती।

एरण पहुँचने के लिए उन दिनों कोई आवागमन के सुलभ साधन नहीं थे। मण्डीबामौरा रेलवे स्टेशन से 9 किलोमीटर; बीना स्टेशन से लगभग 12 किलोमीटर तथा खुरई से 18 किलोमीटर तक का कच्चा रास्ता नदी–नालों से होकर पैदल ही निजी सामान के साथ जाना पड़ता था। उत्खनन–दल के सदस्य मण्डी–बामौरा, बीना तथा खुरई से उन दिनों पैदल चलकर ही पहुँचते थे। यह बड़ी ही श्रम–साध्य यात्रा होती थी। मुझे स्मरण आता है कि उत्खनन–कैम्प का सामान जिस ट्रक से एरण–उत्खनन–स्थल तक सागर विश्वविद्यालय परिसर से ले जाया जाता था, वह कभी सामान्य रूप से एरण तक नहीं पहुँचता था। कच्चे रास्ते में ट्रक प्रायः बिगड़ ही जाता था, क्योंकि वह बैलगाड़ी का रास्ता होता था, जिसमें ट्रक को ले जाना बहुत कठिन होता था। सामान उतार कर फिर बैल–गाड़ियों से ले जाना पड़ता था। भापसोन घाट पर बीना नदी तथा मण्डी बामोरा–एरण के बीच का रास्ता कठिनाई भरा था।

वर्ष 1997–98 में डॉ. झा के निर्देशन में उत्खनन कार्य एरण में चल रहा था। एक रात आँधी–तूफान के साथ बहुत बारिश हुई तथा खूब ओले गिरे। कैम्प के अधिकांश टेंट्स धराशायी हो गये। इसी समय प्रोफेसर झा सागर से एरण–उत्खनन कैम्प के लिए शोधार्थी (श्री सुरेन्द्र चौरसिया) के साथ स्कूटर–वाहन से चल पड़े। खुरई से आगे सिलगाँव तक किसी प्रकार पहुँच गए। उस दिन सागर में भी मौसम खराब था। परन्तु डॉ. झा ने इस बात की परवाह नहीं की। बारिश तथा तेज हवाओं के बीच किसी प्रकार बीना नदी तट–भापसोन घाट तक पहुँच गए। फिसलन भरे कच्चे रास्ते में वाहन चलाना कठिन था। उन्होंने स्कूटर वाहन लॉक कर रास्ते के बगल में खड़ा कर दिया। फिर वे लगभग 4 किलोमीटर का कच्चा रास्ता पैदल तय कर रात्रि 11:00 बजे भीगे हुए–कीचड़ लगे उत्खनन–शिविर, एरण पहुँचे। कैम्प में सब जगह पानी–पानी ही था। इतनी थकान भरी कठिन यात्रा करने के बाद भी डॉ. झा ने सामान्य भोजन कर विश्राम

किया। दूसरे दिन स्कूटर बैलगाड़ी में रखकर कैम्प तक लाना पड़ा। उत्खनन–खदानों में भरे बरसाती पानी को निकाल कर उन्हें फिर से सुव्यवस्थित किया गया और फिर सूखने के बाद उत्खनन–कार्य आगे बढ़ा। डॉ. झा उत्खनन–कार्य में बहुत परिश्रम करते थे। लगभग 35 से 40 फुट गहरी उत्खनन खदानों में निर्वाध रूप से एक मजदूर के समान धूल–धूसरित होकर काम करते थे। ऐसा प्रतीत होता जैसे फील्ड आर्क्योलॉजी' ही उनकी आत्मा हो। उत्खनन तथा सर्वेक्षण–कार्यों के प्रति वे सदैव समर्पित भावना से ही कार्य करते थे, चाहे जितनी भी श्रम–साध्य परिस्थितियाँ निर्मित होतीं, वे कभी पीछे नहीं हटते। झॉ. अत्यन्त सादगी पसंद व्यक्ति थे। वे फील्ड में प्रायः अति सामान्य कपड़े ही पहनते थे। उत्खनन–शिविर में भी रहकर वे पूजा–पाठ करते थे। आध्यात्मिक चिंतन के प्रति उनकी प्रगाढ़ अभिरुचि थी। सर्वेक्षणों के व्यस्ततम क्षणों में हमें जहाँ भी नदी–सरोवर मिलते वहीं स्नान करते, कपड़े धोते–सुखाते और ढावा इत्यादि में भोजन कर आगे बढ़ जाते।

मध्यप्रदेश शासन के संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, भोपाल ने प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर को बर्गी बाँध (जबलपुर क्षेत्र) के बनने के पूर्व उस क्षेत्र में डूब में आने वाले पुरातात्त्विक अवशेषों की खोज का कार्य सौंपा था। सागर विश्वविद्यालय की ओर से प्रोफेसर सुधाकर पाण्डेय जी के नेतृत्त्व में डॉ. विवेकदत्त झा सहित सर्वेक्षण दल वर्गी बाँध के आसपास के गाँवों का सर्वेक्षण करने के लिये सागर से गया था। इसमें बडी कठनाई से सर्वेक्षण कार्य प्रो झा के सहयोग से हुआ था।

सर्वेक्षण–कार्यों में प्रायः डॉ. झा के परिचितों तथा रिश्तेदारों से बहुत सहायता मिलती थी। जगदलपुर (बस्तर), मण्डला, षहपुरा, डिण्डोरी, सिवनी आदि के सर्वेक्षणों के कार्य करने में, डॉ. विवेकदत्त झा के साथ बहुत समय तक मुझे रहने का अवसर मिला। डिंडोरी तथा शहपुरा में श्री फणीन्द्र दुबे (यंत्री, सिंचाई विभाग), श्री किशन सिंह राठौर (प्राचार्य), तथा अन्य अधिकारियों से अपेक्षित सहायता तथा आत्मीय–आतिथ्य प्राप्त करने का जो अवसर मिला था, वह डॉ. झा के व्यक्तिगत परिचय तथा सम्बन्धों का ही सुफल था।

विवेकदत्त झा उत्खनन तथा सर्वेक्षण में अपने दल के साथ ही रहते थे। भोजन–विश्राम सदस्यों के साथ ही करते थे, उसमें किसी प्रकार का अलगाव नहीं करते। हम लोगों के खानपान का पूरा ख्याल रखते थे। कतिपय कारणों से वे मल्हार (बिलासपुर जिला) के उत्खनन में अधिक सक्रिय नहीं थे (वर्ष 1976–78 तक)। मल्हार–उत्खनन में एक श्रमिक को 'हनुमान' की भूमिका करने को कहा। उस श्रमिक को बस हनुमान की मुखमुद्रा तथा षारीरिक मुद्रा बनाकर यह डॉयलाग कहलवाते थे– ''जय श्री राम'' फिर स्वतः कहते ''कहो हनुमान सीता माता की क्या खबर लाये हो?'', इसी प्रकार सभी का मनोरंजन तथा मनोविनोद, डॉ. विवेकदत्त झा करते रहते थे। प्रोफेसर (डॉ.) विवेकदत्त झा के व्यक्तित्व में उनके गुरू डॉ. उदयवीर सिंह जी की कर्मठता, प्रोफेसर के.डी. वाजपेयी जी की विद्वत्ता तथा कार्यषैली एवं प्रोफेसर एच.डी. सांकलिया जी की प्रेरणा की झलक एक साथ देखने को मिलती थी। जगदलपुर में रहकर उन्होंने प्रारंभिक कक्षाओं में अध्ययन तथा उसी क्षेत्र पर पी.एच.डी. शोध–कार्य किया था, इसलिए वे जगदलपुर के आदिवासियों की बोली समझते थे। इन्द्रावती नदी, चक्रकोट, बस्तर, बारसूर, तीरथगढ़, गीदम, बड़े–डोंगर, नारायणपुर, कोण्डागांव, दण्डवन, दन्तेवाड़ा, नारंगीनदी परिक्षेत्र, केशकाल, आलोर, गढ़धनौरा, भोंगापाल जैसे सुदूर अंचलों में पुरातात्त्विक सर्वेक्षण सदैव हमें रोमांचित करता था। मण्डला जिले में नर्मदा तटीय क्षेत्रों का सर्वेक्षण, मोतीनाला क्षेत्र, बंजरनदी क्षेत्र, भंवरताल, लफराग्राम, नैनपुर तथा अनेक स्थलों का पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण उनके स्वजनों के सहयोग से ही संभव हो सका। राम नगर का किला, करियापहाड़,

भीम रुधान तथा सघन वनों के बीच स्थित अन्य पुरातत्त्वीय स्थलों के सर्वेक्षण डॉ. झा की विशेष अभिरूचि से ही सम्पन्न हो सके हैं। इसी प्रकार सिवनी तथा डिण्डोरी–शहपुरा सर्वेक्षण भी उल्लेखनीय हैं।

डॉ. झा अपने पुरातत्त्वीय कार्यों से विद्वत् जगत में सदैव जीवंत रहेंगे। उनके जैसा पुरातात्त्विक अन्वेशणकर्ता अब मिलना कठिन है। डॉ. झा को मैंने कभी विचलित होते हुए नहीं देखा। उनके जीवन में अनेक विषम परिस्थितियाँ तथा कठिनाइयाँ सामने आईं उन्होंने बड़े साहस पूर्वक सामना किया। एक जंगल से दूसरे जंगल में प्रवेश, लम्बी–लम्बी यात्राएँ किसी साहसिक यात्राओं से कमतर न थीं।

एक बार उन्हें ''स्लिप–डिस्क'' की भी यातना झेलनी पड़ी। वे कई दिनों तक अधिक कष्ट में रहे। उठने–बैठने, चलने–फिरने में भी बड़ी कठिनाई थी। तमाम दवाएँ कराने के बाद भी उन्हें कमर का दर्द बहुत कष्ट प्रद था। उत्खनन तथा सर्वेक्षण के अवसरों पर भी यह कमर दर्द का कष्ट उन्हें अतिशय पीड़ा पहुँचाता था। वे डाक्टर की सलाह –परामर्श से कमर में बेल्ट बाँधकर तथा पेन किलर दवाएँ लेकर फील्ड वर्क करते थे। ऊँची–ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ना–उतरना; लम्बी दूरी तक पैदल चलना, गुफाओं–कंदराओं में उतरना–चढ़ना, लम्बी यात्रा में देरी तक गाड़ी में बैठना, उनके कमर दर्द को बढ़ाते थे, परन्तु उन्होंने उत्खनन तथा सर्वेक्षण कार्यों में जरा भी व्यवधान नहीं आने दिया। मुझे वह घटना प्रायः याद आती है कि मण्डला के सर्वेक्षण के समय गांव वालों ने बताया कि ऊपर सामने वाले एक ऊँचे पहाड़ पर कुछ मूर्तियाँ रखी हैं। बस, डॉ. झा तत्काल आगे होकर सीधा पहाड़ पेड़ों को पकड़ कर चढ़ने लगे। मैं और डॉ. झा ऊपर तक पहुँच गए। वहाँ जाकर देखा तो वह एक छोटा सा आलेनुमा नव–निर्मित मन्दिर था, जिसमें कुछ छोटी–छोटी आधुनिक मूर्तियाँ रखी थीं। पहाड़ बहुत ऊँचा एवं सघन वृक्षों से हरा–भरा था। कहीं–कहीं सीधी चढ़ाई थी, वृक्षों की डालें पकड़कर हम नीचे उतर पाये। इस घटना का उल्लेख करने का एक मात्र उद्देश्य यह है कि डॉ. झा कभी आलस्य नहीं करते थे, चाहे उन्हें कितना भी फिर कष्ट ही क्यों न हो। उनकी कार्यशैली विशिष्ट प्रकार की स्वतंत्र षैली थी। वे साहसी , उत्साही एवं निर्भीक प्रवृत्ति के थे। भय उन्हें व्याप्त नहीं था।

प्रोफेसर झा एक सुस्थापित पुराविद्, गहन अन्वेशणकर्ता इतिहासकार, एक उच्चकोटि के अध्येता थे। उन्होंने विभाग में शिक्षण कार्य के अतिरिक्त शोध तथा क्षेत्रीय पुरातत्त्व को नए आयाम दिए। उनके निर्देशन में विविध विषयों शीर्षकों में अनेक षोधार्थियों ने पी.एच.डी. उपाधियाँ प्राप्त कीं। अनेक लघु शोध–प्रबंध, शैक्षणिक यात्रा–प्रतिवेदन, अकादमिक संगोश्ठियाँ तथा परिचर्चाएँ आदि सम्पन्न हुईं। इतिहास जगत् प्रोफेसर झा के अकादमिक योगदान को कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा। वे पुरातत्त्व एवं इतिहास के सृजन के लिए ही पैदा हुए थे।

प्रोफेसर झा ने राष्ट्रीय तथा प्रादेषिक स्तर की अनेक अकादमिक संगोश्ठियों/ परिचर्चाओं, कार्यशालाओं में अध्यक्षता तथा विषय–वस्तु का प्रतिपादन/प्रवर्तन किया। अकादमिक तथा प्रशानिक कार्यों में वे निपुण थे। विश्वविद्यालय में वे प्रभारी कुलपति , कार्य–परिशद् सदस्य, अधिष्ठाता (संकायाध्यक्ष) विभागाध्यक्ष, छात्रावास अधीक्षक तथा विष्वविद्यालयीन अकादमिक परिषदों के सदस्य रहे। संगोष्ठियों में उनकी उपस्थिति तथा सहभागिता से नई दिशा मिलती थी। वे बहु–आयामी व्यक्तित्त्व के धनी थे, हास–परिहास तथा विनोद–प्रियता उनके जीवन का अभिन्न अंग था।

अपने पारिवारिक जनों, भाई–बहनों तथा रिश्तेदारों, जो उनसे उम्र में छोटे थे, उन्हें 'विवेक–दादा' कहकर संबोधित करते थे। विश्वविद्यालय में भी कई लोग उन्हें ''दादा'' ही कह कर आत्मीय संबोधन करते

थे। मुझे उनके साथ मण्डला तथा जगदलपुर (बस्तर) क्षेत्रों के पुरातत्त्वीय सर्वेक्षणों के समय उनके परिवार–जनों से मिलने, उनके बीच रहने का पर्याप्त अवसर मिला। उनके पिता स्व.श्री (पण्डित) विजय दत्त झा जी (कक्का जी) मण्डला–क्षेत्र के मालगुज़ार, मण्डला क्षेत्र से विधायक तथा एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। मण्डला में उनका भॅवरताल क्षेत्र (पैतृक निवास) सुप्रसिद्ध है। मालगुज़ारी के समय से ही मण्डला–(झा वार्ड) में झा–परिवार का क्षेत्र में वर्चस्व तथा विशिष्ट समादर है। यह झलक प्रोफे. विवेकदत्त झा के व्यक्तित्त्व में भी परिलक्षित होती थी।

वे एक प्रखर वक्ता, मृदुभाशी मिलनसार एवं मित्रों के सच्चे हितैशी एवं पथ–प्रदर्षक थे। विद्यार्थियों तथा जन सामान्य के प्रति बहुत स्नेह रखते थे। वे अनुशासन प्रिय, सरल एवं सहज़ व्यक्तित्व के धनी थे। जो भी व्यक्ति उनसे एक बार मिलता फिर वह कभी उन्हें विस्मष्त नहीं कर पाता । प्रत्येक आगन्तुक का कार्य वे नियमानुसार तत्काल सम्पन्न कर देते। विभागाध्यक्ष बनने पर भी वे कभी ''विभागाध्यक्ष के लिए आवंटित कक्ष'' में नहीं बैठे। अपितु, संग्रहालय–भवन, में सार्वजनिक रूप से बैठकर कार्य सम्पन्न करते थे। अतिगोपनीय बातों को छोड़कर वे सहज़–सरल भाव से विभाग में सभी से समान रूप से वार्ता–चर्चा करते, परन्तु अनुशासन और कर्तव्य–निष्ठा के प्रति वे समर्पित थे। मेरा परम सौभाग्य रहा है कि मैं प्रोफेसर विवेकदत्त झा के सानिध्य में अनेक वर्शों तक रहा ।

उनके असामायिक निधन (6 जून, 2016) से हम सभी ने एक वरिष्ठ, लगनशील (कर्मठ) पुरातत्त्ववेत्ता, इतिहासकार, अन्वेषणकर्ता, समालोचक, रंगकर्मी, पथ–प्रदर्शक एवं सच्चा मित्र खो दिया है। विद्वत्–जगत के लिए यह अपूरणीय क्षति है। हम सभी शोकाकुल तथा व्यथित मन से उन्हें अंतिम विदाई देते हैं। परमपिता परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि वह दिवंगत आत्मा को परम शांन्ति तथा परिवार जनों को गहन दुःख सहन करने की असीम क्षमता प्रदान करें। इन्हीं शब्दों के साथ उन्हें हम श्रृद्धा–सुमन समर्पित करते हैं।

'ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'

नम्रता, स्नेह एवं दृढ़ता के प्रतीक प्रो0 झा

प्रो. प्रमोद कुमार खरे

2, नवम्बर, 1987 का दिन प्रो0 विवेक दत्त झा से मेरी पहली औपचारिक मुलाकात का दिन था क्योंकि मैं परिवार सहित विश्वविद्यालय परिसर के सी0 87 आवास में रहने हेतु आया । सामान व्यवस्थित करने में हम लोग व्यस्त थे कि बाहर दरवाजा खटखटाने की आवाज सुनाई दी । एक स्मार्ट सा बालक था, उसने नमस्ते की एवं पूछा– अंकल पानी और अन्य किसी की जरूरत हो तो मैं लाता हूँ, पापा ने भेजा है कि ये लोग अभी आये हैं, शायद कुछ मदद की आवश्यकता हो । वह बालक झा साहब का पुत्र विदु था । झा साहब सी0 88 आवास में रहते थे । एवं मेरे पडोसी रहे हैं । शाम को मै सपरिवार उनसे मिलने गये और उन्होंने व उनके पूरे परिवार ने हम लोगों का बडे स्नेह से स्वागत किया । इस दिन के बाद यह स्मरण नहीं कि दोनो परिवार किस प्रकार से एक परिवार में बदल गये । सर की पत्नि हमारी आदरणीय भाभी जी एवं बच्चे गरिमा एवं भवदत्त सभी हमारे परिवार हो गयें । कोई भी दिन ऐसा नहीं था जिस दिन हम सभी लोग मिलते न हों और दोनो परिवारों के सभी आयोजन चाहे वह जन्मदिन हो या अन्य कोई, एक ही घर में आयोजित होते रहते थे । एक ओर झा साहब ने मुझे अपने छोटे भाई जैसा माना, परन्तु मुझे हमेशा खरे साहब से संबोधित किया । उनकी नम्रता जग–जाहिर है चाहे छोटा कर्मचारी हो या बडा, सभी का बडी नम्रता से सम्मान करते थे ।

स्नेह ऐसा कि अपने सभी मित्रों को अपने कुटुम्ब का सदस्य मानते थे । मेरी बेटी अपर्णा उस समय दो वर्ष की थी । सुबह स्नान कर सीधे झा अंकल के गेट पर खडी हो जाती और झा साहब उसे गोद में उठाकर घर ले जाते एवं उन्हीं के साथ खेलती, पूजा करती, सुबह का खाना उनकी टेबल के उपर बैठ कर खाती । उसके पश्चात् झा साहब उसे अपने स्कूटर पर एक चक्कर लगाते एवं उसके बाद विभाग जाते थे । यह इसलिए लिख रहा हूँ कि यह सिलसिला एक दिन का नहीं था, पूरे 3–4 वर्ष चला । स्नेह की पराकाश्ठा ये कि एक बार मेरी चुनाव में ड्युटी थी, एवं मेरी तबियत बहुत खराब थी । बहुत प्रयास के बावजूद ड्यूटी निरस्त नहीं हुई, तो झा साहब चुनाव प्रभारी के पास स्वयं चले गये और मुझे ड्युटी से मुक्त कराया । यह उन्होंने केवल मेरे साथ ही नहीं किया, सभी लोग उनके इस स्नेहित स्वभाव से परिचित हैं ।

जीवन की इस यात्रा में एक हादसा हुआ जिसने हमारे इस परिवार को हिलाकर रख दिया । 14 नवम्बर 1989 को नेहरू जन्म शताब्दी के उपलक्ष में विश्वविद्यालय में अवकाश घोषित हुआ । एक दिन पूर्व रात्रि में हम लोगों ने एक पिकनिक पर जाने का निर्णय लिया । इसमें हमारे साथ प्रो0 रायजादा का

परिवार भी था । परिवारों के सभी सदस्य झा साहब की कार में थे एवं झा साहब एवं रायजादा साहब के पुत्र मेरे साथ मोटर साइकिल पर। पास ही रहली रोड पर 14 नवम्बर को हम सभी बन्नाद जलाशय/डेम गये और वहॉ खाने की व्यवस्था करने लगे । मेरा बेटा प्रशान्त जो उस समय लगभग 4 वर्ष का था अपने दोनों भाईयों विदू एवं प्रो0 रायजादा के बेटे के साथ जलाशय के पास चलें गये । इसे चाहे नियति कहें या विधि का चक्र, प्रशान्त दौडता हुआ वापस आया और बोला भईया लोग पानी में गिर गये । हम सभी उस ओर दौडे और झा साहब पानी में कूद गये । लेकिन कुछ हाथ नहीं लगा । एक पल में सब समाप्त । पूरा विश्वविद्यालय परिवार वहॉ एकत्रित हो गया । लगभग दो दिन बाद बच्चे मिले। उनके अंतिम संस्कार का वह दुखद क्षण मेरी स्मृति में अभी भी अंकित हैं और शायद हमेशा रहेगा । सभी परिवारों के जीवन बदल गये लेकिन नियति के सामने सभी हार गये । इस हादसे के बाद भी झा साहब ने संयम नहीं छोडा एवं वे दूसरो का सान्त्वना देने में जुट गये ।

समय गुजरता गया और झा साहब को एक और पुत्र हुआ जिसका नाम उन्होंने भवदत्त रखा अर्थात कि भगवान का दिया हुआ । इस घटना के बाद हम लोग और प्रगाढता से जुड गये और एक दूसरे के हर सुख–दुख के साथी बन गये । शिक्षक एवं शोद्यार्थी के रूप में प्रो0 झा विलक्षण प्रतिमा के धनी थे और सभी से विषय पर विचार विमर्श किया करते थे । उनकी प्रशासनिक क्षमता अद्भुत थी । मैं उनके साथ कई समितियों में रहा एवं यह पाया कि वे कार्य करने में दृढ एवं अपने वादे के पक्के थे । कभी उन्होंने अपने वचन को नहीं जाने दिया । मेरे विचार में विश्वविद्यालय ही नहीं अपितु सागर शहर में वे बहुत लोकप्रिय रहे । उनका व्यक्तित्व एक निडर सिंह के समान था। उनके सेवानिवृत्त होने के बाद भी हमारे परिवारों का मिलना वैसा ही रहा जैसा पहले था । मैं अपने को बडा सौभाग्यशाली मानता हूॅ क्योंकि लोग यह कहते हैं कि खरे साहब, झा साहब के सबसे नजदीक हैं ।

सेस्मरण तो इतने हैं कि उनका कोई अंत नहीं हैं परन्तु एक बात का जीवन के अंतिम क्षण तक अफसोस रहेगा कि उनके अंतिम समय एवं अंतिम यात्रा में मैं उनका साथ नहीं दे पाया । बात दिनॉक 6 जून 2016 की हैं । जैसे ही मैं और मेरा परिवार सेन फ्रांसिको, अमेरिका, के एयरपोर्ट पर उतरे, मेरी बेटी मेरे पास दौड कर आई, और रोते हुये बोली कि मैसेज आया हैं कि झा अंकल नहीं रहे । हम सभी हतप्रभ एवं स्तब्ध रह गये । मुझे विश्वास नहीं हुआ कि झा साहब जैसे नियमित दिनचर्या वाले स्वस्थ व्यक्ति इस तरह हमें छोड कर नहीं जा सकते । इसके बाद कई लोगों से सूचना प्राप्त हुई । रोना नहीं चाहता था परन्तु वहीं एयरपोर्ट पर आंसू निकलने लगे । समझ में नहीं आ रहा था कि इस अधात को कैसे आत्मसात किया जाये । वहॉ से दूरभाष पर भी भाभी जी, अंजलि झा, से बात करने की हिम्मत नहीं हो रही थी ं फिर भी प्रयास किया, परन्तु शब्द थे कि मुॅह से बाहर नहीं आ रहे थे । रोने लगा तो श्रीमती झा ने कहा कि खरे साहब कुछ मत बोलिये, मुझे मालूम हैं कि आपकी क्या स्थिति हो रही होगी । बाद में बात करते हैं । झा साहब की अंतिम यात्रा, अंतिम दर्शन एवं विदाई में भी उपस्थित नहीं हो पाया, जिसका दुख सदा रहेगा । इस संस्मरण से ही सहीं, मैं उन्हें श्रृद्वांजलि एवं विदाई देना चाहता हूॅ । अभी भी विश्वास नहीं हैं कि नम्र स्नेह से भरे हुए, प्रो0 झा साहब हमारे साथ नहीं हैं । उनके साथ जो सम्बंध थे उन्हें शब्दों में मैं व्यक्त नहीं कर सकता ।

विनम्रता की प्रतिमूर्तिः प्रो. विवेकदत्त झा

प्रो0 अभय सिंघई

विश्वविद्यालय की प्रत्येक गतिविधि यथा रंगमंच, खेलकूद प्रतियोगितायें याकि अकादमिक संगोष्ठियों में प्रो0 विवेक दत्त झा की मौजूदगी के कारण मेरा उनसे अप्रत्यक्ष परिचय छात्र जीवन से ही हो गया था। राजनैतिक और सामाजिक आयोजनों में भी आपकी सक्रियता देखी जा सकती थीं। वि0वि0 अधिनियम 1973 के औचित्य पर मेरे द्वारा संचालित गोष्ठियां में प्रो0 झा की सहभागिता को मैं आज भी विस्मृत नहीं कर पा रहा हूँ।

सौभाग्य से अध्ययन उपरांत अस्सी के दर्शक में मेरी नियुक्ति फार्मेसी विभाग में हो गई और विवाहोपरांत मैं विश्वविद्यालय परिसर के उस हिस्से में रहने को आया, जहां प्रो. झा रहते थे। इस हिस्से को छत्तीसगढ़ कालोनी कहा जाता था कारण परिसर के इस गोले में प्रो0 झा के अलावा प्रो0 एन0के0 गौरहा, प्रो0 एम0एस0 कछवाहा, प्रो0 एस0के0 पाण्डे तथा प्रो0 पी0एस0 दीवान रहते थे जो सभी छत्तीसगढ़ क्षेत्र के वासी थे। ठीक पड़ोस में रहने के कारण प्रो0 झा के परिवार से मेरे परिवार के प्रगाड़ रिश्ते बन गये थे तथा उनका परिवार मेरी पत्नी को बेटी तथा मुझे दामाद तुल्य मानने लगा। इसी घनिश्ठता के दौरान मैंने पाया कि प्रो0 झा मानवीय सहानुभूति, अथक प्रतिकार प्रवृत्ति, राष्ट्र निरपेक्ष लोक निष्ठा, स्वयं प्रज्ञा और अविरल कर्मशीलता जैसे तत्वों से बने हैं। वि0वि0 के छोटे से छोटे कर्मचारी को वह व्यक्तिगत रूप से जानते थे और उन सभी के दुख–सुख में वह सदैव शामिल होते। निर्भीकता और अदम्य साहस के साथ ही विनम्रता उनमें कूट–कूट कर भरी थी। छोटा हो या बड़ा सभी के प्रति उनका व्यवहार बहुत ही सरल होता गुरुजनों के प्रति आस्था एवं श्रद्धा का अवलोकन मुझे प्रो0 झा की प्रो0 यू0वी0 सिंह एवं प्रो0 कान्ति कुमार जैन से उनकी मुलाकातों के अवसर पर हुआ। विश्वविद्यालय के उच्च प्रशासनिक एवं अकादमिक पदों को सुशोभित करते हुये आपने अपनी असीम क्षमता तथा कर्मठता का परिचय दिया। छात्रावास प्रबन्धन, पुनर्मूल्यांकन शाखा, परीक्षा समन्वय समिति तथा उड़न दस्ता जैसे दुरूह कार्यों के सम्पादन के दौरान मुझे भी प्रो0 झा के साथ कार्य करने का मौका मिला जहां मुझे उनकी कर्तव्य निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ साथ बिगडेल छात्रों से कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये जैसे विषयों की सीख मिली। कार्य के इसी दौरान प्रो0 झा के मुख से अद्भुत शैली में विश्वविद्यालय के गौरवपूर्ण अतीत से भी परिचय हुआ। फिर चाहे वह डा0 विजय चौहान, राजनीति विज्ञान के किस्से हों, याकि रघु शर्मा, फार्मेसी विभाग की विद्वता एवं निडरता के चर्चे या फिर दादा मिहिर चटर्जी, फार्मेसी विभाग की प्रतिभा का वखान। यहां तक कि वि0वि0 के बहु चर्चित प्रेम प्रसंगों का आंखो देखा हाल भी हम मित्रों को प्रो0

झा से ही सुनने को मिला। शोध कार्य में प्रो0 झा की गहरी रूचि रही है। कर गुजरने के लिये मौसम नहीं, मन चाहिये जैसी सूक्ति के वे अनुयायी रहे। जैन साहित्य, गृहविज्ञान एवं रंग कर्म जैसे विषयों में शोध प्रबन्धों का निर्देशन उनकी प्रतिभा को दर्शाता है। उन्होंने पुरातत्व विषय में अनेकों शोध प्रबन्धों का निर्देशन किया। तथा अनेको स्थलों पर उत्खनन कर, पुरातत्व सामग्री संकलित की। पुरातत्व विशय में तो आप देश के जाने माने विद्वान माने जाते थे। इस कारण आपको कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। प्रदेश सरकार ने आपकी प्रतिभा को देखते हुए मध्य प्रदेश गजेटियर का सलाहकार नियुक्त किया था। मंडला के प्रतिष्ठित एवं प्रभावशाली परिवार से होने के बावजूद आपके स्वभाव में जरा सा भी दंभ नहीं था। ऐसे भी अवसर आये जब आपके कई अजीज वि0वि0 के कुलपति बने लेकिन झा साहब के व्यवहार में न तो कोई बदलाव परिलक्षित हुआ, और न ही कभी उन्होंने इन अवसरों का स्वार्थ पूर्ति हेतु उपयोग किया। वह मित्रों के सुख दुख में सदैव साथ होते एक बार जिसका साथ देने का कह दिया तो कभी नहीं बदलते। उनकी कथनी और करनी में कभी भी फर्क नहीं रहा। प्रो0 झा साहब के व्यक्तित्व की तुलना पीयूष पूर्ण गंगा से की जा सकती है। क्योंकि उनमें हमें एक साथ गंगोत्री के वेग, हरिद्वार के निर्माल्य तथा प्रयाग के समन्वयपूर्ण विस्तार के दर्शन होते हैं। वे मेरे प्रेरणा स्त्रोत थे और रहेंगे उनकी स्मृति को शत शतः प्रणाम।

प्रो. विवेकदत्त झा : दि लीजेण्ड पर्सन

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

देश में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विशय के मर्मज्ञ अध्येताओं की बात आती है तो मेरे मानस पटल पर जो चमकदार नाम उभरकर आता है वह प्रोफेसर विवेकदत्त झा का। अपने मूल विशय के साथ–साथ साहित्य, समाज और राजनीति आदि पर भी वे आधिकारिक तौर पर दखल रखते थे और अपने विचारों से लोगों को प्रभावित करते थे। लगभग चार दशक पहले विश्वविद्यालय में नाट्य–रंगमंच के क्षेत्र में बादषाहत थी उनकी। नाटकों का सफल निर्देशन ही नहीं, एक सशक्त अभिनेता की भूमिका में प्रो. झा ने अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया था। नाट्य प्रेमियों को चमत्कष्त किया था। मोहन राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन' उनकी बेहतरीन नाट्य प्रस्तुति थी। उन्होंने इस नाटक का सफलतापूर्वक निर्देशन किया और स्वयं मुख्य पात्र की भूमिका अदा की। नाट्य प्रेमियों की जबान पर प्रो. झा का नाम आता रहा है। लम्बी, प्रशस्त कदकाठी, प्रखर व्यक्तित्व, दमदार आवाज, बॉडी लैंग्वेज आदि सभी दृष्टियों से एक ग्रेट अभिनेता के गुण उनमें अन्तर्निहित थे। उनके युवा काल के कितने ही अध्यापक उनकी अभिनय कला की तारीफ में अब भी कसीदे काढते हैं। प्रो. झा के अतरंग और बाह्य व्यक्तित्व की नाना छवियाँ हैं। यहां कुछ छवियाँ हमारी स्मषतियों में अभी तत्काल उभर पायी हैं।

प्रो. विवेक दत्त झा युवाओं के बीच बहुत लोकप्रिय थे। विश्वविद्यालय छात्रावास के मुख्य प्रतिपालक रहते हुए उन्हें छात्रों को बेहद करीब से जानने–समझने का अवसर मिला। कुछ ही समय में छात्रों के बीच उनकी लोकप्रियता का ग्राफ तेजी से बढ़ गया। हॉस्टल के छात्र हों या शहरवासी छात्र, सभी से उन्हें बेहद आदर–सम्मान मिला। और वे अभिभावक की तरह छात्रों के प्रति स्नेह रखते थे। वे स्वभाव से सरल थे, किंतु सख्त भी, 'नारिकेल समाकारा'। छात्रों में अनुशासन कायम रखने में वे कभी पीछे नहीं रहे। उनके अभिभावकत्व के कितने ही किस्से छात्रों व अध्यापकों के बीच चर्चित हुए। प्रो. झा अपने षोधार्थियों का हित–चिंतन करने में अपने अध्यापकत्व की सार्थकता मानते थे। वे जीवनपर्यन्त एक श्रेठ व ईमानदार अध्यापक रहे। उनकी अध्यापन कला से कौन नहीं प्रभावित था। डीन, विभागाध्यक्ष, शिक्षक संघ के अध्यक्ष, विद्या परिषद् व कार्य परिषद् के सदस्य आदि अनेक प्रशासनिक दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वहन कर प्रो. झा ने अपनी प्रषासनिक क्षमता का भी परिचय दिया।अनुसंधानकर्त्ता की भूमिका भी उनकी लाजवाब रही है। पीएच.डी. के बाद डी.लिट्. जैसी सर्वोच्च उपाधि से वे अलंकृत हुए। स्तरीय शोध को उन्होंने हमेशा तरजीह दिया–स्वयं के लिए और शोधार्थियों के लिए भी। पुरातात्विक खोज के प्रति अपने लगाव के कारण उन्होंने बुन्देलखण्ड के एरण आदि अनेक प्राचीन व पुरातात्विक महत्व के स्थलों पर

जाकर महीनों कष्ट सहकर उत्खनन करवाये थे। उत्खनन में उपलब्ध सारी सामग्री विभाग के हरीसिंह गौर संग्रहालय में मौजूद है। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ' कबीर की उक्त वाणी को प्रो. झा ने पुरातात्विक खोज और उत्खनन के संदर्भ में सोलह आने सार्थक किया। विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना के ग्रामीण शिविरों में प्रो. झा छात्रों व अध्यापकों के प्रेरक के रूप में जाना पसंद करते थे। शिविर के दौरान छात्रों के द्वारा ग्राम में किये कार्यों की भरपूर सराहना करते हुए युवकों की हौंसला आफजाई करना उनके स्वभाव में था। मैं और डॉ. नागेष दुबे वर्षों विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना के कार्यक्रम अधिकारी रहे। उस दौरान विश्वविद्यालय परिसर और ग्रामीण क्षेत्र में आयोजित दस दिवसीय षिविर में प्रो. झा अवश्य आते और अपने उद्‌बोधन से छात्रों को बेहद प्रेरित व प्रभावित करते थे। गांव के लोग उन्हें आज भी याद करते हैं।

प्रो. विवेकदत्त झा की हैट वाले प्रोफेसर की भी एक आकर्शक छवि मेरे मन में बसी हुई है। अपनी वेशभूषा के कारण वे सदैव लोगों के आकर्शण के केन्द्र बने रहते थे। सूट–बूट–टाई के अलावा सामान्य दिनों में पैंट–शर्ट उनका पहनावा था। पर धोती कुर्त्ता, सदरी, कुर्त्ता–अलीगढ़ी पायजाम में भी वे खूब जंचते थे। शौकीन व्यक्ति थे। ताम्बूल उन्हें प्रिय था। पीने–खाने का शौक उनके मित्रों को ही पता था। प्रो. झा साहसी, धैर्यवान और दुःखों का पहाड़ भी उठा लेने की सामर्थ्य रखने वाले व्यक्ति थे। संसार का सबसे बड़ा दुःख पुत्र शोक है। यह अपार दुःख उनके नसीब में लिखा था। युवा पुत्र की नदी में डूबने की दर्दनाक घटना को बर्दाश्त करना उनकी विवशता थी। पर आकस्मिक दुःख में स्वयं को सम्हालते हुए उन्होंने अपनी सहधार्मिणी यानी बच्चे की माँ को सम्हाला। जिंदगी पुनः पटरी पर लौट आयी और आगे बढ़ी क्योंकि मंजिले और भी थीं। रूकना, थकना, गम में डूब जाना पुरूषार्थी व्यक्ति के लिए शोभा नहीं देता। इसीलिए पहाड़–सा दुःख वे झेल गये। अपने जवान बेटे की मौत का गम मैं भी स्वयं सीने में दफन कर जी रहा हूँ। प्रो. झा की उस पीड़ा का गहरा अहसास है मुझे। 'जाके पैर न फटे बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' विधाता रहम करे, ऐसी बिवाई किसी की न फटे।

प्रो. झा अपने विभाग से रिटार्यड हुए और हमें पता चला कि वे अपने मूल स्थान छत्तीसगढ़ के मण्डला वापिस लौट जायेंगे, यह जानकर बहुत कष्ट हो रहा था। मुझे ही नहीं, उन्हें चाहने वाले सभी जनों को, जिन्हें वर्षों से उनका स्नेह मिला था। प्रो. नागेश जी और उनके परिवारजन भी प्रो. झा के सानिध्य से वंचित नहीं होना चाहते थे और जब एक दिन पता चला कि वे सागर में ही स्थाई तौर पर रहेंगे। सभी आत्मीयजनों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। वे स्वयं भी सागर के मोह से बंधे हुए थे। कई दशकों का जीवन जिया था उन्होंने यहाँ, बीच–बीच में वे अपनी बेटी और बेटे के परिवार से मिलने दिल्ली जाया करते थे। उनकी अकादमिक यात्राएँ व लेखन निरंतर जारी था। सभा–गोश्ठियों में उन्हें प्रायः देश में बुलाया जाता रहा और अनेक बार वे सम्मानित हुए। उनकी विद्वता, विषय मर्मज्ञता, अभिव्यक्ति कला, विषय–विश्लेषण आदि गुणों से सागर ही नहीं, देश के इतिहासविद् प्रभावित व प्रेरित होते थे। ज्ञान के स्तर पर पर अपनी धाक जमा लेना उन्हें आता था। अपनी प्रखर वक्तृत्व कला और प्रखर मेधा सम्पन्न व्यक्तित्व से लोगों का दिल जीत लेने में उन्हें महारत हासिल थी। किसी की कांट–छांट करना, नीचा दिखाना, चुटकी लेना, निन्दा करना आदि उनकी फितरत में कभी शामिल नहीं था। अपने लाजवाब व दमदार व्यक्तित्व से हर किसी के दिल में उन्होंने अपने लिए जगह बना ली थी। कुछ लोग तो हर जमाने में होते हैं जिन्हें अच्छे से अच्छे व्यक्ति भी रास नहीं आते। ऐसे जलनखोरों की बातों पर हम क्यों जायें।

इस दुनिया से विदा लेने के कुछ वर्श पूर्व उनकी रचनात्मक सक्रियता को लेकर सागर शहर व विष्वविद्यालय में उनको जानने–मानने वालों में खास प्रसन्नता और उत्साह था। साहित्यकारों संस्कृति कर्मियों और रंगमंच के प्रेमियों में प्रो. झा की सक्रियता को लेकर प्रसन्नता की लहर दौड़ उठी थी। कम से कम मुझे तो इस बात का गहरा अहसास रहा था। श्यामलम, पाठक मंच, विश्वविद्यालय की अकादमिक गोष्ठियों में उनकी वैचारिक उपस्थिति लोगों को आनंदित करने लगी थी। इसका लाभ नयी पीढ़ी के लेखकों एवं इतिहासकारों को भरपूर मिला। नये लोगों के बीच आकर उन्हें अपने युवा दिनों की यादें ताजा हो जाया करती थीं। युवा इतिहासकार, रंगकर्मी व अभिनेता उनसे विचार–विमर्ष करना अपना सौभाग्य मानते थे। शहर की सभा–गोश्ठियों में अपनी खनकदार और वैचारिक ऊश्मा भरी उपस्थिति से उन्होंने लोगों का दिल जीत लिया था। मुझे व्यक्तिगत तौर पर प्रो. झा के जीवन के उत्तरार्ध के दिनों की सकारात्मक भूमिका को देखकर प्रेरणा मिली और लगा एक बार फिर वसंत सागर के शहरी साहित्यिक जनों के बीच आ गया। इस वसंत को रोको, जाने न दो, पर पतझड़ तो आना था, लेकिन कुछ जल्दी आ गया, बेमौसम। ''जा दिन मन पंछी उड़ जैहें, ता दिन तन तरुवर के पात सबै झर जैहें' यह बात प्रो. झा के जीवन में चरितार्थ हो गई। उनका मन पंछी उड़ गया, वे सदा के लिए हमारे बीच से चले गये। उनकी अंतिम विदाई यात्रा का मैं भी साक्षी रहा हूँ। घर–परिवार, हित–मित्र पूरा शहर प्रो. झा के आकस्मिक निधन पर गहरे शोक में डूब गया। विश्वविद्यालय का एक लीजेंड पर्सन हमारे बीच से चला गया। उनकी अनुपस्थिति हर उन्हें चाहने वालों को बेहद अखर गई। प्रो. झा की कीर्ति काया सदैव जिन्दा रहेगी। शत–शत नमन प्रो. झा के लिए।

प्रो. विवेकदत्त झा के अतिप्रिय शिष्य प्रो. नागेश दुबे और डॉ दुबे के सुयोग्य प्रिय शिष्य डॉ. मोहनलाल अपनी अपार आस्था, श्रद्धा की अभिव्यक्ति स्मृतिग्रंथ के रुप में प्रकाशित कर रहे हैं। यह बड़ी श्रद्धांजलि होगी, अमिट और अनुकरणीय। मेरी हार्दिक बधाई है दोनों महानुभावों को। हर श्रेष्ठ अध्यापक को डॉ नागेश दुबे और डॉ मोहन लाल जैसे प्रतिभावन और विनयशील शिष्य मिलें। मुझे प्रो. झा के विषय में कुछ लिखने का अवसर मिला, मेरा सौभाग्य। न जाने कितने किस्से–प्रसंग प्रो. झा के बारे में लोगों के दिलों में हैं, वे व्यक्त होंगे, हम पढेंगे–जानेंगे तब पता होगा प्रो. विवेकदत्त झा कितने ऊँचे कद के व्यक्ति थे। ऐसे व्यक्तित्व अब विरल हैं।

प्रो. झाः एक अनुकरणीय मार्गदर्शक

प्रो. नागेश दुबे

मेरे पूज्य गुरूवर प्रोफेसर विवेकदत्त झा का मेरे जीवन में अनेक रूपों में योगदान रहा है। वे एक आदर्श शिक्षक, एक आदर्श शोधकर्ता, एक आदर्श पुरातत्ववेत्ता, एक आदर्श शोध निर्देशक, एक आदर्श विभागाध्यक्ष, एक आदर्श अधिश्ठाता, एक आदर्श प्रशासक के रूप में जाने जाते रहे हैं।सर्वप्रथम मैंने उन्हें एक आदर्श मार्गदर्शक के रूप पाया। प्रो. झा मेरे पिता तुल्य थे। वह भी मुझे पुत्रवत् मानते थे। उनसे, मुझे मेरे पिता स्व. एन.पी. दुबे ने अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व मिलवाया। मेरे पिता जी को प्रो. झा पितृवत सम्मान देते थे। पिताजी की मृत्यु के पश्चात प्रो. झा ने गुरू के रूप में व एक पिता के रूप में निरंतर मेरा मार्गदर्षन किया। मृत्युपर्यन्त मेरा मार्गदर्शन करते रहे। प्रो. झा का एक मार्गदर्शक एक शिक्षक के रूप में अनुकरणीय रहा है। विषय की जटिलताओं को सरल व सहज व्याख्या कर उसे बोधगम्य रूप में विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करना उनकी विशेषता थी। उनकी इस विशेषता का लाभ मैंने भी भावी जीवन में विश्वविद्यालय में शिक्षक बनने पर उठाया। विद्यार्थियों को पाठ्यक्रम के विषय–बिन्दुओं की सरल व बोधगम्य व्याख्या कर स्पष्ट करने का प्रयास किया जिससे विद्यार्थियों को विषय–बिन्दुओं के प्रति आकर्शण बना रहे व विषय के प्रति रोचकता बनी रहे। प्रो. झा ने एक आदर्श शिक्षक की गरिमा को जीवनपर्यन्त बनाये रखा।

एक आदर्श शोधकर्ता के रूप में प्रो. झा ने अपने आपको विद्यार्थी जीवन से ही स्थापित कर लिया था। उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषय से एम.ए. करने के दौरान 'एरण उत्खनन से ज्ञात द्वितीय काल का अध्ययन' शीर्षक से लघुशोध प्रस्तुत किया। इस लघु शोध को, शोध प्रबंध के स्तर का स्वरूप दिया। इसके उपरांत अध्यापन के दौरान उन्होंने प्रो. अवधबिहारी लाल अवस्थी के निर्देशन में ऑक्र्योलॉजी ऑफ बस्तर' पर शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। जिस पर उन्हें सागर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा पीएच.डी. (डाक्ट्रेट) की उपाधि प्रदान की गयी थी। यह शोध प्रबंध बस्तर के पुरातत्वीय वैमन का प्रमाणिक दस्तावेज माना गया। जो शोध प्रबंध के श्रेष्ठ मानकों के साथ प्रस्तुत हुआ है। पीएच.डी. के उपरांत आपने उच्च शिक्षा की सर्वोच्च शोध उपाधि डी.लिट् (डॉक्टर ऑफ लेटर्स) हेतु 'बस्तर का मूर्ति शिल्प' शीर्षक से शोध–प्रबंध प्रस्तुत किया। जिस पर मगध विश्वविद्यालय, बोद्धगया, बिहार द्वारा डी.लिट्. की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की गयी। इस ग्रन्थ में प्रमाणिकता व तथ्यात्मक रूप से बस्तर का मूर्ति शिल्प उद्घाटित हुआ है। बस्तर के मूर्ति शिल्प का प्रतिमा शास्त्रीय निर्देशों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रो. झा ने प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व के प्रत्येक पक्ष पर शोध पत्र प्रस्तुत किये। ये

शोध पत्र राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में प्रस्तुत किये। राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय शोध जर्नल्स एवं शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये। प्रो. झा ने हमेशा इस बात का ध्यान रखा कि प्रत्येक शोध पत्र में नवीन तथ्यों को प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया जाये। उनके इन शोधपत्रों से प्राचीन भारतीय इतिहास, अभिलेख, कला, स्थापत्य, पुरातत्व के विभिन्न पक्षों पर नवीन दृष्टियों से प्रकाश पड़ा है।

प्रो. झा का अंग्रेजी एवं हिन्दी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। परन्तु वे हिन्दी को अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम मानते थे। उन्होंने दोनों भाषाओं में शोध ग्रन्थ व शोध पत्र प्रस्तुत किए। प्रो. झा ने अपने विभिन्न शोध पत्रों में नवीन मत प्रतिपादित किये है। ईसुरी में प्रकाशित 'एरण : बुन्देलखण्ड का प्राचीनतम सामरिक–सांस्कृतिक केन्द्र' शोधपत्र में एरण के नामकरण से संबंधित एक नवीन मत प्रतिपादित किया। एक अन्य शोध पत्र 'झूलपुर ताम्रपत्र' में त्रेलोक्य मल्ल नामक कलचुरि शासक की पहचान स्थापित की। अपने एक शोधपत्र में एरण को नाग शासकों का केन्द्र होना प्रतिपादित किया। प्रो. झा का प्रत्येक शोध पत्र में नवीन मत, प्रमाणिकता के साथ स्थापित करने का प्रयास होता था। प्रो. झा मूलतः पुरातत्व विज्ञान के अध्येता थे। परन्तु क्षेत्र पुरातत्व के साथ–साथ कला एवं स्थापत्य विधा पर उनका समान अधिकार था। उनके गुरू प्रो. उदयवीर सिंह जी उन्हें मेहनती व जिज्ञासु शोधकर्ता मानते थे। मेरा प्रो. झा एवं प्रो उदयवीर सिंह के साथ डिण्डौरी जिले की घोड़ामाड़ा गुफा उत्खनन के दौरान उत्खनन दल का सदस्य के रूप में सम्पर्क रहा। प्रो. उदयवीर सिंह जी झा सर के आग्रह पर वहां पहुंचे थे।

प्रो. झा मेरे षोध–प्रबंध के निर्देशक थे। एम.ए. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषय से एम.ए. करने के उपरांत मैं, उनसे शोध निर्देशक बनने के आग्रह के साथ मिला। उन्होंने मेरे आग्रह को सहजता से स्वीकार करते हुए, 'एरण की कला' पर शोध कार्य करने का परामर्श दिया। सम्पूर्ण शोधकार्य के दौरान उन्होने मेरे समक्ष आयी शोध समस्याओं को सहजता से हल किया। उनका कहना था कि ''तुम मुझसे विभाग या निवास कहीं पर भी मिल सकते हो।'' शोध कार्य के दौरान उन्होंने शोध निर्देशक के रूप में जिन निर्देशों को पालन कराने में कठोरता दिखायी भी तो उनसे मेरा शोध प्रबंध नियमों के अनुरूप त्रुटि रहित तैयार हुआ। मैं, जब उनके विभाग में सहायक प्राध्यापक के रूप में उनके आशीर्वाद से नियुक्त हुआ और कालान्तर में मुझे शोध निर्देशक के रूप में मान्यता मिली, तब मैंने भी अपने शोधार्थियों से प्रो. झा से विरासत में मिले निर्देशों के अनुरूप शोधकार्य कराया। वास्तव में वे एक आदर्श शोध निर्देशक थे। वे अपने विद्यार्थियों व शोध छात्रों से हमेशा यह कहते थे कि ''भले ही कम संख्या में शोधपत्र लिखो, परन्तु जो भी शोध पत्र लिखो उस पर पूरी मेहनत कर नवीन तथ्यों को प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत करो।'' उनका कहना था कि ''शोधकार्य शोधार्थी को अपना सौ प्रतिशत देना चाहिए। वे कहते थे कि यदि दस कदम की दूरी तय करनी है और तो शोधार्थी यदि स्वयं पहल करके तीन कदम भी तय करें तो मैं (प्रो. झा) सात कदम उसकी ओर आकर शोधकार्य को पूर्ण कराऊंगा।'' शोधकार्य के दौरान मैंने पाया कि भाशा की शुद्धता, बोधगम्यता, धारा प्रवाहता, स्पष्टता, पुनरावृत्ति न हो इन बातों का ध्यान रखते थे। शोध प्रबंध या शोधपत्रों को जांचते समय वे बहुत सूक्ष्म अशुद्धियों के उजागर कर देते थे। उनका कहना था कि शोधार्थी को कई स्तरों से परखते हुए त्रुटिहीन शोधकार्य का प्रस्तुत करण करना चाहिए। सर की इस अनुकरणीय परामर्श को मैंने अपने शोध प्रबंध व शोधलेखों में तो अपनाया ही वरन् मेरे निर्देशन में हुये शोध कार्यों में भी अपनाया। मैं यथासंभव प्रयास करता हूं कि त्रुटिहीन शोध प्रबंध, शोध लेख एवं ग्रंथ प्रस्तुत हो।

जीवन के अंतिम समय तक उन्होंने स्वयं भी शोध पत्रों का लेखन यथेष्ठ संदर्भों, प्रमाणों एवं विश्लेषणात्मक विवेचन करते हुए किया। उनके शोध निर्देशन प्रस्तुत हुये शोध प्रबंध व शोध पत्र व लघु शोध प्रबंधों में मूल ग्रन्थों, सर्वेक्षणों व उत्खननों की रिपोर्ट्स का एवं फील्ड वर्क से प्राप्त प्रमाणिक तथ्यों का समावेश सदैव रहा।

प्रो. झा एक आदर्श एवं अनुकरणीय पुरातत्ववेत्ता थे। उन्होंने मण्डला जिले में स्थित अपनी पैतृक शाही परिवार जैसी सुख–सुविधाओं को त्यागकर सागर आकर सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरात्व विभाग से 1965 में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने क्षेत्रीय पुरातत्व में रूचि ली। प्रारंभिक उत्खननों में प्रो. एच.डी. सांकलिया, प्रो. के.डी. वाजपेयी एवं प्रो. उदयवीर सिंह का मार्गदर्शन प्राप्त किया और पूरी निष्ठा व कर्मण्ठता से उत्खनन का प्रशिक्षण प्राप्त किया। त्रिपुरी, तुमैन, मल्हार, एरण एवं घोड़ामाड़ा में किये गये उत्खननों में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही। एरण पुर्नउत्खनन (1984-86, 88 & 1997-98) एवं घोड़ामाड़ा गुफा उत्खनन (1999–2000) तो प्रो. झा के निर्देषन सम्पन्न हुए। एरण उत्खनन से एरण में नवपाषाण युगीन नवीन संस्कृति के साक्ष्य मिले। वहीं घोड़ामाड़ा उत्खनन से पुरापाषाण युगीन संस्कृति के साक्ष्य मिले। यहां से हड्डी निर्मित उपकरण बहुतायत में प्राप्त हुये। एरण पुर्नउत्खनन व घोड़ा माज़ गुहा उत्खनन में मुझे भी प्रो. झा के साथ सहयोगी के रूप में कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उत्खनन की संपूर्ण समयावधि में वे तन व मन से रम जाते थे। वे स्वयं उत्खनन स्थल पर मौजूद रहते थे। वे धूल–धूसित हो जाते थे। वे पूरे मनोयोग से उत्खनन कार्य के प्रत्येक पक्ष का दिशा–निर्देशन करते हुये सक्रिय भागीदारी करते थे। प्रो. झा, और एक श्रमिक में भेद कर पाना मुश्किल हो जाता था। उत्खनन अवधि में उनकी दाड़ी मूँछें बढ़ जातीं थीं। रफ–टफ कपड़ों में उत्खनन कार्यों का निर्देशन करते हुए वे एक योद्धा की तरह नजर आते थे। उत्खनन दल के अलावा उत्खनन कार्य में संलग्न श्रमिक वर्ग में भी वे लोकप्रिय थे। मैंने घोड़ामाड़ा उत्खनन के दौरान देखा कि गांव के आदिवासी जो श्रमिक थे, उन्हें वैद्यराज के रूप में देखते थे। क्योंकि प्रो. झा को जड़ी–बूटियों, देशी दवाओं की अच्छी जानकारी थी। वे अपनी व अपने परिवारजनों की शारीरिक व्याधियों व परेशानियों के निदान के लिए सलाह–मशविरा लिया करते थे। वे उन्हें एक मसीहा के रूप में देखते थे। उत्खनन दल में वे सबसे पहले जाग जाया करते थे। सुबह लगभग आठ बजे नाश्ता व चाय करने के तुरन्त बाद घोड़ामाड़ा गुफा के लिए निकल पड़ते थे हम सभी अन्य सदस्य उनके पीछे–पीछे चलते जाते थे। उनमें हम सबसे अधिक स्फूर्ति दिखती थी। उत्खनन स्थल पर पहुंचकर उनके निर्देषन में ट्रेन्च में पुरातात्विक नियमों के अनुरूप श्रमिकों द्वारा धीरे–धीरे उत्खनन होता था। प्रो. झा ने घोड़ामाड़ा उत्खनन अवधि में ही अपने गुरू प्रो. उदयवीर सिंह जी को भी आमंत्रित किया था अपने शिष्य के आग्रह पर प्रो. सिंह घुटनों की तकलीफ के बावजूद आ गये थे। घोड़ामाड़ा उत्खनन में प्रो. झा और प्रो. उदयवीर सिंह के मध्य गुरू–शिष्य परम्परा को देखने का सुखद अहसास हुआ। मैं व डॉ. आलोक श्रोत्रिय इन दोनों सिद्धस्थ गुरूजनों से उत्खनन की बारीकियाँ का प्रशिक्षण लिया करते थे। रात्रि में भोजन के पश्चात् पूरा उत्खनन दल व पूर्व में सम्पन्न ग्रामवासी प्रो. झा के अनुभवों व उत्खनन–सर्वेक्षणों के वृतान्तों को सुनकर सारे दिन की थकान भूल जाते थे।

प्रो. झा को मैंने एक आदर्श व अनुकरणीय विभागाध्यक्ष के रूप में देखा। एक विभागाध्यक्ष के रूप में सफलतम विभागाध्यक्ष रहे। विभाग में उन्होंने परस्पर सद्भाव व सामंजस्य का वातावरण निर्मित किया। उनका यह कहना होता था कि विभाग के प्रत्येक सदस्य को चाहे वह षिक्षकगण हों, चाहे तष्तीय या चतुर्थ

श्रेणी के कर्मचारी हों सभी का ध्यान रखना, सभी से उनकी योग्यतानुसार सहयोग लेना, सभी को यथायोग्य सम्मान देना, सभी के प्रति सकारात्मक भाव रखना विभागाध्यक्ष का गुण होना चाहिए। विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने विभाग में अध्ययन, अध्यापन, शोध, सर्वेक्षण तथा उत्खनन, संग्रहालय के विकास, छात्रों के शैक्षणिक भ्रमण सभी को उन्नत करने का सार्थक प्रयास किया। तत्कालीन शिक्षकगणों डॉ. आर.एन. अग्रवाल, डॉ. संतोष कुमार बाजपेयी, डॉ. आलोक श्रोत्रिय तथा मैं स्वयं ने प्रो. झा के प्रोत्साहन से अपने अध्यापन कार्य व अकादमिक कार्यों में यथेष्ठ योगदान दिया। प्रो. झा विभाग के संग्रहालय के मुख्य कक्ष की सेन्ट्रल टेबिल पर विभाग के सभी शिक्षकों, कर्मचारियों एवं शोध छात्रों के साथ चाय पर चर्चा करते थे। ज्यादातर कार्यालयीन कार्य भी वहीं पर पूर्ण करते थे। सेन्ट्र टेबिल पर ही हम सभी को उनके यात्रा वृतान्तों, उत्खनन व सर्वेक्षणों के दौरान हुये अनुभवों को सुनने का सौभाग्य मिला। सेन्ट्रल टेबिल पर हमारी विभागीय, विश्वविद्यालयीन, अकादमिक व व्यक्तिगत समस्याएँ का समाधान हो जाता था। वे हमेशा शोधकार्यों, संगोष्ठियों में सहभागिता, शोधपत्रों के दिशा में महत्वपूर्ण सकारात्मक सुझाव दिया करते थे। अपने विभागाध्यक्ष कार्यकाल में उन्हें भारतीय कला इतिहास परिशद का सम्मेलन, राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी, नेक टीम विजिट, जैन कक्ष का लोकार्पण आदि अनेक गौरवमयी आयोजन सम्पन्न कराये। पूर्व विभागाध्यक्षों को यथेष्ठ सम्मान दिलाया। पूर्व टैगोर प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष सुधाकर पाण्डेय जी उन्हें पुत्रवत स्नेह देते थे। प्रो. सुधाकर हमेशा प्रो. झा की तारीफ करते हुये कहा करते थे कि प्रो. झा के नेतृत्व में विभाग उन्नति कर रहा है और करते रहेगा। वे अपनी विरासत (विभाग को) प्रो झा के सुरक्षित हाथों में पाकर निश्चिंत थे। प्रो. झा ने हमेशा अपने पूर्ववर्ती अध्यापकों को यथेष्ठ सम्मान दिया। विभाग के तत्कालीन अध्यापकगणों डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय, श्रीधर जी मिश्र, डॉ. एस.एन. मनवानी, डॉ. आर.एन. अग्रवाल, डॉ. संतोष वाजपेयी, डॉ. आलोक श्रोत्रिय तथा मुझे सभी के साथ प्रो. झा के सहयोगात्मक सम्बंध रहे। प्रो. झा एक स्पष्टवादी, साफ दिलवाले सभी का सम्मान करने वाले विभागध्यक्ष थे। विभाग के अन्य सदस्यगणों छायाचित्रकार डॉ. प्रदीप शुक्ला, डॉ. चन्द्रभान गौर, नरेन्द्र सिंह नेगी, डॉ. के.के. त्रिपाठी, श्रीमती पद्मजा गोपाल (संग्रहालयाध्यक्ष) तथा अन्य कर्मचारीगणों से प्रो. झा का आत्मीय संबंध रहा। विभाग के प्रत्येक सदस्य के सुख–दुख में वे हमेशा सहभागी रहते थे। सम्बन्धों को निभाना उनकी विशिष्ट पहचान थी। एक सफल विभागाध्यक्ष के रूप में वे हमेशा याद किये जायेंगे। प्रो. झा को मैंने एक सफल अधिष्ठाता के रूप में भी अनुकरणीय थे। मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय के अधिष्ठाता बनने के बाद उन्होंने संकाय के प्रत्येक विभागों से मध्य सकारात्मक वातावरण बनाया। वे प्रत्येक निर्णय नियमानुसार लेते थे। जो कार्य नियमानुकूल है उसे तुरन्त कर देते थे और जो कार्य नियमानुसार नहीं है उसे न कर सकने का वाजिब कारण बताते हुये मना करते थे। यह उनकी प्रशासनिक सफलता थी कि जिसका कार्य नियमानुकूल न होने के कारण न कर पाने के कारणों को बताते हुये मना करते थे। जिससे कार्य न हो पाने पर भी व्यक्ति प्रो. झा के पास से अत्याधिक संतुष्ट लौटता था। अधिष्ठाता के रूप में भी वे एक आदर्श अधिष्ठाता में गिने जाते थे।

प्रो. झा ने अपने सेवाकाल में अध्यापन कार्य में अतिरिक्त विश्वविद्यालयीन प्रशासन द्वारा सौंपे गये प्रत्येक दायित्व को पूरी ईमानदारी व पूरी क्षमता से पूर्ण किया। प्रो. झा ने स्वभावतः कभी भी किसी प्रशासकीय पद प्राप्त करने के लिए स्वतः पहल नहीं की। परन्तु विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें ज्वाईन्ट वार्डन, चीफ वार्डन, शारीरिक शिक्षा विभाग के बोर्ड के सदस्य, यूनिवर्सिटी कोर्ट के कुलसांसद (निर्वाचित सदस्य),

विश्वविद्यालय परीक्षा समिति के सदस्य सागर विश्वविद्यालय शिक्षक संघ के अध्यक्ष के अलावा विश्वविद्यालय की विभिन्न समितियों के अध्यक्ष व सदस्य के रूप में अपने प्रशासनिक दायित्वों का पालन किया। उन्होंने कार्यकारी रूप से कुलपति पद का दायित्व भी निभाया, कार्यपरिषद के सदस्य एवं विद्या परिषद के सदस्य के रूप में भी विश्वविद्यालय की प्रशासनिक गतिविधियों में यथेष्ठ योगदान दिया। उनका प्रशासकीय दृष्टिकोण भी सकारात्मक था उनका स्पष्ट मत यह रहता था कि व्यक्ति विशेष या विश्वविद्यालय के सकारात्मक हित संबंधी कार्य ही करूंगा। नकारात्मक दृष्टि से किसी के भी विरूद्ध कोई कार्य नहीं करूंगा। उनकी यही सकारात्मकता उन्हें सबसे अलग पहचान देती थी। जिसके लिए वे आज भी याद किये जाते हैं। प्रो. झा को मैंने एक शिक्षक के रूप में, एक शोधकर्ता के रूप में, शोध निर्देशक के रूप में, एक पुरातत्ववेत्ता के रूप में, एक विभागाध्यक्ष के रूप में, एक अधिष्ठाता के रूप में तथा एक प्रशासनिक व्यक्ति के रूप में हमेशा अनुकरणीय पाया। वे सच्चे अर्थों में व्यक्तिगत व अध्यापकीय तथा प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में अनुकरणीय मार्गदर्शक थे। उन्हें मेरी विनम्र श्रृद्धांजलि।

प्रो. विवेकदत्त झा : एक साहसी एवं प्रेरक व्यक्तित्व

प्रो. आलोक श्रोत्रिय

अरण्य, प्रकृति एवं नैसर्गिक वातावरण से लगाव रखने वाले प्रों. विवेकदत्त झा अदम्य साहस की प्रतिमूर्ति थे। विकट परिस्थिति हो, संकट–युक्त वातावरण हो, जंगली जानवर या आतताई किसी से भी वह भयभीत होने वाले व्यक्ति नही थे।अपने साहसी और संघर्षशील स्वाभव के कारण प्रों. झा आखेट में गहरी रुची रखते थे और पुराने शिकारियों की किताबे और किस्से बडे चाव से पढा करते थे। जिम कार्बेट की किताबों में वर्णित शेर के शिकार की कहानियॉ और किस्से वे बडी रोचकता के साथ बया करते थे। जंगल से गुजरना, जंगल में रात बिताना और नैसर्गिक वातावरण के नजदीक रहना उन्हें बहुत भाता था। अपने पैतृक गॉव भॅवरताल की याद उन्हें शहरी जीवन की आपा–धापी के बीच बहुत गहरे सालती थी। झा सर का नैसर्गिक वातावरण के प्रति लगाव उन्हें प्रागैतिहासिक पुरातत्व की ओर ले गया। प्रागैतिहासिक पुरातत्व को पढाते हुए और उससे संबंधित पुस्तके पढतें हुए प्रों. झा ने प्रागैतिहासिक उाकरणों और पाषाण खण्डों के बारे में गहरी जानकारी जुटा ली थी। इसी अभिरुचि का परिणाम था कि उन्होने डिण्डोरी एवं मण्डला जिले के स्थलों से बडी मात्रा में उच्चपुरापाषाणकालीन व मध्यपाषाणकालीन उपकरण खोज निकाले । उन्होनें डिण्डोरी जिले में शहपुरा के निकट गहन वन क्षेत्र में घोडामाडा की गुफा की खोज की तथा बाद में उनके निर्देशन में उक्त गुफा में किये गये उत्खनन से उच्चपुरापाषाण कालीन उपकरणों के साथ अस्थि उपकरण प्रकाश में आए। इस गुफा की खोज से मध्यप्रदेश के प्रागैतिहासिक काल का एक नवीन अध्याय जुड़ा। लेखक को अस उत्खनन कार्य में एवं सिवनी, बालाघाट,, बैतूल, छिन्दवाड़ा एवंडिण्डौरी जिले के सर्वेक्षण में आदरणीय झा सर के साथ कार्य करने का अवसर मिला। उनके साथ काम करते हुए, सूक्ष्म निरीक्षण, तार्त्कि व्याख्या एवं गहन अवलोकन, जनसामान्य के साथ सम्पर्क स्थापित करने की कला को भी निकट से देखने का सौभग्य मिला। क्षेत्र सर्वेक्षण के दौरान आने वाली कठिनाईयों को सुलझानें कला को प्रों. झा सर से सीखनें को मिला। प्रों झा सर में अद्भुत अभिनय क्षमता थी वह अपनी बात विशेष उत्साह के साथ कहते थे। वह कुशल प्रशासक थें सह कर्मियों से बड़े ही सरलता पूर्वक कार्य लेने की कला उनमें कूट कूट कर भ्री थी। वह सहकर्मियों के परिवार एवं अन्य समस्याओं के प्रति समर्पित रहते थे। सर्वेक्षण कार्य के दौरान वह दिादिल्ली से कार्य करते थे। वह किसी भी विषयवस्तु एवं मत स्थापना के लिए बडे ही आत्म विश्वास से अपनी बात रखते थे। उन्होने कभी अपने आत्म सम्मान से समझौता नही किया। उनके अन्दर अपने गुरुओ के प्रति विशेष सम्मान था। आाखेट में जंगली जीवन की गहरी समझ एवं अभिरुचि उनके जीवन में झलकती थी। पुरानी घटनाओं, दृष्टान्तों एवं अनुभवों को वह अन्यन्त रोचकता के साथ सुनाने की क्षमता उनके अन्दर कूट कूट कर भरी थी।

जिन्दादिली की मिसाल : प्रो. विवेकदत्त झा

प्रो. बी. के. श्रीवास्तव

डॉ. हरीसिंह गौर विष्वविद्यालय सागर के इतिहास विभाग में नियुक्ति होने के पश्चात् जब मैं यहॉ प्रथम–बार पदभार ग्रहण करने आया, उस समय मुझे यहॉ सेवारत तीन प्राध्यापकों से मिलने बावत् कहा गया। यह कहा था मेरी पत्नी डॉ. (श्रीमती) माधवी श्रीवास्तव ने उन्होंने यहॉ से एम.फिल. किया था। उनके मामाजी प्रो. प्रमोद खरे के प्रो. व्ही.डी. झा अच्छे मित्र थे,इसलिए माधवी उनसे पूर्व परिचित थी। चूँकि झा साहब इतिहास विभाग के थे अतः मैं पदभार ग्रहण करने के उपरान्त उनसे मिला।

''जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है। मुर्दादिल क्या खाक जिया करते है।।''

यह शेर तो बहुत सुना था मगर प्रो. झा साहब से मिलने के पश्चात् समझ में आया कि जिन्दादिली क्या होती है। प्रथम मुलाकात में ही वे अत्यन्त आत्मीयता एवं गर्मजोशी से मिले। हमारे इतिहास विभाग के पास ही प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग होने के कारण उनसे आये दिन मुलाकात होने लगी। विश्वविद्यालय के छात्रों एवं शिक्षकों के प्रति उनका व्यवहार सदैव मित्रवत रहता था। मैंने महायायावर एवं पुरातत्ववेत्ता त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन पर पीएच.डी. यहॉ पदभार ग्रहण करने के उपरान्त ही की। जब 'पुरातत्ववेत्ता के रूप में राहुल' अध्याय का लेखन किया तब प्रो. झा साहब से मुलाकातों का सिलसिला और बढ़ गया। राहुल सांस्कृत्यायन का पसंदीदा शेर था–

''सैर का दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहॉ। जिन्दगानी गर रही तो, नौजवानी फिर कहॉ।।''

राहुलजी की यायावरी उनके पुरातत्व सर्वेक्षण में मददगार साबित हुई। बस्तुतः जिन्दादिली, हर हाल में खुष रहना, एवं विन्दास अन्दाज जैसे गुण यदि व्यक्ति में हों तो उसके द्वारा किये या कराये जाने वाले पुरातात्विक उत्खनन/सर्वेक्षण की गुणवत्ता और अधिक बढ़ जाती है। प्रो. झा चूँकि इन सभी गुणों से ओत–प्रोत थे, अतः उनके द्वारा या उनके निर्देषन में कराये गये पुरातात्विक उत्खनन काफी सफल रहे। इनमें त्रिपुरी (जबलपुर), तुमैन (गुना), मल्हार (बिलासपुर), नांदूर (रायसेन), एवं एरण (सागर) जैसे पुरातात्विक उत्खननों का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इसके अलावा वे म.प्र. व छत्तीसगढ़ के लगभग 30 जिलों के पुरातात्विक सर्वे से भी संबद्ध रहे। वर्ष 2006 में डॉ. पवन तिवारी द्वारा खुरई में इतिहास विषय में एक राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इसके दूसरे दिन का एक तकनीकी सत्र झा साहब के कहने पर एरण में आयोजित किया गया। उस सत्र की अध्यक्षता प्रो. झा ने ही की एवं मुझे एरण जैसे ऐतिहासिक स्थल पर शोध पत्र प्रस्तुत करने का मौका प्राप्त हुआ। प्रो. झा ने

एरण में स्थित विराट विष्णु प्रतिमा, पषुबराह एवं यहॉ स्थित स्तंभ के स्थापत्य की विस्तृत जानकारी समस्त प्रतिभागियों को दी। वहॉ उत्कीर्ण तोरमाण के अभिलेख एवं समुद्रगुप्त के अभिलेख के बारे में भी विस्तार से बताया। उन्होंने वहॉ उनके द्वारा कराये गये उत्खनन से संबंधित ज्ञानबर्द्धक जानकारियों एवं रोचक किस्सों को भी हमसे साझा किया। प्रो. झा हमें उस स्थान पर भी ले गये जहॉ 510 ई. का भानुगुप्त का एरण अभिलेख स्थित है। पुस्तकों में पढ़ा था कि अखिल भारतीय स्तर पर सती प्रथा के भारत में अस्तित्व का प्रथम अभिलेखीय प्रमाण गुप्त सम्राट भानुगुप्त का अभिलेख एरण में स्थित है। प्रो. झा के सानिद्धय में हमने उसे देखा भी और उससे संबंधित ऐतिहासिक जानकारी भी प्राप्त की।

कलकत्ता संग्रहालय में समुद्रगुप्त का एक एरण अभिलेख स्थित है, जिसमें समुद्रगुप्त ने एरण को स्वभोग नगर कहा है। प्रो. झा ने बताया कि समुद्रगुप्त जैसा प्रतापी भारतीय सम्राट एरण स्थल को पसंद करता था। साथ ही उन्होंने एरण के सामरिक महत्व के बारे में प्रकाष डालते हुये बताया कि 'यह एक सुयोग ही था कि एरण के तीन ओर एक प्राकृतिक मिट्टी की मोटी दीवार बनी हुई है और चौथी ओर से यह बीना नदी द्वारा घिरा हुआ है। इस तरह प्राकृति ने ही एरण स्थल को प्राकृतिक रूप से सामरिक महत्व का स्थान बनाया है। प्रो. झा ने हम लोगों को वह मिट्टी की विषाल मोटी दीवार भी दिखाई जो कि अद्भुत है। रात्रि को प्रो. झा के साथ ही हम जीप में सागर तक आये। उनके साथ किया गया वह सफर भी यादगार था। 26–27 फरवरी 2011 में मध्यप्रदेश इतिहास परिषद का 30 वॉ अधिवेशन सागर में आयोजित किया गया। मैं इसका आयोजन सचिव था एवं परिशद् ने प्रो. झा को उनकी अकादमिक उपलब्धियों के लिये सम्मानित करने का फैसला किया। प्रो. झा को हमने अधिवेशन में आमंत्रित तो किया मगर यह नहीं बताया कि हम इस अधिवेशन में उन्हे सम्मानित करने वाले है। जब मंच से हमने उन्हें सम्मानित करने के लिए आमंत्रित किया तब उन्होंने मंच पर आकर मुझसे कहा कि यदि मैं आज यहॉ नहीं आता तब क्या होता। मैंने कहा कि सर हमने यह सम्मान आपको दिल से दिया है, हमें पूर्ण विष्वास था कि आप हमारे आयोजन में अवष्य ही आयेंगे।

एवं प्रो. झा मुझे सदैव पसंद करते रहे। इतिहास ऐसे अतीत का चित्रण है जो हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं हैं। हम प्राथमिक स्त्रोंतो के द्वारा अतीत को सामने लाते हैं। यही कारण हैं कि कई मुद्दों पर इतिहासविदों की राय में भिन्नता होती है। सागर एवं बुन्देलखण्ड के इतिहास के कतिपय पहलुओं पर हमारे बीच मतभेद भी रहे जिन पर कई बार मंचों पर एवं आपसी वर्तालापों के दौरान विस्तष्त सकारात्मक विमर्श भी हुआ। इनमें गढ़ाकोटा के राजा मर्दन सिंह एवं वानपुर के राजा मर्दन सिंह के कार्यकाल को लेकर, सागर के नामकरण को लेकर एवं सागर के तालाब के अस्तित्व को लेकर इत्यादि–इत्यादि। इस अकादमिक चर्चा से बुन्देलखण्ड के इतिहास की गई अनसुलझी गुत्थियॉ को हमने सुलझाने का प्रयास किया। एरण के इतिहास पर उन्होंने जो भी जानकारी हमें प्रदान की आज वह हमारे बहुत काम आती है। एक बार एक निजी टी.वी. चैनल को एरण पर डाकुमेंट्री बनानी थी वह लोग मुझे एरण ले गये। उस समय प्रो. झा. द्वारा प्रदान की गई एरण की जानकारी मेरे अत्यधिक काम आई। प्रो. झा शुद्ध हिन्दी लेखन पर अत्यन्त ध्यान देते थे। पीएच.डी. शोध प्रबन्धों की कोई भी भाशा गत अशुद्धि उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से छुप नहीं सकती थी। प्रो. झा. की भांति उनके षिश्य एवं मेरे मित्र प्रो. नागेश दुबे भी भाशागत अशुद्धियों पर बहुत ध्यान देते हैं। अपने गुरू की भांति वह भी हर संभव प्रयास करते है कि शोध प्रबंधों एवं संपादित पुस्तकों में कोई भी भाषागत अशुद्धि न रह जावे। मैं अपने द्वारा लिखित कोई भी पुस्तक जब प्रो. झा को भेट करता

था तो उसमें कोई न कोई भाषागत अशुद्धि वह बता ही देते थे। इस संस्मरण के माध्यम से मैं शोधार्थियों से अनुरोध करना चाहता हुँ कि वे प्रो झा के इस गुण को अवष्य आत्मसात करें। जहॉ तक संभव हो प्रूफ रीडिंग में अत्यन्त सावधानी बरतें, शोध प्रबंध में भाषागत अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये।

महापंडित राहुत साकृन्यायन का कहना था कि अपने द्वारा अर्जित ज्ञान में आम जनता की भागीदारी मेरा लक्ष्य है। कदाचित प्रो. झा ने भी इसी लक्ष्य का अनुषरण किया। वे रंगमंच से जुड़े रहे। इतिहास को आम जनता तक पहुचाने हेतु निरंतर प्रयासरत रहे। सेवानिवृत्ति के उपरांत भी वे सक्रिय रहे। सागर की विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़े रहे। उन्होंने इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में जो भी खोजें कीं उनकी जानकारी आम जनता तक पहुॅचाने का हर संभव प्रयास किया। मध्यप्रदेश इतिहास परिषद के साथ भी उनका गहरा लगाव रहा। वे इस परिषद के आजीवन सदस्य रहे और इसके अधिवेशनों में शिरकत करते रहे। परिषद के अधिवेशनों में शोध पत्रों द्वारा सागर एवं मध्यप्रदेश के इतिहास को तथ्यपरक ढ़ंग से विद्यार्थियों, षोधार्थियों एवं इतिहासविदों के समक्ष रखा। कई तकनीकी सत्रों की अध यक्षता कर शोध पत्र प्रस्तुतकर्त्ताओं को उनके शोध पत्रों में सुधार हेतु आवश्यक सुझाव भी दिये। उन्होंने मध्यप्रदेश इतिहास परिषद के अधिवेशन का सागर में आयोजन भी किया। मध्यप्रदेश इतिहास परिषद के 24–25 फरवरी 2017 को सागर में आयोजित 35वें अधिवेशन में मुझे मध्यप्रदेश इतिहास परिषद का अध्यक्ष चुना गया। इस समय मुझे प्रो. झा सर की बहुत याद आयी। आज यदि वे हमारे बीच होते तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न होते। प्रो. झा एक ऐसे व्यक्ति थे जो कि सदा हमारी स्मृतियों में किसी न किसी कारण बने रहेंगे और यत्र तत्र प्रसंगवश कही न कहीं हमें उनकी याद आती ही रहेगी।

प्रो. विवेक दत्त झा को जैसा मैने जाना

डॉ. आरती दुबे

मेरे पिता नारायण प्रसाद दुबे, एक अच्छे चित्रकार, अच्छे अध्येता थे। इतने अच्छे कलाकार, इतने अच्छे इंसान को कभी वह मुकाम नही मिला जिसके जिसके वे हकदार थे। मैं छोटी थी तब से मैंने देखा कि लोग उनकी बनाई पैंटिग्स की तारीफ करके माँग कर ले भी जाते, क्योंकि ड्रॉईंग रूम में पैंटिग्स लगाना उनकी अच्छी रूची का परिचायक जो था। पर किसी ने भी ये नही सोचा कि इस कलाकार के लिये क्या सोचा जाये? झा चाचा जब मेरे पिता से मिले तब उनकी परख नजरों ने, उनके अन्दर के एक अच्छे इंसान ने एक अच्छे चित्रकार को एक कलाकार की कला को उचित मुकाम तक पहुँचाने के लिये प्रयास किया और मेरे पिता को सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में उनकी रूचि के अनुसार स्थान दिलाया मैनें अपने पिता को इतना खुश कभी नहीं देखा। हो भी क्यों ना ? क्योंकि चित्र बनाना, झा चाचा के साथ उत्खनन के लिये लगाये कैम्पों में जाना। वहाँ पर झा सर के साथ इतिहास की और तमाम विषयों की चर्चायें करना उत्खनन में निकले पुरातात्विक अवशेषों की हर कोणों से ड्राईंग बनाना। यह सब मेरे पिता के बहुत रूचिकर जो था। यह सब झा सर ने मेरे पिता के लिये किया।

डॉ. विवेकदत्त झा जिन्हें हम 'चाचा' कहते थे क्योंकि वह मेरे पिताजी को बड़ा भाई मानते थे और मेरी माँ को भाभी कहते थे। झा चाचा प्राचीन भारतीय इतिहास के प्राध्यापक और अपने विषय के स्थापित विद्वान तो थे ही पर कुछ नया करने का जुनून उनमें था यही वजह है कि पुरातात्विक खोजों के लिये उन्होंने अनेक उत्खनन कैम्प आयोजित किये तथा प्राचीन भारतीय इतिहास के नवीन घटनाक्रमों से हम सब का परिचय कराया। उनके द्वारा किये गये उत्खनन और निश्कर्श प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्येताओं के लिये प्रस्थान बिन्दु हैं। जब झा चाचा काम करते थे तो एकदम अलग नजर आते थे न खाने की फिक्र, न पहनने की फिक्र बस काम का जुनून, कुछ नया खोजने का जुनून। इतिहास के बड़े समारोहों में जब उल्लेखनीय कार्य करने वालों का जिक्र आता तो झा सर का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता और हम भी सम्मान से भर जाते। खुशी होती है जब किसी सही शख्सियत का मान होता है।

झा चाचा के पूर्वज मूलतः बिहार का था जो मंडला जिले में बहुत समय पहले आकर स्थापित हो चुके थे। मध्यप्रदेश में सम्पूर्ण अध्ययन एवं अध्यापन के पश्चात् भी उनका ''बिहारीपन'' मुझे अनेक बार, हाव भाव सक्रिय नजर आता था। अलमस्त बेपरवाह सा रवैया लेकिन एक विशिष्ट तरह के आभिजात्य से सराबोर जो हमारे बुंदेलखंडीपन से मिलता था। उनके छात्र, शोधार्थी यहाँ तक की उनके समीपी भी उनके गुस्से की जगह उनके स्नेह से ज्यादा डरते थे। बहुत स्थिर चित्त से उनके द्वारा कहीं गई बातें, निर्देश सा देती थीं। लेकिन झा आंटी अत्यधिक व्ववस्थित संकोच से आवृत परन्तु पूरी तरह से झा चाचा के

अविराम अनुकूल। कोई टीका नही, टिप्पणी नहीं जैसे लोग कहते हैं जो भगवान की मर्जी, आंटी कहती जैसी झा साहब की मर्जी। ऐसा उदार समर्पण, था पति पत्नि में। इतिहास वेत्ता विवेकदत्त के व्यक्तित्व का एक पहलू यह भी है कि वे एक मस्तमौला जिन्दगी जीने वाले फक्कड़ से इंसान थे चाहे उनके कपड़े पहनने का ढंग हो, चलने का ढंग हो, या जीवन जीने का ढंग हो। विशुद्ध काम करने वाला, थोड़ा हटके व्यक्तित्व था झा चाचा का।

इतना सब कुछ होने के बावजूद जब मेरी माँ से बात करते थे तो इतनी विनम्रता व तहजीब क्या कहें। मेरे माता पिता को जो सम्मान जो आत्मीयता उन्होंने दी उसके लिये हम सब उनके भाई बहिन उनके ऋणी हैं। रिश्तों से कोई अपना नही होता, अपनापन तो ऐसा होता है। जिन्दगी बहुत सिखाती हैं, मैंने झा चाचा से इतना सीखा है कि पल–पल उनकी याद आती है। मुझे याद है पिछले साल नागेश मेरा छोटा भाई जो वर्तमान में प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग का विभागाध्यक्ष है, वे राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी कराई, झा सर का जोरदार उद्‌बोधन हुआ कुलपति जी लेकर सभी आमंत्रित अतिथि उनकी तारीफ किये बिना न रह सके। जब वे सब लोगों से बात करके फुर्सत हुये, तब मेरे पास आये आकर बैठ गये, बोले अब मै बेबी के पास बैठता हूँ और वो फिर, अशोक कैसे है, बिटिया का डॉक्ट्ररेट हो गया आदि ऐसी बहुत सारी बातें उन्होंने मुझसे की जो एक पिता करता है, आखिर वो मेरे पिता तुल्य थे। जब पता चला कि झा चाचा नहीं रहें। तो ऐसा लगा की एक बार फिर हमारे सर से पिता का साया उठ गया।

प्रो. विवेकदत्त झा : जिनके शब्द कभी भुलाए नहीं जा सकते

डॉ. (सुश्री) शरद सिंह

बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें एक साथ अनेक खूबियां पाई जाएं। डॉ. विवेकदत्त झा ऐसे ही विरले इंसान थे जिनमें एक साथ अनेक खूबियां थीं। वे हंसमुख थे, परोपकारी थे, ज़िन्दादिल थे, व्यवहारिक थे, उदारमना थे और मानवता के गुणों से परिपूर्ण थे। हम अपने जीवन में अनेक लोगों से मिलते हैं। उनसे हजारों बातें होती हैं जिन्हें हम प्रायः षब्दषः याद नहीं रख पाते हैं। लेकिन जब किसी व्यक्ति का व्यवहार वात्सल्य और आत्मीयता से परिपूर्ण हो और वह आपके हित को ध्यान में रख कर कोई बात कहता है तो वह बात जीवनपर्यन्त स्मृतियों में लेखबद्ध हो कर रह जाती है, बिकुल किसी भित्तिचित्र अथवा षिलालेख की तरह। डॉ. झा से मेरा संपर्क अपेक्षाकृत सीमित किन्तु बहुत महत्वपूर्ण रहा और उनके उद्‌गार आज भी मुझे भली–भांति याद हैं। डॉ. विवेकदत्त झा से मेरा परिचय विख्यात इतिहासविद् प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी ने कराया था। सन् 1988 में जब मैंने सागर में निवास आरम्भ किया तब मुझे प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी से प्राचीन भारतीय इतिहास पर चर्चा–परिचर्चा का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस समय वे पद्‌माकर नगर के अपने आवास में रहने आ चुके थे। मैंने अकसर अपनी मां डॉ. विद्यावती 'मालविका' या फिर अपनी बड़ी बहन डॉ. वर्षा सिंह के साथ उनसे मिलने जाया करती थी। मैंने उन्हें अपने वे प्रकाशित लेख दिखाए जो मैंने नचना, अजयगढ़, कालंजर आदि बुंदेलखण्ड और विषेश रूप से पन्ना ज़िले के इतिहास एवं पुरास्थलों पर लिखे थे। उस समय मैं अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय से मध्यकालीन भारतीय इतिहास में एम. ए. कर चुकी थी। लेकिन प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरास्थलों के प्रति मेरी रुचि देखते हुए प्रो. बाजपेयी ने मुझे प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व में एम.ए. करने की सलाह दी। मुझे उनकी सलाह बहुत अच्छी लगी और मैंने स्वाध्यायी छात्रा के रूप में दूसरा एम.ए. प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विषय में मेरिट में प्रथम स्थान पाते हुए किया। इसके लिए मुझे विश्वविद्यालय की ओर से स्वर्णपदक से भी सम्मानित किया गया। एम. ए. करने के दौरान डॉ. विवेकदत्त झा से मेरा परिचय हुआ। पुरास्थलों के प्रति उनका रुझान एवं बस्तर क्षेत्र में की गई उनकी खोजों ने मुझे अत्यंत प्रभावित किया। इसीलिए जब कुछ समय बाद मैंने डॉक्टरेट करने का निर्णय लिया तो मुझे गाईड के रूप में सबसे पहला स्मरण डॉ. विवेकदत्त झा का ही आया। तब तक प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी का निधन हो चुका था और उनके बाद डॉ. विवेकदत्त झा ही थे जिनके मार्ग निर्देशन में मैं अपना शोधकार्य करना चाहती थी।

सन् 1998 में मैं डॉ. विवेकदत्त झा से मिली और उनसे गाईड बनने का अनुरोध किया। वे सहर्ष मान गए। उन्होंने मुझसे शोध क्षेत्र संबंधी मेरी रुचि की जानकारी ली और मुझे ''छतरपुर जनपद की मूर्ति कला

का अध्ययन'' विषय में शोधकार्य करने की सलाह दी। छतरपुर जिले के अंतर्गत् खजुराहो भी आता था जो मेरी रुचि का केन्द्रबिन्दु था। मैंने उत्साहपूर्वक अपना कार्य आरम्भ कर दिया। डॉ. झा के निर्देशानुसार छतरपुर ज़िले में उपलब्ध मूर्तियों को क्लासीफाई करते हुए शैव प्रतिमाओं से अपना कार्य आरम्भ किया। डॉ. झा बहुत तार्किक ढंग से अपनी बात कहते थे, चाहे वह किसी का हौसला बझाने की ही बात क्यों न हो। मैंने अन्य छात्रों के संबंध में तो उनकी यह खूबी देखी ही थी, साथ ही मुझे स्वयं भी इसका अनुभव हुआ। हुआ यूं कि जब मैंने अपना आधार–कार्य डॉ. झा को नोट्स के रूप में दिखाया तो वे मुझे प्रोत्साहित करते हुए बोले –''शिव कल्याणकारी होते हैं, आपने उन्हीं से अपना कार्य आरम्भ किया है, बहुत बढ़िया। मैंने 24 महीने के न्यूनतम समय में अपना कार्य पूर्ण कर लेना चाहती थी। संयोगवश उन्हीं दिनों डॉ. झा को विश्वविद्यालय के ब्याज़ हॉस्टल्स का इंचार्ज बना दिया गया। जिससे उनकी व्यस्तता इतनी अधिक बढ़ गई कि मैंने अपने शोधकार्य की जांच करवाने उनके पास विभाग में पहुंचती तो वे छात्रों से घिरे पाए जाते। आए दिन कोई न कोई उलझन छात्रों के आगे आ जाती और वे उसे ले कर डॉ. झा के सम्मुख जा खड़े होते। उन दिनों मोबाईल तो थे नहीं कि मैंने उनसे उनकी तात्कालिक व्यस्तता का पता लगा कर विभाग जाने, न जाने का निर्णय लेती। दो–तीन बार यह स्थिति आई कि मुझे अपना शोधकार्य जंचवाए बिना ही विभाग से वापस लौटना पड़ा। मुझे लगा कि इस तरह तो मैं 24 महीने की समय सीमा में अपना कार्य पूरा नहीं कर सकूंगी। अंततः एक दिन मैंने डॉ. झा से मैंने स्पश्ट शब्दों में पूछा–''सर, यदि आपकी व्यस्तता इसी तरह चलती रही तो मैं निर्धारित समय में अपनी पीएच.डी. कभी पूरी नहीं कर सकूंगी। अब बताइए कि मैं क्या करूं?''

डॉ. झा मेरी हताशा और झुंझलाहट भांप गए और वे सहज भाव से मुस्कुराते हुए बोले,''मैं भी आपसे इस बारे में चर्चा करना चाह रहा था। मैं तो यहां के झमेले में इतना उलझ गया हूं कि मैं किसी भी तरह का आश्वासन देने की स्थिति में नहीं हूं। एक छात्र का मामला सुलझ नहीं पाता है कि दूसरा सामने आ खड़ा होता है। अब ये बच्चे जो अपने घर से दूर रह रहे हैं, मुझ पर भरोसा कर के मेरे पास दौड़े–दौड़े आते हैं तो मेरा भी दायित्व बन जाता है कि मैंने इनकी समस्याओं को सुलझाऊं। लेकिन इन सब चक्कर में आपकी समस्या बढ़ती जा रही है। मैं जानता हूं कि आप न्यूनतम समय सीमा में अपना शोधकार्य पूरा कर लेना चाहती हैं। मुझे विश्वास है कि आप पूरा कर भी सकती हैं और इसीलिए मेरी आपको सलाह है कि यदि आप जल्दी अपना कार्य समाप्त करना चाहती हैं तो अपना गाईड बदल लें।''मैंने उनकी बात सुर कर अवाक रह गई। मेरे गाईड स्वयं मुझसे कह रहे थे कि मैं उनके स्थान पर कोई और गाईड चुन लूं? कहीं डॉ. झा मुझसे नाराज़ तो नहीं हो गए?

''सर, आप ये क्या कह रहे हैं?'' मुझे लगा कि उन्होंने मेरी बात का बुरा मान गए है।''अरे, घबराइए नहीं! मैंने बहुत प्रैक्टिकल बात कर रहा हूं। मुझे आपकी कार्यक्षमता और लेखन पर पूरा भरोसा है। आप जब चाहे मुझसे सलाह ले सकती हैं। बस, ऑफीशयली आप ऐसे सिंसियर गाईड के अंडर में काम करिए जो सब झमेलों से दूर रहता हो।'' डॉ. झा ने मुझे तसल्ली देते हुए कहा।''मैं ऐसा नहीं कर सकती हूं।'' मैंने कहा।''आपको यही करना चाहिए, मैं भी नहीं चाहता हूं कि आपके कार्य में अनावश्यक विलम्ब हो और वह भी मेरे कारण। मुझे इससे दुख होगा।'' डॉ. झा ने मुझे समझाते हुए कहा। ''तो फिर आप ही सुझाइए कि मुझे किसके अंडर में काम करना चाहिए?'' मैंने उन्हीं से पूछा। तब उन्होंने प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी के सुपुत्र डॉ. एस. के. बाजपेयी का नाम सुझाया और साथ में यह भी कहा कि, ''आप चिन्ता न करें, मैं उनसे इस बारे में बात कर लूंगा।''

उन्होंने जैसा कहा था, वैसा ही किया। उन्होंने डॉ. एस. के. बाजपेयी से मेरे बारे में चर्चा की और वे मेरे गाईड बनने को सहर्ष तैयार हो गए। चूंकि उस समय तक मेरी आर.डी.सी. नहीं हुई थी अतः मैंने अपना विशय बदलने का निर्णय लिया जिसके लिए डॉ. बाजपेयी भी मान गए। इसके बाद मैंने ''खजुराहो की मूर्तिकला का सौंदर्यात्मक अध्ययन'' विषय में डॉ. एस.के. बाजपेयी के मार्ग निर्देशन में अपना शोधकार्य निर्धारित समय सीमा यानी 24 माह में पूर्ण कर लिया। जैसा कि डॉ. विवेकदत्त झा ने डॉ. बाजपेयी के बारे में कहा था, वे ठीक वैसे ही ''सिंसियर गाईड'' निकले। बेशक़ मैंने डॉ. विवेकदत्त झा के आधीन शोधकार्य नहीं किया लेकिन जब भी मुझे किसी सलाह की आवश्यकता पड़ी तो बेझिझक मैंने उनसे सलाह ली और उन्होंने भी उचित निर्देशन दिया। यह मेरा सौभाग्य रहा कि उन्हें मेरे कार्य के प्रति पूरा विष्वास था। जब मेरा पीएच. डी. का वाईवा होना था उस समय डॉ. झा का बस्तर जाने का कार्यक्रम तय हो गया। उनकी अनुपस्थिति में डॉ. अग्रवाल ने चार्ज सम्हाला। मुझे पता चला कि इतिहासकार डॉ. एस. आर. शर्मा को मेरा वाईवा लेने आना है। मैंने डॉ. झा से कहा कि यदि वाईवा वाले दिन वे भी सागर में ही रहते तो अच्छा रहता, मुझे उनकी उपस्थिति से संबंल मिलता। तब डॉ. झा ने जो कहा, वह मुझे आज तक शब्दशः याद है–''आपने शोध का अपना पूरा कार्य स्वयं किया है, फिर चिन्ता कैसी? परीक्षक जो भी पूछे उत्तर दे दीजिएगा। मुझे पूरा विश्वास है कि आराम से वाईवा दे लेंगी।'' उनके इन शब्दों ने मुझे भरोसा दिलाया और मैंने सचमुच बहुत शांत भाव से अपना वाईवा दिया। आज जब सोचती हूं तो नतमस्तक हो जाती हूं उस महामना व्यक्ति के प्रति जिसने अपने गाईड होने की गुरुता को एक ओर रख कर मेरी जैसी एक स्वाध्यायी छात्रा की सुविधा के बारे में विचार किया और स्वयं गाईड बने रहने का मोह त्याग दिया। उनके स्थान पर यदि कोई और गाईड होता तो वह शायद यह उदारता नहीं अपना पाता। डॉ. विवेकदत्त झा जैसे उदार और व्यवहारिक व्यक्ति ही ऐसा कार्य कर सकते थे कि अपने आधीन की शोधछात्रा को मात्र इसलिए किसी अन्य उत्तम गाईड के निर्देशन में काम करने की छूट दे दें कि जिससे वह अपने मनचाहे न्यूनतम समय में अपना शोधकार्य पूरा कर सके।

डॉ. विवेकदत्त झा के आधीन मैंने न तो पढ़ाई की और न ही मुझे उनके आधीन शोधकार्य करने का अवसर मिला लेकिन मैंने उन्हें हमेशा पूज्य मानती थी और उनके चरणस्पर्श करती थी। जीवन की व्यस्तताओं के चलते बाद में सिर्फ़ कार्यक्रमों के दौरान ही उनसे मिलना हो पाता था। सेवानिवृत्ति के बाद के जीवनकाल में वे जिस उत्साह इतिहास और साहित्य विशयों में सक्रिय थे, वह किसी भी व्यक्ति के लिए प्रेरक हो सकता था। साहित्य के प्रति उनका रुझान देख कर मुझे सुखद आश्चर्य होता। एक दिन तो उन्होंने मुझे चौंका ही दिया। उस दिन शहर की अग्रणी साहित्यिक संस्था ''श्यामलम'' द्वारा रवीन्द्र भवन में एक कार्यक्रम आयोजित किया गया था। मैं और मेरी दीदी डॉ. वर्षा सिंह नियत समय पर रवीन्द्र भवन पहुंच गए। उस समय कार्यक्रम शुरू होने में कुछ समय था। हम लोग अपनी सीट पर बैठे ही थे कि डॉ. झा आ गए। मैंने हमेशा की तरह झुक कर उनके चरणस्पर्श किए। तभी वे उत्साह भरे स्वर मे बोले,''अच्छा हुआ आप यहां मिल गईं। मैं सोच ही रहा था कि अगर आज आप आएंगी तो मैंने आपसे अनुरोध करूंगा कि मैं तो आपका गाईड नहीं बन सका लेकिन आप मेरी गाईड बन जाइए।'' उनकी हंसी–मज़ाक की आदत को ध्यान में रखते हुए मैंने भी हंस कर उत्तर दिया,''क्यों नहीं, यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी।''

''नहीं मैं गंभीरता से कह रहा हूं। दरअसल मैं ऐतिहासिक विषय पर एक उपन्यास लिख रहा हूं। मुझे नाटकों का तो अनुभव है लेकिन उपन्यास लेखन का नहीं इसलिए बहुत कन्फ्यूज़ हो रहा हूं। मैं चाहता हूं

कि जो मैंने कच्चा काम किया है उसे आप एक बार देख लें और बताएं कि मैं आगे लिखूं या लिखने का इरादा ही छोड़ दूं!''''सर, आपको पात्रों और चरित्रों की अच्छी समझ है, आप बेहतरीन उपन्यास लिख सकते हैं, सर! जब आप कहें मैं ड्राफ्ट देख लूंगी।'' मैं समझ गई कि वे लेखन के प्रति गंभीर हैं। उस समय चर्चा के दौरान मैंने उन्हें इन्दौर के इतिहासविद् एवं ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक डॉ शरद पगारे के लेखन के बारे में बताया और डॉ पगारे के उपन्यास पढ़ने के लिए कहा। तब उन्होंने बताया कि वे उनका एक उपन्यास पढ़ चुके हैं लेकिन वे स्वयं इतिहास के साथ समकालीन प्रसंगों को जोड़ते हुए उपन्यास लिखना चाहते हैं, मेरे उपन्यास ''पिछले पन्ने की औरतें'' की तरह। यह मेरा सौभाग्य रहा कि उन्होंने उस समय तक प्रकाशित मेरे तीनों उपन्यास पढ़ लिए थे और विशेषरूप से मेरे पहले उपन्यास ''पिछले पन्ने की औरतें'' उन्हें बहुत पसंद आया था। उन्होंने मेरे उस उपन्यास का उल्लेख करते हुए कहा था कि मैं उसी तरह यथार्थ के तथ्यों को अपने उपन्यास में पिरोना चाहता हूं।'' उनका यह कहना मेरे लिए बहुत बड़ा कॉम्प्लीमेंट था। यह उनका बड़प्पन था कि उन्होंने इस भावना को हमेशा खुल कर स्वीकार किया कि उन्हें मेरा साहित्य अच्छा लगता है। डॉ. झा की यह विनम्रता उनके कद को और ऊंचा कर देती थी।

इसे मैं अपना दुर्भाग्य कहूंगी कि वे मुझे अपने उपन्यास का ड्राफ्ट दिखा पाते इसके पूर्व वे हम सबका साथ सदा के लिए छोड़ गए। इसके साथ साहित्य जगत ने ऐतिहासिक विशय पर उपन्यास लिखने वाले एक पूर्णसंभावित सषक्त हस्ताक्षर को असामयिक ही खो दिया। उनके निधन के कुछ माह पूर्व की एक घटना मुझे कभी नहीं भूलेगी। उस दिन स्थानीय रामसरोज पैलेस होटल में ''नई दुनिया'' समाचारपत्र की ओर से ''प्रजामंडल'' का उद्घाटन कार्यक्रम आयोजित किया गया था। मैं और डॉ झा भी प्रजामंडल के सदस्य थे। उस षाम कड़ाके की ठंड थी। कार्यक्रम लम्बा चला। मेरे पास घर लौटने का साधन नहीं था। मैंने सोचा था कि मैं आयोजकों से ही निवेदन करूंगी कि वे मुझे घर पहुंचाने की व्यवस्था करें। कार्यक्रम के अंत में चाय–नाश्ते के दौरान किसी विषय पर डॉ. झा चर्चा होने लगी। पता नहीं मुझे कैसे यह ध्यान आ गया कि वे विद्यापुरम में निवास करते हैं। मेरा घर विद्यापुरम के लगभग रास्ते में पड़ता। अतः मैंने उनसे पूछा कि क्या वे अपनी गाड़ी से मुझे मेरे घर पहुंचा देंगे?''''क्यों नहीं!'' उन्होंने तत्काल उत्तर दिया। उसी समय किसी और सज्जन से उनकी बातें होने लगीं और उनकी बातचीत से मुझे पता चला कि वे विद्यापुरम में नहीं राजीवनगर में निवास कर रहे हैं जो मेरे घर से बिलकुल अलग दिशा में था। मुझे बड़ा अटपटा लगा कि मैंने न जाने किस झोंक में उनके पुराने निवास को याद करते हुए उनसे पहुंचाने का आग्रह कर लिया और उन्होंने मेरी अज्ञानता को नज़रअंदाज़ करते हुए मना भी नहीं किया। मैंने उनसे तत्काल क्षमा मांगी। इस पर वे बोले,''अरे, गाड़ी से ही तो छोड़ना है, इसमें दिक्कत क्या है? आप बेकार संकोच न करें। चाहे तो बदले में मुझे एक कप चाय पिला दीजिएगा।''

हमेशा की तरह सहज, सौम्य और उदारता भरा व्यवहार। साथ ही एक जिम्मेदारी का बोध भी। उस दिन डॉ. झा ने मुझे मेरे घर पहुंचाया। वर्षा दीदी के हाथों बनी चाय की ढेर सारी तारीफ़ की। उन्होंने बताया कि वे दिल्ली जाने वाले हैं वहां से लौट कर अपने उपन्यास का ड्राफ्ट पढ़वाएंगे और सपत्नीक आएंगे वर्षा दीदी के हाथों की बनी चाए पीने। उस समय क्या पता था कि नियति यह अवसर नहीं देगी। जितना यह सच है कि डॉ. विवेकदत्त झा अब हमारे बीच नहीं हैं ओर जितना यह भी सच है कि उन्हें खोना एक अत्यंत योग्य पुराविद् एवं एक उम्दा इंसान को खोना है किन्तु यह भी उतनी ही सच है कि उनकी स्मृतियां सदैव हमारे साथ रहेंगी और हमारा उत्साहवर्द्धन करती रहेंगी।

पुरातन के पारखी – प्रो. विवेकदत्त झा

डॉ. मनीष झा

परम आदरणीय प्रो. विवेक दत्त झा से मेरा परिचय 1999–2000 में हुआ । मैं सागर में नया था । हमारे मित्र एंव अग्रज डॉ पचोरी जी, जो उनके साथ सागर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, उन्होंने हमारा परीचय करवाया। मध्यम कद, हृष्ट पुष्ट शरीर, मुस्कराता चेहरा, निश्छल ऑखें और इमानदार ठहाके, सब मिलाकर एक ऐसे व्यक्तित्व का परिचय दे रहे थे, जिससे पहली भेंट में हीं दोस्ताना लगने लगे। झा साब उस समय सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास एंव पुरातत्व विभाग में प्रोफेसर एंव विभागाध्यक्ष थे । पुरातत्व में मेरी रुचि थी । इस विषय पर होने वाली बातचीतों में उनका प्रसंग कई लोगों के मुँह से मैं सुन चुका था । इसके अलावा उनके व्यक्तित्व के अनेक रोचक पहलुओं से भी मैं अवगत था। कारण उनका और मेरा उपनाम एक हीं होने से कई लोग मुझे पूछते थे कि क्या मैं प्रो. वी डी झा का संबंधी हूँ । और ऐसे में उनसे संबंधित बातचीत षुरु हो जाती, और उनके जीवन का कोई न कोई प्रसंग मेरी चेतना के प्रकाश में आ जाता । यहॉ बताता चलूँ कि हमारा कोई नाते रिश्तेदारी का संबंध नहीं था। हालॉकि हमारा संबंध समान भौगोलिक क्षेत्र मिथिला से था । उनके पूर्वज चार पॉच सौ साल पहले वहॉ से विस्थापित होकर मंडला के राज दरबार में राज पुरोहित के रुप में स्थापित हो गए थे । एंव मंडला के राजनैतिक एंव सामाजिक जीवन में उनके परिवार की अहमियत और हैसियत आज भी बरकरार है। स्वंय उनके पिता मंडला से विधायक रह चुके । बाद में उनके घर जाने का और उनकी पत्नि जिन्हें मैं चाचीजी कहता हूँ तथा बच्चों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इसके बाद झा साब से यदा कदा भेंट होती रही । उनके कद और अपनी अज्ञानता के कारण कभी उनसे पुरातत्व पर बात करने का साहस नहीं हुआ। 2009 में उनसे भेंट हुई तो उन्हें मैंने कहा कि सर आपके साथ एरन जाना है । अब तक वे रिटायर हो चुके थे । अपने स्वभावानुसार उन्होंने कहा कि जब आप कहो। फिर बात आई गई हो गई । और ऐसा दो तीन बार हुआ कि हमने पूछा और सर ने हामी भरी और मेरी निष्क्रियता के कारण कुछ नहीं हुआ। सन 2015 में 'श्यामलम' के संस्थापक आदरणीय उमाकांत मिश्र जो सागर में साहित्य और संस्कृति की एक नई बहार ले आए थे, बुंदेली के प्रसिद्ध लोकगायक शिवरतन यादवजी और मैं मैहर जा रहे थे । रास्ते में संग्रामपुर में रानी दुर्गावती का किला देखने रुक गए। वहॉ बातचीत में हम लोगों ने तय किया कि क्यों ना इस क्षेत्र के सभी किलों की फोटो और विडियो लेकर उसपर एक डाक्युमेंट्री बनाई जाए । मैंने झा साब से बात करने की बात की तो उमा भैया ने कहा कि झा साब तो मंडला वापस चले गए हैं। मैंने उन्हें कहा कि अभी कुछ दिनों पहले हीं मेरी भेंट हुई उनसे और उन्होंने एरन चलने की हामी दे रखी है। वापस आकर उमा भैया ने उनसे भेंट की और हमारी टीम तैयार हुई। फोटोग्राफी के लिए हमने माधव चंद्रा जो

बहुत अच्छे फोटो ग्राफर हैं तथा इस विषय में रुचि रखते हैं, उनसे बात की वे सहर्श तैयार हो गए। हम पॉच लोग हर रविवार निकल पड़ते और किसी एक क्षेत्र के सभी पुरातात्विक महत्व के किलों, मंदिरों, मुर्तियों आदि का अध्ययन करते माधव के और मेरे कैमरे से छायांकन और विडियोग्राफी करते, झा साब उनके पुरातात्विक संदर्भों की व्याख्या करते जिसकी भी विडियोग्राफी की जाती और इस प्रकार धीरे धीरे सागर की ऐतिहासिक धरोहर पर एक अद्भुत सी रचना तैयार होती जा रही थी । इस ग्रुप का नाम हमने 'संडे एक्सप्लोरर' रखा । शुरुआत हमने एरन से की। ये जगह झा साब के ह्रदय के सबसे नजदीक थी । कारण, उन्होंने वर्षों इस पर काम किया था तथा महीनों यहॉ रहकर खुदाई करवाई थी । यहॉ के अनेक परिवारों से उनके बहुत दोस्ताना संबंध थे। सुबह सुबह तय समय के अनुसार साढे सात बजे वे तैयार अपने घर के आगे टहल रहे थे। अपने बैग के साथ जिसमें उनकी खुदाई के दिनों की उपयोगिता के सामान रखे थे, टार्च, बेंत, फर्स्ट एड किट इत्यादि समेत। सिर पर हैट, पैंट और टी शर्ट। खुरई पहुॅचकर सबने नाश्ता किया। झा साब ने खाने पीने की चीजें रखवा लीं। कारण वहॉ खाने की ज्यादा चीजें मिलने की संभावना नहीं थी । वे सड़क के बारे में भी सषंकित थे। कारण उन्हें सदैव टूटे फूटे सड़कों से होकर हीं एरण पहुचना पड़ा था। दल के बॉकी सदस्यों ने उन्हें आश्वस्त करने की कोशिश की, कि सब जगह सड़कें सुधर गईं हैं, एरण के लिए तो जरुर हीं सुधरी होगी । खुरई से बीना की ओर करीब छः किलोमीटर जाने पर नृर्तला गॉव के पास सड़क पर बड़ा सा बोर्ड लगा मिला 'ऐतिहासिक धरोहर एरन'। मन बाग बाग हो गया। झा साब उत्साह से भर उठे। वर्षों तक सरकारी तंत्र के असहयोग को देखते रहे झा साब उस विशाल बोर्ड को देख प्रसन्न हो गए,'लगता है इस बीच सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है।'

हमलोग इसे बड़ा अच्छा सगुन मानते हुए, मुख्य मार्ग को छोड़, बाईं ओर मुड़े जिधर बोर्ड पर लगा तीर इशारा कर रहा था। अभी मुश्किल से सौ मीटर गए होंगे कि सड़क ने अपना पुरातात्विक महत्व दिखाना शुरु कर दिया। और जो एक बार पुरातात्विक मूड में आई तो प्राचीन हीं होती चली गई। सर्वत्र खुदी हुई और सतत पुरातन! हम सहनशील भारतीय, सड़क पर एकाध गडढों को तो महसूस भी नहीं करते, कुछ ज्यादा गडढे हों तो सतर्क हो जाते हैं। पर जब गडढों के बीच सड़क ढूॅढनी पड़ जाए, तो असहिष्णु होना स्वभाविक है। हमारा मन बाग–बाग से भाग–भाग हो गया था। पुरातात्विक और एतिहासिक धरोहरों के प्रति पूरे अमले की बेरुखी का दर्द झा साब के शब्दों में भर उठा पर ज्यों ज्यों हम वहॉ पहुॅच रहे थे उनका उत्साह बढता जा रहा था। जब दूर से गरुड़ ध्वज जिसे स्थानीय लोग भीम की लाट कहते हैं, दिखी तो उन्होंने एक एक स्थान का बखान करना ऐसा शुरु किया मानो चलचित्र चल रहा हो। कहॉ रुके थे, कहॉ घूमने जाते थे, कहॉ उनकी स्कूटर किसी पत्थर से टकराई थी, उनके मस्तिष्क में ये सारी स्मृतियॉ जागृत हो उठीं । शिलालेख से लेकर एक एक मूर्ति तथा उनपर चित्रित एक एक नक्काशी, उसके कला का परिचय तथा काल का निर्धारन सब उनके मुख से किसी झरने से गिरते पानी की तरह स्वभाविक रुप से बह रहा था। उन्होंने वो जगहें दिखाईं जहॉ उनकी टीम ने खुदाई की थीं । उस घर में ले गए जहॉ उनकी टीम रुकी थी और उन्हें इसका भी गर्व था कि उसी परिवार से एक बालक डॉ. मोहन लाल चढ़ार आगे इसी विषय में पढकर अब प्रोफेसर के पद पर भी विराजमान है। उस बालक के इस रास्ते पर आगे बढने में झा साब का प्रभाव तथा सहयोग सतत बना रहा और फिर तो हर रविवार का यह निश्चित कार्यक्रम बन गया । हम लोगों ने पहले सागर शहर की सीमा के अन्दर हीं काम करने का निश्चय किया । हम सागर के हर क्षेत्र में गए उनके एतिहासिक धरोहरों के चित्र एंव विडियोग्राफी

करते, उनके ऐतिहासिक तथ्यों पर झा साब के विचार रिकार्ड करते। वापस आकर डिनर साथ में लेते और उस विषय पर सभी अपने विचार रखते । साथ साथ झा साब के विश्वविद्यालय में कार्यकाल, उनके छात्र जीवन, उनके रंगकर्म में किए गए कार्यों तथा छात्रों के साथ उनके दोस्ताना संबंधों के बारे में जानने का सुअवसर यही होता था।

इन बातचीत के अधिकांश भाग के साक्षी आदरनीय उमा भैया होते थे जो सत्तर की दशक में विश्वविद्यालय में पढे थे तथा छात्र राजनीति में भी सक्रिय रहे थे । उस समय झा साब वहॉ शिक्षककर्म के साथ, रंगकर्म में सतत सक्रिय रहते थे। उमा भैया के बड़े भाई स्व ष्यामाकांत जी झा साब के मित्र थे । उस समय के एक चर्चित नाटक 'फरार फौज' की चर्चा करते समय दोनों भावविभोर हो जाते । उस नाटक को झा साब ने निर्देशित किया था तथा उमा भैया ने भी उसमें एक छोटा सा रोल किया था । उस जमाने में इस नाटक के मंचन के दौरान एक सीन में, मंच के उपर एक जीप को बम से ऊड़ाया गया था । यह अद्भभुत काम झा साब जैसे दिलेर हीं की सकते थे । हास्टल के चीफ वार्डन के रुप में उन्होंने करीब एक दशक से अधिक समय तक काम किया। और इस दौरान उन्हें सभी छात्रों का बेहिसाब प्यार मिला था और वे उस प्रेम को अपनी सबसे बड़ी पूॅजी मानते थे। और एक शिक्षक के लिए इससे बड़ी पूॅजी हो भी नहीं सकती। इस दौरान छात्रों के आपसी कलह या उनपर आने वाले किसी भी संकट का उन्होंने सीना तानकर सामना किया था। और उनकी यही अदा थी जो उन नौजवानों में उनके प्रति असीम प्यार और आदर भर देती थी। उनके बारे में ऐसा मैंने उनके छात्रों के मुॅह से सुना था और अब उनसे स्वंय सुनकर हम उनका पक्ष सुन पा रहे थे जो उन छात्रों के प्रति निश्छल प्रेम, संवेदना और वात्सल्य से भरा था, फिर चाहे उन्होंने किसी छात्र को डांटा हो या सजा दी हो। छात्रों ने भी उनके इस भाव को पहचानकर उनसे खुलकर अपनी समस्याऍ रखीं और गलतियों पर मिलने वाली सजाओं को सहर्ष स्वीकार किया। तिहत्तर वर्ष की उम्र में भी कर्म के प्रति उनका पूर्ण समर्पण हमसब के लिए प्रेरणा का स्त्रोत था। समय के तो वे पाबंद थे हीं, अध्ययन में सदैव लीन रहते थे । जब भी उनके घर जाओ तो टेबल पर कोई न काई पुस्तक सदैव खुली मिलती जिसका अध्ययन वे कर रहे होते । अदम्य उत्साह, पूर्णतः निडर, सतत समर्पित कर्मशील, अपनी फन में माहिर और सदैव प्रसन्न चित रहने वाले इस बेजोड़ व्यक्तित्व की मृत्यु भी उनके हीं अनुरुप हुई। किताब लिखते हुए दिल का दौरा पड़ने से अचानक ! काल उन्हें अपने ग्रास में लेने का कोई दूसरा तरीका समझ पाता, इससे पहले अपनी आदत अनुसार उन्होंने उसे भी कष्ट नहीं दिया और जैसे अचानक उठकर स्वंय उसके पास चले गए, 'ले मैं आ गया, कहॉ चलना है'। जिसके लिए जहान की ऑखें बरस पड़ीं,। है वो खुदा के घर में भी, मशहूर आजकल । झा साब अपने दिलदार स्वभाव के कारण हम सभी के दिल में, और अपनी अनेकों पुस्तकों तथा शोधकार्यों के द्वारा सदैव इतिहास की पुस्तकों में जीवित रहेंगे।

मन के महंतः विवेकदत्त झा

डॉ. राकेश शर्मा

प्रोफेसर विवेकदत्त झा नाम का एक मस्तदिल इंसान अचानक, अनायास ही हंसते–मुस्कुराते अपने बिंदास जीवन की हर चिंताओं से मुक्त होकर हम सबको गमगीन कर महाप्रयाण कर गया। उन दिनों अस्सी के दशक में सागर विश्वविद्यालय की रौनक अद्‌भुद हुआ करती थी। छात्रावास बंगाल, छत्तीसगढ़, उत्तप्रदेश, दक्षिण भारत सहित दक्षिण अफ्रीका, वेस्टइंडीज से आए विद्यार्थियों से भरे होते थे। संपूर्ण भारतीय संस्कृति की अनोखी झलक इन टैगोर, विवेकानंद व अन्य छात्रावासों में देखी जा सकती थी। यह वो वक्त था जब हास्टल में रूम आबंटन कोई एवरेस्ट फतह से कम नहीं होता था। भिन्न–भिन्न रीति–रिवाज, संस्कार, रहन–सहन वाले हजारों छात्रों को अनुशासित रखकर उनकी सुख–दुख में देखरेख की महत्वपूर्ण जिम्मेदार भूमिका हॉस्टल प्रमुख याने वार्डन की होती थी। प्रोफेसर विवेक दत्त झा ने वार्डन के रूप में इस अत्यंत महत्वपूर्ण एवं गंभीर भूमिका को अनेक वर्षों तक न केवल शिद्धत से ब–खूबी निभाया अपितु अपने सबल, सहज, सरल व्यक्तित्व व व्यवहारिक कार्यप्रणाली से सर्वप्रियता प्राप्त की। छात्रावास के विद्यार्थियों के प्रति असीम स्नेह, अपनत्व भाव से परिपूर्ण कार्यप्रणाली व एक पालक की तरह उनके सुख–दुख में बराबर सहभागिता साथ ही उदंडता के खिलाफ कड़क व्यवहार देखकर ही संभवतः मैं झा साहब से प्रभावित हुआ और फिर निरंतर 40 वर्षों से उनके जीवन चलने का नाम चलते रहो सुबहो शाम गतिशील रहो, कर्मशील रहो पथ का हमराही अनुगामी हो गया। सागर विश्वविद्यालय में सन् 1958 में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई। संस्थापक प्रो. के.डी. बाजपेई के निर्देशन में सर्वप्रथम 1960–65 तक सागर जिले की खुरई तहसील में स्थित 'एरण ग्राम' में उत्खनन द्वारा लगभग 4200 वर्ष प्राचीन नगर और अवशेष उजागर किए गए। प्रो. झा ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया। प्रो. झा के निर्देशन में मंडला, डिंडोरी, सिवनी, बालाघाट, छिंदवाड़, बैतूल सागर व दमोह जिलों में सर्वेक्षण में प्रचुर पुरा सामग्री की खोज की गई। मंडला, डिंडोरी और छिंदवाड़ा जिलों में पहली बार उच्च पुरापाषाण युगीन अभिगत स्थलों की खोज का श्रेय प्रो. वी.डी. झा एवं विभाग को है। डिंडोरी जिले की घोड़ामाड़ा गुफा की खुदाई में 35000 वर्ष प्राचीन हड्‌डी, सींग और पत्थर पर बने हथियार औजार तथा अनगढ़ पत्थरों के बने फर्श में अवशेष प्रो. झा द्वारा प्रकाश में लाए गए।

सागर विश्वविद्यालय में विभिन्न अकादमिक व प्रशासनिक पदों पर कार्य करने उपरांत 31 दिसम्बर 2006 को सेवाकाल से सेवानिवृत्त होने के बाद भी उनकी सक्रीयता कम नहीं हुई। वे लगातार संगोष्ठियों, परिचर्चाओं व भिन्न–भिन्न मंचों पर वक्तव्य देते रहे। 2012 में उमाकांत मिश्रा ने अपने रंगकर्मी भ्राता की

स्मृति में श्यामलम संस्था निर्मित की। रंगकर्म के प्रति स्वाभाविक रुझानवश झा साहब ष्यामलम के संपर्क में आए और उसी के हो गए। डॉ. मनीष झा, माधव प्रताप चंदेल और शिवरतन यादव जैसे मित्रों का सानिध य मिला और जुट गए सागर जिले के शेष पुरातात्विक अवशेशों की तलाश में। **"जो आनंद संत फकीरी में वो आनंद कहां अमीरी में"** के सादा पर जीवन जीने वाले डॉ. झा कहा करते थे– अहम और वहम दो चीजें हमें अपनों से दूर कर देती हैं अतः इनसे बचना चाहिये। जीवन के प्रति उनके सोच या चिंतन का निचोड़ इस तरह व्यक्त किया जा सकता है : मैं जैसा हूँ अच्छा–बुरा अपने लिए हूँ, मैं स्वयं को नहीं देखता औरों की नजर से। गीत गाता हूँ मैं गुनगुनाता हूँ मैं जिंदगी का मजा लिये जाता हूँ मैं .....। सम्पन्नता, समृद्धि, संस्कार विवेक दत्त को विरासत में मिले थे। पिता विजय दत्त झा उन दिनों में विध ाायक रहे जब राजनीति सेवा का पर्याय मानी जाती थी। राजनेताओं की अपनी एक विश्वसनीयता हुआ करती थी। शायद इसीलिए माता–पिता ने बहुत सोच विचारकर नाम विवेक दत्त रखा होगा तभी तो यथा नाम उनके जीवन में वाणी का विवेक, दृष्टि का विवेक एवं विचारों के विवेक का समावेश हमें देखने समझने को मिलता है। आलस्य, अहंकार, अभिमान तो जैसे कोसों दूर थे उनसे। किसी काम को हाथ में लिया तो उसे पूर्णता प्रदान करके ही छोड़ते, चाहे वह अध्ययन, अध्यापन हो, शोध या उत्खनन हो अथवा जीवन के अन्य क्षेत्र रंगमंच, साहित्य, खेल हो या अन्य किसी तरह की रचनात्मक गतिविधियाँ, हर जगह उनकी उपस्थिति आयोजन में अपनी तरह का भरोसा, हौसला, जोश, उत्साह जगा देती थी। हर परिस्थिति में हर जगह उनका चिंतन महफिल में शीतलता प्रदान करता था। आज हम काल्पनिक जीवन की राह पर चलकर वास्तविक जीवन से दूर होते जा रहें हैं इसीलिए विवाद व विकार बढ़ रहे हैं। झा साहब विवाद, अपवाद, दुर्वाद से दूर केवल और केवल संवाद के पक्षधर थे। फूल की गंध की तरह स्वभाव था उनका जहाँ होंगे महक बिखरेगी ही। उनसे जो भी जुड़ा उन्हीं का हो गया। कुछ–कुछ फकीर की तरह न दूरी न दुराव, न दीवार न द्वार। छोटा–बड़ा सब एक समान। दुनिया भर की चकाचौंध से अप्रभावित रहे, सादगी ही उनका श्रृंगार थी। किसी की सराहना करने में वे शब्दों की कंजूसी नहीं करते थे। वे कहते थे किसी की प्रशंसा या तारीफ करने के लिए जिगर चाहिए, बुराई तो बिना हुनर किसी की भी कर सकते हैं। डॉ. विवेकदत्त झा अंतिम समय तक कर्मशील रहते हुए कर्म से, व्यवहार से, सोच से, सर्वप्रिय बने रहे। वे मौलिक चिंतक, कुशल वक्ता तथा संवेदनशील इंसान थे। उनके मन में अंत तक शिक्षक जीवित रहा। पढ़ना–पढ़ाना, घूमना, खोज करना, जानना और जानते ही जाना प्रिय शगल था उनका। श्यामलम से जुड़कर यही सब कुछ कर रहे थे वे आजकल। भटक रहे थे नई–नई जानकारियाँ तलाशकर, एकत्र करने में। ऐसे मन के महंत विवेकदत्त झा को शत्–शत् नमन। **"वे जहाँ भी होगें जहाँ भी रहेंगे रोशनी लुटायेगें, किसी चिराग का अपना मकां नहीं होता"।**

महान व्यक्तित्व के धनी प्रो. विवेकदत्त झा

के.पी.गुरु

डॉ. प्रोफेसर विवेकदत्त झा साहब से मेरे बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध रहे थे। प्रथम तो हम दोनों ही डॉ. हरिसिंह गौर विष्वविद्यालय में पदस्थ थे हालांकि हमारे पदों में भिन्नता थी। वे विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास कला एवं संस्कृति विभाग के विभागाध्यक्ष थे जबकि मैं विश्वविद्यालय कार्यालय में कार्यालय अधीक्षक के पद पर पदस्थ था। चूंकि मैं प्रारंभ से ही इतिहास विषय पर शोध कार्य करके रचनायें लिखने का कार्य कर रहा था। इस कारण झा साहब से मेरी मुलाकात उनसे बहुत पहले से हो गई थी। उनका व्यक्तित्व इतना सरल और निष्कपट था तथा वे इतने मिलन सार और अपने छात्रों के इतने मददगार व्यक्ति थे कि प्रायः जो भी आदमी उनके पास जाता था और किसी कार्य में उनसे मदद मांगता था वो बिना हिचक के उसकी मदद अवश्य करते थे। उनके इसी परोपकारी गुणों के कारण मैं उनकी ओर आकर्षित होता गया। चूंकि मैं इतिहास और प्राचीन भारतीय इतिहास विषय पर अनेक लेख वगैरह निरंतर लिखता रहता था जो आकाशवाणी छतरपुर एवं सागर द्वारा प्रसारित होते रहते थे तथा पत्र पत्रिकाओं में छपते थे इस कारण मैं अक्सर उनके पास जाकर उनका मार्गदर्शन प्राप्त करता रहता था।

एक बार उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया जब आप पुरातत्व विषय पर इतने अच्छे लेख लिखते हैं तो आप मध्यप्रदेश अथवा छत्तीसगढ़ के दुर्गों पर कार्य करें और एक पुस्तक के रूप में उसे प्रकाशित करवायें। मैंने उनकी इस सलाह को मानकर बुन्देलखण्ड के दुर्गो पर कार्य करना प्रारंभ किया जिसमें मुझे लगभग 6 वर्ष का समय लगा और उसका नतीजा बहुत सुखद रहा तथा मेरी इस पुस्तक ''बुन्देलखण्ड के मुख्य प्राचीन दुर्ग और गढ़ी'' के लिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय नई दिल्ली मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार द्वारा मेरी उक्त पुस्तक को प्रकाशित करवाने हेतु अनुदान मिला। यह सब डा. झा साहब की उचित सलाह से ही संभव हो पाया था। एक बार जब वे एरण में शोध कार्य कर रहे थे तब उन्होंने मुझे वहां आने को कहा मैं बराबर वहां जाकर उपस्थित हुआ। वहां मैंने देखा कि वे जिस लगनशीलता, तन्मयता और अत्याधिक परिश्रम से वहां शोध कार्यों को अंजाम दे रहे थे उसे देखकर मुझे अत्याधिक विस्मय हुआ कि एक प्रोफेसर बड़ी मेहनत से अपने शोध कार्य में संलग्न है न तो उनहें खाने पीने की सुध थी और न अपनी दाड़ी से बाल बनवाने की वे तो अपने छात्रों के साथ अपने शोध कार्यों में व्यस्त थे। मैंने सोचा अगर झा, साहब की तरह ही लोग कार्य करने के लिये उतारू हो जावें तो हमारा देश एक अग्रणी देश बन सकता है।

वास्तव में मैं उनकी कार्यों के प्रति लगन और उत्साह को देखकर बहुत आश्चर्य चकित हुआ था तथा मैंने अपने हृदय में संकल्प लिया था कि मैं भी झा साहब के नक्शे कदम पर चलने का प्रयत्न करूंगा।

इसके पश्चात जब मैंने अपनी पुस्तक ''वीर शिवाजी'' का लेखन कार्य प्रारंभ किया। तब बराबर मैं उनसे मिलने उनके सरकारी आवास पर जाता रहता था। उस समय तक वो ''टैगोर चेयर'' प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो चुके थे। उन्होंने मुझे इस पुस्तक लेखन में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये थे और मेरे आग्रह पर उन्होंने इस पुस्तक का प्राक्कथन भी लिखा था। मुझे झा साहब से मिलने का अनेकों बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन्होंने कभी भी कहीं भी मुझसे मिलने में अपनी अरूचि प्रदर्शित नहीं थी बल्कि मुझे तो उन्होंने ऐसी प्रेरणा दी कि अपना कार्य करते जाओ और आगे बढ़ो और निरंतर अपने कार्य में लगे रहो जिसका मैं आज भी पालन कर रहा हूँ। झा साहब के गुणों की जितनी भी प्रशंसा की जाये वह कम ही हैं वो अनेकों बार मेरे लिये स्वयं अपने हाथ से चाय–नाश्ता लेकर आये थे और आतिथ्य सत्कार का शानदार उदाहरण प्रस्तुत किया था। अभी हाल ही में पिछले वर्ष जब देशबन्धु दैनिक पत्र के प्रीमियर पर उनसे विष्वविद्यालय के सिल्वर जुबली हाल में भेंट हुई थी। तब उन्होंने मुझे अपना आशीर्वाद दिया था और कहा – मुझे बहुत खुशी है कि आप इतिहास और पुरातत्व विषय पर अच्छा काम कर रहे हो। इस प्रकार का कार्य करके अपने नगर और विश्वविद्यालय का नाम रोशन करें। ऐसा था व्यक्तित्व डॉ. विवेकदत्त झा साहब का जिनमें मानवतावादी दृष्टिकोण अपनी नई ऊंचाईयों से समाहित था। उनके हृदय में दूसरों के प्रति अपार श्रद्धा और आदर के भाव थे और उनमें कार्य संचालित करने की अपार क्षमता थी। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें।

जन जन की स्मृति में प्रो झा

डॉ. श्रीमती उषा तिवारी

मुझे अत्यन्त दुःख के साथ अपने उद्‌गार प्रो. झा साहब के निधनोपरांत व्यक्त करने पड़ रहे हैं कि न केवल हम लोगों ने एक सफल कर्त्तव्यनिष्ठ ईमानदार महान आत्मा को खोया है, अपितु उनके निधन से पुरातत्व विभाग की समृद्धि विलुप्त हुई। ऐसा मुझे अनुभव हो रहा है। एक विभाग के सफल प्रशासक के रूप में एक सफल शोधकर्त्ता, एक सफल वक्ता, एक सफल गृहस्थ जीवन के कर्णधार, सफल कवि, प्रतिभा के धनी–परिवार में पत्नी एवं अपने पुत्र–पुत्रियों के प्रति समर्पित स्नेहिल मृदुभाषी, कठोर श्रम से पीछे न हटने वाले प्रकृति प्रेमी, पर्यावरण एवं वृक्षलता वाटिकाओं को नवजीवन देने वाले, पुरासंपदा के उत्खनन के उजागर हेतु अपना जीवन समर्पित करने वाले मेरे गुरुवर डॉ. झा साहब जिनके प्रति मैं अपार श्रद्धा रखती हूँ। उनके एवं श्रीमति झॉ के श्री चरणों में नतमस्तक होकर मैं पूज्यनीय झा साहब एवं पूज्यनीया मैडम के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित करती हूँ, उनके प्रति मेरी श्रद्धांजलि समर्पित है। 1984 में जब मैंने झा साहब के मार्गदर्शन में एम.ए. उत्तरार्ध में गुबरा जिला दमोह के ऊपर अपना लघु शोध प्रबंध लिखा तो मुझे गुबरा शब्द कुछ अच्छा सा नहीं लगा परंतु जब मैंने गुबरा क्षेत्र को देखा तो वहां का प्राकृतिक सौन्दर्य दृश्य मुझे इतना अच्छा और सुहावना लगा कि मैं उस प्राकृतिक दृष्य का बखान नहीं कर सकती हूँ। कितनी उत्तुंग पहाड़ियां, मार्ग के दोनों दष्श्यों को शोभायमान करती हूई, पहाड़ी ढलान और चट्‌टानें, आमवृक्षों की सघन अमरैया, मेरे मन को लुभा गईं। बरसात का दृश्य, उन पहाड़ियों की और भी शोभा बढ़ाता होगा। सत्र फरवरी 1985 में मैंने उच्च शिक्षा विभाग के अंतर्गत तदर्थ रूप से शासकीय महाविद्यालय रामपुर नैकिन सीधी में शासन द्वारा पदस्थ हुई। तब मुझे रोना आ गया कि मैं घर परिवार से कितनी दूर हो गई हूँ। परंतु रामपुर नैकिन सीधी जाने वाले, छुहिया पहाड़ के प्राकृतिक रमणीक वातावरण ने मेरा मन मोह लिया। 15 जून 1987 में मैं नियमित हुई और मेरा स्थानांतरण शासकीय महाविद्यालय पृथ्वीपुर जिला टीकमगढ़ में हो गया। तब मैंने टीकमगढ़ के ऐतिहासिक दृष्यों का भ्रमण किया तो मैंने सोचा कि क्यों न टीकमगढ़ के ऐतिहासिक स्थलों पर शोध–ग्रंथ लिखूँ। अतः मैंने 1989 में डॉ. एस.एन. मनवानी सर के मार्गदर्शन में पी–एच.डी. के लिये रजिस्ट्रेशन टीकमगढ़ की वास्तुशिल्प कला का अध्ययन के रूप में करवाया। किन्तु बहुत सी उलझनों के कारण मैं अपना शोध कार्य पूर्ण नहीं कर पाई। 1996 में मेरे पतिदेव श्री जयनारायण तिवारी ने मुझे सुझाव दिया कि झा साहब के मार्गदर्शन में पी–एच.डी. कर लो और अध्ययन अवकाश लेकर शोध कार्य करलो तो मैंने झॉ सर के निर्देशन में पुनः रजिस्ट्रेशन करवाया लेकिन महाविद्यालय के प्रशासनिक एकादमिक कैलेण्डर के उत्तरदायित्वों को वहन

करने से मुझे शोध कार्य पूर्ण करने का समय नहीं मिला। मैंने पुनः रजिस्ट्रेशन को नवीनीकरण करवाकर एक वर्ष का अध्ययन अवकाश लेकर अगस्त 2002 में अपना षोध कार्य गुरुवर झा साहब के आशीर्वाद से पूर्ण कर लिया जिसमें मुझे गुरुवर झा साहब का अत्यन्त सहयोग प्राप्त हुआ। मैं झा साहब एवं श्रीमति झा के प्रति अत्यन्त ऋणी एवं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे मेरे शोध कार्य को सफल अंजाम तक पहुंचाया। मैं श्रीमति झा के परिजनों के प्रति कामना करती हूँ कि उनका परिवार प्रगति के सोपानों पर हमेशा अग्रसर होता रहे, जैसे झा साहब ने प्रगति के सभी उन्नत शिखरों को छुआ और सफलता प्राप्त की उसी प्रकार झा साहब का परिवार भी उन्नत सफल षिखरों के आयाम को प्राप्त करे। उनका जीवन समृद्धता, सुख आनंद से भरा रहे। सभी उपलब्धियाँ उन्हें जीवन में प्राप्त हों। मैडम का स्वभाव कितना सौम्य, मृदुल, स्नेहिल व शांति से भरा है। उनकी नरगिसी आंखें, जीवन में आगे बढ़ने का संदेश देती हैं। उनका आषीश के रूप में उठा हुआ हाथ मानो सब कुछ देने की क्षमता रखता है। मैडम के सुखद जीवन और उनके सुखी परिवार की जीवन की कामना मैं परमपिता परमेश्वर परवर दिगार से करती हूँ। इसी आशा के साथ ....

प्रो. झा : एक आदर्श शिक्षक

प्रो. नवीन गिडियन

दिनांक 26.12.1982 को मैं प्राच्य निकेतन, भोपाल विष्वविद्यालय, भोपाल में एम. ए. (प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व) का विद्यार्थी था। क्रिसमस के अवकाश में अपने गृहनगर सागर आया हुआ था। उस समय इस विषय की हिन्दी में पुस्तकों की भारी कमी हुआ करती थी एवं मार्गदर्शन करने वाले शिक्षक भी कम थे। अतः पुस्तकों की खोज में मैं उक्त दिनांक को सागर विष्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग पहुँचा जहाँ मेरी भेंट प्रो. झा सर से हुई। उन्हें मैंने अपना परिचय दिया एवं अपनी समस्या से अवगत कराया। प्रो. झा सर ने न सिर्फ मेरी समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुना बल्कि तुरन्त अपने सुझाव मुझे दिये। उन्होंने कई हिन्दी की पुस्तकों की जानकारी मुझे दी और स्वयं मेरे साथ चलकर संग्रहालय लेकर आये, फिर संग्रहालय घुमाया। फिर मुझे पुस्तकालय लेकर गये और वहाँ मेरा परिचय सबसे कराया और कहा कि जब भी ये विद्यार्थी यहाँ बैठकर अध्ययन करना चाहे इसे करने देना। प्रो. झा सर के इस योगदान के फलस्वरूप मैंने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में बैठकर अध्ययन किया एवं कई पुस्तकों को फोटो कॉपी प्राप्त की।

प्रो. झा सर ने तत्कालीन रिसर्च स्कॉलर कु. वीणा मिश्रा से भी मेरा परिचय कराया और उन्हें निर्देशित किया कि इन्हें यथा संभव मदद प्रदान करना अतः कु. वीणा मिश्रा ने भी मेरे अध्ययन में एवं संग्रहालय की प्रतिमाओं को समझाने में मुझे भरपूर योगदान दिया। एक अंजान विद्यार्थी जिससे प्रो. झा सर पहली बार मिले थे उसकी इतनी मदद की जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता बल्कि उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करता हूँ। 2011 में म.प्र. इतिहास परिषद के 30वें अधिवेशन सागर विश्वविद्यालय में जब मैंने उन्हें सम्मानित किया तब उन्होंने मुझसे कहा, ''आज तुमने इस मंच पर जो मुझे सम्मान दिया है उससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है।''

अजेय व्यक्तित्व के धनी प्रो. विवेकदत्त झा

डॉ. सुरेन्द्र चौरसिया

काली सफेद दाडी,, कसावटी वदन, कर्मशीलता की अजेय व्यक्तिव के धनी प्रो. विवेकदत्त झा मध्यभारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता थे। 1997–98 ईस्वी का एरण उत्खनन प्रो. झा के साथ करीब से बिताये क्षण कभी विस्मृत नही हो सकते है। एरण उत्खनन प्रारम्भ होने के लिए रमन छात्रावास से उत्खनन सामग्री ट्रक में भरकर जाना थी। उस समय झा सर ने मुझे एरण उत्खनन में साथ चलने के लिए आदेश दिया और इसी उत्खनन के साथ मेरे शोध कार्य को भी गति मिली और मेरा शोध कार्य झा सर के सहयोग से पूरा हो सका। एरण उत्खनन के दौरान तम्बू में शोध कार्य करना तथा झा सर द्वारा शोध कार्य की समीक्षा करना, उत्खनन का प्रशिक्षण देना मेंरे जीवन के उनके साथ बिताये अमूल्य क्षण थे। एरण उत्खनन में मुझे झा सर के साथ रहकर क्षेत्रीय पुरातत्व को निकटता से जानने का सुअवसर मिला

छात्रावास अधीक्षक के रुप में छात्रावासी जीवन के प्रतिपालक स्वरुप प्रो. झा के सानिध्य में मैने आठ बर्ष डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में छात्रावासी जीवन व्यतीत किया जो अस्मरणीय है। छात्रावास अधीक्षक प्रतिपालक के रुप में वह सभी छात्रावासी छात्रों के पिता के रुप में भूमिका तन मन धन से निर्भाय करते थे। मेरे मार्गदर्शक गुरु प्रो. झा से पुरातत्व का ज्ञान मैने मनोयोग से सीखा जिसके परिणामस्वरुप मै जीवन उनका ऋणी रहूगा।

प्रो. विवेकदत्त झा सर मेरे जीवन में आवाक्ष प्रतिमा की तरह प्रतिपल मेंरे अंर्तमन मे आज भी आर्शीवाद और शुभपलों की वर्षा करते दिखाई देते है। मेरे जीवन का प्रतिपल उनके आदर्शो को जीवतंता देने के लिए आतुर बना रहे ऐसी मनोभावनाए लेकर पुरातत्व से श्रेष्ठतम पुरातत्व की कल्पना को संजोने का प्रयास निरन्तर जारी है।

प्रो. झा सर के पुरातत्व में नवीन शोध के परिणाम स्वरुप संपूर्ण देश के अनेक विद्यार्थी व विद्वानजन आज भी लाभांन्वित हो रहे है और भविष्य में भी होते रहेगे। शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान सादैव अविस्मरणीय रहेगा। ऐसे अद्‌भुत व्यक्तित्व के धनी प्रखंड पुरातत्ववेत्ता बहुअयामी प्रतिभावान सहज, सरल हर समय पुरातत्व व अन्य विद्यार्थियो की मदद करने हेतु तत्पर रहने वाले परम पूज्यनीय झा साहब को सत् सत् नमन करता हूँ।

पुरातत्त्व के जीवन्त हस्ताक्षर – प्रो. विवेक दत्त झा

डॉ. मशकूर अहमद

प्रोफेसर विवेक दत्त झा एक अच्छे शिक्षक, मार्गदर्शक, पुरातत्त्ववेत्ता और बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। वे छात्रों को और छात्र उन्हें हृदय से प्रेम करते थे। विभागीय छात्रों के अतिरिक्त समस्त विभागों के छात्रों के लिये वे सम्मानीय थे, विशेशकर छात्रावासी छात्रों के लिये। झा सर एक लम्बी अवधि लगभग 19 वर्ष विश्वविद्यालय के छात्रावास वार्डन एवं चीफ वार्डन रहे। वे छात्रावासी छात्रों से पितृवत प्रेम करते थे और छात्र भी उन्हें उतना ही सम्मान देते। झा सर से मेरा प्रथम साक्षात्कार छात्रावास में प्रवेश के समय ही हुआ था। मैंने जब विश्वविद्यालय में बी.एस.सी. में प्रवेश लिया था। उनके वात्सल्यपूर्ण व्यवहार, प्रेरक वचन और उनके व्यक्तित्व से मैं गहरा प्रभावित हुआ। उसके बाद लगातार सम्पर्क में बना रहा। बी.एस. सी. उत्तीर्ण करने के उपरान्त अपनी रूचि के अनुसार मैंने विज्ञान विषय छोड़कर प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषय से स्नातकोत्तर करने का निर्णय लिया और एम.ए. में प्रवेश ले लिया। इसके बाद मुझे उनके और अधिक निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ। पाठ्यक्रम के साथ–साथ पुरा सामग्री, प्रागैतिहास, पुरास्थलों के बारे में उनसे चर्चा होती और वे मेरी हर जिज्ञासा शान्त करते और विस्तार से समझाते। मैंने उनके शोध कार्य को पढ़ा और समझने का प्रयास किया। एम.ए. उत्तीर्ण करने के उपरान्त मैंने पीएच.डी. करने का निर्णय लिया। मैं झा सर के पूर्व अध्येता पुराविद डॉ. श्याम कुमार पाण्डेय के शोध विषय से बहुत प्रभावित था। वे शैलचित्रों के विशेषज्ञ थे। मैंने झा सर से मार्गदर्शन का आग्रह किया तो उन्होंने शैलचित्रों पर शोध कार्य करने हेतु प्रोत्साहन दिया। डॉ. ष्याम कुमार जी के परामर्श के बाद मैंने डॉ. रवीन्द्र नाथ अग्रवाल जी के निर्देशन में शैलचित्रों पर षोध कार्य प्रारम्भ किया। शैलचित्रों पर शोधकार्य एक कठिन कार्य है, ऐसे समय में गुरूवर डॉ. रवीन्द्र नाथ अग्रवाल के साथ झा सर ने मेरा सम्बल बढ़ाया। मैंने अपने शोध क्षेत्र से लगभग 29 शैलचित्र केन्द्रों की खोज की और हर बार जब मैं सर्वेक्षण से वापस आता तो झा सर पूछते और नया कुछ मिला तो मैं उन्हें बताता और आनन्दित होकर सुनते साथ ही शोध बारीकियों से अवगत कराते। वे हर समय शिाक्षक ही रहते थे क्लास हो, उनका कक्ष हो, संग्रहालय हो या घर। कहीं भी उनका क्लास रूम बन जाता। उन्हें तो बस अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान बाँटना आता था। वे विश्वविद्यालय के अनेक पदों पर थे परन्तु अपनी व्यस्तता को कभी उन्होंने बीच में नहीं आने दिया। कभी व्यस्त रहने और अधिक काम होने का हवाला नहीं दिया। वे पुरातत्व विषय के

लिए पूर्णतः समर्पित थे। उन्होंने सम्पूर्ण मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ का सर्वेक्षण किया बहुत कम ऐसे स्थान होंगे जो उनसे छूटे हों। षायद यही कारण था उन्होंने और डॉ. श्याम कुमार जी ने मुझे बिजावर (छतरपुर म.प्र.) पर शोध कार्य की सलाह दी थी।

वे सतत् अध्ययनरत रहते थे। प्राचीन साहित्य में पुरास्थलों को खोजते और मूर्तरूप देने निकल पड़ते सर्वेक्षण पर। उत्खनन और सर्वेक्षण कार्य उनके प्रिय विषय थे और प्रागैतिहास उनकी विशेषज्ञता। वैसे तो वे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास विशय के विशेषज्ञ थे। उनकी रूचि पुरातत्व और प्रागैतिहास के साथ–साथ वन्य–जीवों के अध्ययन में भी थी। मैंने उन्हें सर्वेक्षण और उत्खनन करते देखा है। सुख–सुविधा, आराम तो जैसे भूल ही जाते थे। चाहे जैसी परिस्थिति हो वे विचलित नहीं होते थे। जो मिला खा लिया और फिर चल पड़े। किसी सुविधा की लालसा नहीं। कम ही होते हैं ऐसे शिक्षक। मैंने उनके निर्देशन में पोस्टडाक्टोरल फैलोंशिप का प्रोजेक्ट तैयार किया था, पर वह उनकी सेवा निवृत्ति के बाद मिल सका। उसके बाद भी उनका स्नेह और मार्गदर्शन मुझे सतत् प्राप्त होता रहा। दमोह जिले पर कार्य करते हुए मैंने अनेक शैलचित्र केन्द्र खोजे हैं जिनमें सिलापुरी के शैलाश्रय प्रमुख हैं।

मैंने सर्वेक्षण का कार्य प्रो. झा. सर और डॉ. श्याम कुमार पाण्डेय जी से ही सीखा। विद्वान द्वय की हिदायतें आज भी मेरे मस्तिश्क में है। क्षेत्र पुरातत्व की बारीकियाँ, सर्वेक्षण के तौर–तरीके, शोध पत्र लेखन और वाचन उन्हीं की देन है। वे कहते थे कि पुरातत्त्ववेत्ता का जीवन यायावर जीवन होता है। निरन्तर चलना, सक्रिय रहना और कुछ नया खोजने की चाह ही पुरातत्व के छात्र की पहचान है। उनका कथन था कि सदैव मौलिक सन्दर्भ का प्रयोग करो और प्रयास करो कि लोग तुम्हारा सन्दर्भ दें। उनके अनेक संस्मरण मेरी स्मृति में है। वे मेरे हर शोध कार्य में हैं विस्मरण जैसा शब्द उनके लिये नहीं है।

मेरी अन्तिम मुलाकात उनसे 15 मार्च 2016 को हुयी थी, विभाग की संगोष्ठी में। उनके अभिन्न मित्र प्रोफेसर रहमान अली एवं प्रोफेसर सर्वजीत सिंह साथ थे। कई मुद्दों पर उनसे चर्चा हुयी। मैं उस समय टीकमगढ़ कॉलेज में अध्यापन कार्य कर रहा था। मुझे जाना था, मन एक हूक उठती थी कि सर के साथ कुछ समय और व्यतीत करूँ। वे खुश थे, जोश से भर हुये। संगोष्ठी के द्वितीय सत्र में मैंने शोध पत्र पढ़ा, नया शोध था, नये स्थान के शैलचित्रों पर खोज थी। मैं शोध पत्र पढ़ रहा था कि अचानक उनकी बुलन्द आवाज सदन में गूंजी, कीप इट अप ! वे शोध पत्र वाचन के बीच में बोले थे जो उनकी आदत के विपरीत था। यही उनका अन्तिम प्रत्यक्ष आर्शीवाद था। उनका आर्शीवाद सदैव मेरे साथ रहा है और बना रहेगा सदैव।

मूर्तिमर्मज्ञ – डॉ. विवेक दत्त झा

डॉ. मोना जैन

आदिवासी बहुल बस्तर प्राचीन काल में जितना विशाल, दुर्गम और अबूझा था उतना दुर्गम और अबूझा आज नहीं रहा। अपनी भू–आकृति, दुर्गम वन क्षेत्र , वन्य प्राणियों के बाहुल्य , कच्ची सड़कें एवं आवागमन के साधनों की न्यूनता, ये अधिकांश बाधायें बस्तर में प्रवेश को रोकती , तो कहीं न कहीं आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र होने के कारण मन में अनगिनत सवाल उठातीं, परंतु ऐसे दुर्गम वन क्षेत्र में अस्सी के दशक में डॉ. विवेक दत्त झा ने बस्तर के मूर्तिशिल्प पर ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होने अपने अनेक वर्षों के अध्ययन द्वारा अतीत के अत्यंत समृद्ध और सुसंस्कृत इस अंचल की मूर्तिकला को उजागर करने का प्रयास किया। बस्तर में आज भी न जाने ऐसे कितने पुरातात्विक स्थल हैं जो अपनी ऐतिहासिक महत्ता दुनिया के सामने लाने के लिए पुरातत्वविदों और शोधार्थियों की राह देख रहे हैं। भौगौलिक स्थिति के कारण पिछड़े हुए इस अंचल का सम्पर्क प्रारंभ से ही आंध्र , उड़ीसा और महाराष्ट्र से रहा इसलिए यहाँ की कला और संस्कृति पर उक्त क्षेत्रो का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हैं। डॉ. झा ने बस्तर के पाली, गुबरहिन, गढ़धनोरा, भोगापाल, छोटे डोंगर, एड़का, गुप्तेश्वर, देउरगांव, गदिया, नारायणपाल, मधोता, गढ़बोधरा, भंगारम, तोंग कोंगेरा, कुरूसपाल, आलोर, बंगोली, बारसूर, समलूर, भैरमगढ़, और गुदमा जैसे दुर्गम क्षेत्रों में मूर्तिकला के अध्ययन से सम्बाधित स्तरीय , प्रमाणिक और ऐतिहासिक कार्य किया।

मुझे झा सर की छात्रा होने का गौरव प्राप्त हैं। मेरे और सर के संबंध शिष्य और गुरू के ही नहीं थे, सर जगदलपुर में मेरे पिताजी के विद्यार्थी रह चुके थे और उनकी पत्नी डॉ. अंजलि झा हमीदिया महाविद्यालय , भोपाल में मेरी माँ की सहपाठिनी थीं , इसलिए झा सर के परिवार से हमारे सम्बंध बहुत आत्मीय और घनिष्ठ थे। मैंने झा सर के निर्देशन में अपना एम. ए. का लघु शोध प्रबंध 'आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ बारसूर' लिखा था। शोध के सम्बंध में डॉ. झा गंभीर थे और येन–केन–प्रकारेण उपाधि प्राप्त करने को ही लक्ष्य नहीं मानते थे। वे मूर्तिकला के पारखी थे और छोटी से छोटी बात पर उनका ध्यान जाता था। स्थान और काल किस तरह से मूर्तिकला पर प्रभाव डालता हैं इसकी उनमें विलक्षण समझ थी। यही कारण हैं कि मूर्तिकला का उन्होंने जो अध्ययन किया, वह अत्यंत प्रमाणिक और स्तरीय माना जाता हैं। मूर्तिकला के सन्दर्भ में बस्तर की सम्पन्नता आश्चर्यजनक हैं। बस्तर में ब्रह्मण, जैन और बौद्ध देव प्रतिमाओं के साथ–साथ बहुत सी अन्य व्यंतर प्रतिमायें भी मिलती हैं। बस्तर में देवी उपासना यद्यपि प्रागैतिहासिक युग में प्रचलित थी तथापि इसके ठोस प्रमाण आठवीं शताब्दी ईस्वी से मिलते हैं। महिषमर्दिनी, पार्वती, गौरी, दुर्गा, लक्ष्मी, महालक्ष्मी, सरस्वती, भैरवी, सप्तमातृका, वाराही, चामुण्डा, शिवा, लज्जी की अद्भुत

प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। बस्तर में विभिन्न सम्प्रदायों के इष्ट देवी देवताओं की उपासना के साथ–साथ गौण देवताओं की उपासना भी प्रचलित रही हैं। हनुमान , कुबेर , दिक्पाल , गरूड़, नाग , यक्ष आदि लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। उक्त विविध पक्षों पर शोध कार्य प्रों. झा सर ने बडे ही सूक्ष्म ढंग से किया था।

अंत में , प्राचीन इतिहास , पुरातत्व और संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक हैं। इसके सर्वांगीण अध्ययन के लिए अध्ययनकर्ता को अनेक विषयों में पारंगत होना पड़ता है। निरंतर अभ्यास और गहन अध्ययन से ही किसी पुरातत्वविद् में ये विशेषतायें आती हैं। इसके लिए जो एकाग्र अविनिमेश चाहिए वह डॉ. विवेकदत्त झा में था। मुझे इस बात का गौरव हैं कि मैं उनकी छात्रा रही और समय–समय पर मूर्तिकला की सूक्ष्मताओं को जानने समझने का अवसर सर के सानिध्य में मिला । झा सर ने बस्तर के मूर्तिशिल्प का अध्ययन जहाँ छोड़ा, मैं उसे वहाँ से आगे बढ़ाने का निरन्तर प्रयास कर रहीं हूँ, यही मेरी उनको गुरूदक्षिणा होगी।

साहित्य और पुरातत्व की महत्वपूर्ण कड़ी : प्रो.विवेकदत्त झा

डॉ. राजेन्द्र यादव

सागर विश्वविद्यालय के केम्पस में जिस व्यक्ति के संबंध में एक सामान्य राय थी और जिस शिक्षक के संबंध में केम्पस के लोग कभी भ्रमित नहीं रहे वह व्यक्ति प्रोफेसर विवेकदत्त झा थे। झा सर अपने व्यक्तित्व में एक ही चेहरा रखते थे, समय और परिस्थितियों के चलते उनकी मान्यताएँ कभी नहीं बदली। वे जैसे थे वैसे ही दिखते थे और हमेशा वैसे ही मिलते थे। लोग विद्वान तो बहुत हो जाते हैं पर जैसा की अमुमन केम्पस में होता है कि बड़े–बड़े विद्वान शिक्षकों के लिए केवल अपने विषय में अपनी हैसियत को बनाये रखने से ज्यादा विश्वविद्यालय के पदों को प्राप्त करने के लिए अपनी अस्मिता को एक तरफ रख, याचक की स्थिति में 'पूँछ हिलाने' लगते हैं। इस तरह के तमाम अर्थों से प्रोफेसर विवेकदत्त झा का पूरा जीवन एक शिक्षक की गरिमा को चरितार्थ करने वाला रहा। उन्होंने जीवन में किसी विश्वविद्यालयीन प्रशासनिक पद को पाने के लिए न किसी से सिफारिस करवाई और न कभी 'गौर भवन 'जाकर' किसी से याचना की। यह बात स्वयं झा सर ने मुझसे अनेक बार कही। वे डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर के सम्माननीय कार्य परिषद सदस्य 'प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व'' विभाग के टेगौर प्रोफेसर रहे। अपने लम्बे शिक्षकीय जीवन में प्रो. विवेकदत्त झा ने हमेशा एक शोध छात्र की तरह काम किया। वे भारतीय संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व के विश्वस्तरीय स्कॉलर थे। उन्होंने सागर के 'एरण' तथा मण्डला जिले में अनेक बार उत्खनन कार्य किया। अपने अनेक बार के उत्खनन में उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास की विलुप्त कड़ियों को जोड़ने वाली सामग्री खोज निकाली। उन्होंने मृद–भाण्ड, प्राचीन सिक्के ढालने का साँचा, मिट्टी के प्राचीन सिक्कों को भी उन्होंने प्रामाणिक रूप से सामने रखा। उनके उत्खनन में शामिल रहे अनेक छात्रों में कुछ मेरे भी करीबी मित्र रहे। मेरे छात्र मित्र हमेशा बताते थे कि झा सर फील्ड वर्क पर जब हों तो वे भी सौ प्रतिशत एक शोध छात्र की तरह मित्रवत् व्यवहार करते हैं। उत्खनन से लेकर रूकने ठहरने खाने–पीने सब में उनकी एक विद्यार्थी की तरह भूमिका रहती थी। प्रोफेसर नागेश दुबे आज सक्रिय रूप से प्रोफेसर विवेकदत्त झा की सहजता को प्राचीन इतिहास विभाग में जीवंत बनाये हुए हैं। डॉक्टर हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय केम्पस में समूचे विश्वविद्यालय के छात्रों को जो सबसे ज्यादा अपनी ओर खींचने वाला शैक्षणिक विभाग है, वह है– प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग। क्योंकि यह ना केवल शैक्षणिक विभाग है–बल्कि इस विभाग के शिक्षकों के द्वारा किये गये पुरातात्विक वस्तुओं के दुर्लभ संग्रह के साथ अपनी नाम पट्टिकाओं से सजा एक समृद्ध संग्रहालय

भी है। पुरातात्विक दृष्टि से यह संग्रहालय एवं प्राचीन इतिहास विभाग में प्रोफेसर के.डी. वाजपेयी प्रो. श्यामकुमार पाण्डेय, सहित प्रो. विवेकदत्त झा द्वारा संग्रहित पुरातात्विक महत्व की वस्तुओं का अपने पुरातात्विक दृष्टि से एक समृद्ध शैक्षणिक केन्द्र माना जा सकता है। डॉ. विवेकदत्त झा हमेशा सक्रिय रहने वाले व्यक्ति रहे। मृत्यु पूर्व भी एक टीम के साथ लगातार बुन्देलखण्ड के प्राचीन पुरातात्विक महत्व के स्थलों की वीडियोग्राफी करने में लगे थे। इस कार्य में सागर के उनके मित्र डॉ. मनीष झा, साहित्यकार उमाकांत मिश्र, बुन्देली लोक गायक शिवरतन यादव आदि शामिल थे। प्रत्येक रविवार को यह टीम बुन्देलखण्ड के प्रचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत के महत्वपूर्ण स्थलों की वीडियोग्राफी कर उसे संरक्षित करने के कार्य में लगी थी। बुन्देलखण्ड में पर्यटन की अपार संभावनाएँ हैं, बुन्देलखण्ड में शैल चित्रों, नदियों घाटियों में आदिमानव के टूल्स (औजार) हस्त कुल्हाड़ी, आदि पर शोध की एक लम्बी परम्परा है, जिसमें डॉ. प्रदीप शुक्ला और डॉ. मशकूर अहमद ने गंभीर शोध कार्य किया है। डॉ. विवेकदत्त झा का विचार था कि बुन्देलखण्ड में प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के तहत अनेक स्थलों की खुदाई किया जाना जरूरी है, डॉ. झा मानते थे कि सभ्यता की गुत्थियाँ प्रमाणों से सुलझती हैं कोरे तर्क से कुछ नहीं होता। इसी अर्थ में 'ऐरण' का उत्खनन हमारे सामने है, 'ऐरण' उत्खनन में प्राप्त मिट्टी के सिक्के ढालने की टकसाल से प्राचीन इतिहास में एक नयी कड़ी जुड़ी। झा सर का बुन्देलखण्ड की प्राचीन विरासत को सहेजने के लिए किया गया कार्य उल्लेखनीय है।

व्यक्तिगत तौर पर मैं उन्हें अपना गुरू मानता था, हालाकि उन्होंने कभी मुझे विधिवत् पढ़ाया नहीं पर हिन्दी विभाग का विद्यार्थी होने के कारण प्राचीन इतिहास विभाग के मित्रों तथा विभाग में किसी भी विषय के विद्यार्थी को आकर्षित कर लेने वाले अद्वितीय संग्रहालय की मूर्तियों और उनके स्थापत्य से मैं भी गहरे स्तर पर आकर्षित था और आज भी हूँ। इसके अलावा झा सर से एक सीधा रिश्ता और था, प्रोफेसर विवेकदत्त झा विश्वविद्यालय युवक छात्रावास के संयुक्त प्रतिपालक भी थे। उन दिनों विश्वविद्यालय के छात्रावासों का छात्र होना तथा छात्रावास का वार्डन होना दोनों बातें खतरनाक थीं। इस भयावह समय में भी प्रोफेसर विवेकदत्त झा ने छात्रावासों के छात्रों तथा विश्वविद्यालय प्रशासन

के साथ जिला प्रशासन के समक्ष हमेशा छात्रों का पक्ष लिया और विश्वविद्यालय के छात्रावासों में अपनी व्यक्तिगत कार्य प्रणाली से बगैर सख्ती किए विपरीत स्थिति में भी शैक्षणिक वातावरण बनाये रखा। मैं बड़ी विनम्रता से यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि झा सर जिस वक्त विश्वविद्यालय के छात्रावासों के वार्डन थे उस समय को मैं 'झा सर' का युग कह सकता हूँ, जब जिला प्रशासन भी छात्रावास आने से घबराता था, उस समय झा सर निहत्थे स्कूटर से रात्रि के किसी भी पहर छात्रावास चले आते थे। उस समय डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय केम्पस में प्रोफेसर विवेकदत्त झा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी।

प्रोफेसर विवेकदत्त झा के बहुमुखी व्यक्त्वि का सबसे अहम पहलू था उनका एक रंगकर्मी होना। प्रोफेसर झा एक पुरातत्ववेत्ता के साथ एक बड़े रंगकर्मी थे। एक अभिनेता थे तथा एक निर्देशक भी थे। रंगकर्मी के रूप में उन्होंने अनेक पड़ाव पार किये। डॉक्टर विवेकदत्त झा सागर विश्वविद्यालय केम्पस के अकेले शिक्षक हैं जिनकी शिष्य परम्परा में प्राचीन इतिहास विभाग के अलावा रंगकर्म से जुड़ी सागर विश्वविद्यालय की एक समष्द्ध परमपरा को पोषित करने वाले रंगकर्मी थे। डॉक्टर राकेश सोनी जैसे रंगकर्मी के अभिनय तथा निर्देशन में झा सर की स्पष्ट झलक नजर आती है। डॉक्टर विवेकदत्त झा ने अनेक वर्षों भारत के विश्वविख्यात रंगकर्मी और निदेशक 'सत्यदेव दुबे' के साथ काम किया था। रंगकर्म

के क्षेत्र में सत्यदेव दुबे एक विश्वस्तरीय नाम माना जाता है। प्रोफेसर झा ने सागर विश्वविद्यालय केम्पस में सत्यदेव दुबे से अर्जित रंगकर्म की बारीकियों से विद्यार्थियों को स्थानीय स्तर पर अवगत कराया। आज भी सागर विश्वविद्यालय में 'झा सर' से रंगकर्म के गुर सीखने वालों की पूरी परम्परा है। साहित्य में भी खासकर हिन्दी विभाग की महत्वपूर्ण साहित्यिक गतिविधियों में प्रोफेसर झा की विशेष भूमिका रहती थी। हिन्दी विभाग की बुन्देली लोक संस्कृति एवं इतिहास पर आधारित लोक संस्कृति पत्रिका 'ईसुरी' के वे एक प्रतिष्ठित लेखक रहे हैं। 'ईसुरी' के अनेक अंकों में विभिन्न ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक विषयों पर केन्द्रित विवेकदत्त झा के आलेख महत्वपूण माने जाते हैं।'झा साब' के बारे में एक बात उनके साथ काम करने वाले सभी लोग स्वीकार करते हैं कि उनकी मान्यताऐं और लोग कभी बदले नहीं। उनकी मित्र मण्डली केम्पस में सक्रिय कार्य करती थी। उनके विद्यार्थी जीवन के मित्रों से अंत तक उनकी मित्रता रही। उनके जाने माने मित्रों में प्रोफेसर विनोद दीक्षित, प्रोफेसर एस के यादव और प्रोफेसर प्रमोद खरे आदि रहे। डॉ. झा को उनके साहसी और निडर व्यक्तित्व के लिए भी जाना जाता था। कैसी भी विपरीत परिस्थिति हो 'झा सर' कभी अन्याय के सामने झुके नहीं और न पद प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए कभी अपने मूल स्वभाव से डिगे। सागर विश्वविद्यालय में उनका नाम एक विद्वान पुरातत्व नेता, तथा मजे हुए रंगकर्मी के साथ एक सफल प्रशासक के रूप में उनकी छवि रही है। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों, शिक्षकों तथा छात्रों को हमेशा वे स्नेह और अपनत्व से भर देते थे। यही कारण है कि प्रोफेसर विवेकदत्त झा की शिक्षा परम्परा के साथ उनके चाहने वाले उनके मित्रों तथा अधीनस्थों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जो प्रोफेसर झा को बड़ी सिद्दत से याद करती है। अपने लम्बे अध्यापकीय जीवन में उन्होंने अपनी सामाजिक, साहित्यिक, सक्रियता कभी कम नहीं होने दी। झा साब जैसे बड़े शिक्षकों की परम्परा अब डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में लुप्त होती जा रही है।

प्रोफेसर विवेकदत्त झा ने अकादमिक और सामाजिक दोनों स्तर पर अपने सक्रिय योगदान से स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक ख्याति अर्जित की। उनके द्वारा किये गये शोध कार्य एवं उत्खनन से बुन्देलखण्ड क्षेत्र के अनेक विलुप्त तथ्य सामने आए। साहित्य, खेल, रंगकर्म, संगीत आदि सांस्कृतिक कलाओं में उनकी रूचि ने उन्हें एक विशेषज्ञ बना दिया था। विश्वविद्यालय के अनेक राष्ट्रीय स्तर के आयोजनों में एक सांस्कृतिक विशेषज्ञ के रूप में उनकी भागीदारी हमेशा उल्लेखनीय रही है। प्रत्येक अवसर पर वे एक विघार्थी और विशेषज्ञ दोनों के रूप में दिखायी देते थे। भारतीय कलाओं को लेकर उनका दृष्टिकोण सभी को प्रभावित करता था। एक वक्ता के रूप में भी विशेष अवसरों पर उन्हें सभी सुनने जाते थे। वे जितने बड़े रंगकर्मी थे उतने ही बड़े पुरातत्ववेत्ता भी थे। भारतीय कलाओं के मर्मज्ञ और समकालीन मुद्दों पर अपनी बेबाक राय से उनकी छवि अपने समकालीन केम्पस में हमेशा सम्मानीय रही। कमजोर और दुर्बल के वे हमेशा मददगार हुआ करते थे, आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े तथा उपेक्षित वर्ग के प्रतिभावान विद्यार्थियों को उनका जीवन पर्यन्त खुला आशीर्वाद मिला। उनके अनेक विद्यार्थी आज श्रेष्ठ स्थानों पर कार्यरत हैं। सागर विश्वविद्यालय के केम्पस में वे सबसे लोकप्रिय और आदर्श शिक्षक के रूप में उनका व्यक्तित्व हमेशा प्रेरणा देता रहेगा। सेवा निवृत्व होने के बाद भी उनकी विश्वविद्यालय में अकादमिक सक्रियता जीवनपर्यन्त जारी रही। राष्ट्रीय संगोष्ठियों के अवसर पर विषय विशेषज्ञता से उन्होंने हमेशा प्रभावित किया। उनकी दो टूक शैली अनजान लोगों के बीच भी उन्हें विशिष्ट बना देती थी। वे किसी बात का खण्डन भी पूरे प्रामाणिक ढंग से तथ्य सहित करते थे। सागर विश्वविद्यालय के

इतिहास में 1990 से लगभग डेढ़ दशक विश्वविद्यालय केम्पस में छात्रावास की छात्र राजनीति पूरी तरह से छायी रही। छात्रावासों के अनेक छात्र नेता इस समय में सक्रिय थे। प्रोफेसर विवेकदत्त झा ने अनेक नामचीन छात्र नेताओं को अपने निर्देशन में पी.एच.डी. करवाई इन छात्र नेताओं में डॉ. राजेन्द्र यादव, डॉ. राजेन्द्र दीक्षित आदि प्रमुख थे, विश्वविद्यालय के युवक छात्रावास के सभी छात्रनेता प्रमुख रूप से जिनमें डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, रामऋषि मिश्रा, श्री अशोक निगम, डॉ. विवेक तिवारी, डॉ. राजेन्द्र यादव, पदम सिंह, आशुतोष राना, संजय यादव, डॉ. राजेन्द्र दीक्षित, राजेश चांद, भूपेन्द्र रावत, मनोज सिंह आदि थे। छात्रावास के सभी छात्र नेता और छात्र प्रतिपालक, के रूप में झा सर का सच्चा सम्मान करते थे। छात्रावासों के सबसे कठिन समय और भीषण विवादों के समय भी उन्होंने अपने नाम को चरितार्थ किया। विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने हमेशा धैर्य और साहस का परिचय दिया। हर स्थिति में झा साहब ने छात्रों का पक्ष लिया जिसका आज सकारात्मक परिणाम सामने हैं। झा साब के कार्यकाल में सक्रिय छात्रावासों के सभी छात्रनेता आज विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय, सम्मानीय, जीवन को चरितार्थ कर रहे हैं। अभिनय, राजनीति और अकादमिक रूप से सक्रिय छात्रावासों की परम्परा झा साब जैसे दूर दृष्टि रखने वाले व्यक्ति की देन है।

समय कभी नहीं ठहरता पर व्यक्ति के बाद उसके किए गए कार्य हमेशा आने वाली पीढ़ी को उनके जैसे हो पाने की चुनौती देते हैं, विवेकदत्त झा का जीवन एक ऐसे विद्यार्थी का जीवन है जिसने हमेशा आम लोगों से हटकर सोचा और किया। सामान्य वार्तालाप में भी उनका पक्ष और स्पष्टता के सब कायल थे। अपने शिक्षक मित्रों के साथ उनका एक और मित्र वर्ग था जिसमें अनेकों छात्र शामिल थे। प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष रहते हुए भी वे ज्यादातर पुरातत्व संग्रहालय की लम्बी टेबिल के सामने बैठते थे। उनसे दिनभर मिलने–जुलने वालों की आवा–जाही बनी रहती थी। दोपहर के बाद उनका स्थायी स्थान यही था जहाँ वे प्रतिदिन शिक्षकों, छात्रों से मिलते थे, बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक, सामाजिक विरासत से उन्हें गहरी आत्मीयता थी। बुन्देलखण्ड की खण्डहर होती ऐतिहासिक विरासत के प्रति उनकी निजी चिंता हमेशा सहेजने की रही। वे प्रशासन के द्वारा बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थलों, इमारतों के प्रति उपेक्षा से आहत हुआ करते थे। विश्वविद्यालय के सीमित संसाधनों के कारण प्रोफेसर विवेकदत्त झा ऐतिहासिक विरासतों के संरक्षण, संवर्धन तथा उत्खनन का कार्य बड़े पैमाने पर नहीं कर पाये।उनका मानना था कि बुन्देलखण्ड ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक धरोहरों की दृष्टि से भारत का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है और यहां अद्यतन शोध की अपेक्षा की जाती है। मैं झा सर के व्यक्तित्व एवं उनके कार्यों को एक बड़ी उपलब्धि मानता हूँ।

पुरातत्व को ओढ़ने विछाने वाले : झा सर

डॉ. वेदप्रकाश दुबे, पूर्व सहायक प्रोफेसर

मैं, उनके सेल फोन पर फोन लगा रहा हूँ रिसीव होते ही मैं कुछ कहूँ दूसरे सिरे से परिचित आत्मीय आवाज आती है, मेरे वेद तुम फर्स्ट आ गए। सोचता हूँ अभी कोई एग्जाम तो दिया नहीं, तभी झा सर कहते अरे मैं तुम्हें फोन लगाने ही वाला था याद ही कर रहा था लेकिन रेस में तुम जीत गए, तुम्हारा फोन जो पहले आ गया। यह मेरा उनसे अन्तिम अमूर्त वार्तालाप था वे उस समय दिल्ली में थे। सहज निरअंहकार षिश्यवत्सल एवं अपने विशय प्राचीन भारतीय पुरातत्व इतिहास को हरदम ओढ़ने, विछाने और जीने वाले, बात और वाकये सुनाना षुरू करें तो लगता था कि समय जैसे ठहर गया हो एक कर्मयोगी विद्वान प्रोफेसर विभागाध्यक्ष, डीन वार्डन एक्जीक्यूटिव कॉउसलर एकेडमिक काउंसलर, प्रभारी कुलपति चेयरमेन मध्यप्रदेष इतिहास परिशद रंगकर्मी आदि वे वाद में थे, सबसे पहले वे एक अच्छे इंसान थे जो बनना सबसे कठिन होता है। छात्रों, सहकर्मियों, मित्रों, परिचितों, पड़ोसियों के सच्चे खैरख्वाह। वैसे तो मेरा उनसे औपचारिक परिचय लगभग 22 साल पहले, उनके षोधछात्र एवं मेरे मित्र सुरेन्द्र चौरसिया के द्वारा हुआ। लेकिन धीरे–धीरे कुछ वैचारिक समानताओं एवं निर्भीक साफगोई के चलते कब गहरा होता गया, पता ही नहीं चला। उनकी सहज निष्छलता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि जब भी वे घर आते तो मेरा बेटा रघु जो उस समय 4 साल का रहा होगा उनके साथ बैठक में ऐसे बैठ जाता, आराम से जैसे कोई उसका हमउम्र दोस्त उसी से मिलने आया हो, सर भी उसे एहसास नहीं होने देते कि, वे उससे मिलने नहीं आए, झा दादा से बाकायदा उसकी बातचीत होती। सेवानिवृत्त होने के बाद सागर और विष्वविद्यालय से उनका गहरा नाता बना रहा उनके चाहने और सम्मान करने वाले अब तक हैं। रिष्ते चाहे पारिवारिक हों या सामाजिक या अकादमिक उनकी संवार करना कोई प्रो. विवेकदत्त झा से सीखे। इतिहास के संबंध में उनकी अवधारणा टायन्वी के निकट थी जो हमेषा इस बात पर बल देती है कि इतिहास का निर्माण व्यक्ति विषेश तथा राष्ट्रों से नहीं बल्कि विभिन्न युगीन समाजों से हुआ है। अतीत के मनुश्यों का दैनिक जीवन, विभिन्न वर्गों का पारस्परिक संबंध, परिवार का स्वरूप, आदिवासी श्रमषील वर्ग की दषा, तत्कालीन सत्ता की नीतियाँ, सांस्कृतिक जीवन उसके साथ–साथ चल रहे धार्मिक प्रचलित मत पूजा विधियाँ संगीत और अंततः स्थापत्य उनकी चर्चा के विशय रहते उनकी दृश्टि पात्र पुरातत्व इतिहास तक सीमित नहीं थी बल्कि वे मध्यकालीन इतिहास तथा आधुनिक इतिहास से लेकर 'रेशनल एज' की एवं 'रोमेंटिक एज' तथा 'विक्टोरियन एज' के ऐतिहासिक कालखण्ड के भी विद्वान थे। त्रिपुरी, भीमबैठका, एरण, मल्हार आदि पुरातात्विक उत्खननों में उनके निर्देषन में अनेक उपलब्धियाँ सहित लगभग

समूचे म.प्र. एवं वर्तमान छत्तीसगढ़ में उनके द्वारा किए गए ऐतिहासिक सर्वेक्षणों एवं परिणामों का आज भी कोई साथी नहीं है।वे ऐतिहासिक तथ्यों में 'किस्सागो' भी थे, जो बात करते करते कब वैदिक कर्मकांड में सोम याग और 'जेन्द अवेस्ता' में सोम के होम में परिवर्तन का कारण बता दें कि ईरानी भाषा में 'स्' 'ह्' में बदल जाता है, सोमपान की प्रथा का 'वैदिक साहित्य' और 'अस्वेता' में वर्णन समझा दें। यहाँ तक कि किसी के फ्यूनरल में अधिक विलंब हो रहा हो तो वे उस समय ष्मषान के किसी कोने में बैठकर अपना गोल सा बनाकर धीरे–धीरे कब आपको हिन्द–योरोपीय भाशा–भाशियों में प्रचलित 'दाहकर्म' या ऋग्वेद में मुर्दे को जलाने और गाढ़ने दोनों प्रथाओं में प्रचलन के बारे में या 'होमर' के महाकाव्य 'इलियड' में 8वीं सदी पूर्व हेक्टर नामक गायक की दाहकर्म अंत्येष्टि, का वर्णन समझा दें या 'लिथुआनिया में दक्षिण रूस' या 'यूक्रेन में प्रचलित दाहकर्म परंपरा अस्तित्व में होने के सप्रमाण परंपरा अस्तित्व में होने के सप्रमाण संदर्भ दे दें, कोई अंदाजा ही नहीं लगा पाता था कि समय कैसे निकल गया, कहने का अर्थ यह कि यह अनूठा शख्स श्मशान में भी अनजाने में जीने में माहिर था। प्रतिफल कर्मयोग के प्रति तथा पारिवारिक दायित्वबोध से परिपूर्ण, मित्रों, सहकर्मियों से लेकर षोध–छात्रों तथा जाने माने पुरातत्वविदों को दावतें देने वाले अपना दर्द या विपदा को छिपाए रखने वाले हम सबसे प्यारे विवेकदत्त जी झा की निष्प्राण देह दिल्ली से 12 घंटे बाद की यात्रा के बाद अगले दिन लगभग यथावत थी। सागर उनका मन पसंद टेस्टीनेशन जो था। उन्हें आखिरी बार देखते हुए उनके प्रिय शिष्य डॉ. राजेन्द्र सिंह यादव, सजल आँखों से कह उठे कि ऐसा नहीं लगता कि गुरू अभी उठकर कहने लगेगें अरे कैसे हो तुम लोग और घर परिवार बच्चों तक के नाम लेकर उनकी खैरियत पूछने लगेगें। उन्हें अशेष श्रृद्धासुमन प्रणाम!

प्रो. विवेकदत्त झा प्रपालक जैसे लोकप्रिय प्राध्यापक

डॉ. विश्वजीत सिंह परमार

हमारे गुरु आदरणीय स्व. प्रो. वी. डी. झा सर बुन्देलखण्ड क्षेत्र के मूर्तन्य पुरातत्त्वविद्, इतिहासकार, अत्यन्त मिलनसार, सहज व सरल स्वभाव के कारण ये सर्वग्राह्य रहे है। प्राचीन इतिहास के क्षेत्र पुरातत्त्व, अभिलेखषास्त्र, मुद्राषास्त्र और इतिहास के मर्मज्ञ रहे। स्व. प्रो. वी. डी. झा सर के बारे में सबसे पहले प्रो. रहमान अली तत्कालीन विभागाध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, विक्रम विष्वविद्यालय, उज्जैन के मुख से सुना था। प्रो. अली सर अक्सर उनकी चर्चा करते थे। उनके उदार व्यक्तित्व, उनकी विद्वता और पुरातत्त्व के उत्खनन के सन्दर्भ में उनकी बातें अक्सर सुनने को मिलती रहती थी। उनसे प्रत्यक्ष मिलने का अवसर तब मिला जब प्रो. वी. डी. झा सर प्रो. रहमान अली जी के निर्देशन में मैं उनके एक छात्र का पीएच. डी. मौखिकी लेने उज्जैन पधारे। मिलने पर लगा वे वाकई काफी दिलदार, रौबदार और अपने विशय के सम्पूर्ण ज्ञाता होने के साथ–साथ मिलनसार और मददगार भी थे। वे शोधार्थियों से बड़े स्नेह से मिलते थे। उनकी थीसिस सम्बन्धी गलतियों को सुधार देते थे और नाराज भी नहीं होते थे। छात्रों को मार्गदर्षन देने में सदैव तत्पर रहते थे। उनकी कमियों को ठीक करते, उनको ऐतिहासिक जानकारियों से लबरेज कर देते थे। वे पुरातत्त्व अन्वेषण और उत्खनन के जानकार थे। उनकी दुनिया पुरातत्त्व में ही रचती और बसती थी। और यदि किसी छात्र में उन्हें इतिहास के प्रति दिलचस्पी जिज्ञासा की भूख दिखती तो उस छात्र को तुरन्त अपने से जोड़ लेते थे फिर उस छात्र की भरपूर मदद करते थे। उन्होंने कई गरीब छात्रों को सागर बुलाया। उन्हें एम.ए. में एडमिशन करवाया, उन्हें पढ़ाया और उनका शोध कार्य अपने निर्देषन में पूर्ण करवाया। यहाँ तक कि उन्हें रोजगार दिलाने में भी भरपूर मदद की। आज उनके बहुत से शिष्य इतिहास के क्षेत्र में नाम कमा रहे है। प्रो. वी. डी. झा सर ने मुझे भी इतिहास की बहुत सी जानकारियों से अवगत कराया जिनमें में अनभिज्ञ था। एक बार मुझे उनके साथ जीप से एरण (सागर के पास) जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने रास्ते भर गुप्तकाल का इतिहास विस्तार से बताते हुए समुद्रगुप्त के स्वभोगनगर (एरण) के ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का विस्तृत विवेचन करते हुए छोटी–छोटी महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्रदान की थी। जैसे एरण से प्राप्त सती स्तम्भ (जो 510 ई. का प्रथम सती स्तम्भ अभिलेख) जो भारत का पहला सती प्रथा का उदाहरण माना जाता है। वहाँ ले जाकर दिखलाया था मुझे उनके साथ उनके गृहनगर मण्डला और उनके गाँव जहाँ उनका बचपन गुजरा था। (बम्हनी बंजर के पास का गाँव) भी जाने का सौभाग्य मिला था। हमें एक रात

उनके गाँव में उनके घर पर रूके था। बड़ा ही सुन्दर और प्राकृतिक वातावरण से भरपूर उनका गाँव मुझे बहुत पसन्द आया था। षायद गाँव की उन्मुक्तता और स्वतंत्र वृत्ति उनके स्वभाव में भी आ गयी थी। जहाँ से वे आगे की उच्च्य शिक्षा के अध्ययन के लिए सागर आ गये थे और सागर से एम. ए. प्राचीन इतिहास तदन्तर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त कर डॉ. हरिसिंह गौर विष्वविद्यालय में ही उनकी प्रथम नियुक्ति सहायक प्राध्यापक पद से लेकर आखिरी विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्ति तक प्रो. वी. डी. झा सर सागर के ही होकर रह गए थे। उनके निधन पर मेरी ओर से उनकी आत्मा को शांति मिले। अन्त में कुछ पंक्तियाँ उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर –

"हम थे उनके शिष्य न षेधार्थी न खास,न मुहल्ले वाले न परिवार के न दास रिश्ते में तो वे कुछ नही लगते थे हमारे, फिर भी अपने थे खास, इतिहास के साहित्य थे सागर के सपूत बुन्देलखण्ड की माटी में पुरातत्त्व का विकास थे, इतिहास का गौरव थे प्रेरणा थे शब्द के वे कोई और नहीं प्रो. वी. डी. झा थे। बहुत दूर लगे कभी लगे कि पास हैं कभी लग रहे कि हँस रहे, कभी लगे उदास है लगे कभी सरल तरल, कभी कभी कठोर से सहजता की मूर्ति वे प्रो. वी. डी. झा थे।" उन्हें दिल की गहराइयों के साथ श्रृद्धांजली अर्पित करते हुये उन्हें सादर नमन करता हूँ।

रंगकर्मीः प्रो. विवेकदत्त झा

डॉ. पंकज तिवारी, निर्देशक (ई.एम.आर.सी.),

रौबदार चेहरा, दानेदार, वज़न दार आवाज़ और ठहराव के साथ अभिव्यक्ति का अंदाज – इस विशिष्ट, तथा आकर्षक व्यक्तित्व की आभा में व अनेक छविया दिखाई देती है मूर्धन्य विद्वान, पुराअन्वेशक, और कुशल प्रशासक, किन्तु इससे बिलकुल जुदा एक छवि उनके गंभीर रंगकर्म से जुड़ी है जो लगभग उनके संपूर्ण व्यक्तित्व पर हावी दिखाई देती है। मेरी यह मान्यता है कि वे अगर शिक्षक न होते तो यकीनन पूरे भारत में प्रख्यात रंगकर्मी के तौर पर पहचाने जाते।'विवेक दत्त झा'' जिन्हें हम सभी रंगकर्मी 'झा साहब' के नाम से संबोधित करते थे। मैनें अपने जीवन में जब रंगकर्म की शुरूआत की थी लगभग उसी समय से मैं इस नाम की चर्चा सुनने लगा था। सागर विश्वविद्यालय में सत्तर और अस्सी के दशक रंग मंच के मामले में गौरवशाली रहे है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'नटरंग' में इस रंगकर्म का पर्याप्त प्रमाण मौजूद है। इस संदर्भ में 'डॉ. विवेक दत्त झा' अनेक नाट्य प्रस्तुतियों के लिये पूरे देश में ख्यात रहे हैं।– जैसा कि आप जानते है कि रंगकर्म करने वाले लोगों की भारत में दो श्रेणियां होती है। पहला प्रोफेशनल यानि व्यवसायिक रंगकर्म और दूसरा शौकिया रंगकर्म यूं तो डॉ. विवेक दत्त द्वारा मंचित नाटकों को हम रंगकर्म की शौकिया श्रेणी में रखते है। परंतु इसमें मौजूद रचनात्मकता, प्रयोगशीलता और नाट्य चयन की दृष्टि से यह शौकिया कम व्यवसायिक(प्रोफेशनल) ज्यादा लगता है। जीवन की तमाम व्यस्तताओं और जटिलताओं के बावजूद भी रंगकर्म जैसी श्रमसाध्य विधा के लिये समय निकालना और सफलतापूर्वक नाटकों का मंचन करना यह 'झा साहब' से सीखने वाली बात है।पहली बार झा साहब से मेरा व्यक्तिगत परिचय सन् 1994 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली की प्रवेश परीक्षा के दौरान हुआ था। मैं प्रवेश प्रपत्र के लिये उनसे 'टेस्टीमोनियल' बनवाने हेतू उनके आवास पहुॅचा था दोपहर का वक्त था। 'टेस्टीमोनियल' के लिये आग्रह करेन पर उन्होंने इंकार कर दिया था और मुझे अपने नाट्य प्रदर्शन संबंधी ब्रोशर, प्रमाण पत्र आदि लाने को कहा था। बहरहाल, दूसरे दिन मेरे कागज़ात देख कर उन्होंने मुझे 'टेस्टीमोनियल' दे दिया था। इतना ही नहीं, प्रारंभिक प्रवेश परीक्षा में चयन होने पर उन्होंने मुझे बधाई भी दी थी और मुख्य परीक्षा की तैयारी हेतू मार्गदर्शन भी दिया था। यह बात अलग है कि मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की मुख्य परीक्षा में सफल न हो सका। किन्तु रंगकर्म के क्षेत्र में उनका मार्गदर्शन और प्रेरणा सदैव मुझे मिलती रही। जब भी हम रंगमंचीय प्रस्तुति हेतू किसी नाट्य कृति का चयन करते थे 'झा साहब' से उस मामले में परामर्श लेना लगभग ज़रूरी सा होता था। अनुभवी वरिष्ठ रंगकर्मी होने के नाते वे उस नाटक की जटिलताओं, प्रस्तुति संबंधी चुनौतियों आदि के बारे में तफसील से अपने विचार

साझा करते थे। 4 अक्टूबर 1994 में महेश एल कुचवार कृत नाटक 'होली' के मंचन के दौरान झा साहब ने हम लोगों के साथ अभिनय भी किया वे हॉस्टल बार्डन की भूमिका में नज़र आये थे। इस प्रकार हमारे रंगकर्म का सिलसिला चल पड़ा अन्वेशण, थियेटर ग्रुप (अथग) के लगभग सभी नाटकों में उन्हे विशेषज्ञ के तौर पर हमेश आमंत्रित किया जाता था। रिहर्सल के पहले दिन नाट्य पाठ से लेकर ग्रांड रिहर्सल तक बीच–बीच में 'झा साहब' हम रंगकर्मियों के बीच होते थे। वे अभिनय की बारिकियों को समझाते थे। और हमारे अपरिपक्व अभिनय को परिपक्व बनाने में सहयोग करते थे।

धर्मवीर भारती द्वारा रचित गीतिनाट्य 'अंधायुग' के मंचन के समय गीतिनाट्य की विशेश संवाद अदायगी को समझाने और सिखाने में 'झा साहब' ने हमारी विशेश मद्द की थी। सागर विश्वविद्यालय में जब भी रंगमंच का जिक्र होगा 'डॉ. विवेक दत्त झा' के अविस्मरणीय योगदान की चर्चा प्रमुखता के साथ की जायेगी। क्योंकि उन्होंने कुछ ऐसे नाटकों का मंचन किया था जो मील पत्थर साबित हुये हैं। मसलन उत्पलदत्त रचित 'फरार फ़ौज', पुराने आडीटोरियम में मंचित इस नाटक में जीप मंच पर आती थी और बम ब्लास्ट से पुल को उड़ाने वाले दृष्य होते थे। इस में लगभग 40 से ज्यादा कलाकार अभिनय करते थे। इस तरह 'डॉ. विवेक दत्त झा' अनेक वर्षो तक रंगमंच के क्षेत्र में सक्रिय रहे। उन्होंने कई अत्यंत महत्वपूर्ण नाटकों को अपनी सृजनशीलता के साथ अभिमंचित किया था इनमें प्रमुखतः सन् 1972 में मोहन राकेश कृत 'आषाण का एक दिन, बहुत बड़ा सवाल, लक्ष्मीनारायण रचित 'काफी हाउस में इंतजार, सुरेन्द्र वर्मा रचित द्रोपदी, दूसरा दरवाजा, तीन अपाहिज आदि शामिल हैं। अंत में इस बात का उल्लेख करना यहॉ आवश्यक है कि श्रृष्य्य दष्य अनुसंधान केन्द्र (AVRC) के शुरूआती दिनों में ऐतिहासिक स्थल 'एरण' पर आधारित डाक्यूमेंट्री फिल्म निर्माण का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। तत्कालीन निर्देशक एस.एल. वाल्मीकि द्वारा निर्देशित इस वृत्तचित्र का निर्माण दो भागो में किया गया था। इसकी पटकथा और प्रोडक्शन संबंधी कार्य मुझे सोंपा गया था, इस दौरान आदरणीय 'झा साहब' को करीब से जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके सानिध्य में रह कर मुझे यह ज्ञात हुआ कि वे इतिहास, कला, संस्कृति और पुरातात्विक शोध के कितने मूर्धन्य विद्वान है। स्मृतियां शेष है, उस व्यक्तित्व की, आज भी, वे नाट्यवृति में निहित उसकी आत्मा को समझकर अभिनय करने की समझाइश देते हैं। वे किरदार को डूबकर निभाने के लिये वर्णित अभिनय प्रविधियों का जिक्र भी करते है। वे यथार्थ वादी अभिनय शैली के अलावा ब्रेष्ट के एलिनिमेशयन सिध्दांत को हमारे लोक नाटको के सदर्भ में समझाते है। यह हमारा सौभाग्य है कि झा साहब जैसे –गहन नाट्यधर्मी हमारे साथ रहे और ऐसा लगता है कि उनकी रंगदृष्टि अभी भी हमारे रंगकर्म में दिखाई दे जाती है।

प्रो. विवकेदत्त झा : एक स्मृति

डॉ.रामकुमार अहिरवार

प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता, कला–स्थापत्य, विषय विशेषज्ञ, राजनीतिक, कुशल प्रशासक, इतिहास मर्मज्ञ, गम्भीर एवं सुस्पष्ट वक्तव्य, सादगीपूर्ण जीवन शैली इत्यादि बहुआयामी के व्यक्तित्व का नाम है प्रो. विवेकदत्त झा। लगभग 20 वर्षों के पहले की बात होगी कि प्रो.झा सर प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला वि.वि. उज्जैन में आये विभाग के आचार्य प्रो. रहमान अली ने मेरा परिचय कराया। हाथ मिलाकर खुशी जाहिर की और कहा कि अरे वाह यह हमारे बुन्देल खण्ड क्षेत्र जबलपुर का युवा प्राध्यापक है, आशीर्वाद दिया। प्रो.झा सर संभवतः पुनश्चार्या पाठ्यक्रम में व्याख्यान देने आये थे। उन्होनें म.प्र. की पुरातात्विक स्थलों पर अपना व्याख्यान दिया, साथ ही एरण के उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों पर प्रकाश डाला। उनके व्याख्यान देने की कला अभिव्यक्ति आज भी मन पर एक विश्वास पैदा करती है। उनके विषय पर पकड़ और प्रश्नों का उत्तर बड़े ही तार्किक ढंग से ज्ञानवर्धक रहा है। मुझे एरण की संस्कृति का वास्तविक ज्ञान उनके द्वारा दिए गए व्याख्यान से ही में समझ सका।

उनका व्यवहार छोटों के प्रति विशेष सरल एवं स्नेह भरा रहता था, कहते थे कि आप लोग ही इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र में म.प्र.का नाम रोशन करेंगें। उनके साथ भोजन पर तथा अतिथि निवास पर बैठकर बातें करने पर ऐसा लगा कि मानों मैं उनसे बहुत पहले से परिचित हूँ। अपनापन लगता था। इसके अतिरिक्त अनेकों सेमीनारों में तथा विभाग में पी.एच.डी. के मौखकीय परीक्षा के दौरान उनसे मिलता तो मन को खुशी होती, और कहते क्या कर रहे है? क्या लिखा है? इसको आगे बढ़ाओं और निश्चय ही उनका मार्गदर्शन महत्वपूर्ण और भविष्य का पथ प्रादर्शक बना। दिनांक 28.29 एवं 30 जनवरी 2002 में विभाग में ''सामाजिक संरचना : विविध चरण'' विषय पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रो.झा सर विषय विशेषज्ञ के रूप में पधारे और आपने ''**प्राचीन भारत में नारी एक विश्लेषण''** विषय पर शोध पत्र भी पढ़ा, जो मेरे द्वारा सम्पादित पुस्तक **''सामाजिक संरचना : विविध चरण''** आर.बी.एस.ए. प्रकाशन जयपुर 2005 में प्रकाशित है। उनका जीवन सरल एवं सादगी पूर्ण लेकिन अपने विषय के क्षेत्र में महान विशेज्ञता हासिल करने वाले प्रो. झा सर को उनके आशीर्वाद से आज हजारों शिष्य प्रशिष्य उच्च पदों पर विराजमान है। आदिवासी अंचल बस्तर की मूर्तिकला पर लिखी पुस्तक आज भी शोधार्थियों का मार्गदर्शन करती है। अनेको पुरातात्विक उत्खनन, प्रकाशित, शोधपत्र उनके द्वारा दिए गए विद्वतापूर्ण व्याख्यान भारतीय इतिहास के अन्धयुगीन पृष्ठों को आलौकित करते है। इन्हीं शब्दों से मैं प्रो.झा सर को सच्ची श्रृंद्धाजली अर्पित करता हूँ।

यादों के झरोखों से पूज्य गुरुवर प्रो. विवेक दत्त झा

डॉ.राजेन्द्र कुमार दीक्षित

परम आदरणीय गुरू प्रोफेसर विवेक दत्त झा (पूर्व अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग सागर विष्व विद्यालय सागर (म.प्र.)) एक चिरस्मरणीय नाम, विशय विषेशज्ञ, ज्ञाता, बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी जो आज हमारे बीच नहीं है परन्तु उनकी स्मृतियों सदैव हमारी पथ प्रदर्शक रहेगी। उनकी स्मृतियां उनके लेखन, उत्खन्न, पुस्तकों, शोध कार्यो, नाटकों, आदि के द्वारा उनके एक शिक्षक, गुरू, पिता, मित्र, सहयोगी, सलाहकार के रूप में हमेषा अमर रहेगी। आज जब अतीत में झाँककर देखता हूँ तो कुछ स्मृतियाँ सहज ही मानस पटल पर उभर आती है। बहुत कुछ ऐसी सुनहरी यादें जो हमेशा उनके होने का एहसास कराती है, ऐसा लगता है जैसे कल ही कि घटना थी जब मैंने सागर विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया, समय पंख लगाकर उड़ता चला गया। बात उन दिनों की है जब मैं डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय में एम.ए. इतिहास से कर रहा था और विश्व विद्यालय के टैगौर छात्रावास में रहता था। मेरे अधिकांश मित्र–सहपाठी भी छात्रावास में रहते थे जो प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग से एम.ए. कर रहे थे। अक्सर उनके साथ बातचीत होने पर प्रो. झा के बारे में सुना करता था, अच्छा पढ़ाते है, छात्रों की समस्याओं को सुनते है और निदान करते है। अपने सहपाठियों के साथ एक दो बार मिला भी, काफी आकर्षक व्यक्तित्व के धनी और अपने विषय के ज्ञाता थे। मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरे मन में उत्कंठा जगी कि मुझे भी इसी विभाग में अध्ययन करना चाहिए था, लेकिन मैं एडमीशन ले चुका था। दरसल मैं आपको अपने बारे में बता दू, मैं एक सामान्य छात्र था, पढाई में रूचि कम थी अन्य गतिविधियों में संलग्न रहता था। ऐसा कोई सीनियर या बड़ा नहीं था जो मुझे गाइड करता और दिशा देता। मैंने एम. ए. इतिहास से कर लिया, चूंकि मेरे सभी मित्रों ने रिसर्च के लिए आवेदन किया था इसलिए मैंने भी रिसर्च के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में आवेदन किया। प्रारंभ से ही पढ़ाई में रूचि कम होने के कारण मैं औसत छात्र रहा और मेरी अत्याधिक चंचलता भी इसका एक कारण थी, जिससे कोई भी रिसर्च के लिए मेरा गाइड बनने को तैयार नहीं हुआ। ऐसे कठिन समय में अत्याधिक निराश और हताश हो गया। तभी मेरे कुछ मित्रों ने मुझे प्रो0 झा के गुणी व्यक्तित्व , सह्रदयता और सहयोगी स्वभाव से अवगत कराया। मैं बहुत हिम्मत करके उनसे मिला और अपनी समस्या से उनको अवगत कराया। सब कुछ जानने के बाद उन्होंने मुझे सहयोग का आश्वासन दिया। शायद डूबते को तिनके का सहारा मिला मेरा विश्वास सत्य सिद्ध हुआ और उन्होंने मेरा गाइड बनना स्वीकार कर लिया और यहीं से मेरे जीवन में एक सुखद मोड़ आया।

प्रो.झा. के विशय में जैसा सुना था वैसा देखा भी, उनके प्रति मेरी अटूट श्रद्धा और विश्वास बढ़ता गया। मैं शोध छात्र के रूप में अध्ययन करने लगा, जैसा कि मैने पहले बताया कि मेरी पढाई में रूचि कम थी मैं औसत श्रेणी का छात्र था, प्रो. झा. के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने अधिकांश समय विभाग में रहकर शोधकार्य करने के लिए प्रेरित किया। मेरे उत्साह को निरंतर गति प्रदान की और मैंने अपनी समयावधि में शोधकार्य पूर्ण किया। एक मार्गदर्शक एवं प्रेरणा स्रोत के रूप में भी मेरे जीवन में उनका स्थान अविस्मणीय है। एम.ए.इतिहास में कम अंक होने के कारण उन्होंने मुझे दोबारा एम.ए.प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व से करने के लिए प्रेरित किया, मेरा मनोबल बढ़ाया। जिसकी सुखद परिणति मुझे गोल्ड मैंडल के रूप में प्राप्त हुई। मेरी इस सफलता का श्रेय मेरे गुरू प्रो. विवेकदत्त झा जी को है, जिनकी प्रेरणा और आर्शीवाद से मुझे यह सफलता मिली। मुझ जैसे औसत छात्र को उन्होंने बदलने का प्रयास किया और मैंने भी उनकी इस कसौटी पर खरा उतरने के लिए स्वयं को उनके अनुरूप ढाल दिया, शायद यही कारण था, जिससे मैं उनका सबसे प्रिय शिष्य बन गया। वास्तव में ये पंक्तियॉ यहॉ चरितार्थ होती है–

गुरू कुम्हार शिश कुंभ है, गढ़ि–गढ़ि काढै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर मारे चोट।।

जीवन एक नदी के समान है और समय अपने तीव्र गति से दौड़ता जा रहा है। उम्र के इस पड़ाव में जब मै एक पिता हूँ, पीछे मुड़कर देखता हूँ तो कुछ यादें आज भी ताजा लगती है, ऐसा लगता है कि जैसे कल की घटना है जब जीवन का बहुमूल्य समय एक पिता समान गुरू के साथ व्यतीत किया, शायद मेरा सौभाग्य था। उनकी प्रेरणा से मैंने सागर विश्वविद्यालय में इसी विभाग में लगभग सात वर्शो तक अतिथि शिक्षक के रूप में उनके सानिध्य में कार्य किया। कभी पिता, कभी गुरू, कभी साथी, कभी मार्गदर्शक बनकर जीवन की कठिनाइयों से भरी राहों को आसान किया। आज हमारे बीच वो नहीं है, फिर भी उनकी अमिट स्मृतियॉ मुझे राह दिखलाती है, उन स्मृतियों के खजाने से कुछ मोती चुने है। वैसे तो कहने को बहुत कुछ है, ऐसी सुनहरी यादें जो हमेषा उनके होने का एहसास कराती है। बात उस समय की है जब मैं रिसर्च कर रहा था, टैगौर छात्रावास में रहता था। प्रो.झा.छात्रावास प्रतिपालक(वार्डन) के रूप में नियुक्ति हुए। छात्रावासी छात्रों की हर समस्या को सुनते और निदान करने का प्रयास करते। कभी भी रात हो या दिन किसी छात्र को परेशानी हुई या बीमार हुआ, रात को 2 बजे भी फोन किया गया तो वह अपनी टीम को साथ लेकर उपस्थित हुये और अस्पताल ले जाकर समुचित इलाज करवाया। अगर कोई छात्र उदण्डता करता तो खबर होने पर तत्काल उपस्थित होकर नियमानुसार कार्यवाही कर समस्या को सुलझाते। उन्हें पढ़ने और अच्छा बनने के लिए हमेशा प्रेरित करते थे। सभी छात्रों के प्रति उनका नजरिया एक समान था। कभी भी पक्षपात पूर्ण व्यवहार उनके द्वारा नहीं देखा गया। इस तरह की घटनाऍ छात्रावास में आये दिन होती रहती थी और हमेशा समय से आकर कभी प्रतिपालक के रूप में, कभी पिता के रूप में उनकी सहृदयता देखने को मिली, इस तरह मैं हृदय की गहराइयों से उनसे जुड़ता चला गया।

प्रो. झा एक अच्छे कुशल गुरू और शिक्षक रूप में जाने जाते थे। उनके पढ़ाने की शैली ही ऐसी थी, अत्याधिक सरल और मृदुभाषी। कहा जाता है कि एक अच्छा शिक्षक वह है जो अपने विषय का ज्ञाता हो, प्रो. झा भी अपने विषय के प्रकांड विद्वान थे। गुरू वह है जो अच्छा मार्गदर्शक हो, उनमें दोनों का सम्श्रिषण था। छात्रों की हर समस्या को आसानी से सुलझा देते थे। पढ़ाई से सम्बन्धित कोई भी छात्र विभाग के अलावा भी आता तो भी उसकी समस्या का निदान भी करते और सही मार्गदर्शन देते थे।

मैं एक गुरू के रूप में कहूँ तो अतियोक्ति नहीं होगी, उन्होंने मेरे जीवन की दिशा ही बदल दी। उनकी प्रेरणा, आशीर्वाद से ही मैं विषय के ज्ञान को समझने लगा और रूचि पैदा हुई, जिससे मैं आगे सफलता प्राप्त करता गया। प्रो. झा को मैने एक अच्छा मित्र और सलाहकार के रूप में भी पाया। जब कभी मैं हताष हो जाता या किसी समस्या में उलझ जाता तो वह मेरी हर सम्भव मदद करते, मित्रवत सलाह देकर समस्या का निदान करते। सलाहकार के रूप में उन्होंने हमेशा अच्छी सलाह दी, उनका कहना था कि दुश्मन भी अगर सलाह मॉगे तो उसे अच्छी सलाह देना चाहिए। उनका कहना था कि अच्छे व्यक्तियों को और अच्छा बनाने से अच्छा है एक बुरे व्यक्ति को अच्छा बनाना। उन्होंने हमेशा जहॉ जरूरत पड़ी अच्छे सलाहकार के रूप में मेरी मदद की, अच्छा मार्गदर्शन दिया। प्रो. झा की जीवन शैली बहुत साधारण थी उनके जीवन में दिखावा नाममात्र नहीं था, तो हमेशा सच्चाई में जीते थे, इसलिए वे अत्याधिक निडर ओर स्वाभिमानी थे। मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे जीवन में ऐसा गुरू मिला जो मेरा सच्चा पथ प्रदर्शक, मित्र, पिता भी था। उनके जाने से जीवन में एक खालीपन अवश्य आया, परन्तु साथ बिताये समय की भींनी सुगंध इस खालीपन को भरने का कार्य करती रहेगी। मैं उन्हें शत्–शत् नमन करता हूँ और यही कहता हूँ–

गुरूब्रंह्मा गुरूर्विश्णुः गुरूदेवो महेश्वरः।
गुरूः साक्षात्परंब्रह्मा तस्मै श्री गुरूवेनमः।।

प्रो. विवेक दत्त झाः क्या भूलूँ क्या याद करूँ

डॉ. आर. पी. सिंह

प्रोफेसर विवेक दत्त झा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व के पुरोधा तो थे ही साथ ही साथ प्रसिद्ध रंगकर्मी, निष्छल एवं विराट व्यक्तित्व के स्वामी भी थे। प्रो. झा से मेरी पहली मुलाकात विभाग में ही मेरी नियुक्ति के कुछ समय बाद संभवतः जून – जुलाई माह में हुई थी। सामान्य परिचय के उपरांत विशय संबंधी चर्चा एवं आत्मीयता के साथ पुनः आगे मुलाकातें होती रहीं। वे जब भी सागर आते विभाग में उनका आना अवष्य होता। यह विभाग के प्रति उनका प्रेम ही था जो विभाग के प्रत्येक व्यक्ति से पुरा सामग्रियों की पूछताछ एवं देखरेख के लिए प्रेरित करते थे। मार्च, 2016 में विभाग में राष्ट्रीय संगोश्ठी का आयोजन हुआ था, जिसमें प्रो. झा ने बीज वक्तव्य दिया था। संगोष्ठी का संयोजक होने के कारण मुझे विभागाध्यक्ष प्रो. नागेश दुबे के साथ झा साहब से जल्दी –जल्दी कई बार मिलना हुआ। प्रत्येक मुलाकात मुझे उनके निकट ला रही थी या यूँ कहें उनका मेरे प्रति स्नेह मुझे बार – बार उनके प्रति खींच रहा था। संगोष्ठी की समाप्ति के उपरान्त वे हम लोगों को संगोश्ठी की सफलता की बधाई देने विश्वविद्यालय आये थे। प्रो. झा से मेरी अंतिम मुलाकात अविस्मरणीय है। जब मैं, प्रो. नागेश दुबे और प्रो. झा, स्वामी विवेकानन्द विश्वविद्यालय सागर में मार्च 2016 में आयोजित एक संगोष्ठी में व्याख्यान देने जा रहे थे । रास्ते में प्रो. झा ने मुझसे मेरे काम के बारे में पूछा और आशीर्वाद दिया – ''सिंह साहब आप तो प्रोफेसर बनने की योग्यता रखते हैं।'' खैर व्याख्यान के उपरान्त हम उन्हें घर छोड़कर वापस विभाग लौट आये। 06 जून, 2016 को दोपहर में मैं और विभागाध्यक्ष प्रो. नागेश दुबे विश्वविद्यालय द्वारा मांगे गये विषय विशेषज्ञों की सूची तैयार कर रहे थे। मैंने पहला नाम प्रो. झा का लिया और अभी हम चर्चा कर ही रहे थे कि उनके न रहने की खबर प्रो. दुबे के मोबाइल पर आयी। सहसा हमें विश्वास ही नहीं हुआ कि प्रो. झा नही रहे।

लगभग सम्पूर्ण मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण करने वाले प्रो. झा न केवल एक जिन्दादिल इंसान थे, अपितु उनमें मानवता भी कूट –कूट कर भरी हुई थी। वे हम सबके सच्चे मार्गदर्शक थे। उनका जाना हम सबके लिए अत्यंत दुःखद एवं अपूर्णनीय क्षति है। हम विभाग को आगे ले जायें, यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाँजलि होगी।

प्रो विवेकदत्त झा सर के नाम एक "पुण्य स्मरण पाती"

डॉ वर्षा सिंह

निृछलता जिनके स्वभाव की, हृदय सभी के भाती ।।
आज लिख रही 'वर्षा' उनको, पुण्य स्मरण पाती ।।
'झा' सर हम कहते थे जिनको, थे विवेक की मूरत ।
शिष्यों का है आज भी सम्बल, उनकी कर्मठ सूरत ।
उनकी निष्ठा दिशा–यंत्र सी, सबको मार्ग दिखाती ।।
आज नहीं वे भले जगत में, जीवित उनकी थाती ।।
पुरातत्व से रंगकर्म तक, ज्ञान असीमित उनका ।
सहज भाव से मिल कर सबसे, अमृत बन कर छलका ।
बहुरंगी प्रतिभा थी उनमें, नित नव जोत जगाती ।।
अंधकार सारा हर लेती, जैसे दीपक–बाती ।।
नहीं कभी भूलेंगे हम सब, उनका अद्भुत यह अवदान ।
सागर की माटी के प्रति, था उनके मन में सम्मान ।
याद सर्वदा शाश्वत उनकी, हिम्मत हमें दिलाती ।।
मुक्त हस्त आशीषें देती, निकट उन्हें है पाती ।।

सदैव स्मरणीय रहेंगे, प्रो. विवेक दत्त झा

राजबहादुर

मेरे स्मृति पटल पर प्रो. विवेक दत्त झा साहब की गुरूरूपी छवि स्थायी रूप से अंकित है। वे बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। उनमें एक परम गुरूदेव की सभी विशिष्टताएँ थीं। इस जमाने में शिक्षक चाहे कोई भी हो, वे मात्र पाठ्यक्रमानुसार विद्यार्थियों को निर्धारित समयावधि तक ज्ञान देते हैं और अपने कर्त्तव्य का पालन कर लेते हैं। परन्तु प्रो. झा साहब इस प्रकार के शिक्षक नहीं थे और न ही वे औपचारिक शिक्षण प्रणाली के अनुयायी थे। उनमें आधुनिक तथा कथित शिक्षकों की भाँति पाठ्यक्रम में बँधे रहने की प्रवृत्ति नहीं थी। इसलिए वे पाठ्यक्रमानुसार शिक्षण कार्य करने के अतिरिक्त अन्य विषय एवं गतिविधियों में रूचि रखते थे। उन्होंने अनेक लोगों में अपने विषय के प्रति रूचि जागृत की। उनमें से मैं भी एक हूँ। मैं मानव विज्ञान विभाग में सेवारत हूँ। मानव विज्ञान और पुरातत्त्व विषय के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक बार प्रो. झा साहब मेरे विभाग में पुरातत्त्व विषयक व्याख्यान देने आये। मैंने उनके व्याख्यान सुने। वे, मेरे विभाग में विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व प्रायोगिकी के अन्तर्गत पाषाण उपकरणों के निर्माण की प्रविधि, उनके प्रकार, उनकी पहचान, तथा उनसे सम्बन्धित जानकारी देने आये। मैंने भी उनसे बहुत कुछ सीखा। प्रो. झा साहब से समय–समय पर ज्ञान लेते–लेते मेरी रूचि पुरातत्त्व के अध्ययन की ओर बढ़ी। मैंने स्वाध्यायी छात्र के रूप में अध्ययन करने का निर्णय लिया। मुझे जब कभी भी समय मिलता था, तो मैं प्रो. झा साहब के पास मार्गदर्शन लेने उनके विभाग में पहुँच जाता था। उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि समय नहीं है, कल आना या परसो आना। वे अपने बैग से कागज–कलम निकालते थे और समझाने लगते थे। मैंने पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनके समान विद्वान नहीं पाया। किताब खोले बगैर समझा देते थे। उन्हें इस क्षेत्र में महारथ हासिल था। मैंने उनकी कृपा, प्रेरणा, मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद से स्नातकोत्तर तथा पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। प्रो. झा साहब के व्यक्तित्व की कुछ विशिष्टताएँ यह है कि वे कर्त्तव्यनिष्ठ, समयनिष्ठ, परिश्रमी, वचनबद्ध तथा अनुशासित व्यक्ति थे। यही कारण है कि डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में छात्रावास मुख्य अधीक्षक से लेकर विभागाध्यक्ष, संकायाध्यक्ष, विद्या परिषद सदस्य, कार्यपरिषद सदस्य तथा कार्यकारी कुलपति के पद पर सुशोभित रहे। वे अनेक वर्षों तक विश्वविद्यालय छात्रावास में मुख्य अधीक्षक के पद पर रहे। उन्होंने छात्रावास में छात्रों की देखरेख तथा शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया। उनकी वाणी में मधुरता थी। वे अत्यन्त आत्मीयता से छात्रों को समझाते थे। कोई छात्र कितना ही उद्दण्ड क्यों न हो, उसे वे इस

तरीके से समझाते थे, कि उसे अपने कृत्य से स्वतः अपराध बोध होने लगता था। अन्ततः वह छात्र आत्मग्लानि का अनुभव करके अध्ययन की दिशा में गतिशील हो जाता था। कहने का तात्पर्य है कि उन्हें युवाओं की ऋणात्मक ऊर्जा को धनात्मक ऊर्जा में परिवर्तित करना अच्छी तरह से आता था। इस प्रकार प्रो. झा साहब अपने व्यक्तित्व के जादू के बल पर युवाओं के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थे। झा साहब मात्र शिक्षण कार्य तक सीमित नहीं थे। उनका सरोकार नगर के सभी वर्ग के लोगों तथा गतिविधियों से था। कारण यह था कि वे मृदुभाषी होने के साथ–साथ पारदर्शी व्यक्ति थे। मीठा बोलकर काटने की उनकी आदत नहीं थी। विश्वविद्यालय ही नहीं, बल्कि नगर में भी उनकी अच्छी छवि थी। वे छोटे–बड़े सभी में घुलमिल जाते थे। छोटे बच्चे हों अथवा छोटे पद वाला व्यक्ति, उनसे भी वे मित्र तुल्य व्यवहार करते थे। जब वे विश्वविद्यालय छात्रावास में मुख्य अधीक्षक थे, तो उन्होंने अनेक गरीबों को खण्ड–सेवक की नौकरी पर लगाया। वे लोग आज भी उनका गुणगान करते हैं।

प्रो. झा साहब का जन्म मण्डला में हुआ था, परन्तु वे सागर को अपनी कर्मभूमि मानते थे। सेवानिवृत्त होने के बाद भी वे मण्डला वापिस नहीं गये। सागर के लोगों के साथ मिलकर उन्हें रचनात्मक कार्य करने में आनन्द की अनुभूति होती थी। उनकी कई योजनाएँ थी, जो पूर्ण न हो सकी। उनकी अन्तिम इच्छा थी कि उनका अन्तिम–संस्कार सागर में ही हो। उनके अन्तिम–संस्कार में नगर के प्रत्येक वर्ग के लोग सम्मिलित हुए थे। इससे स्पष्ट है कि प्रो. झा साहब नगर में अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनकी लोकप्रियता इतनी थी कि बस–ट्रेन में यात्रा करते समय मुझे कोई परिचित मिल जाये, तो उनके बारे में पूछने लगते थे। प्रो. झा साहब की लोकप्रियता और मित्रता को चिर स्मरणीय बनाने के लिए सिविल लाईन, सागर के एक सिंधी किराना व्यवसायी ने गोपालगंज मुक्तिधाम में उनके नाम की एक सीमेण्टेड बैंच लगवा दी। मेरी ओर से प्रो. विवेक दत्त झा साहब को शत–शत नमन और श्रद्धांजलि।

स्मृतिशेषः प्रोफेसर झा

डॉ0 सुरेन्द्र कुमार यादव

प्रो0 विवेक दत्त झा से मेरा परिचय अल्पकालीन रहा है। यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये कार्यों से मैं पूर्व से ही भली–भाँति अवगत रहा हूँ। एक जमीदार परिवार में जन्म लेने के बावजूद भी प्रो0 झा के व्यक्तित्व में जो सादगी एवं गंभीरता देखने को मिलती थी, वह अत्यन्त दुर्लभ है। अधिकांशतः वे खादी कुर्ता पहने हुये, मुँह में पान दबाये एवं मन्द–मन्द मुस्कराते हुये माहौल को अत्यन्त ही तनावमुक्त कर देते थे। अपने कठिन परिश्रम एवं लगन से उन्होंने अपने जीवन को सार्थकता प्रदान की। वे एक शिक्षक, पुराविद्, समाजसेवी के साथ–साथ नाट्यकर्मी के रुप में समाज में अपना अमूल्य स्थान रखते थे। पुरातत्व के क्षेत्र में प्रो0 झा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके द्वारा बस्तर जिले के पुरातत्व पर किया गया शोध कार्य आज भी मील का पत्थर है।

उन्होंने एरण, तुमैन, मल्हार, भीमबैठका, त्रिपुरी एवं घोड़ामाड़ा पुरास्थलों का निदेशक एवं सहभागी के रुप में उत्खनन कार्य करवाया। मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के विविध जिलों के सर्वेक्षण कार्य में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। इनमें मुख्य रुप से सागर, दमोह, बैतूल, रायसेन, छतरपुर, विदिशा, टीकमगढ़, डिण्डोरी एवं मण्डला जिला महत्वपूर्ण है। वास्तव में पुरातात्विक सर्वेक्षण के प्रति आपकी रुचि सबसे ज्यादा थी। सेवानिवृत्ति के बाद भी वे सर्वेक्षण जैसे दुरुह कार्य में अपना योगदान अन्त तक देते रहे। आपने सैकड़ों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शोध वाचन एवं पत्र लेखन कर अपने प्रतिभा का परिचय दिया। इसे मैं अपना सौभाग्य कहूँ या दुर्भाग्य कि आपके द्वारा विषय प्रवर्तक के रुप में दिया गया अन्तिम व्याख्यान सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग की राष्ट्रीय संगोष्ठी 'बुन्देलखण्ड की कला, संस्कृति एवं पुरातत्व' (14–15 मार्च 2016) में सुनने के मिला। यह व्याख्यान आज भी मेरे स्मृति पटल पर बनी हुयी है। प्रोफेसर झा द्वारा मध्य प्रदेश के पुरातत्व पर किये गये कार्य पुराविदों, शिक्षकों एवं शोधार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी तथा बुन्देली भाशाओं पर आपका साधिकार रहा। आपने संस्कृति, इतिहास पुरातत्व तथा बुन्देली साहित्य से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन किया। प्रोफेसर झा ने अपने गहन अध्ययन, लेखन, सम्पादन, प्रवचन, मार्गदर्शन, वक्तृत्व कला, अध्यापन, शोध निर्देशन और समाज सेवाभाव के कारण विद्वत् वर्ग में जो स्थान प्राप्त किया है, वह समादरणीयता की कोटि में स्वतः समाहित हो जाता है। आपने डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में कार्यवाहक कुलपति, कार्यपरिषद् सदस्य, विद्यापरिषद् सदस्य, संकायप्रमुख, विभागाध्यक्ष एवं छात्रावास मुख्य अधीक्षक जैसे पदों पर रहते हुये अपने दायित्वों का निर्वहन बखुबी किया।

प्रो. विवेकदत्त झा छात्रों के प्रेरणा स्त्रोत

डॉ. ज्योति सराफ

ऐसे महान व्यक्ति, शिक्षक, गुरु जिनके अनुभव ज्ञान का प्रवाह से सागर विश्वविद्यालय ही वरन् संपूर्ण देश के अनेक विद्यार्थियो का सूक्ष्म एंव ऐतिहासिक ज्ञान हुआ हो ऐसे अद्‌भुत व्यक्तित्व के धनी प्रखंड पुरातत्ववेत्ता बहुआयामी प्रतिभावान प्रोफेसर श्री विवके दत्त झा का शिक्षा क्षेत्र में बडा अहम योगदान रहा है जो अविस्मरणीय एंव अनूठा है। 1988 में पीएच.डी. करने के उपरांत 1992 में यू.जी.सी. रिसर्च एसोसिएट योजना के लिए मेरा चयन हुआ, जिसमें मेरे निर्देशक प्रो. विवेकदत्त झा साहब थे, उनके सफल निर्देषन में षोधकार्य चल रहा था. बात 1 जनवरी सन् 2000 की है. मैं झा सर को नूतन वर्ष की शुभकामनायें देने विभाग पहुँची. जैसे ही मैंने झा सर को नूतन वर्श की शुभकामनायें दीं, प्रत्युत्तर साथ ही कहा– ज्योति, नववर्ष के प्रथम दिवस पर तो कोई नया कार्य करने का प्रण लेना. नववर्ष को सार्थक बनाता है, चूँकि शोध से परियोजना की सामग्री बहुत अधिक विस्तृत रूप में एकत्रित हो गई थी. और पारिवारिक दायित्वों के कारण शोध परियोजना को अंतिम रूप देने में विलम्ब हो रहा था। अतः झा सर के आदेश पर मैंने उन्हें वचन दिया कि नये वर्ष में अपनी शोध परियोजना पूर्ण करूँगी। ऐसा ही हुआ, और वर्ष अवधि पूर्ण होने के साथ ही मैंने अपनी शोध परियोजना का अंतिम प्रतिवेदन पूर्ण कर यू.जी.सी. को प्रेषित किया इस कार्य में प्रोफेसर विवके दत्त झा सर ने निरन्तर मेरा सहयोग किया एवं शोध कार्य के नवीन अयामों की सूक्ष्म व्याख्या कर इसे पूर्ण करवाया। यह कार्य झा सर की प्रेरणा के कारण ही पूर्ण हो सका। सहज, सरल हर समय अपने विद्यार्थियो की मदद करने हेतु तत्पर रहने वाले परम आदरणीय प्रोफेसर विवेकदत्य के दत्त झा को मेरा श्रद्धापूर्वक नमन है।

आर्ष संस्कृति के अन्वेषक से मेरी पहली मुलाकात

डॉ. ऋषभ भारद्वाज

विद्यातीर्थे विमलमतयः साधवः सत्यतीर्थे, गङ्गातीर्थे मलिनमनसो दानतीर्थे धनाढ्याः। लज्जातीर्थे कुलयुवतयो योगिनो ज्ञानतीर्थे धारातीर्थे धरणिपतयः कल्मशं क्षालयन्ति।।

(अज्ञात सुभाषित)

अर्थात – निर्मल बुद्धि वाले विद्यातीर्थ में, साधुजन सत्यतीर्थ में, मलिन मनवाले गङ्गातीर्थ में, धनी दानतीर्थ में, कुलांगनाऐं लज्जा तीर्थ में, योगी ज्ञान तीर्थ में और राजा युद्धतीर्थ में अपने पाप का प्रक्षालन करते हैं।

आचार्य विवेकदत्त झा ने अपनी निर्मल बुद्धि से विद्यातीर्थ और ज्ञानतीर्थ में स्नान कर अपने को योगी सिद्ध किया। वे सच्चे कर्मयोगी थे। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक अपने विशय वैविध्य को संबर्धित करने के उद्देश्य से ''सागर जिले के पुरातात्विक स्थल एवं बुन्देलखण्ड के प्रागैतिहासिक स्थलों का अध्ययन'' विषय पर Sunday Explorers नाम की फिल्म का संपादन किया। वे मूलतः सागर के नहीं थे लेकिन उनकी सागर नगर के प्रति गहरी आस्था थी। वो सागर को अपना मानते थे। सागर के लोगों से उनके गहरे संबंध थे। इसका प्रमाण हमें आज भी मिलता रहता है। उनकी अनुपस्थिति में जब भी हम पुरातत्व से संबंधित या कला संस्कृति पर चर्चा करते हैं तब झा सर का व्यक्तित्व–कृतित्त्व लोगों के मन मस्तिश्क में आलोड़ित होने लगता है। लोग कहते हैं कि वे सच्चे और अच्छे विद्वान थे। उनकी हिन्दी–अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर अच्छी पकड़ थी। वे गंभीर अध्येयता और गहन अन्वेशक थे। बात आज से लगभग 5 वर्ष पूर्व की है। एक दिन शाम को **ऋषिकुल संस्कृत विद्यापीठ** गोपालगंज सागर में श्यामलम् समिति के संस्थापक एवं अध्यक्ष पं. उमाकांत मिश्र के पास डॉ. विवेकदत्त झा जी विराजमान थे। वहॉ पर मेरा परिचय मिश्र जी ने झा सर से करवाया था। इस समय उन्होने मुझसे कहा कि पाण्डुलिपियों पर काम करना उन्हें सुरक्षित रखना केवल नौकरी नहीं है अपितु वह ज्ञान को संरक्षित कर राष्ट्र को ही सुरक्षित करना जैसा है। उन्होंने एक संस्कृत शब्द कहा कि यह बुन्देली में सीधा प्रयोग होता है और इसका कौन सा अर्थ हो सकता है। उन्होंने अनेक संस्कृत शब्द बताये जो बुन्देली में प्रयोग होते हैं। इस प्रकार से पहली भेंट में ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा बन गई। कारण मात्र था उनका संस्कृत, संस्कृति और पाण्डुलिपियों के प्रति अगाध प्रेम। वे केवल भक्त की तरह श्रद्धा रखने वाले कोरे विद्वान् नहीं अपितु

अपने प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और कला के साथ साथ संस्कृत को समझने वाले अच्छे विद्वान थे। वो जब भी मुझे मिलते तो संस्कृत–संस्कृति पर कोई न कोई चर्चा अवश्य करते थे। तदनन्तर शहर में समाजसेवी संस्थाओं मूलतः श्यामलम् संस्था तथा पाठक मंच द्वारा आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में उनसे भेंट होती रहती थी। वे प्रकृति प्रेमी है आर्श संस्कृति उनके जीवन में कूट–कूट कर भरी हुई है। वे युवाओं को आगे बढ़ाने का हर संभव प्रयास करते थे। वे जब भी बोलते थे तो युवाओं के लिए प्रोत्साहित करने वाली बात जरूर करते थे। मुझे उनके बोलने की शांत–गंभीर शैली बेहद पसन्द थी। उनको सुनने के लिए में हमेशा कार्यक्रमों में जाया करता था। 12 जनवरी को एक कार्यकृम में संस्कृति व संस्कृत के दो विद्वानों का मिलन हुआ। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि **'आर्श परिशद्'** के वार्शिकोत्सव समारोह में झा साहब से सत्संग होने से मेरा आना और अधिक सार्थक हो गया। बहुत लंबे समय बाद आज डॉ. झा के साथ मंच सांझा कर सत्संग प्राप्त हुआ। वे भारतीय संस्कृति एवं पुरातात्विक अनुसंधानों में शीर्षस्थ मनीषी है। वे पुरातत्व के क्षेत्र में संपूर्ण भारतवर्श के मनीषियों में अग्रणी है। वे ग्रीश्म अवकाश में अपने परिजनों के यहाँ दिल्ली में थे। एकाएक उन्हें जगन्नियन्ता ने अपने स्थान में बुला लिया। उनके परिजन, उनकी अंतिमेच्छा पूर्ण करने के लिए पार्थिव देह लेकर सागर आये और गोपालगंज मुक्तिधाम में अंतिम संस्कार हुआ। उनके पुत्र और परिजनों ने आर्ष संस्कृति के संस्कारों का प्रमाण दिया। पाँच वर्ष मुझे उनका जितना सानिध्य मिला; उन्हें संस्मरण रूप में यहाँ उद्धत किया है। बस इसी संस्मरण से उन्हें प्रणाम करते हुये श्रृद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

प्रों. विवकदत्त झा से मेरी आखिरी मुलाकात

माधव चन्द्र, प्रोड्यूसर(ई.एम.आर.सी.),

शाम के ६ बजे के आस पास, प्रो. नागेश दुबे जी के एक फोन कॉल ने जिसमें कहा झा सर नही रहे। अंतर्मन को झझकोर सा दिया। हांथों में पकडे गर्म चाय की प्याली कब ठंडी हो गयी, पता भी नहीं चला। मनोरमा कॉलोनी स्थित विनोद के चाय की दुकान पर एकटक खड़ा रह गया, मानो समय थम सा गया हो ! कल हीं सर से बात हुई थी ,काफी खुश थे, कह रहे थे की अगले हफ्ते आ रहा हूँ। एक नाटक लिख रहा हूँ। अजीब कसमकस की स्थिति से मैं गुजर रहा था। मन ये मानने को तैयार हीं नहीं था की, हमारे "संडे एक्स्प्लोरर " के पितामहः, प्रो. विवेक दत्त झा हमारे बीच अब नहीं थे । कुछ देर वहीँ सड़क के किनारे बेचौनी में टहलता रहा, शायद मन को इस जिंदगी के यथार्थ से परिचित करा रहा था ,दिमाग के दलाल इस दिल को समझाने की कोशिश कर रहा था की, जिंदगी का यही सत्य है। कौन ,कब और कहाँ आपसे मिलकर बिछड़ जायेगा, शायद ये इस वक्त को हीं पता है, हम तो सिर्फ कठपुतली मात्र हैं। एक हीं पल में, ऐरण से लेकर आबचंद की "संडे एक्सप्लोरर" की पूरी पुरातात्विक सर्वेक्षण की कहानी दिमाग में किताब के पन्नो की तरह पलटने लगा। बरबस याद आ गया ,10 मई २०१५ ,रविवार की वो पहली मुलाकात ,जब समय के पाबंद प्रो. विवेक दत्त झा अपनी काऊ बॉय टोपी ,सफेद टी शर्ट ,और ग्रे कलर की फुलपैंट में, चुस्त दुरुस्त होठों में बंगला पान दबाये डॉ मनीष चंद्र झा और मेरा इन्तेजार कर रहे थे। हल्की दाढ़ी और मुस्कुराहट के साथ उस शख्स को देखते ऐसा लग रहा था की, मैं अपने किसी गुरु को देख रहा हूँ इस आशा और विश्वास के साथ की ,आज से इनसे बहुत कुछ पुरातत्व और इतिहास से सम्बंधित सीखने को मिलेगा। तभी उन्होंने पूछा, कहाँ से हो माधव ,क्या करते हो ,फिर कन्धे पर हाँथ डालकर बोले "हमें बहुत कुछ बेहतर करना है इन एक्सप्लोरेशन में ,और सबसे बड़ी जिम्मेदारी तुम्हारी फोटोग्राफी और रिकॉर्डिंग की है। बात करते करते ८ बज चुका था ,और गर्मी भी बढ़ने वाली थी ,और वहाँ से "संडे एक्सप्लोरर" टीम के अन्य महत्वपूर्ण सदस्य ,बुन्देली गायक श्री शिवरतन यादव जी और श्यामलम के श्री उमाकांत जी को रिसीव करना था उनके गंतव्य से, और इसी के साथ आरम्भ हो गया "संडे एक्स्प्लोरर" का सागर और उसके आसपास के पुरातत्विक और ऐतिहासिक स्थलों का हर हफ्ते के रविवार के एक्सप्लोरेशन का दौर। हाईवे पर सागर से एरण जाते वक्त ,पूरी कहानी एरण के इतिहास और पुरातत्व पर होती रही ,और बीच बीच में पान सुपारी का भी दौर चलता ,जिसमे एकाध इलाइची और लौंग मुझे भी प्रसाद स्वरुप मिलता रहा। इन २ सालों में लगातार उनके स्नेह और आशीर्वाद ने मुझे कहीं न कहीं प्रो. झा के निकट ला दिया था, एक दादा के रूप में, एक गुरु के रूप में। स्वाभाव से मिलनसार,

विनर्म ,हंसमुख, प्रो. झा काफी मिलनसार थे। चाहे एरण हो,राहतगढ़ हो या खुरई इतने वर्षों के अंतराल के बाद भी वो वहां के लोगों को नाम से जानते थे। जब भी कभी इन टूर में हम रुकते तो प्रो. झा कुछ पल के लिए गायब हो जाते थे। और जब आते दिखते तो उनके हांथों में ककड़ी , खीरा ,गाजर और केले से भरा थैला होता था। जब कहीं तस्सल्ली से बैठने का मौका मिलता तो सब लोग फलहार करते क्योंकि गर्मी बहुत होती थी। देखते– देखते ना जाने ये वक्त, एरण, खुरई, राहतगढ़,खिमलासा ,बिनायका ,रहली ,सानौधा होते हुए आबचंद तक पहुंच गया। इन दो सालों में और इस पूरे सफर में हमारे साथ होते थे प्रो .झा एक २५ साल के नौजवान की तरह ,आगे आगे चलते, चाहे वो नरियावली के गुफाओं की ऊँची चट्टान हो ,या आबचंद का भूलभुलया वाला कंकर पत्थरों से भर दुर्गम रास्ता इस मामले में , मैं अपने आप को खुशनशीब मानता हूँ की, प्रो. झा के साथ किये कुछ चुंनिंदा कामों की रिकॉर्डिंग को प्रो. नागेश दुबे जी ने विडियो प्रेजेंटेशन के माध्यम से पुरातत्व विभाग के कार्यक्रम में मेरे पेपर प्रेजेंटेशन के बहाने दिखाने का मौका दिया ,मार्च 2016 में आयोजित ,पुरातत्व विभाग के राष्ट्रीय अधिवेशन में। जहाँ खुद प्रो. विवेक दत्त झा मुख्या वक्ता थे। उन्हाने इस समय आशीर्वाद देते हुए बोले "माधो। क्या शानदार काम है। मन खुश कर दिया। बहुत बढ़िय। पुरातत्व के साथ साथ ,साहित्य मंचीय नाटकों पर भी उनकी और समझ देखते हीं बनती थी। एरण यात्रा के दौरान बातचीत के वक्त ऐसे हीं चर्चा में डॉ. मनीश झा, उमाकांतजी, शिवरतन यादव जी ने उन्हें उपन्यास और नाटक के रूप में लिखने के लिए आग्रह किया। तब हीं ,उन्होंने समुद्रगुप्त के ऐरण पर मंचीय नाटक और उपन्यास लिखने के बात को सहर्श स्वीकार किया। हाँ, मैं बिलकुल लिखूंगा। हकीकत यही हुआ की उसी प्रेमगाथा को उपन्यास का रूप देते देते, ये रुहानी शख्स ह्रदयाघात का शिकार हो गया, शायद एरण के उस पुरातात्विक काल में झा साहब खुद को ले गए हों,जहाँ एक वैभव शाली एभ्यता से भरा नगर, चारों ओर खुशाली, प्रेम और करूणा की बहार होगी, शायद चारों और फूलों, पेड़, नदी तालाब का रमणीय वातावरण होगा, जहाँ वे खुद कलम के माध्यम और अपने काल्पिनक सोंच से उस रास्ते पर बढ़ते चले गए होंगे और यही कारण था, की उनके पर्थिव शरीर पर कोई शिकन न था, चेहरे पर वही एक शौम्य मुस्कान थी,और होंटों पर बंगाली पान की लाली,ऐसा लग रहा था मानो बरबस बोल उठेंगे "माधव इसका क्लोज शॉट लेना। ये देखो यहाँ पर पूरा शिव परिवार है, और कुछ नजर आ रहा है क्या ??? डॉ साहब ! (मनीष झा) यहाँ देखिये, इस पत्थर पर मूर्तिकार के हस्ताक्षर है।